

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-षष्ठं

नवरत्नम्

पञ्चटीकाभिः समलंकृतं

१. श्रीमत्प्रभुचरणानां प्रकाशः
२. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशविवृतिः
३. श्रीविक्रमेशात्मजश्रीवल्लभानां प्रकाश टिप्पणी
४. श्रीमुरलीधरभट्टानां विवृतिः
५. श्रीलालभट्टानां लेखः

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत-पञ्चम-पीठाधिष्ठित-गोस्वामिश्री १००८
श्री गोविन्दलाल-महाराजश्रीत्येतेः प्रकाशितम्

वि. सं. २०३६

श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दलाल महाराज
पञ्चमपीठ, कामां, भरतपुर, ३२१०२२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द : ५०२

ग्रन्थ-परिचय लेखक: गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई. ४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दलाल महाराज

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि. सं १५५८ में अडैलमें की थी. ^१ यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दवे सांचोराके लिए लिखा गया था.

प्रारम्भसे ही गोविंद दवेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमें ही ये अपने माता-पिताको छोड़कर तीर्थयात्रार्थ द्वारका पहुंच गये थे और बादमें वहीं रहने लग गये थे. भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे और तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामें आसक्ति अधिक थी. द्वारकास्थ श्रीरणछोड़-जीके स्वरूपमें भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थे. लौटते समय मार्गमें मनिर्कर्णिका घाटपर इनकी भेंट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई. दर्शन करते समय इन्हें इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करें. अनुमति मिलनेपर कहींसे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापन द्वारा ही संस्कृत भाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हें प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमें दीक्षित हुए और आज्ञानुसार घर लौटकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त होगये.

८४ वैष्णवकी वार्ताके अनुसार—“गोविन्द दूबे घरमें सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो सेवामें चित्त लागे नाहीं. तब गोविन्द दूबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखें—‘महाराज! मेरे मनमें बहुत विग्रह रहत है. भगवत्सेवामें चित्त लागत नाहीं सो कहा कहुं?’ सो पत्र श्रीआचार्य-जीके पास आयो सो आप बांचिके नवरत्न ग्रन्थ करि लिख पठाये. और लिखें ‘यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ किये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी’ सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता-चिन्ता सब मिटि गई. मन भगवत्सेवामें करन लागे.”

इस प्रसंगका निगूढ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाश बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है—“गोविन्द दूबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना ब्रजकी करें. सो मन लागे नाही. न राजलीलामें दृढता होई न ब्रजलोलामें. सो अनेक साधनमें मन दोरे. जो तीर्थ करूं के व्रत करूं, कोई जप करूं इत्यादि मन भटके सो श्रीआचर्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रंथ लिखि पठाये—‘तू चिन्ता मति करे. चित्तकी उद्वेगता है यह प्रमुलीला जानि—श्रीठाकुरमें ते मन और ठोर जाये सोउ भगवदिच्छा मानि—चिन्ता मति करियो. जितनी बने तितनी सेवा करियो. तब गोविन्द दूबेको मन स्थिर होगयो. जहां मन लौकिक वैदिक में जाई तो भगवदिच्छा माने. श्रीरनछोडजीमें मन बहोत जाई सो भगवदिच्छा माने. उहांकी लीलामें मग्न रहे. काहेते ? शास्त्र पुरान अनेक उपाई प्रभुमिलन के कहे हैं. जीवकों मिसमात्र मार्ग दिखाये. जो जहांकी अधिकारी है वामें व्राकी मन स्वतःसिद्ध लागत है.

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारेको दस गामके मारग वतावें परन्तु जाकों जा गाम जानो होई सोई गाम जात है. तैसे ही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा कोई ईश्वर द्वारा जैसे अधिकारी तैसे संग पाय उही मार्गमें भाव वाकों दृढ होत है. सो गोविन्द दूबेको श्रीरणछोडजीमें दृढ भाव भयो.”

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है. सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं. स्वयम् पुष्टिमार्गमें भी भगवान्के पास पहुंचनेकी अनेक दिशा या सरणी हैं. जिस दिशामें सहजतया हम चल पाते हों उसी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायास होता है. अपने स्वभावके अनुरूप सहजतया जिस मार्गपर हम चल सकते हैं, उसे छोड़कर अन्यान्य फलोंकी कामनाके वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविपरीत मार्गपर चलना चाहते हैं, तो उस आयासमें चिन्ता उद्वेग या व्यग्रता से मनका प्रसक्त हो जाना स्वाभाविक बात है.

पुष्टिपथके पथिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपने कर्तव्यके स्वरूपका अथवा अपने भजनीय भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वभाविक तथा आवश्यक ही है. इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता है. क्योंकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था

भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिमें न होकर अनास्था उद्वेगता तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमें होता है. भगवान्की शरणागति स्वीकारनेके बाद सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक भगवान्की समर्पित कर देना चाहिये. भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी-सर्वसुहृत् कर्ता-कारयिता अचिन्त्य-लीला-विहारी हैं. इस भावभूमिपर संशय चिन्ता या प्रार्थना के विषेले अंकुर फूट ही नहीं सकते. जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमें ही वास्तविक विवेक समाहित है. भगवान्की कृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसमें अधिकाधिक आनन्द लेते जानेकी मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है. जबकि अनधिकार चेष्टाके द्वारा जो आदर्श तन्मयता हमें प्राप्त नहीं हुई हो, उसके बारेमें चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है. प्राप्तसे अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नहीं होता परन्तु अप्राप्तकी चिन्ता या तज्जन्य उद्वेग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है. इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षेमके बारे में भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है.

अतः भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु इस नवरत्न ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओंसे मुक्त करना चाहते हैं.

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उपदेशग्रहण करनेसे मिलता है, वैसे ही पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षासे प्राप्त होता है. आत्मनिवेदनकी सार्थकता भगवत्सेवाके सम्पन्न होनेपर ही होती है. अपने लौकिक व्यवहार भी अतएव यावत्शक्य भगवान्की सेवामें उपयोग लाये हुए पदार्थोंसे चलाने चाहिये. इसमें भी प्रयोजन पुनः भगवत्सेवाका निर्द्वन्द्व निर्वाह ही होता चाहिये. भगवान्को दानरूप किसी वस्तुके भेंट करनेपर उसे पुनः अपने उपयोगमें लाना वजित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामें किसी वस्तुको पुनः अपने उपयोगमें लाना वजित नहीं है. प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है. अन्यथा भगवान्को निवेदित अन्न आदिका भी प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण वजित मानना पडेगा. जबकि सिद्धान्त-रहस्यमें असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है. अतः आत्मनिवेदीके लिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुको समर्पित सभी वस्तुओंका कमसे कम एकवार भगवान्की सेवामें पहले विनियोग करे और तब अपने

उपभोगार्थ उसे ग्रहण करे. इस नियमके पालनसे आत्मशुद्धि होती है.

परन्तु अन्न वस्त्र आदि वस्तुओंके एकवार भगवान्की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हे जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नहीं निभ पायेगा और यदि करते हैं तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पड़ेगा. और उस उपाजनकी प्रक्रियामें पुनः संसारमें उलझना पड़ेगा तो सेवामें भी विघ्नकी सम्भावना है. इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है. स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नहीं होती किन्तु भगवत्सेवार्थ ही होती है. पर श्रीमहा-प्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिके लिए और न भगवत्सेवार्थ ही चिन्ता करनी चाहिये.

आत्मनिवेदीके लिए यह आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुःख जो भी आयें उन्हें भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले. चिन्ता कदापि न करे. लौकिक व्यवहारको निभानेके लिए लौकिक प्रयासोंमें व्यापृत होनेपर यह सम्भव है कि मर्यादामार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो. भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमागमें हमारा अंगीकार किया है अतः प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नहीं देंगे, यह दृढ आस्था हमें रखनी चाहिये.

भगवत्सेवा निभानेके लिए व्यापार या नौकरी आदि करनेपर सम्भावित वहिर्मुखतासे बचनेका उपाय है, अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि "मैं कृष्णका हूँ— कृष्णका दास हूँ."

किसी विषम स्थितिमें सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदीयोंके सत्संगद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना नितान्त आवश्यक है. क्योंकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे मिटी और तुरत असुरावेशकी सम्भावना प्रबल हो जाती है.

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हों या निम्न कक्षाके सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमें भगवान्के साथ जुड़ ही गया है. फिर चिन्ता किस बातकी? भगवान् हमारे स्वामी हैं वे जो भी निजेच्छासे करें वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवश भी हैं. अतः अपने भक्तोंकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् बिना किसी प्रार्थनाकी

अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेंगे. यह आस्था हमें रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये.

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्को करते हैं पर सेवा तो हमें अपने स्त्री-पुत्र-परिवारकी भी करनी ही पड़ती है. ऐसी चिन्ता भी आत्मनिवेदीको नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्को समर्पण कर देते हैं. अतः हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है. अतः उनका भरण-पोषण या संरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नहीं गिना जाता. फिर चिन्ता क्यों करनी चाहिये?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता या सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामें सहायक न होकर अन्यान्य सांसारिक कार्योंमें व्यस्त रहते हों, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना. सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हें अपनी सेवामें काममें लायें. सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामें प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है. अन्यथा उनकी भगवत्सेवामें रुचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पड़ती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है.

कभी यह भी सम्भव है कि हमें ऐसे व्यक्तियोंके काम आना पड़े जिनके वारेमें ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय उन्हें भगवान्को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो. पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि एक वार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नहीं जाता.

कभी-कभी हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नहीं. हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्ने उसे स्वीकारा कि नहीं. यह चिन्ता भी निरर्थक है. क्योंकि श्रीकृष्ण तो पुष्टि-पुरुषोत्तम हैं अतः जैसे व्रजभक्तोंका अन्याश्रय छोड़ाकर स्वयमेव अपने भजनमें उन्हें प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमें हमें प्रवृत्त करना चाहेंगे उस क्षण स्वतः ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामें विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा. यदि भग-

वदिच्छा पुष्टिमागमें हमारे अंगीकारकी न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नहीं कर पायेंगे. प्रभु तो सर्वसमर्थ हैं अतः हमारी सारी अयोग्यताओंको दूर कर बिना किसी साधनकी अपेक्षाके हमें योग्य भी बना सकते हैं. अतः हम निवेदन या समर्पण के योग्य हैं कि नहीं ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नहीं करनी चाहिये.

जब लौकिक व्यापार आदिमें कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम धर्मके पालनमें कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे हैं.

आओ ! सारे पुष्टिजीव आओ ! और ऐसी विषम स्थितिमें भी अपनी पुष्टिभक्तको निभानेका यत्न करो. लौकिक या वैदिक व्यवहारोंमें स्वास्थ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तिका स्वास्थ्य न हो ? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हों तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये. क्योंकि संभवतः इसी तरह भगवान् हमें पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हों !

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये. परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमें कुछ भिन्नता भी आ जाये तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है. गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवान्की आज्ञाके अनुसार हो जैसे भी कृष्णसेवामें तत्परता बढ़ती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है.

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोंको जाननेके बावजूद भी कभी-कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है. उदाहरणतया पुत्र पति या पत्नी के वियोग होनेपर मनस्ताप हो ही जाता है. पर जो भी कुछ घटित होता है उसे भगवल्लीलाके बोधके साथ सहजतया स्वीकार लेनेकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये. चिन्ता उद्वेग या मनस्ताप से जितनी भी जल्दी छुटकारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये.

भक्तिके नौ सोपान दिखलाये गये हैं— श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन. इनमें अपेक्षित प्रकारसे श्रवण-कीर्तन जैसे प्राथमिक सोपानोंपर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है, तो

अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तताकी मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है ! परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नहीं प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेकी है. ऐसी निरर्थक चिन्ताओंमें जितने समय तथा मनोयोग का व्यय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर “श्रीकृष्णः शरणं मम” कहते रहें तो बात बन सकती है.

यह आश्वासन—यह अभिमत केवल गोविन्द दूबके लिए नहीं अपितु सभी पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं.

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमें पुष्टिजीवका कृश होना तो परमपुष्टि है—“तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यों ? बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे हैं !” यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके स्थायिभावका एक रोचक सञ्चारिभाव है. अतः रसवर्धक भी है. पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वेग रसाभास पैदा करते हैं. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्हीं विविध प्रकारोंमें से कुछ प्रकारोंको यहां सूचित किया गया है. श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना, चाहते हैं. ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमें विकसित हो पाये—आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममें अंकुरित हो पाये—भगवदासक्तिमें पल्लवित हो पाये और अन्ततः भगवद्-व्यसनमें वह फलित हो जाये !

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८१ में श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सांकलिया द्वारा सम्पादित-प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हम इन महानुभावोंका कृतज्ञापूर्वक स्मरण करते हैं.

નિવેદન.

૧. સિન્ધેશાન્તર્ગત ઠંઠાનગરનિવાસી ભગવદ્ભૂમિપરાયણ શેઠ જેઠાનન્દ હીરાનન્દ કરાણીના લાઇ જેઠાનન્દ ધનમલ કરાણીની પરલોકવાસી પુત્રી બાઈ પડલીબાઈના દ્રવ્યથી આ નવરત્ન ગ્રન્થનું પ્રાકટ્ય થાય છે. સદરહુ બાઈ પડલીબાઈના લગ્ન ઠંઠાના શેઠ તુલસીદાસ ઇસિરદાસ સાથે થયા હતા.
૨. નવરત્નની શ્રીગુસાંઈલિની વિવૃતિ અને શ્રીપુરુષોત્તમલિનો પ્રકાશ એમ બે ગ્રન્થના આશયનો સંગ્રહ કરી સંપ્રદાયના પ્રસિદ્ધ શાસ્ત્રિવર્ય કલ્યાણલભાઈ કાનલિએ ગુજરાતી ભાષામાં અનુવાદ યોજ્યો છે. ઉક્ત શાસ્ત્રીલિનો અમે તદર્થ ઉપકાર માનીએ છીએ. ગુર્જર અનુવાદને અન્તે ગુજરાતીમાં 'નવરત્નતાત્પર્ય' છાપ્યું છે. આ તાત્પર્ય અમે દશેક વર્ષ ઉપર લખ્યું હતું, અને નડીયાદના વૈષ્ણવ ત્રિભુવનદાસ પીતાંબરદાસ શાહે પોતાના તરફથી પ્રકટ થતી ષોડશગ્રન્થની માલામાં છાપ્યું હતું. તે તાત્પર્યને શોધી સ્વદેષ સૂધારા વધારા સાથે અત્ર છાપ્યું છે. આથી સંસ્કૃત ભણનાર અને નહિ ભણનાર વૈષ્ણવ માત્ર આ ગ્રન્થનો આદર કરી શકશે.
૩. નવરત્ન ગ્રન્થ શ્રીમહાપ્રભુલિએ નિજ કૃપાપાત્ર સેવક ગોવિન્દ દવેને ઉદ્દેશીને પ્રકટ કર્યો છે. આ ગ્રન્થનું પ્રાકટ્ય શ્રીસુબોધિનીલિના પ્રાકટ્યથી પૂર્વ થયલું લાગે છે. શ્રીસુબોધિનીલિમાં નવરત્નના કોઈ કોઈ સ્લોકનો ઉપન્યાસ ભેવામાં આવે છે. આ ગ્રન્થ નવરત્ન શાથી આચાર્યશ્રીએ કહ્યો એનું સ્પષ્ટીકરણ શ્રીમુરલીધરભટ્ટ પોતાની ટીકામ-સ્પષ્ટ કરે છે. નવરત્ન ઉપર શ્રીગુસાંઈલિએ ટીકા લખી છે, અને શ્રીગુસાંઈલિની ટીકા ઉપર શ્રીપુરુષોત્તમલિ અને કાકા શ્રીવલ્લભલિએ વિવરણ લખ્યાં છે. શ્રીમુરલી-ધરભટ્ટલિએ નવરત્ન ઉપર સ્વતંત્ર ટીકા લખી છે. આ ઉપરાન્ત લાલુભટ્ટલિએ નવ-રત્ન ઉપર બે સ્વતંત્ર લેખ લખ્યા છે. આ બન્ને સ્વતંત્ર લેખ શ્રીગુસાંઈલિના નવરત્ન પ્રકાશની એક એ પંક્તિ સ્પષ્ટ કરવાને લખ્યા છે. આ સ્વતંત્ર લેખમાંનો બીજો લેખ લાલુભટ્ટલિના નિર્ણયાર્ણવમાં મુદ્રિત છે. આ લેખમાં 'અન્યથા દારપરિગ્રહોત્તરક્ષણ..... તત્પરિગ્રહવૈયર્થ્યાપત્તિ:' એ શ્રીગુસાંઈલિની પંક્તિ એના પૂર્વની પંક્તિ સાથે લાગતી નથી એમ જણાવી શંકાસમાધાન કરવા પ્રયત્ન આદર્યો છે. આ પંક્તિ એમના લખ્યા પ્રમાણે 'ગાયત્ર્યુપદેશજસંસ્કારવત્' પછી આવે છે. પરંતુ નવરત્નની શ્રીગુસાંઈલિના પ્રકાશની બહુ પ્રાચીન અને સુંદર શુદ્ધ દશ બાર પ્રતિઓ અમને પ્રાપ્ત થઈ હતી. એમાંની એક બે પ્રાચીન પ્રતિ ઉપર 'નિવેદનલ્લ.....કાર્ય:' એ પંક્તિ બે અમે આ પુસ્તકમાં ચોથા પૃષ્ઠ ઉપર કૉલિસમાં મુદ્રિત કરી છે તે અધિક ભેવામાં આવે છે. એ અધિક પંક્તિ કોલે ઉમેરી અથવા ક્યાંથી આવી તે અમને જ્ઞાત થયું નથી. તથાપિ એ પંક્તિ પ્રાચીન પ્રત ઉપર જ પ્રાચીન અક્ષરોમાં લખેલી ભેવામાં આવી છે. તેથી અત્રે શ્રીગુસાંઈલિના પ્રકાશમાં કૉલિસમાં છાપી છે. સંભવ છે કે બહુ પ્રાચીન સમયથી શ્રીગુસાંઈલિના પ્રકાશમાંથી લેખકના પ્રમાદથી એ કૉલિસમાં છાપેલી પંક્તિ રહી અર્ધ હોય. અને તેથી એ પંક્તિ વિનાની પ્રકાશની અન્ય પ્રતો થઈ. તેથી કોઈ મહાનુભાવી બાલકે પ્રકાશની પ્રતને મૂલ પ્રતની સાથે સરખાવતાં આ પંક્તિની ત્રુટિ માલૂમ પડતાં પોતાની પ્રત ઉપર લખી લીધી હોય. અથવા તો

તેવા જ કોઈ બાલકે લાલુભટ્ટલિની માફક પોતાને અસંગતિ પ્રતીત થતાં અર્ધ થટાવવાને આ પંક્તિ ઉમેરી પણ હોય. અમે તેમ હોય તો પણ આ કૉલિસની પંક્તિથી પ્રકાશનો અર્થ બંધ બેસી રહે છે, અને તેથી લાલુભટ્ટલિનો પ્રયત્ન ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએજ ઉપયોગી લાગે છે.

૪. નવરત્નના ચાલતપ્રાપ્ય સંસ્કૃત સાહિત્યનો સંગ્રહ કરી શોધી અત્ર પ્રકટ કર્યું છે. શ્રીગુસાંઈલિનો નવરત્નપ્રકાશ પ્રાચીન શુદ્ધ દશેક પ્રતિ ઉપરથી શોધી પ્રકટ કર્યો છે. શ્રીપુરુષોત્તમલિની નવરત્નપ્રકાશવિવૃતિ તથા કાકા શ્રીવલ્લભલિની નવરત્નપ્રકાશ-ટીકા પણ બહુ સારી પ્રાચીન પ્રતિઓના આધારે શોધી છપાવી છે. શ્રીમુરલીધરભટ્ટ-લિની ટીકા માત્ર બે પ્રતિ ઉપરથી છપાવી છે. આ ટીકાની શોધમાં અમે બહુ શ્રમ લીધો છે, તો પણ અમને તન્મુદ્રણમાં સંતોષ થયો નથી. આ શ્રીમુરલીધરભટ્ટલિ કોણ અને આરે થયા તે પણ અમને જ્ઞાત થયું નથી. આ સંસ્કૃત સાહિત્ય અમને પં. મદ્લાલાલના પુસ્તકસંગ્રહમાંથી, પોરબંદરવાલા શ્રીરણજીડલાલલ, મુરતવાળા શ્રીમજરલલ, શાસ્ત્રીલ મુખ્યાલ ગોકુલદાસલ તથા શાસ્ત્રી ચીમનલાલ આદિ તરફથી મહ્યું છે. આ સર્વનો અમારા ઉપર પરમ ઉપકાર થયો છે.
૫. શ્રવણ કર્યું છે કે શ્રીગોકુલેશે નવરત્ન ઉપર ટીકા લખી છે, તથાપિ તેનું દર્શન કરવાનું સૌભાગ્ય અમને ક્યાંકિ પણ થયું નથી. સંભવ છે કે શ્રીગુસાંઈલિની વિવૃતિમાં આપે કવચિત્ ઉમેરો કર્યો હોય. આનો કોઈ ઉમેરો એ વિવૃતિમાં પાછળથી થયો છે એમાં તો સંદેહ નથી. એવો એક ઉમેરો બે અમને મળ્યો તે અમે ટિપ્પણમાં સૂક્ષ્મ અક્ષરમાં છાપ્યો છે.
૬. દ્રવ્ય આપનાર શેઠ કરાણી તથા ઉપર જણાવેલા શ્રીગોસ્વામિ બાલકો તથા વિદ્વાનોના સાહાય્યથી આ પરમ પ્રેમ અને પરિશ્રમથી સિદ્ધ થયેલો ગ્રન્થ શ્રીમત્પ્રભુચરણ-કમલમાં સમર્પિતે છીએ.

દોલોત્સવ
૧૯૮૧.
મુંબઈ.

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.
ધૈર્યલાલ સાંકલીઆ.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

नवरत्नम् ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति^१ ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥२॥
सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्यैः सोऽपि चेत् ॥३॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥४॥
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५॥
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥६॥
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं^२ वा हरीच्छया ।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थायतां सुखम् ॥७॥
चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥८॥
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेवं^३ सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥९॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं नवरत्नं समाप्तम् ॥

१. 'इति' रहितोऽपि पाठः क्वचित् । २. 'च' इति श्रीमुरलीधरभट्टसमतः पाठः । ३. 'अबाधनम्'
इति वैकल्पिकच्छेदोऽपि । ४. 'एव' इत्यपि पाठः श्रीप्रभुचरणानाम्पिष्टः । श्रीमुरलीधरभट्टानां तु
'एव' इत्येव ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्त्रीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि शुद्धुर्मुहुः ॥ १ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।

नवरत्नप्रकाशे यास्तद्वाचस्ता उपासहे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सिद्धान्तरहस्य आत्मनिवेदिनामुत्तरपूर्वांघ्रांशेषविनाशोपा-
यस्य भगवतोक्तत्वेपि तत्रोक्तस्य प्रकारस्य भोगसाधकतया अलौकिकभोगानुगुणत्वमेव, न तु
सेवाप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वमपीति तदभावे सेवाया आधिदैविकीत्वाभावं तस्मिन् सति तत्प्र-
वणचेतोरूपमानसीसेवाया असंभवं चालोच्य, कालप्रारब्धस्वभावैरमीक्षणं जन्यमाना-
नामुद्देगादीनां निवृत्त्यर्थं सेवाफलग्रन्थविवरणे च 'सविम्वत्वाद्यत्वाद्भोगस्त्याज्य' इति
लौकिकभोगनिवृत्तौ तत्स्वरूपविचारस्यैव तन्निवृत्त्युपायत्वेनोक्तत्वात् साधारणप्रतिबन्धनिवृत्तौ
च तत्र 'आद्यो बुद्ध्या त्याज्य' इत्यनेन बुद्धिमात्रस्यैवोपायत्वेन कथनादुद्देगनिवृत्तौ च कस्यापि
साधनस्याकथनात्, किञ्चित् साधनं बुद्धिविशेषरूपं वक्तव्यम्, यद्यपि अतत्त्वनिर्धारवि-
वेकयोः प्रतिबन्धसाधकत्वकथनेन तत्प्रतियोगिनोस्तत्त्वनिर्धारविवेकयोः सर्वप्रतिबन्धनिवृ-
त्तिसाधनत्वं सूचितम्, तथापि तत्त्वनिर्धारस्वरूपस्य सङ्क्षेपतः कुत्राप्यनुक्तत्वाद्विवेकधैर्या-
श्रये विवेकस्वरूपस्योक्तत्वेपि आश्रयशेषत्वेनोक्ततया सेवेशेषत्वेनानुक्तत्वात् सेवाया आधि-
दैविकीत्वसम्पत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्रयनाशहेतुं सङ्क्षेपेण वदिष्यन्तो, हेतुनाशे कार्यनाशात् तद्धे-
तुभूतचिन्तानाशकमुपायमुपदिशन्तीत्यनुसन्दधानाः श्रीमत्प्रभुचरणाः नवरत्नं व्याचिकी-
र्षन्तः, तत्र चिन्ताया अकरणस्य आज्ञसत्वात् स्वभावतः प्रासायाश्चिन्ताया अनिवार्यत्वात्
तत्स्वरूपमन्यन्निश्चिन्त्य तन्निवृत्त्युपायमुपदिशन्तो मङ्गलमाचरन्ति चिन्तेत्यादि । चिन्ता-
शब्दः स्मरणार्थ्ये मनोव्यापारे योगरूढः । चिति स्मृत्यामित्यतो भावेऽङ्घ्रि कृते चिन्तापद-
सिद्धेः । 'स्याच्चिन्ता स्मृतिराध्यान'मिति कोशाच्च । सा तु प्रयत्नमन्तरेणापि, सदृशादृष्टचि-
न्ताधैः तद्वीजबोधकैः तदा तदा सम्भवन्ती न निर्वारयितुं शक्या । किञ्च, तस्याः सर्वस्या
अकरणे 'निवेदनं तु स्मर्तव्य'मित्यग्रिमग्रन्थस्यापि विरोध इति सात्र न निषिध्यत्वेन
विवक्षिता, किन्तु शास्त्रेषु प्रस्तूयमाने विचारे 'अयेदं चिन्त्यत' इत्यादिप्रयोगदर्शनादि-
चारापरनामा सप्रयत्नः स्मरणविशेषश्चिन्ता, तस्या अपि योऽवस्थाविशेषकृतोऽवान्तरवि-

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्थम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाद्यः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषयेति

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

शेषः, 'एवमापन्नस्य मे किं स्या'दित्याकारकः, सोऽत्र चिन्तापदेन परामृश्यते । तस्याः सन्तानः परम्परा, तद्धन्तारो निवारका यत्पदाम्बुजरेणवस्तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहुः यदा यदा तत्सम्भवः, तदा तदा तन्निवृत्त्यर्थं प्रकर्षेण कायवाञ्छनसेन-नमामीत्यर्थः । तेन तदीयानां प्रथमत इदमेव तन्निवृत्तिसाधनमिति बोधितम् ।

अतःपरं व्याख्येयग्रन्थे चिन्ताया अकरणस्य निवेदितात्मधर्मत्वेनोक्तत्वाद्ब्रह्म-सम्बन्धकरणरूपस्य निवेदनस्य चात्र भगवद्दर्माचरणाधिकारत्वेन विवक्षितत्वात् तेन भगवदीयत्वे सति यथा चिन्तोद्भवस्तं प्रकारं ग्रन्थावतरणाय पृच्छति नन्वित्यादि । सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तेरसमर्पितवर्जनेन च भाविदोषासंसर्गस्य व्यवहारानुरोधौपदेशेन लौकिकालौकिकनिर्वाहप्रकारस्य चोक्तत्वात् तद्रीत्याऽभीक्ष्णं भगवन्तमनुसन्दधानानामैहिकामुष्मिकचिन्ताहेतोर्निस्तत्वात् केन प्रकारेण चिन्तोद्भवो यन्निवृत्त्यर्थं नवरत्नकरणमित्यर्थः । एवं साभिप्रायप्रश्नुखेन तादृशां चिन्तोद्भवे आक्षिप्ते तेषां यादृशचिन्तोद्भवस्तं प्रकारं वक्तुं निवेदनस्याधिकाररूपतायास्तत्प्रकारस्य च कुत्रापि प्रकरणग्रन्थेष्वनुक्तत्वात्प्रकारकथनादिना तदावश्यकत्वं च दृढीकर्तुं येषां न लौकिकी चिन्ता, ते भगवदीया इति तेषां स्वरूपबोधनाय प्रथमतः पुरःस्फूर्तिकं चिन्तोद्भवप्रकारं वदिष्यन्तस्तत्र हेतुं विकल्पयन्ति इत्थमित्यादि । तथाच । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या चिन्ताया असम्भवेपि शरीरादियात्रानिर्वाहप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वादनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहमिति भगवदुक्ते निर्वाहप्रकारे प्राप्तस्योक्तविकल्पात्मकहेतोर्वशाच्चिन्ता सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थं ग्रन्थकरणमित्यर्थः । एवं सम्भवहेतुं विकल्प्याद्यं परिहरन्ति तत्रेत्यादि । आद्यः निवेदितेनैव निर्वाहः कार्य इति पक्षो न युज्यते । तत्र हेतुस्तदीयार्थस्येत्यादि । नन्वेकादशोर्निवेश आत्मनिवेदिनां धर्माः 'प्रज्ञा-सूतकथायां म' इत्यादिनोपदिष्टाः, ते च शरीरस्थितिमन्तरेणानुपपद्यमानास्तद्देतुमाक्षिपन्तो निवेदितेनैव निर्वाहमाक्षिपन्तीति नेच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वमित्यत आहुः वस्तुत इत्यादि । अनुचित इति । भगवद्वाक्यतात्पर्यज्ञानाभावादनुचितः । सेवकस्येति । हेतुगर्भ विशेषणम् । तथा चेच्छाज्ञानेपि प्रत्यक्षाज्ञाभावेन स्वतस्तथाकरणे भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्य सम्भवादनुचित इत्यर्थः । पुनः प्रकारान्तरेणौचित्यमाशङ्क्य परिहरन्ति न श्येत्यादि । दोषावहत्वादिति । देहादेर्भगवदीयत्वेपि तत्र स्वत्वामिमानस्यानपेतत्वेन

वाच्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थ स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः-पाशा रञ्जुरिति चेत् । अत्र वदामः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथात्वादित्यर्थः । द्वितीयं परिहरन्ति न द्वितीय इत्यादि । तत्र हेतुः अस्वधर्मत्वादिति । तदुपपादयन्ति निवेदितस्येत्यादि । भगवता ह्यात्मसमर्पणमिदं स्वत्वामिमानत्यागार्थमेवाधिकारिविशेषणतयोपदिष्टम् । तत्पूर्वकमेव सेवाकरणस्य महद्विद्ययमत्तयुत्कृष्टकारणत्वात् । अन्यथा अत्रोक्तानां पूर्वमेकादशाध्यायेप्युक्तत्वादत्रोक्तेषु विशेषामावे उत्कृष्टकारणत्वप्रतिज्ञानं विरुद्धं स्यात् । उत्कृष्टत्वं त्वत्रानन्यथासिद्धत्वमेव । नत्वन्यत् । तथा सति पूर्वोक्तेष्वेतत्कारणत्वाभावप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सत्येतेषु परत्वोक्तेर्विरोधप्रसङ्गादिति । अतो यथान्यस्मिन्नितिदोषं नाभिमन्यते, तथा देहादावपि युक्तम् । तथाचनिवेदितेन देहादिनिर्वाहं चिन्तयेत्, तदा स्वत्वामिमानदाढ्यापत्या स्वस्वधर्मो बाध्यतेति स्वधर्मविरोधेन तथात्वादित्यर्थः । एवं हेतुद्वयं परिहृत्य यथाचिन्तोद्भवस्तं प्रकारमाहुः एवं सतीत्यादि । एवं देहादिनिर्वाहप्रकारद्वये बाधिते सति देहादेस्तथात्वेन भजनासम्भवाच्चिदेनवैयर्थ्यं पुष्टिमर्यादात्मकभक्तिमार्गोच्छेदश्चेति भगवता भक्त्यधिकारवाक्यं भक्तिपरमकारणवाक्ये किमभिप्रायेणोक्तम् । ततश्च तदर्थज्ञानासम्भवे तदुक्तकरणस्यापि व्यङ्गत्वात्कथं परमभक्तिलाभ इत्येवं तत्सम्भव इत्यर्थः । एवं चिन्तासम्भवव्युत्पादनमुखेनात्मनिवेदनस्यावश्यकत्वे आक्षिप्ते प्रमाणपुरःसरं तदावश्यकत्वं साधयन्त उभयतःपाशं परिहरन्ति अत्रेत्यादि । इह दारानितिवाक्यमेकादशे प्रबुद्धेन 'तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्भुर्वात्मदैवतम् । अमाययानुवृत्त्या यैस्तुध्येदात्मात्मदो हरि'रिति भगवत्तोषहेतून् धर्मानुपक्रम्य तत्र पठितम् । दारादीनालक्ष्य यत् परमेश्वराय निवेदनं तदुपयोगितया समर्पणं तत् शिक्षेदिति तत्रपदसम्बन्धादारादिनिवेदनस्य भगवत्तोषहेतुत्वं बोधयति । द्वितीयं तु भगवता भक्तिपरमकारणमुपक्रम्य तदधिकारिविशेषणबोधनाय पठितमिति तत्र तदावश्यकतां बोधयति । आदिपदेन 'दास्येनात्मनिवेदन'मिति भगवद्वाक्यं स्वगोत्रविचितात्मसमर्पणेन चेति बल्याचारबोधकवाक्यं च संज्ञ्हाते । अत एतादृशैर्वाक्यैः स्वसर्वस्वसहितात्मसमर्पणं भक्तिमार्ग आवश्यकम् । तत्र हेतुर्दृष्टान्तश्च साक्षादित्यादिना स्फुटीक्रियते । न'चैवं धर्मै'रितिवाक्ये स्वकृतधर्मोपेक्षया मनुष्यत्वस्य पूर्ववर्तित्वेन तत्र तेषां हेतुतयाऽनन्वयेप्यात्मनिवेदिनामिति तद्विशेषणं प्रति हेतुत्वस्य सुवचत्वात्तं प्रत्येव तेषां हेतुत्वं तस्य भक्तिं प्रतीतिप्रतीतेः स्फुटत्वादात्मनिवेदनस्य धर्मकरणं प्रत्यधिकारत्वमयुक्तमिति शङ्क्यम् । साक्षात् क्रियान्वयं विहायैवं कल्पने बीजाभावात् । धर्माणां तत्रोपक्षये आत्मनिवेदनोत्तरं तदकरणप्रसङ्गात् ।

धर्मैर्मुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः क्रोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इत्यादि-
वाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि
गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धयर्थमावश्यकव्यवहारार्थं
निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽप्ये
तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु
निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

दास्येनात्मनिवेदनस्य प्रागुक्तत्वेन दास्यापेक्षया न्यूनश्रद्धादिधर्मजन्यात्मनिवेदनस्यात्र पर-
त्वोक्तेर्बाजानुपलम्भाच्च । तस्मादात्मनिवेदनस्याधिकारत्वायैवैवमुक्तिरिति निश्चय इति
बोध्यम् । तथा च त्रैवर्णिकत्वेन सत्यामपि स्वरूपयोग्यतायामुपनयनं विना वैदिककर्मणि
यथा नाधिकारः, तथा 'देवोऽसुरो वे'ति 'को नु राजन्निन्द्रियवा'निति च वाक्यात् स्वरू-
पयोग्यत्वेपि निवेदनं विना विवक्षितभक्तौ नाधिकार इति सिध्यति । एवं निवेदनस्वरू-
पस्यानवगमे भजनासिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति अन्यथेत्यादि । यदि भगवद्वाक्यस्य आत्मनि-
वेदिपदे दाराद्यात्मा न सङ्गृह्येत, तदा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तथा तदात्मनिवेदने
अकृते तस्या आत्मनिवेदिताभावादनधिकारेणाप्ये सेवायां तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैय-
र्थ्यापत्तिरत उक्तरीत्या तज्ज्ञानमावश्यकमित्यर्थः । तथा च यथा गायत्र्युपदेशजनित उप-
नयनसंस्कारः प्रतिपुरुषं भवंस्तस्य तस्य वैदिककर्मोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकभिक्षादि-
कर्मणां न प्रतिरोधकः, तथोक्तरीत्या निवेदनरूपः संस्कारोपि भजनोपकारकदेहादि-
निर्वाहप्रयोजकस्य निवेदितोपयोगस्य न प्रतिरोधक इति नोभयतःपाशरजुरित्यर्थः । अत्र
दारपदं चेतनयोः पुत्राप्तयोरप्युपलक्षकम् । उत्तरक्षणपदं चावश्यकत्वपरम् । न त्वव्य-
वहितोत्तरत्वपरम् । अशक्योपदेशत्वापादकत्वात् । अथवा । उत्तरक्षण एव तद्वैयर्थ्या-
पत्तिरिति योजना, तेन न कोपि दोषः । एवं चोक्तवाक्यद्वयविचारे दारादिनिवेदनं
स्वात्मना सह क्रियमाणं पृथक् धर्मरूपम्, दारादिभिः स्वयं क्रियमाणं त्वधिकाररूप-
मिति सिध्यतीति । एकेन स्वसर्वस्वनिवेदने तेषां निवेदितत्वेपि तेषां स्वस्वसंस्काराय पृथक्
तत्करणं युज्यते । तस्मात्पुष्टं अन्यथा तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति । ननु भवत्वे-
वमिच्छाज्ञानेनोभयतःपाशनिवृत्तिः, तथाप्याज्ञाऽभावे स्वतस्तथाकरणे यो दोषः, स कथं
निवर्तेतेत्यत आहुः अपरं चेत्यादि । दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादना-
नुकूलः, 'तुम्यमहं सम्प्रददे न मम', इत्यादिशब्दाभिव्यञ्जो मनोव्यापारः । तस्मिन् कृते
सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगः । दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात् । निवेदनं तु तदीयत्वानु-
सन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुम्यं समर्पयामि, निवेदयामी'त्यादिशब्दाभिव्यञ्ज-
स्तद्विलक्षणो मनोव्यापारः । तस्मिन्कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय । दत्तापहारदोषानु-
त्पादकत्वात् । तत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि स्वत्वत्यागपरस्वत्वोत्पत्त्यानुकूल्य-

१. () नास्ति बहुपुरुषेषु ।

निवेदितामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा,
दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ
निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽप्ये तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । *तत्करणे
बाह्यसुखसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च
तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंमूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता
कापि न कार्येति ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

योर्दाने निवेदने च तुल्यतायामपि कश्चिद्विशेषो न स्यात्, तदा पुराणेष्वनिवेदितस्य
निषिद्धत्वात्निवेदितान्नादेर्भोजनं नोक्तं स्यात् । तत्तुच्यते । तथा हि । हरिवल्लभसुधोदये
स्कान्दे 'नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् । योऽश्नाति नित्यं पुरतो
मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् । षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् । विष्णो-
नैवेद्यसिक्तयेन तत्फलं भुञ्जतः कला'विति । गारुडे च 'पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्ष-
येद्धरेः । शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासन'मिति । ब्रह्माण्डे च 'पत्रं पुष्पं फलं
तोयमन्नपानाद्यमौषधं । अनिवेद्यं न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् । अनिवेद्यं तु भुञ्जानः
प्रायश्चित्ती भवेन्नरः । तस्मात्सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदे'ति । पद्मपुराणेपि गौतमः
'अम्बरीष गृहे पक्वं सदाभीष्टं यदात्मनः । अनिवेद्यं हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी ।
अम्बरीष नवं वल्लं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णुपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'-
रिति । श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे दितिपुंसवन्नत्रे समाप्त्यध्याये 'उद्गास्य देवं स्वे धाम्नि
तन्निवेदितमग्रतः । अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामाप्तये तथे'ति । तेन सिद्धमाहुः निवेदि-
तानामित्यादि, शोधकत्वाच्चेत्यन्तम् । तथा चैवं भगवद्वत्प्रसादत्वेन तन्निवेदितग्रहणस्य
दासधर्मत्वे सिद्धे आज्ञास्वत्वमप्यर्थोदेव सिद्धमिति न भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्यापत्ति-
रित्यर्थः । नचोक्तवाक्येषु 'त्वयोपभुक्ते'ति वाक्ये च अचेतनानामेव प्रसादत्वेनोपयोग-
स्योक्तत्वाद्दारादीनां विनियोगे दोषः स्यादेवेति शङ्क्यम् । पाकादिसेवायां विनियोगस्य
तेषामपि सिद्धत्वेनादोषादिति । एवं चैतावता ग्रन्थेन सिद्धान्तरहस्योक्तमेव सर्वं निर्धारितं
ज्ञेयम् । तेनात्र न तदुक्तविचारान्विन्तासम्भवः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति बोधितम् । अतः
परं तत्संभवप्रकारं वदन्तो ग्रन्थमवतारयन्ति किन्त्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति लौकिके-

* (किंच । तत्करणे बाह्यसुखसम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे
बाह्यसुखस्य सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवात्वेन तत्परिकृत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच
'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः । अन्यथा
आयासविघातमित्येतावतैव चारितार्थं स्यात् । अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविघातमेव भगवान् करोति, न
स्वसेवार्थकायासविघातमिति निश्चयते । अन्यथा यत्नमात्रस्य निषेधे भजनमार्ग एवोच्छिद्येत । नन्वात्म-

१. विहान्तर्गतं टिप्पणं पाश्चात्यं प्रभूणामिति प्रतिभाति । २. दितिपयोव्रतेति पाठः ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकतदभावेपि भगवदर्थपि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गी-
कारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः ।
कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

त्यादि । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या तन्निष्कर्षजनकपूर्वोक्तविचाररीत्या च लौकिक्याश्चिन्ताया
अभावेपि पूर्वोक्तरीत्या भगवदर्थपि सा न कार्या । तत्र हेत्वपेक्षायां निवेदितात्मपदेन
भगवानपीत्युत्तरार्धेन च सूचितं हेतुद्वयं व्याख्यानमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति अङ्गीकारेणैवे-
त्यादि, आवश्यक इति । ब्रह्मास्त्रचातकन्यायादावश्यकः । एतेन निवेदितात्मपदसूचितो
हेतुर्विवृतः । द्वितीयं विवृण्वन्ति भगवतोपि तथा नियम इति । अङ्गीकृतपालननियमः ।
योगक्षेमवहनवाक्येनैव तथा सिद्धत्वादित्यर्थः । [यदि तूत्तरार्धस्याग्रे व्याख्यातत्वादेतस्य
पूर्वेशेष्वमङ्गीक्रियते, तदास्यार्थिकत्वं ज्ञेयम् । वस्तुतस्तुत्तरार्धे व्याख्यानेपि महापुरुषेण
निवेदितेन पूर्वार्धोक्ते हेतोरप्युक्तत्वात्पूर्वार्धेप्युत्तरार्धार्थाङ्गीकारो न दुष्ट इति ज्ञेयम् ।]
तत्रापि विशेषं वदन्तीत्याहुः कदाचित्दित्यादि । कदापीतिपदेनेति । कदाशब्दापि-
शब्दाभ्यां युक्तमिति पदं तेनेत्यर्थः । प्रकारद्वयान्यतरेण विलम्बेपि चिन्ताया अकरणे
एतावेव हेतू इति ज्ञापनायान्ते इतिपदोक्तिः । तथा चात्रेतिपदयुतात्पाठादुपगीति-
शब्दः । 'आर्याद्वितीयकेषु यद्गदितं लक्षणं, तत्स्यात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं
तां मुनिर्भृते' इति वृत्तरत्नाकरे तल्लक्षणादुदाहरणाच्च । यदा त्वितिशब्दरहितः पाठः,
तदा त्वियं वृत्तिगन्धिचूर्णिकेति न किमपि छन्दः । (वृत्तिगन्धिचूर्णिकालक्षणं तु
छन्दोमञ्जर्यामुक्तम् । 'अपादः पदसन्तानो गद्यं तत्तु त्रिधा मतम् । चूर्णिकोत्कलिकाप्रायवृ-
त्तिगन्धिप्रभेदतः ॥ अकठोराक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णिकं विदुः । भवत्युत्कलिताप्रायं समासाद्यं
दृढाक्षरम् । वृत्तैकदेशसम्बन्धाद्बृत्तिगन्धि पुनः स्मृतम् ॥) तदा हेतुरर्थोक्त एव ।

ननु सत्यं भगवान् स्वाज्ञाकारित्वं जीवेऽवलोक्यापेक्षितपूणेन योगक्षेमं भगवदर्थं
लौकिकार्थं च निर्वाहयति, तथापि प्रथमं जघन्याधिकारे भगवांस्तथा निर्वाहयेन्नवेति

निवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तन्ननितचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रति-
भाति । भजनमार्गं हि भगवदङ्गीकारस्त्रिविधः । पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन । तत्रापि वै त्रैविध्यम् । तत्र
पुष्टिपुष्टावङ्गीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि । परं मर्यादापुष्टौ प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहांशः,
तद्विघातः पुष्ट्यंशः । तथा चात्मनिवेदिनां मर्यादाप्रवाहसंवलितानां यथेतरयत्ने कृते बाह्यैस्त्वसेवाप्रतिबन्धत-
द्विघातादिकं भवति, तथा सेवार्थकेपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावाय तान् प्रति चिन्ता
कापि न कार्येत्युक्तम् । अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित् ।)

१. लौकिकीति पाठः । २. भोजनार्थमिति पाठः । ३. [] चिदान्तर्गतं बहुषु पुल्लेषु नास्ति ।

४. () टिप्पणं नास्ति बहुषु पुल्लेषु ।

पदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बाघासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्,
तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिस्थोऽतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण
निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाह्यैर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

चिन्ता सादेवेत्याशङ्गां समादधते इत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ननु लोकवदि-
त्यादि । स्वस्यापीत्यनेन भगवान् परामृश्यते । गतिमिति । रीतिम् । तथा च
यथा लौकिकाः प्रभवः सेवकस्य कुटुम्बाघासक्तिं दृष्ट्वा तत्कार्ये उदासते, तथा
भगवानप्युदासीत, तदा किं कुर्यादित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति यत इत्यादि । यतोऽयं जीवः
पुष्टिस्थः भक्तिमार्गीयस्वाङ्गीकारणीभूतानुग्रहविषयोऽत एतस्मिन् मर्यादामार्गीयवैरा-
ग्याद्यभावेपि महापुरुषेणैतत्सम्बन्धिनः सर्वेपि निवेदिता इति तेष्वसक्तावलौकिको
भगवान् यथा नारदवाक्यसत्यत्वाय नलकूबरमणिग्रीवावनुजग्रहेति दृष्टत्वात्, 'स्वयं
समुत्तीर्ये'ति गर्भस्तुतिवाक्ये भक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्यानुग्रहीतेषु भगवदनुग्रहस्य सिद्ध-
त्वाच्च, स्वामीष्टमार्गप्रवर्तकाचार्यनिवेदितेषु स्वकीयत्वेनाङ्गीकारादुपेक्षां न करिष्य-
तीति भगवत्स्वभावं निश्चित्य, 'संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभि'रितिन्यायेन क्लेशे
स्वप्रारब्धस्य हेतुतां चानुसन्धाय चिन्ता न कार्या । एवं यथा वित्तजायां न कार्या, तथा
तनुजायां शरीरसहायसौकर्याभावेपि न कार्येति बोध्यम् । अत्र दिश्यात्रस्य प्रदर्शनादिति ।
लौकिकीं चेति मूले चकारोवधारणार्थः क्रिययान्वेति । समुच्चयार्थत्वे त्वनुक्तां वैदिकीं
गतिं समुच्चिनोति । यथा हि चाक्रायणस्यापद्रताविभ्यखादितकुल्माषभक्षणं श्रूयते,
तथात्र भक्तिमार्गीये काप्यश्रवणादस्मरणात् योगक्षेमप्रवहनवाक्याच्च । इदं च 'सर्वात्मा-
नुमति'सूत्रे स्थितम् ॥ १ ॥

अतः परमत्र दोषोपस्थितिमाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवं
चेदित्यादि । कुटुम्बाघासक्तावपि भगवानुपेक्षां न कुर्याच्चेत्, तदा नैवेद्यादिसम्पादनार्थं
यत्न एव कर्तव्यः, किमर्थं क्लेशः सोढव्य इत्यादिविचारण स्वच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या
नानाविधं बाह्यैर्मुख्यं स्यात् । अत एतादृशे संकटे उपायमाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति
सर्वदेत्यादि । आत्मनिवेदनं हि सेवाधिकारार्थं संस्काररूपतया भगवतोऽभिप्रेतमिति
पूर्वमुपपादितम् । तथा च तदुत्तरं सर्वदा सेवाया एव करणात्सर्वांशे स्वस्य सपरिकरस्य
सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धाने बाह्यैर्मुख्यं न भविष्यतीति भाव इत्यर्थः । नन्वत्र तुशब्देन
निवेदनस्मरणस्यैव तथात्वं बोध्यत इति कथं तथा व्याख्यायते इत्याकाङ्क्षायां तुशब्द-

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्य-
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्याप्रत्यक-
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन
सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।
अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः ।
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमञ्चिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि ।
सर्वात्मपदेप्येवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-
कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते ।
अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं
कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय
निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवा-
पेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्तिवच्छाया अतिकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञाप-
नायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्व-
व्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव दृढीकर्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति
पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुख्याशक्तावनुकल्पत्वादेवा-
वश्यकत्वप्राप्तेर्नदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि, सूच्यत
इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरित्येकं पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि ।
तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगव-
दीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जनं दृष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदेतत्करणे पूर्वोक्त-
दोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्रेशप्राप्तौ पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽसम्भवे
प्रभोश्च सानुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्ती-
त्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः । प्रश्ने इति सप्तमी ।
व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुच्या
पक्षान्तरमाहुः अथवा कालेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि ।
अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपालुत्वं तिर इव भवतीत्यतः पक्षान्तरमाहुः अथवा निजा
इत्यादि । नन्वेवं सति पूर्वं कुतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि ।
अतिकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणक्षोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृ-
तत्वम् । तथा च जघन्याधिकारिणामिच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

१. शेन सर्वांशैः इति पाठः । २. सर्वात्मनेति पाठः । ३. सर्वदा इति पाठः । ४. आत्मत्वमिति पाठः ।

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते,
तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभु-
सम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

उत्तमाधिकारिणां त्विच्छाया अतिकृतत्वादिदानीमेवं व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयम-
प्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽन्यत्वे वा
उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् ।
नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एवं
सत्यपि यत् स्वीयकेशोपेक्षणम्, तत्किञ्चि 'दासत्तौ भगवानेवे'ति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा
कार्यायैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्यथाप्रार्थनमपराधावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे
स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम् । अत एतदुभयं विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वस्वाधि-
कारानुसारेण विवेकधैर्यै एव रक्षणीये इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थिते वा
ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न
भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति
तन्निवृत्त्यर्थमग्रिमं वदन्तीत्याशयेन तृतीयं श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत इत्यादि ।
स्वधर्महानिचिन्ता बाधत इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति सम-
र्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्सेव विनि-
योगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिकं मुख्यम्, तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा
तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति ।
स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पण-
क्रियोत्पत्तिदशायां स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात्
यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्युपयोक्ष्यमाणानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया
अयोगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया
अयोगः । भगवत्युपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वत्वाभिमानं न्यग्भाव्य
भगवदीयत्वेऽनुसंहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । ननु निवेदनेन
सर्वेषां भगवदीयत्वरूपे सम्बन्धे तुल्येपि कस्यचिद्विशेषतः सेवायां विनियोगो

१. शरीराणामिति पाठः ।

२ न. र.

निवेदनेऽङ्गीकारमयादेत्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

दृश्यते, कस्यचित् स्वल्पः, कस्यचिन्न, तत्र हेत्वज्ञाने तु चिन्ता स्यादेवेति तस्याः कथं निवृत्तिरित्यतस्त्रिवृत्तिप्रकारं स्थितिपदेन वदन्तीत्याहुः इयमित्यादि । तथा च तत्र पुष्टि कारणत्वेनावधार्य चिन्ता न कार्या, किन्तु 'गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणे'ति न्यायेन सन्तोषो विधेय इति सुखेन तन्निवृत्तिः । एकत्र विशेषदर्शनेऽप्यन्यत्र निवेदनकृतभगवत्सम्बन्धस्थानपायात्त्र कापि चिन्तेत्यर्थः । एवञ्चात्र वाक्यद्वयं प्रतिभाति, सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकं नै गुणप्रधानभावेन, अतस्तेषामन्यविनियोगे स्वस्य का चिन्तेत्येकम्; इति उक्त-रूपा, स्थितिः निवेदनेऽङ्गीकारमयादा, इतो विलक्षणा तु पुष्टिः, अतः कस्यचिद्विशेष-आङ्गीकारेऽपि चिन्ता केत्यपरम् । अत्राग्रिमवाक्ये स्वस्येति चेतनपरामर्शकपददर्शनात् पूर्व-वाक्येपि सर्वेषामितिपदेन शरीराधिष्ठातृणामेव परामर्शो युक्तः, न तु चेतनाचेतनानां यावतामिति पूर्वव्याख्यानमयुक्तम् । किञ्च, भगवति समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगे स्वधर्महानिस्तादा स्यात्, यदि तेषां समर्पितत्वं न स्यात्, समर्पितेषु विनियोगे तु 'निवे-दिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्या'दितिवाक्ये निवेदिनां समर्पणस्य कथनेन तस्य च समर्पणस्य निवेदिनां परस्परविनियोग एव सम्भवेन भक्तिमार्गमर्यादाबोधकादुक्तवाक्यादेव चिन्तो-दयस्यासम्भव इति चारुच्या पक्षान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवा पुत्रेत्यादि । तथा च सेवासम्बन्धिनां चेतनानां निवेदितव्यतिरिक्तसंसर्गविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्यर्थमयमुप-देशः । पुत्रादीनामित्यादिपदेनाचेतनानामपि संग्रहः । उत्तरपूर्ववाक्ययोरैकजातीयमेव ग्राह्य-मित्यत्र नियामकत्वस्याभावात् । पूर्वव्याख्यानोक्ता चिन्ता तु पुष्टिमात्रविचारात् । साम्प्र-तिका तु मार्गमर्यादा इति न कोपि दोष इत्यर्थः । स्वस्येत्यन्तस्य पदराशेः पूर्ववाक्य एव सम्बन्धे शिष्टं सोपि चेदिति पदत्रयमलग्नकं तिष्ठतीति, तत्सम्बन्धायाहुः किञ्चेत्यादि ॥ ३ ॥

संबन्धं बोधयित्वा अर्थं वदन्तोऽग्रिमवतारयन्ति यथेत्यादि, स्वस्येति । अनुभाव-ज्ञानेन स्वस्मिन् विशेषाङ्गीकारं निश्चितवतो वा सेवाकर्तृत्वेन प्रधानस्य वा । इत्याहुरिति ।

१. निवेदिनोऽङ्गीकारेतिपाठः । २. नेति नास्ति । ३. विशेषतोऽङ्गीकारे इति पाठः । ४. सम्बन्धि-त्वेन करणेति पाठः । ५. न कोपि दोष इत्यन्तमधिकं क्वचित् ।

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्ण-सात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ता-विषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञा-नादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

इतिपदं कैमुतिकबोधकेनाग्रिमवाक्येनाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति हीनेत्यादि । हीन-मध्यमाधिकारिभिरिति । भगवतः सर्वरूपत्वेन मार्गप्रवर्तकोपदेशकशुर्वीदिरूपताया निरवधिसन्निदानन्दस्वरूपत्वेन परमफलताया निरुपधिभक्त्येकप्राप्यतायाश्चाज्ञानाद्धी-नाधिकारिभिः । तादृशज्ञानवत्त्वेपि कृष्णसात्कृतप्राणत्वाभावेन मध्यमाधिकारिभिरित्यर्थः । शेषं व्याख्यानं तु स्पष्टार्थम् । तथा च स्वस्मिन् विशेषानुग्रहं निश्चितवतोपि यत्रान्य-विनियोगसंभवः, तत्र भगवदिच्छैव किञ्चित्कार्यार्थं तादृशी तेनावधार्या, न तु चिन्ता कार्या, तन्मूलमृतस्य स्वापराधस्याभावादिति । तदेतदुक्तं केवलमित्यादिना, केति शब्द उक्त इत्यन्तेन । कैमुतिकन्यायस्य स्पष्टीकरणार्थं पदसम्बन्धमाहुः पदेत्यादि, सा केत्युक्तमित्यन्तम् । अत्रेदमुक्तं भवति । एकादशस्कन्धे साधुलक्षणकथन-समाप्तौ 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः । भजन्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मता' इति भगवद्वाक्ये हीनमध्यमयोरप्यनन्यभावेन भजने भक्ततमतयोत्कर्षः कथितः । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ च 'न ह्यज्ञोपक्रमे ध्वंसो मद्दर्मस्योद्धवावपि । मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादेनाशिषः । यो यो मयि परे धर्मः कल्पते निःफलाय चेत् । तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तमे'ति श्लोकद्वयं भगवतोक्तम् । तच्च श्रीधरीये, अङ्ग हे उद्धव, अनाशिषो निष्कामस्य मद्दर्मस्य उपक्रमे सति, अपवपि ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव । यतो भयैव निर्गुणत्वादयं धर्मः सम्यग्व्यवसितो निश्चितः, नतु मन्वादिमुखेन कथञ्चित् । नतु त्वद्दर्मस्य एवं सामर्थ्यम्, तस्मादन्यत्र कथम्, तत्राह यो य इति । अयमर्थः । किं वक्तव्यं मद्दर्मस्य न ध्वंस इति, यतो लौकिकोपि यो यो निरर्थो व्यर्थ आयासः, सोपि मयि परे परमेश्वरे निष्फलाय कल्प्यते चेत्, निष्कामतया अर्पितश्चेत्, तर्हि स धर्म एव स्यात्, कर्मकरणायासो न निरर्थः स्यात् । निरर्थायासे दृष्टान्तः । यथा भयशोकादेर्हेतोः पलायन-क्रन्दनादिस्तद्भवत् । एवं व्याख्यातम् । तथा च निष्कामभगवद्दर्मस्य वैगुण्यादिमिरीषदपि नाशो नास्तीति भगवता कथनात् प्रकृते चात्मनिवेदनस्य अधिकारतया तथात्वात् हीनाद्य-

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नेवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नेवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवदित्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोऽन्यभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

धिकारेपि साधनतः फलतश्च नाशाभावाच्चिन्ताया अभावो यत्र, तत्र मुख्याधिकारे किं वक्तव्यमिति भगवद्वाक्यादेव सिद्धम् । तथा भगवदर्थो लौकिकोप्यायासो नापार्थ इति च । अतः पूर्वोक्तं सर्वं युक्तमेवेति तेषामुक्तचिन्ताजन्या विलापात्मिका परिदेवना का, न कापीत्यर्थादेवोक्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं निवेदितविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायमुक्त्वा इदानीं निवेदनविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति ननु सख्येत्यादि । प्रेमभक्तौ हि विहितश्रवणादिनवकं प्रत्येकं क्वचित् समुदितं च साधनम्, तेष्वद्यं त्रयं सेव्यनिरपेक्षजीवमात्रसाध्यम् । पादसेवनमपि 'पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पण' इति नवमस्कन्धवाक्योक्तरीत्या पङ्क्त्यां सेवनमिति पक्षे पूर्ववदेव । पादयोः सेवनमितिपक्षे तु सेव्यसापेक्षम् । तथैवार्चनादित्रयमपि । तथा सत्येत्तच्चतुष्टयं त्रयं वा सेव्ये चैतन्याप्राकट्येपि सिध्यति । सख्यात्मनिवेदने तु भजनीये चैतन्यप्राकट्यमपेक्षेते । यदि हि भजनीयो भक्ते सख्यं तत्कृतमात्मनिवेदनं च चैतन्यप्राकट्येनाङ्गीकुर्यात्, तदा भगवदङ्गीकारेण सम्पद्येते । तत्प्राकट्यं तु प्रेमभक्त्यधीनम् । साम्प्रतं तु तत्साधनदशा, तथा चेदानीं तत्प्राकट्याभावात् स्वयमित्यादिनोक्ता चिन्ता भवत्येव हीनमध्यमयोरित्यतस्तन्निवृत्त्युपायमाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति पुरुषोत्तम इत्यादि । उक्तनिवेदनवदिति । मूलस्य तथापदस्यार्थः । अत्र च सप्तम्यर्थे वतिः । तथा च यथा भगवद्भक्त्यपेक्षामरूपे निवेदनेऽन्यविनियोगादिना वैगुण्यतोपि भगवद्भक्त्याशाभावाच्चिन्ता त्यज्यते, तथा अङ्गीकारसन्देहरूपा निवेदनविषयिण्यापि सा त्याज्येत्यर्थः । अत्र हेत्वपेक्षायां श्रीपुरु-

समपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेत्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथाभूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

षोत्तमपदेन तं वदन्तीत्याशयेन तत्पदं विवृण्वन्ति, पुरुषोत्तमेनेत्यादि श्रीपदमित्यन्तम् । तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति तथा चेत्यादि । सरसभक्तयुक्तो भगवान् हीन्द्रयागभङ्गगोवर्धनोद्धरणादिलीलाभिस्तथाकुर्वन् स्वीयान् पुष्पातीति इन्द्रयागभङ्गादिबोधकाच्छब्दादेव भगवतस्तथास्वभावमवगत्य सा त्याज्या, स्वसानन्यभावेन भजनस्य निर्वाहे कार्यलिङ्गकानुमानादेवाङ्गीकारं निश्चित्य सा त्याज्या भक्तानां दयालुत्वादित्यर्थः । न च निवेदनगद्ये भगवतः केवलस्यैव सम्प्रदानत्वमुक्तमिति कथमत्र श्रीपुरुषोत्तमपदेन भक्तयुक्ते निवेदनमुच्यत इति शङ्काम् । एकादश एव रामेण सार्धमित्यादिना या तावद्भक्तिः प्रशंसिता, तत्परमकारणत्वेनोन्विश आत्मनिवेदिधर्मा उक्ताः, तत्रात्मनिवेदनप्रकारो न स्फुट इति तत्रत्यं सर्वं संगृह्य कल्पसूत्रवत् गद्ये प्रभुणोक्तः, अतः कृष्णपदेन तत्र ताभिः सहित एव परामृश्यते । तेन भक्तयुक्तस्यैव सम्प्रदानत्वम् । किञ्च, सदानन्दो हि भगवान् रसात्मक एव, 'रसो वै स' इति श्रुत्या सिद्धो, रसश्चालम्बनसापेक्ष एवेत्यतोपि तथेति न विरोधगन्धोपि । ननु सत्यमेवम्, तथापि स्वस्य कदाचित् कथञ्चिदन्यविनियोगे जाते तस्माद्दिरुद्धकार्यादङ्गीकारे सन्देहो भवत्येवेति तद्रूपा सा कथं त्यक्तुं शक्येत्याकाङ्क्षायां तत्रोपायं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । न तथेति । न कार्या । व्याकुर्वन्ति प्रमादादित्यादि । तत्स्वभाववशात्तथाभूतमिति । जीवस्वभाववशात् कदाचित् बहिर्मुखम् । तथा च तादृशस्य कदाचिदन्यमभजनाभावेनैव बाहिर्मुख्ये तस्य जुगुप्सा तृप्त्यत एवेति तेन कार्येण सप्रतिबन्धकमङ्गीकारमनुभाय 'हराम्यघं यत्समर्पणं हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिश्चेष्टस्तस्माद्धरिर्हं स्मृत' इति भारते भगवद्भक्त्यात्, भगवतः स्वीयाघनिवर्तकत्वमनुसन्धाय अपराधिनां बकीबकादीनामप्यनुग्राहकत्वेन जीवकृतसाधनानपेक्षत्वं चानुसन्धाय सा त्याज्येत्यर्थः । एतेनैतादृशदीनभावोत्पत्तिरङ्गीकारलक्षणमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

एतद्वाच्यार्थमन्यदपि वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति अङ्गीकार इत्यादि ।

कदाचित् प्रवाहवशात्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीति । तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत इति भावः । पुष्टिमागीङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एवं सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षयामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिगुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता । एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेनावीधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वा-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

व्याकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि । अत्र च 'त्रैवर्गिकायासे'ति पूर्वोक्तं षष्ठस्कन्धवाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम्, पुष्टिप्रकरणस्थत्वात् । तथाच यथा वृत्रस्य तादृशसङ्कोपस्थितावपि भगवत्प्रसादानुमितरेव जाता, तथास्यापि लौकिकवैदिकास्वास्थ्योपस्थितौ यद्भगवत्प्रसादानुसन्धानम्, तदप्यङ्गीकारलक्षणम् । एतादृशबोधवन्तं प्रत्युपदिशन्ति साक्षिण इत्यादि । तद् व्याकुर्वन्ति साक्षिवत् तत्कृतं पश्यतेति । तथा च 'ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे । यद्बदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम' इति सप्तमस्कन्धस्थभगवदीयगृह्यप्रकरणस्थवाक्यात् पूर्वोक्तरीत्या एतदाचार्यवाक्येन लौकिके वैदिके साक्षिवत् भगवत्कृतित्वदर्शनं यत्तदपि तल्लक्षणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नन्वप्रास्वास्थ्येपि साक्षिवत्कृतिदर्शनोपदेशेन त्रिदुःखसहनरूपं धैर्यमेव साधनत्वेनोक्तं भवति, ततश्च तावन्मात्रस्य कर्तव्यत्वे सेवायाः सम्यगसम्भवात्त्रिवेदनवैयर्थ्यं तु स्यादेवेति प्रकारान्तरेण धर्महानिचिन्ताप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति एवं सतीत्यादि । व्याकुर्वन्ति गुर्वाज्ञाया इत्यादि । तथा कार्यमिति । बाधनं कार्यम् । तथा च 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरा'विति श्वेताश्वतरश्रुते 'नैवोऽपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मादयोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्येकादशवाक्यादिभ्यश्च गुरुरेव मुख्य इति । गुर्वाज्ञाबाधनाभावपूर्वकं सेवाकृतिरात्मनिवेदिधर्मः स यादृशेन साक्षिवत् तत्कृतिदर्शनेन न विघटितो भवति, तादृशतया साक्षिवत् स्थातव्यम्, न तु सेवाविरुद्धतया । तेन लौकिके विषये साक्षिवत् स्थेयम्, न तु सेवाविषये इति सिध्यति । तत्रापि हरीच्छा विचार्या, अबाधने बाधने वा सास्तीति । सा च भगवदनुभावमनुभवतो बुद्धिगोचरो भवति, अन्यस्य तु फलबलकल्प्या । एवं सति यथाधिकारं तां बुद्ध्या कार्यम् । ततो न स्वधर्महानिरित्यर्थः । एतदेव निगमयितुमुत्तरार्धमित्याशयेनावतारयन्ति एवं सतीत्यादि ।

१. बाधनमिति पाठः । २. अन्येति पाठः ।

ज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव स्थेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यथात्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां हुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथा च यथा राजभोगसमये नेत्रे निमील्य बीजयन्तं बृहद्रामदासं प्रति भगवतो श्रीगोवर्धनेश्वरेण साक्षाद्भुजानं मामुन्मील्य पश्येत्याज्ञप्ते, ममाचार्याज्ञा भोगसमये दर्शनविषयिणी नास्तीति नोन्मीलयिष्यामीति तैः प्रत्युक्तम्, तदा भगवान् प्रसन्न आसीत् । सामग्र्यादिविषयिण्यां विशेषाज्ञायां तु साधारण्याचार्याज्ञा बाध्यते, तदा नाप्रसन्नो भवति, तेन सेवाया एव मुख्यत्वम्, अतस्तदनुसारेणैव स्थेयमित्यर्थः । अत्रापि 'परिनिष्ठा तु पूजाया'मिति निवेदिप्रकरणस्थं भगवद्वाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम् । सर्वतो नितरां निरवधितया वा स्थितेरेव परिनिष्ठापदार्थत्वादिति ॥ ७ ॥

ननु भवत्वेवमल्पदुःखोपस्थितौ साक्षिवत् स्थितिः, महादुःखोपस्थितौ त्वेव स्थितिरशक्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमग्रिमं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । मूलव्याख्यानं तु स्पष्टत्वात् न कृतम्, परं तत्रायं भावः । अवश्यंभाविनो दुःखस्याप्रतीकार्यत्वात्तत्र चित्तसमाधानमेवोपायः । तच्च नानोपायैर्भवति । यथा सप्तमस्कन्धे यमप्रेतसुयज्ञबन्धुसंवादे 'अहो अमीषां वयसाधिकाना'मित्यादिना यमप्रदर्शितलोकगतज्ञानेन सुयज्ञबन्धुनां जातम्, यथा च षष्ठस्कन्धे 'यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः । पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवा योनिषु कर्तृष्विति जीववाक्याङ्गीवस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन चित्रकेतुप्रभृतीनाम् । यथा च 'पित्रोः स किन्तु भार्यायाः स्वामिनोप्रेः श्वगृध्रयोः । किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयत' इति देहस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन पुरुरवसः । एवमन्येपि बोध्याः । ते केपि नात्मनिवेदिनामुपयुज्यन्ते, भगवत्स्मरणोदासीनत्वात्, किन्तु प्रभासीयलीलायां 'नैषां वधोपाय इयानतोन्य' इत्येकादशीयभगवद्भिचारानुवादवाक्यात् सा लीला यथा भक्तानां चित्तोद्वेगं विधाय, या कृता लोकमर्यादारक्षणार्थम्, अग्रे तेषां नित्यसुखदानार्थं च, तथा चित्तोद्वेगं विधाय अपिशब्दादविधाय च हरिः स्मर्तृणां प्रारब्धादिरूपाघहारको भगवांस्तद्दरणार्थं यद्यत् शुभत्वेनाशुभत्वेन वा आपाततः प्रतीयमानं करिष्यति, तत्कार्यं साक्षाद्वा केनचिद्द्वारेण वा तस्य अस्मदीश्वरस्यास्मदात्मनो भगवतस्तथैव लीला, अनेन प्रकारेणास्माकं महतोऽघस्य नाशनाय मायिकी लीलेति मत्वा साधकबाधकप्रमाणैरनुचिन्त्य चिन्तां उद्वेगजनिकां वा तज्जनितां वा तद्रूपां वा हुतं शीघ्रमेव त्यजेत् । तस्याः बहुकालं स्थाने कालकर्मस्वभावानां प्रबलत्वेन तथा असुप्रवेशरूपमहो-पद्रवसम्भवेन मुख्यफलप्रतिषन्धो वा विलम्बो वा स्यात्, अतो मङ्गु त्यजेदिति भावः ॥८॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्तत्कृत-चिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

एवमत्र पुष्टिमार्गस्थस्य पूर्वं सेवोपकरणकरणकर्तृनिवेदनविषयकचिन्तानिवृत्त्युपा-यत्वेन स स विचार उपदिष्टः, ततः सेवाकृत्यविरुद्धतया साक्षिवत् स्थित्युपदेशेन सेवायां स्थितेश्चोपदेशेन वैराग्यरागौ विषयभेदेन व्यवस्थापितौ । चित्तोद्वेगे च लीलाविचार उपदिष्टः, तदिदानीं सर्वमशक्यम्, कालादिकृतगुणक्षोभेण चित्तस्थैर्यस्य दुर्घटत्वात्, अतोऽयमुपदेशो-नुपदेश एवेत्याशङ्क्य कृपया तत्सिद्धार्थमुपायमधुनोपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति नन्विदमित्यादि । तदेव दुरापमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकपदवाक्यानां गुरुमुखा-च्छक्तित्वात्पर्यनिर्धारः । तत्पूर्वकमन्यस्याग्रे कथनं कीर्तनम् । तेषामर्थानुसन्धानं स्मरणम् । तदिदानीं सर्वतद्भिदो गुरोर्दौर्लभ्येन श्रवणस्य दुरापत्वे कीर्तनस्मरणयोरपि तथात्वम् । तदभावे भगवत्स्वरूपज्ञानाभावात् पादसेवनादीनामपि भगवद्विषयत्वाभावात्तथात्वम् । एवं कालादिभिः प्रतिबन्धकैः प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् । साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधा-नमाहुरिति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम् । फलमात्मनिवेदनम् । ते उभे एकीकृत्य स्वासाध्यत्वेन तस्यां कोटौ निक्षिप्य पूर्वोक्तस्य सर्वस्य सुसाध्यत्वं यथा भवति, तादृशं तत्सम्बन्धिसमाधा-नमाहुरित्यर्थः । समाधानं व्याकुर्वन्तः शरणागतेः समाधायकत्वे बीजमाहुः यस्मादित्यादि । भक्तिमार्गं प्रवेशे तत्र रूच्यादौ चानुग्रह एव हेतुरिति वरणश्रुत्या भक्तिहेतुनिर्णये व्युत्पादि-तम् । तस्मिन् सति यदा सेवाप्रतिबन्धसम्भवः, तदा प्रारब्धकालस्वभावानामेव हेतुत्वम् । तन्निवृत्तिस्तत्सर्वनियामकेन प्रभुणैव भवति, नान्यतः । तत्र च शरणागतिरेव साधनम् । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति भगवद्वाक्यात् । 'देवर्षिभूतासनुणां पिदृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्य'मित्येकादशस्कन्धे करभाजनवाक्याच्च भगवतः शरण्यता । तस्मादङ्गीकृतस्य जीवंस्योक्तरीत्या अशक्तौ शरण्यत्वात् प्रभुरेव सर्वं सम्पाद-यिष्यतीत्याचार्याणामाशय इत्यर्थः । एतेनाष्टमस्कन्धप्रतिपादित आपत्सु हरिसंस्मृतिरिति भगवद्भक्तिसम्पादक आपद्धर्मापि गजेन्द्रस्येवास्यापि सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । नन्वेवं सति

१ भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुसन्धानं च साधनम् । फलं भगवदङ्गीकारः । ततो भगवद्भक्त-द्वारा भगवच्छरणगतौ भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराङ्गीकृत्य क्रमनियमाभावात्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनाना-मयुक्तत्वादिति भावः ।

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । निलमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया श्रेयमित्यर्थो वा । नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतभिवृत्तिप्रकाशसमेतम् ।

प्रथमत एवेदं साधनं कुतो नोपदिष्टमित्यत आहुः भक्तीत्यादि । सर्वात्मना तथा भवतीति । श्रीकृष्णाश्रयोक्तरीत्या सर्वेषां सहकारिणामतथात्वमसहायत्वं च निश्चित्य, विवेकादीनां भक्त्यन्तानां साधनानां स्वासाध्यत्वं च निश्चित्य, दीनभावेन सर्वैः प्रकारैः शरणागतिर्भवति । तथा च प्रागेवोपदेशार्हत्वेपि यदधुना सर्वान्त उपदिष्टम्, तत् सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भवनार्थमित्यर्थः । आसुरधर्मप्रवेश इति । बाहिर्मुख्यजनकाहङ्कारप्रवेशः । तथा वदनमावश्यकमिति । वाचस्तेजोमयीत्वेन वदनक्रियायां वैखरीत्वेपि वक्तुः पश्यन्ती प्रकाशयन्त्यन्तःकरणमासुरधर्मात् परावर्तयेदत आवश्यकम् । परोपकारायापि भवेत्, अतश्च तथेति बोधनायाहुः एवं सतीत्यादि । एवं सत्याश्रयस्यैव मुख्यता आयातीति सेवावश्यकत्वबोधकपूर्वग्रन्थविरोध इत्यतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति एवमुक्तेत्यादि । एवं वदद्भिः सर्वचिन्ताराहित्यपूर्वकं सेवापरतया श्रेयम् । तथा चाङ्गत्वेनैवात्र शरणोपदेशो, न तु मार्गत्वेन, अतो न विरोध इत्यर्थः । स्वमत्या निष्कर्षकथनस्य तात्पर्यमाहुः नन्वित्यादि । इदं सर्वात्मना शरणगमनमपि न स्वशक्यम्, 'सोहं तवाङ्गशुपगतोस्म्यसतां दुराप'मित्यकूरस्तुतौ तथा सिद्धत्वादित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति वरणलभ्यत्वबोधकश्रुतेर्मे मतिरेवंप्रकारिकैव । भगवता यदानुगृह्यते, तदैव सर्वात्मना शरणागतिर्भवति, नान्यथा । 'तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गः । त्वय्यञ्जनाम सदुपासनया मतिः स्या'दिति तत्रैव वाक्यशेषात् । तथा चास्मिन् मार्गे कृपैव साधनम्, अतः श्रुत्यनुसारेण मार्गप्रवेशतद्गुच्यादिना वरणमनुमाय मदीयैरेवमेव कर्तव्यं वक्तव्यं च । यदि च न तन्निर्वाहः, तदा प्रतिबन्धकमनुमेयम् । भगवच्छास्त्रे एतदतिरिक्तस्य दृढस्य सर्वप्रतिनिधिभूतस्य साधनान्तरस्याभावात् । गीतायामन्ते एतस्यैव शोकाभावार्यभुपदेशेन तथा निश्चयात् । एतद्वाक्यान्तःस्थस्य श्रीकृष्णपदस्य भक्तसहितपुरुषोत्तमवाचकतायाः सुप्रसिद्धत्वेन मम स एव शरणमिति तस्मिन् स्वरक्षकत्वबोधनेन वाक्यतात्पर्यस्य तत्रैव निर्वाहो गुरुमुखाद्भुक्ते श्रवणस्य तत्पूर्वकाणामन्येषां च स्वरूपफलयोस्तत एव सुखेन सिद्धेरिति ॥ ९ ॥

एवं सर्वं व्याख्याय ग्रन्थकरणस्यान्ते शरणमप्रावृत्तिकथनस्य च प्रयोजनमाहुः

भक्तिमार्गं प्रवृत्तस्य दाढ्यार्थमिदमुच्यते ।
अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥
भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।
स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥
मयोञ्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।
मजन्तु मक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥
इति श्रीश्रीविठ्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

भक्तिमार्ग इत्यादि । भगवत्कृपया यो भक्तिमार्गं स्वकृतार्थत्वाय प्रवृत्तः, तस्य दाढ्यार्थं तदुक्तरीत्या फलवदयंभावनिश्रयेन प्रवृत्त्यविघातार्थं इदं नवरत्नं शरणमभ्रावर्तनं चोच्यत आचार्यैरुपदिश्यते । तस्यैवोद्देशनिवर्तनस्य प्रभूणामनन्यजनवत्सलतयावश्यकत्वात्, न तु साधारणार्थम्, तत्र हेतुः अन्धस्येत्यादि । तद्विमुखस्येति । भक्तिमार्गाद्बहिर्मुखस्य । अत्रेति । चिन्तानिवृत्त्युपायबोधकेस्मिन् ग्रन्थे । शरणमभ्रावर्तने च । तथा चार्थित्वस्य अधिकारिविशेषणत्वाद्बिमुखस्य चार्थित्वाभावेनाधिकाराभावात्तदर्थं नोच्यत इत्यर्थः । एतस्य ग्रन्थस्य भगवत्सिद्धान्तसारत्वबोधनायाहुः भक्तीत्यादि । श्रीमदाचार्य-पण्डितैरिति । मयूरव्यंसकादिसमासः । पण्डितत्वं च न केवलं सदसद्विवेचकबुद्धि-मत्त्वम्, शास्त्रोत्पबुद्धिमत्त्वं वा । किन्तु 'पण्डितो बन्धमोक्षवि'दित्येकादशे भगवद्वाक्यात्, 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवजिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा' इति गीतायां भगवद्वाक्याच्च तादृशधर्मवत्त्वं विवक्षितम्, अन्यथा भक्तिमार्गविचारस्यासम्भवात् । 'भगवान् ऋष्य काल्पयैने'ति द्वितीयस्कन्धवाक्येन भक्तिमार्गस्य सर्वश्रुतिसारत्वनिश्चयादिति । स्वकृतविवरणप्रयोजनमाहुः मयेत्यादि । तथा चैतदर्थं विवरणमित्यर्थः ॥ १० ॥

एवं चात्र एतत् सिद्धम् । भगवत्सैवैकतानचित्तेन यथाशक्ति सेवां कुर्वता दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वस्य स्वपरिकरस्य च भगवदीयत्वमनुसन्धानेन पूर्वोक्तरीत्या सर्व-विधचिन्तास्वजता सर्वत्र स्वाशक्त्यनुसन्धानेन भगवत एव शरणत्वमनुसन्धानेन यदा स्वीयते, तदा उद्देशाख्यप्रतिबन्धनिवृत्त्या सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यते । तस्मा-दुक्तरीत्या सेवापूर्वकं सर्वात्मना शरणगमनमेव परमं साधनमिति ।

नवरत्नभासनकृतां वचसां मम यत्नपूर्वकमुपासनतः ।

ब्रजरत्नहृद्यकृपयास्तु सुखादसपक्षचैतससपक्षहृतिः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन
कृतो नवरत्नविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ।

नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनाद्वाः, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनि-र्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाद्यः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वाच्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः,

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी ।

चिन्तात्रयनिवृत्त्यर्थमुद्भिन्ननवरत्नकाः ।

समुञ्ज्वलीकृततदः प्रसीदन्तूमये मयि ॥ १ ॥

नवरत्नप्रकाशे । चिन्तासन्तानेति । यत्पदाम्बुजरेणवः समाश्रिता देहेन्द्रिया-दिकं शोषयन्ति, (वासनात्मकं लिङ्गं नाशयन्ती) त्यन्तःकरणशोषनद्वारा चिन्तानां वक्ष्यमाणानां सन्तानो वक्ष्यमाणप्रकारेण तन्निवर्तनेपि कुसुष्टथुद्भावनं तदन्तार इत्यर्थः । ग्रन्थे चिन्ताः स्वयमेव निवर्तयिष्यन्ति, चित्ताशुख्या कुसुष्टथुद्भावनं तु चरणरेणुसमाश्रयनिवर्त्यमिति भावः । नन्विति । किंप्रकारकचिन्तोद्भवः, सम्भव-तीति शेषः । इत्यमिति । ग्रन्थे वक्ष्यमाणास्तिस्त्रिचिन्ता भगवदीयानामपि हीनमध्य-माधिकारिणां सम्भवन्तीत्यर्थः । ग्रन्थाद्भिन्नमप्येकां चिन्तां पूर्वोक्तेषु सम्भावितां स्वयमेव प्रमाणवाक्यैः समाधातुमाहुः आत्मनिवेदिनो हीति । एतन्निरासस्य प्रमाण-वाक्यैः स्पष्टत्वान्मूलेऽकथनमिति भावः । तत्र चेति । निवेदने जाते सत्यैहिकसुखसा-धकानि स्त्रीपुत्रवित्तादीनि पारलौकिकसुखसाधकान्यग्निहोत्रादिकर्माणि भगवदीयान्येव जातानीत्यर्थः । एवं सतीति । वित्तसमर्पणे कृते सतीत्यर्थः । देहादीति । आदिपदेन गृहादिकम् । तथा च गार्हस्थ्यनिर्वाह इत्यर्थः । इतरेणेति । निवेदनात् पूर्वमेव स्थापितेनानिवेदितेत्यर्थः । अस्वधर्मत्वादिति । निवेदितस्य देहादेस्तदीयार्थेन पोषणं दोषावहमित्युक्तम् । अनिवेदितेन च पोषणमस्वधर्म इत्यर्थः । रूपान्तरमप्याहुः

अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्वाद्यर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः-पाशा रजुरिति चेत् । अत्र वदामः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धयर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न-स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, न वेति भवति चिन्ता । *तत्करणे

श्रीविद्वलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

निवेदितस्यार्थस्येति । निवेदितपदार्थस्य देहगेहादेः स्थितिरादिपदेन तत्सम्बन्धीनि गृहादिकार्याणि विवाहादीनि च तदर्थं स्वस्य विचारोप्यनुचितः । तत्र हेतुः । तदभिमाने इति । स्थापनीये सतीति शेषः । देहे स्वकीयत्वाभिमाने स्थापनीये सत्येतादृशो विचारः सम्भवति । एतस्य तु देहे भगवदीयत्वमेव सम्पादनीयम्, अतः स्वस्य तद्विचारोनुचितः, भगवानेव विचारयिष्यतीति स्वस्येत्युक्तम् । तथा च देहस्थित्वाद्यर्थं पूर्वमेव किञ्चित् पदार्थानिवेदनं नोचितमित्यर्थः । एवं सतीति । पक्षद्वयप्रकारेणापि देहाद्यनिर्वाहे सतीत्यर्थः । तदावश्यकमिति । वाक्येषु निवेदनकथनात् सर्वनिवेदनमावश्यकम्, न तु पदार्थविनियोगेन बाधितमित्यर्थः । बाधितत्वे भगवान्न वदेदिति भावः । साक्षादिति । भजने सर्वाधिकारत्वोक्तावपि सत्त्वव्यवहितस्यैव भजने तथा । साक्षात् पुरुषोत्तमभजने तु निवेदिनामेवाधिकार इति भावः । अन्यथेति । निवेदितपदार्थस्य स्वयमग्रहणे दारानुपयोगोपि प्राप्येत, तथा च न तथेत्यर्थः । दाने हीति । पुत्रवित्तादिकं निवेदितम्, न तु दत्तमित्यर्थः । निवेदितोपभोगे प्रकारकथनायाहुः निवेदितानामित्यारभ्य शोधकत्वादित्यन्तम् । तथा चेयं चिन्ता तु प्रमाणवाक्यैर्युक्तिभिः परिशीलितैर्निजाचार्यपदाम्बुजरेणुसमाश्रयकृतचित्तशुद्धेः कुसृष्टयनुद्धानेन च निवर्तते । अतोत्र समाधेयान्यां चिन्तामाहुः किन्त्वित्यारभ्य

* (किंच । तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच

१. चिह्नान्तर्गतं टिप्पणं पाश्चात्यं प्रभूणामिति प्रतिभाति ।

बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिका या से'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकतदभावेपि भगवदर्थोपि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः । कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीतिपदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्,

श्रीविद्वलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

भवति च दुःखमित्यन्तेन । एवंभूतानिति । यत्करणाकरणचिन्तायुक्तान् उभयपक्षसमाधायकवाक्येनोपदिशन्तीत्यर्थः । तत्र समाधानं चिन्ता न कार्येति । पूर्वसिद्धानिषिद्धवृत्तौ सहजसिद्धयत्नकरणेपि तस्य यत्नस्य चिन्ता अनुचिन्तनं कथं इदं कार्यमिति मनसा सर्वथा तद्भावनं न कार्यमित्यर्थः । अग्रेपि वक्ष्यन्ति वाणिज्यादावास्थितौ तत्र विघ्न एव भवतीति । आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वम् । तथा चानास्थया यत्नकरणे पक्षद्वयोक्तोपि दोषो न भविष्यतीति भावः । लौकिकेति । स्त्रीपुत्रादिनिर्वाहकयत्नानास्थायामपि भगवन्नैवैवार्थकयत्ने आस्था सम्भवति, सापि न कार्येत्यर्थः । तत्राप्यास्थायां तत्सम्पादकेषु आस्थितिसिद्ध्या बाहिर्मुख्यं स्यादेवेति भावः । नन्वनास्थया कृतो यत्नो न सिध्येदित्याशङ्कोत्तरार्थं सामान्यत आहुः अङ्गीकारेणैवेति । स्वस्योदासीन्येपि भगवान् स्वाङ्गीकारेणैव हेतुना सर्वं यत्नं सिद्धं करिष्यतीत्यर्थः । विलम्बते इति । औदासीन्ये तत्कृतो यत्नः कदाचिन्न सिध्यति चेत्तथाप्यग्रिमयत्ने आस्था न कार्येत्यर्थः । ननु लोकवदिति । लोकस्येव कुटुम्बासक्त्या भगवदङ्गीकारस्यासिद्धत्वेन लोकस्येव स्वस्यापि लौकिकीं लोकसदृशीं गतिमास्थापूर्वकं विचार्य यत्नकरणे एव

'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः । अन्यथा आयासविधातमित्येतावतैव चारितार्थं स्यात् । अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविधातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकयासविधातमिति निश्चीयते । अन्यथा यत्नमात्रस्य निषेधे भजनमार्गं एवाच्छिद्येत । नन्वात्मनिवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । भजनमार्गं हि भगवदङ्गीकारस्त्रिविधः पुष्टिमयोदाप्रवाहभेदेन । तत्रापि वै त्रैविध्यम् । तत्र पुष्टिपुष्ट्यावङ्गीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि । परं मर्यादापुष्टौ प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहांशः, तद्विधातः पुष्ट्यंशः । तथा चात्मनिवेदिनां मर्यादाप्रवाहसंवलितानां यथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धतद्विधातादिकं भवति, तथा सेवार्थकेपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावाय तान् प्रति चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम् । अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित् ।)

१. लौकिकीति पाठः । २. लौकिकीति पाठः । ३. उपदिशन्तीत्यन्तेनेति पाठः ।

तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिस्थोऽतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्य-
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः सर्वथेत्यस्यावश्यक-
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन
सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालोपरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।
अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः ।
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमञ्चिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि ।
सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

तत्फलसिद्धिरन्यथा नेतिरूपां नीतिशास्त्रानुरोधेन कुर्यादित्यर्थः । यत इति । पुष्टिः
प्रवाहो मर्यादा चेति मार्गत्रयम्, तन्मध्येऽत्र पुष्टिस्थो भगवान्, अतः कुटुम्बासक्त्या
मर्यादामार्गीयवैराग्यादिसाधनाभावेपि पुष्टिमार्गीयेण महापुरुषाचार्यकृतनिवेदनेन स्वीय-
त्वाङ्गीकारं करिष्यति । तथा चाङ्गीकारस्य सिद्धत्वान्न लौकिकीं गतिं करिष्यतीत्यर्थः ।
भक्तस्य पुष्टिस्थत्वायापिशब्दः ॥ १ ॥

एवं चेदिति । अनास्थायामविचारेपि फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन बाहिर्मुख्यं
भगवदननुसन्धानं भवेदित्यर्थः । तथा च यन्नानास्थया समाहितो दोषः पुनः प्राप्त
इति भावः । निवेदनस्मरणस्य स्वरूपमाहुः सर्वदेति । 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया'
इति प्रकारकस्वाच्छन्द्येपि बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं न भविष्यतीत्यर्थः ।
निवेदनानुसन्धानाभावे तु बाहिर्मुख्यं स्यादेव, अतस्तदावश्यकमिति भावः । सेवादीति ।
आदिपदेन कथा, तदसम्भवेपीत्यर्थः । अनायासन फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन प्राप्तस्य
बाहिर्मुख्यदोषस्य निवारणार्थं निवेदनानुसन्धानमुक्तम् । फलसिद्धावपि तदनुसन्धानं
कार्यमेवेत्यपिशब्दः । चकारपक्षे सर्वथेति पदेनावश्यकत्वं बोधितम् । तुशब्दपक्षे
आवश्यकत्वं तेनैव बोधितमिति सर्वथापदस्य समासेनाप्रेऽन्वयमाहुः अथवेति ।
आसुरप्रवेश इति । 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्र वागादीनां स्वार्थमुद्धानात् पापवेषः,
प्राप्त्यस्य भगवदर्थमुद्धानात्तदभाव इति तृतीयाध्याये वेधाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे भाष्ये

१. धेन सर्वेश्वरः इति पाठः । २. सर्वात्मनेति पाठः । ३. सर्वदा इति पाठः ।

कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते ।
अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं
कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय
निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवा-
पेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्वच्छाया अतिकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञाप-
नायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते,
तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभु-
सम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं
निवेदेनेऽङ्गीकारमर्यादेत्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

विद्वृतम्, अतो यस्मिन्नेव काले भगवदीयत्वविस्मरणम्, तदैव देहादावासुरधर्मप्रवेशो
भवतीत्यर्थः । तेन बाहिर्मुख्यं भवेदेवेति भावः । आत्मीयत्वमेवेति । भगवत्-
स्तदात्मस्वकथनेन तेषामात्मीयत्वमुक्तम् । स्वामित्वं भगवन्निष्ठो धर्मः सर्वेश्वरपदस्यार्थः ।
आत्मीयत्वं भक्तनिष्ठो धर्मः सर्वात्मपदेनोक्तः । सर्वपदस्य कालवाचकत्वपक्षे कालनिष्ठो
ज्ञेयः । स्वधर्मेति । स्वधर्मो निवेदनम्, तस्य हानिरित्यर्थः । स्वात्मना सहेति । प्रत्येकं
प्रभुसम्बन्धे यावत्तत्सम्बन्धानामनङ्गीकारस्तावत् तत्तत्सम्बन्धयुक्ते स्त्रीपुत्रादौ स्वस्य
विनियोगे दोषः स्यात्, अत्र तु सहैवाङ्गीकारात् सेवानवसरे अनिषिद्धप्रकारेण
भार्याद्युपयोगेपि न स्वधर्महानिरित्यर्थः । प्राधान्यादिति । प्राधान्याद्धेतोः स्वस्यैव
नेत्यर्थः । का चिन्तेति । अभगवदीयसंसर्गे हि स्वधर्महानिः । तेषामप्यङ्गीकृ-
तत्वान्न तथेत्यर्थः । तथा च भगवदीयत्वानुसन्धानेन तेषु व्यवहर्तव्यम्, न तु
स्वकीयत्वाभिमानेनेति भावः । वित्तादिवद्भार्यादीनामपि समर्पणम् । परमेतावान्
विशेषः । भार्यादिदेहे यथैतस्य सम्बन्धः, तथा तत्तज्जीवानामपि सम्बन्धोऽस्ति, अत्र
एतेन तत्तन्निष्ठस्वसम्बन्धसमर्पणे कृतोपि तत्तज्जीवसत्तासमर्पणार्थं भिन्नभिन्नतया तत्कृत-
समर्पणमपेक्षितम् । एतत्कृतसमर्पणेनैतन्निरूपिततत्सम्बन्धः समर्पितो भवति, स्वस्वसह-
जादिदोषपञ्चकनिवृत्तिस्तु स्वस्वकृतसमर्पणेन भवति । वित्तादिषु त्वन्यसत्ताभावादेत-
त्कृतसमर्पणेनैव निर्दुष्टत्वसिद्धिरिति । इयमिति । सर्वनिष्ठसम्बन्धैः सह स्वस्याङ्गी-
कार इत्यर्थः । विशेषत इति । निवेदकस्यैवाङ्गीकारस्तन्निष्ठकिञ्चिन्निरूपितसम्बन्धस्य नैति

१. आत्मत्वमिति पाठः । २. निवेदिनोऽङ्गीकारेतिपाठः ।

भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्ण-सात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलप्रभ्वधीनीकृतप्राणानां चिन्ता-विषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

चेत्, सा पुष्टिः मर्यादातिक्रमो भगवतो नियन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । तदा तादृशे स्वदेह-विनियोगो न कार्यः । अत एव 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति वाक्यम् । अस्मिन् पक्षे अन्यत्र स्त्रीपुत्रादौ विनियोगे स्वस्य देहस्येत्यर्थः । अन्यविनियोगेति । अन्यत्र लौकिके स्वस्त्रीपुत्रादिकार्ये विनियोगदर्शनेपि तेषां निवेदनहानिजनितचिन्ता स्वस्य केत्यर्थः । तेषामपीति । स्वाङ्गीकारेणैव क्रमेण तेषामपि कृतार्थता सम्भवति । अधुना अतथाभावे-प्येकाङ्केन भगवत्सम्बन्धात् तदनुभावेनैवास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा तथा बुद्ध्या स्वस्वकृतसमर्पणेन स्वस्वसहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सम्भवतीत्यर्थः । अङ्गीकृतस्य सर्वांशे भगवानेव चिन्तां करोतीति स्वस्येत्युक्तम् । स्वस्य त्वधुनैव सहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सिद्धा, क्रमेण तेषामपि सम्भवतीत्यपिशब्दः ॥ २ ॥

एतमेव पक्षमाश्रित्याग्रिमश्लोकाभासमाहुः किञ्चेति । प्रथमपक्षे स्वस्य स्वकीयस्य स्त्रीपु-त्रादेरपीत्यग्रिमश्लोकव्याख्याने इत्यर्थः । केवलमेति । भगवदधीनजीवनानां सर्वांशे भगवदी-यत्वेन विषयाः सर्वे भगवदीया एवेति भोग्यविषयेषु स्वीयत्वेनाभिमानाभावात् सा पक्षद्वय-भेदेन स्वान्यविनियोगजनिता पुत्राद्यन्यविनियोगजनिता वा चिन्ता नास्त्येव, किन्तु हीन-मध्याधिकारिणामपि तदभावार्थं बोध्यत इति भावः । चिन्ताभावे हेतुः पूर्वोक्त एव सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो ज्ञेयः । आद्यव्याख्याने पूर्वं स्वान्यविनियोगचिन्ता, द्वितीये पुत्राद्यन्यवि-नियोगचिन्तोक्ता । द्वितीयव्याख्याने इदं विपरीतमिति विभेदः । तेषां सा नेति । स्वपदस्य स्वकीयवाचकत्वपक्षे सा स्त्रीपुत्रादिविषयिणी चिन्ता नेत्यर्थः । निवेदनपदार्थो न नश्यति, विलम्बस्तु भवत्येवेति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नेवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नेवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदकवदि-त्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोऽन्यभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्नित्यर्थं स्वयमात्म-सात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो-त्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भ-वेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्नित्तिवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथे-त्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तासासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथा-भूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

इति निवेदनविषयिणीति । इति असम्पत्तिप्रकारेण निवेदनविषयिणीत्यर्थः । पूर्वोक्तापि निवेदनविषयिण्येव, परं हानिप्रकारेणोक्तेति भावः । पूर्वोक्तमेव समाधानमत्रापि ज्ञेयमित्याहुः उक्तनिवेदकवदिति । मूलस्थतथेतिपदस्यार्थोऽयम् । सप्तमर्थे वतिः । यथा निवेदके, तथा पुरुषोत्तमे इति मूलानुसन्धानेनार्थः । तथा च यथा पूर्वश्लोकोक्त-रीत्या निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्ता त्याज्या, तथा भगवत्कृताङ्गीका-राभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्तापि त्याज्येत्यर्थः । पुरुषोत्तमेनेति । एतेन हीनमध्या-धिकारिणां निवेदनविषयकचिन्ताभाव उक्तः । उक्तमाधिकारिणामाहुः तत्रापि । निवेदितात्मस्वपि मध्ये कृष्णसात्कृतप्राणानामुत्तमाधिकारिणां तु परमसौन्दर्यस्य स्वगतत्वाय तादृशकारेण प्रादुर्भूते भक्तसहिते भगवति समर्पणस्य सिद्धत्वात् तदानन्देन पोष्यमाणानां शङ्काया उदयो यस्मात् स शङ्काहेतुर्नास्तीत्यर्थः । तदितरत्रेति । अम्बिकावनगमनेपि तं दोषं निवार्य स्वस्मिन्नुपयुक्ताः सर्वे कृताः, रासस्थानां तु गमनमेव नास्ति । इदमङ्गीकारस्वरूपं ज्ञेयम् । तथाप्युत्तमाधिकारिणां तु भगव-दीयेभ्य इतरत्रोपयोग एव न सम्भवति । तस्मिन् सति हि तादृशशङ्का भवतीति भावः । तद्युक्ते इति । ताभिः श्रीपदसूचितलीलाभिश्च युक्ते निवेदने सति प्रमात् प्राप्ता शङ्का त्याज्येत्यर्थः । तथा च पुरुषोत्तमे यन्ननिवेदनं तद्विषयिणी पुरुषोत्तमकृता-ङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्ता, तथा निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहा-निचिन्तावत् त्याज्येति मूलार्थः । निवेदनविषयिणी चिन्ता निवेदके इव पुरुषोत्तमेपि त्याज्येत्यन्वयः । अन्यविनियोगेपीति । राज्याद्याश्रयणेपीत्यर्थः । ज्ञात्वा त्वास्थया तदपि न कर्तव्यमित्याशयेनापिशब्दार्थमाहुः प्रमादादिति ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशात्कौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा आस्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीति । तद्विनापि स्वबले-
नैव सर्वकर्ता यत इति भावः । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एवं सति
किं कार्यमित्याकाङ्क्षयामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापर चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता ।
एवं वतमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा
कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वा-

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

लक्षणान्तरमपीति । पूर्वश्लोके भगवतः पुरुषोत्तमत्वमेतद्विषयकाङ्गीकारे लक्षणं
सन्देहाभावसाधकमुक्तम् । तत्र पुरुषोत्तमोपि नहि सर्वानङ्गीकृतवान्, किन्तु कांश्चन तादृ-
कप्रसादविषयान्, तत्राहं कीदृश इति स्फुटं ज्ञातुं न शक्यत इत्यधुना लोकवेदस्वास्थ्य-
दूरीकर्तृत्वरूपं लक्षणान्तरमप्युच्यते इत्यर्थः । स्वास्थ्यपदसार्थमाहुः आस्थिताविति ।
आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वमिति लक्षणमेकादेशस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम् । तथा
च मूले स्वास्थ्यमित्यत्र स्वपदेन लोकवेदौ तन्निष्ठतां न करिष्यति, सिद्धां च दूरीकरि-
ष्यति, विघ्नसम्पादनेनेति शेषः । तथा चैवं विघ्नेनाङ्गीकारो निश्चय इति भावः ।
आस्थितौ विघ्नकथनेन इदं मम कार्यसाधकमिति ज्ञात्वा तद्विश्वासेन वाणिज्यादिकमाश्र-
मधर्मादिकं च न कर्तव्यम्, किन्त्वेतद्वारा भगवान् करिष्यतीति ज्ञात्वा तदुभयं कर्तव्य-
मिति भावः । स्वयमेव समर्थत्वात् स्वकीयानां साधननिष्ठतां निवारयतीत्याहुः तद्वि-
नापीति । ननु तथापि सिद्धस्य साधनस्य विघाते को हेतुरित्याशङ्क्य तृतीयचरणस्य
तात्पर्यान्तरमप्याहुः पुष्टिमार्गाङ्गीकारे इति । किं कार्यमिति अनास्थया कृतो यत्नः
कथं फलं जनयेदित्यर्थः । साक्षिवदिति । यथा साक्षी कर्तुर्हानिवृद्धोर्हर्षशोकरहितः सन्
कर्तृसम्पादितं फलं पश्यति, तथा हर्षशोकरहिताः सन्तः साधनानास्थया भगवत्सम्पा-
दितं फलं विघ्नं वा पश्यतेत्यर्थः । तथा च भगवानेव तस्य यत्नस्य फलजनकतां सम्पाद-
यिष्यतीति भावः ॥ ६ ॥

विकल्पेनेति । साक्षात्सेवायां सिद्धायां साधनरूपसेवायामबाधनमिति व्यव-

१. बाधनमिति पाठः । २. 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इति ।

ज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव स्थेयमित्याहुः अत इति । एवं
सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारम्य सख्यपर्यन्तागतौ हि
पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्तत्कृत-
चिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-
माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

स्थितविकल्पेनेत्यर्थः । तथैव स्थेयमिति । आवश्यककार्यार्थं कदाचित् कार्यस्य तत्परत्वेपि
चित्तं सेवापरमेव विधातव्यम्, ननु तत्कार्यपरमिति यन्नानुचिन्तनं न कर्तव्यमिति
ग्रन्थारम्भे उक्तार्थे उपसंहृतः ॥ ७ ॥

कदाचिदिति । कदाचित् पुत्रादिर्वियुक्तो भवेदिति सम्भावनया जनितं यदुःखं
चित्तस्य पुत्रादिपरता इति यावत्, तेन हेतुना निवेदनविषयिणी चिन्ता सम्भवति ।
तथा च लोकवन्ममापि चित्तं पुत्रादिपरं जायत एवातो निवेदनं सम्पन्नं नवेति चिन्ता-
सम्भवे गतिं तद्भावप्रकारमाहुः इत्यर्थः । चित्तस्योद्वेगं भगवदीयत्वाननुसन्धानेन पुत्रादि-
परतां विधायापि यद्यत् करिष्यति सा सा तथा तत्तत्प्रकारिकैव तस्य लीला निवे-
दिनां सर्वं कार्यं स्वयमेव करोतीति भावः इति मत्वा निवेदनविषयिणीं चिन्तां
त्यजेदिति मूलार्थः । एतच्चिन्तास्थापने 'संशयात्मा विनश्यती'तिवाक्यात् सर्वमेव
नश्यतीति द्रुतमित्युक्तम् । निवेदनं सम्पन्नमेव, परं विलम्बेन भगवतः स्वप्रापणं चिकीर्षि-
तमिति ज्ञेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत्कृतेति । निवेदनकृता यत्नकरणाकरणविषयिणी चिन्तेत्यर्थः । साधनफले
इति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम्, फलमात्मनिवेदनम्, शरणागतवैकदैवैते सम्पद्येते इत्यर्थः ।

१ भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुसन्धानं च साधनम् । फलं भगवद्भक्तिकारः । ततो भगवद्भक्त-
द्वारा भगवच्छरणगतौ भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराद्भक्तिषु क्रमनियमाभावात्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनाना-
मयुक्तत्वादिति भावः । २. उत्कृष्टं वेगमिति पाठः ।

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरवे सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया श्वेयमित्यर्थो वा । नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढ्यार्थमिदमुच्यते ।

अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥

भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।

स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥

मयोञ्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।

भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥

इति श्रीश्रीविठ्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीविठ्ठलेश्वरमजश्रीवल्लभकृतदिप्पणीसमेतम् ।

सर्वमशक्यमिति । श्रवणादिनवकमप्यशक्यमित्यर्थः । प्रभुरेवेति, समर्थत्वाच्छरणं गतानामेकदैव सर्वं सम्पादयिष्यतीत्यर्थः । प्रतिबन्धमिति । साधारणप्रतिबन्धोद्वेगं लौकिकभोगकृतं प्रतिबन्धमित्यर्थः । 'भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्वासुरोयं जीव' इति निर्धार इत्युक्तम् । अन्तःकरणे इति । एतेनैकांशेनापि भगवत्सम्बन्धे आसुरप्रवेशो न भवतीति सूचितम् । प्रथमपक्षे एवमित्यनेन पूर्वार्थानुवादः । द्वितीयपक्षे पूर्वोक्तस्य सेवापरं चित्तं विधाय स्वीयतामित्यस्यानुवादः । नन्विति । अर्धाङ्गीकारेण समाधानमाहुः यमेवेति । भगवतो वरणलभ्यत्वात् मम मत्सम्बन्धेन मदीयानां च वृत्तत्वान्मन्मत्तिसिद्धप्रकारं मदीयानां भगवानेव शक्यं करिष्यति, अन्येषां वरणरहितानां त्वशक्यमेवेति भावः ॥ ९ ॥

तर्हि बोधनं किमर्थमित्याशङ्क्य स्वयमाहुः भक्तिमार्गे इति । एतेन वृत्तस्य दाढ्यं भवतीत्यर्थः । अवृत्तस्य तु न भविष्यतीत्याहुः अन्धस्येति ॥ १ ॥

भक्तिमार्गसुधासिन्धोरिति । भक्तिमार्गप्रवर्तकः सुधासिन्धुर्भगवतशास्त्रं तस्मादपादानात् विचाररूपैर्मन्थनदण्डैः करणैः । श्रीमदाचार्यपण्डितैः कर्तुभिः । स्वयं समुद्धृतानि, न तु गुर्वादिशिक्षया तादृशानि ॥ २ ॥

मया चेत्यमुञ्ज्वलीकृतानि रत्नानि स्वहृदि धृत्वैतदुक्तप्रकारेण ब्रजाधिपं भक्ता भजन्तु, येनाचार्योद्धृतत्नप्रकारकभजनेनासौ न विमुञ्चतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति श्रीविठ्ठलरायात्मजश्रीवल्लभविरचिता नवरत्नदिप्पणी समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नवरत्नम् ।

श्रीमुरलीधरकृतविवृतिसमेतम् ।

नवरत्नसुवर्णनिर्मिता परमानन्दरसस्य बोधिका ।
हृदये वसतात् सदोर्वेशी परमोच्चग्रहरश्मिरूपिणी ॥ १ ॥
रसमयसुवर्णधारावर्षणशीला दशविधप्रगुणाः ।
श्रीमुरलीधरलीला मुरलीधरमानसे सन्तु ॥ २ ॥
वसु सुवर्णमयं परितः परं रसमयं च विधाय सुमण्डलम् ।
विविधनर्तनदर्शनतत्परा रसनिधिर्मयि सैव विराजताम् ॥ ३ ॥
ललिते वृन्दाविपिने वैकुण्ठादप्यतीव रमणीये ।
क्रीडसि नवरसरुचिरे श्रीस्वामिन् मम हृदम्बुजे क्रीड ॥ ४ ॥
श्रीशुकदेवरहस्यं प्रकाशितं यैरतीव रमणीयम् ।
श्रीवल्लभाभिधानैर्नवधा तेभ्यो नमोस्तु मे सततम् ॥ ५ ॥
श्रीमद्विठ्ठलप्रभुषु श्रीनवरत्नप्रकाशनिपुणेषु ।
सप्तविभक्तिरहस्यप्रकाशकैष्वस्तु मे प्रणतिः ॥ ६ ॥

अन्तःखलधर्मप्रधानकलिदूषितसमयतीर्थकर्तृमन्त्रद्रव्यश्रद्धादीनामसाधकत्वाद्द्विद्विष्णु-
दुरवगाहपाषण्डादिनिपुणजनतासङ्गसज्जाताज्ञानान्धकारसंभृतहृदयदरीनिविष्टविषयविषरस-
संभृतानन्तसंसारसागरे निमग्नतया चेतसः स्थिरत्वाभावाद्द्विध्युक्तरीत्या श्रवणादिसाध-
नाभावान्नवमी रत्नैश्चिन्ताभावपूर्वकं तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकं च निरन्तरमष्टाक्षरवदनकृति-
साधनरूपसाध्यफलामतिसुगमां च श्रीकृष्णस्य श्रीमद्वदनरूपाः श्रीवल्लभाचार्या दैविजी-
वानुद्दिधीर्षन्तः प्रथमं मध्यनायकत्वेनालौकिकश्रेष्ठभानोर्विशेषरूपया निगूढद्विमात्रया आर्य-
योपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येत्यादिना ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि ।

भगवानपि पुष्टिस्यो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

वसन्तादिपूर्णरसमयषडैश्वर्यादिसूतिमद्भिः सेवितस्य गोरसदानादानप्रवीणस्य
द्वादशसुवर्णरत्नराशिकल्पतरुस्कन्धारूढस्य श्रुतिगीतद्वादशमाससंवत्सरादिरसमयसमयप्रा-
दुर्भावंकस्य गायकपरित्राणनिपुणैकव्यक्तिपदमात्राविद्योतितसकलसुषमास्पदकीर्तिप्राकट्य-
कारकस्य सप्ताक्षरव्यञ्जितोत्तमवासरस्य त्रिभुवनललितमाधुर्यादिसुगन्धलतामधुपानप्रवीण-

षट्पदस्य स्वीयजनानामाधिदैविकसकलज्योतिषामानुकूल्येन चिन्तानिवर्तकस्य द्वितीयचरणमात्राविद्योतितत्रयोदशमाससंबत्सरस्य लौकिकसकलशुभकर्मानर्हस्याप्यस्य भगवद्भक्ता-
वाधिक्यद्योतकस्य तथाधिकमात्रायाश्चयोदशीत्वेनानङ्गस्यापि साङ्गतासिबोधकस्य उत्तरद-
लद्वैलक्षण्यद्योतनायाधिकैकमात्रस्य वा । सा मात्रा तु गायकपरित्राणसमर्थायाः, प्रथमचरणे
गूढा न्यासे द्वितीयचरणे च प्रकटीकृता । अत्र च याकारे आकृतिरूपं निगूढवासुदेव-
पदमुत्तरान्वयि गूढमासमन्तात् सर्वप्रकारेण निवेदित आत्मा यैरित्यर्थात् । अत एव षट्-
पदत्वमुक्तम् । तस्य चरणान्तत्वेन गुप्तवामनत्वे सत्येकादशेति प्रथमचरणेन साम्यम् ।
अनेन मलिम्लुचातिरिक्तैकादशमासानां सङ्ग्रहोपि द्योतितः । द्वितीयचरणं तु त्रयोदश-
मात्रं सममेव, त्रिपदायास्तृतीयान्यस्य व्यञ्जनस्य न्यासेऽगणनाद्याकारस्य वैकल्पिकवाम-
नत्वे द्वादशमात्राः । अकारोप्यत्राकारात्पूर्वं प्रकृष्टो वेद्यः सकलवाग्भूषः । अस्या
गायत्र्याश्च तुरीयस्य तुरीयनिगमवेदैकत्वाभावात् त्रिचरणैः साम्यम् । अस्याश्चिचरणया-
श्चलौकिकश्रेष्ठभानुप्रकाशत्वम् । एकस्मिन्नक्षरे मध्यस्था दिव्यव्यक्तिरव्यक्ता पूर्वोत्तरा-
न्वयिनी । पूर्वान्वयित्वे यशोदोत्सङ्गलालिता व्यक्तिरुत्तरान्वयित्वे कीर्त्यङ्गलालिता
व्यक्तिर्व्यञ्जिता वेद्या । अङ्को ह्यानन्दात्मा विद्यारूपो भगवत्प्राकट्यस्थानम् । व्यक्तिद्वये-
प्यङ्गस्य समत्वात् । सकलवाग्भूषाक्षरं एकस्मिन्नेकाङ्कः । द्वितीयायां व्यक्तौ द्वितीयत्वेपि
तज्जातित्वेनाद्दयत्वादेकाङ्कः । एवं चैकाङ्कस्य द्वित्वे ह्येकादशी कृष्णवल्लभा प्रकटा भवति ।
तथा च दलद्वयस्याद्यन्तरहितत्वेन वर्तमानता उत्तरोत्तरं वर्तमानस्यैव रसावहत्वात् ।
योगत्रलेन भूतभविष्यत्पदार्थयोर्वर्तमानत्वेपि सर्वेषां तथात्वाभावात् । अत एव
यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिवैचोश्चोत्तरभूयस्त्वमिवान्तिमवर्णेऽर्थपर्यवसानमनुभवसिद्धं
रसावहम् । अतो वाक्यपदीये 'पदेन वर्णा विद्यन्त' इत्यादि । किञ्च, दीर्घे
मात्राद्वयम्, पुत्रने त्रयमिति हरिः पञ्चधा इह द्वितीयचरणे मात्रात्रयं गुप्तम्,
तद् द्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृतं कदापीतिपदेनेति । न हि कदापीतिपदमेकम्,
किन्तु पदत्रयम् । एवञ्च कदाप्येतस्मात् पदद्वयात् यदितिपदमाचार्यैः शेषत्वेन
पूर्वोक्तसकलप्रकारबोधकं ह्येव स्थापितम् । गायत्रीमात्रार्थसाम्याय तत्स्वात्मद्वितीय-
व्यक्त्या व्यक्तीकृतं वेद्यमिति भावः । द्वितीयचरणान्त इति पदे सति पञ्चदशमात्राभि-
स्तिय इति कृष्णजन्मपक्षः । पदैर्भूतभविष्यद्वर्तमानाः एतत्सकलरहस्यार्थबोधकस्य
'क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यतः स्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं चे'ति संबत्सरस्यास्य
मासाश्चयोदशेति सोपि संगृहीतः । इति पदप्राकट्ये गूढाः षोडशकला द्वादशकले
प्रविशन्ति । तृतीये मात्राभिः सूर्यस्य कलानामक्षरैर्मासानां पदैः प्रातरादीनां त्रयाणां
द्योतकस्य तुर्ये मात्राभिः शुक्रपक्षद्योतकस्य रुद्रसङ्ख्याक्षरैर्मलिम्लुचातिरिक्तमासानां च
पदैर्हरेः पञ्चात्मकत्वं स्पष्टयतः, प्रातःसङ्गममध्याह्नपराङ्गसायाह्नानां च द्योतकस्य,

दिनमणेरुत्तरपदमात्रस्य भावत्प्रयोगात् (?) स्वाधिके कनि सत्याद्युदात्तस्य माषिकस्य
रसेन परिपूर्णस्य सम्बन्धानन्दात्मकरत्नस्य प्रतिपादकतया आर्याविशेषरूपाया मध्यनायक-
रत्नबोधिकाया अपि तद्रूपता वेद्या । वेद्यवेदकयोः संपृक्तत्वात् । एवमग्निमेवपि वेद्यम् ।
श्रीकृष्णस्य हरेः पञ्चविधत्वं श्रीप्रभुचरणैर्निबन्धे उक्तम् 'अग्निहोत्रं तथा दर्शः पूर्णमासः
पशुस्तथा । चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः । तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि
लुगादि यत् । प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृत' मिति वेदार्थस्य पञ्चधात्म-
कतां सूचयितुं हरिनामाक्षराणि चत्वारि भक्तजनदुःखहरणदक्षाणि समूहरूपेण पृथग्वर्णा-
भावरूपं च पञ्चममिति पञ्चधा हरिः । तथा कृष्णनाम्नि वर्णाः पञ्च । पञ्चवर्णोऽमिति ।
स चर्षवेदादिरिति पञ्च, अस्यासनत्वं पशुनामगम्यत्वाय सूचितम् । भगवतः भक्तानां तु
विद्यात्मकमुखारविन्दपार्ष्णि प्राप्य कृतार्थता भवति । रमन्ते भक्तानां मनांसि यत्र तद्रत्नम् ।
प्रत्येकं रत्नेषु नवत्वेपि क्रमो विवक्षितः । श्रेष्ठमानोः समयपरिच्छेदकज्योतिषां प्राधान्यात्
तद्रत्नस्य मध्यनायकत्वम् । आर्याविशेषरूपच्छन्दसा द्योत्यद्योतकयोः श्रेष्ठत्वसूचनात् ।

अर्थस्येयमतिश्रेष्ठा श्रेष्ठमानो रसात्मिका ।

विशेषरत्नतापन्ना वसुरत्नप्रकाशिका ॥ १ ॥

मध्यस्था प्रथमं प्रोक्ता श्रीमद्बल्लभदीर्घितैः ।

सोर्वशी राजतां नित्या गुरलीधरमानसे ॥ २ ॥

अष्टरत्नप्रधाननवमस्योर्वशीत्वं प्रधानतयोक्तं माणिक्यस्य ।

रसमध्यसुवर्णनायिका वरमाणिक्यतया निरूपिता ।

हृदये गुरलीधरस्य सा लसताभित्यमनन्तवैभवा ॥ ३ ॥

त्रिचरणसमगायत्री तुरीयचरणेन संयुता तत्त्वम् ।

वेदानां प्रसवित्री गुरलीधरमानसे प्रकाशयताम् ॥ ४ ॥ १ ॥

दिनमणेर्दिनप्रधानस्य रत्नमभिधाय क्षणदाप्रधानस्य कृष्णसाराङ्गस्य स्वात्मसृति-
न्दूङ्गवं मुक्ताफलाभिधं द्वितीयं रत्नमाहुः निवेदनं च स्मर्तव्यमित्यादिना ।

निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

स्मरणं चन्द्रेच्छे च मानसे । एवं च 'अहं तवास्मि' इति निरन्तरं स्मर्तव्यम् ।
तच्च भगवत्प्राप्तौ मुख्यं निमित्तम् । तेनाविकृतषोडशदल आधिदैविको भगवन्मनश्चन्द्र
आधिभौतिकेऽविकृते सत् विद्यात्मतां याते अक्षरात्मनि व्यापके पञ्चदशकलत्वं प्राप्ते सेव-
कमनश्चन्द्रे निविशेते, तदा षोडशकलो भवति । अत एव षोडशसङ्ख्याकाक्षरणाङ्काः । अत

एव रसिकशिरोमणिभिः श्रीहरिरायैः 'यद्ध्यानाच्चेतोपि च षोडशकलमञ्जसा भवति' इत्यु-
क्तम् । इहापिशब्दाच्चित्तबुद्ध्यहङ्काराणां तत्सङ्ख्याकानां चतुःषष्ट्यक्षरात्मिकाः कलाः
सम्पद्यन्ते । सर्वथा तादृशैः कायवाङ्मनोभिरनन्यतया ये भवन्तं प्रपन्नाः तादृशैरिति सहाय्ये
तृतीया । यद्यपि स्मरणे सङ्गोपेक्षा नास्ति, तथापि तादृग्भिन्नैः सह सङ्गनिवृत्त्यर्थं तथोक्तिः ।
सर्वसेवकानामीश्वरत्वेन निरोधकत्वात् तेष्वेव दैवेषु आत्मत्वमात्मीयत्वं च मनुते । अतो
'निजस्य नैजानां चाविकृतेच्छात' इत्युक्तं प्रकाशे । भगवदिच्छा परीक्षाद्यर्था तात्त्विकी नेत्य-
विकृतोक्ता । स्वतन्त्रप्रवाहमर्यादयो रत्ने शोकोत्पादकत्वात् शोकाश्रयत्वात् वा शुक्तित्वम् ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकनिवेशस्योक्तत्वात् शोकजनकत्वम् । करिष्यतीति सामान्योक्त्या
केषुचिदविलम्बः, केषुचिन्मध्यविलम्बः, केषुचिदतिविलम्ब इति द्योत्यते । वर्तमानसामीप्ये
भविष्यत्प्रयोगात् प्रथमः पक्षः, इतरौ तु सामान्यप्रयोगाद्वेद्यौ ।

उपरितनमर्यादा शुक्तिरधस्तात् प्रवाहरूपा च ।

उभयोः सम्पुटगर्भे स्वातिरसालं विरत्नरत्नेव ॥ १ ॥

उपरि महामर्यादाधस्तनशुक्त्या तु सम्पुटं याता ।

पुष्टिर्मुक्ता मध्येऽसंश्लेषा निर्गता ततः शुद्धा ॥ २ ॥

पुनरनयोर्न प्रविशति भगवद्भूषासु संसक्ता ।

इत्थं मुक्तारत्नं द्वितीयमथ द्वयं वेद्यम् ॥ ३ ॥

प्रवाहवेदमर्यादाशुक्तिसम्पुटनिर्गताः ।

कलानिधे रत्नरूपा मुक्ताः स्वातिरसात्मिकाः ॥ ४ ॥

भवन्तु भावे सरसे तासां मम रसात्मनः ।

सदा येन भवेद्भावो भूषणे भूषणे विभोः ॥ ५ ॥

प्रशस्तपुष्पवद्भजे सर्वरूपरसान्विते ।

श्रीकृष्णहृदये भाते भासेतां हृदये मम ॥ ६ ॥ २ ॥

रसवर्षणभावद्वादशात्मककृष्णसाराङ्गाह्लादकरसरश्म्युदयमात्रेण प्रफुल्लतां प्राप्त-
वतोः, अत एव प्रशस्तयोरत्युत्कृष्टमार्णवस्थरत्नरूपयोः कमलयोः पुष्पयोः सदा
विद्यमानसाययोगोविप्रप्रतिपालकवंशप्रवर्तकयोरलौकिकयोः सकलभुवनाप्यायकत्वेन पुष्टि-
प्रदयोः सूर्याचन्द्रमसोः सदानन्दरूपे रत्ने अभिधाय तृतीयां सेवकव्यक्तिं विना
सेव्यलीलानुदयात् पूर्वोत्तरान्वयिनीं सदानन्दमध्यस्थां चिदानन्दाक्षरदैवजीवसम्बन्धिदेह-
रूपविद्वुमाख्यां मध्यपुरुषबोध्यामदिगन्तां रत्नव्यक्तिमाहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

वसुन्धराप्रधानानां प्राकृतानां स्वस्वीयदेहानां परब्रह्मसम्बन्धादलौकिकतां यातानाम-
क्षरस्वरूपत्वेन चिद्रूपसात्त्विकानां विशेषेण मङ्गलद्रुमरूपता भवति । सा तु श्रीकृष्णामर-
णत्वेन । किञ्च, द्रवतेर्गत्यर्थकत्वेनान्यत्र विनियोगसम्भव उक्तः । न हि स वस्तुतो भवति ।
यतोऽलौकिकहस्तिपकेन प्रभुचरणारविन्देन स्वसेवकमनोमत्तमातङ्गस्य स्वस्मिन्नेव
स्थापनाय नित्याङ्गशधारणं कृतम् । अत उक्तं ललिते 'एतत्पदपङ्कजमधुमत्तस्यायं निसर्ग
एवामूत् । नेतरभावं भजते यदङ्कुशो नित्यमेवास्ती'ति । प्रभोरिच्छायाः सर्वकार्यकरण-
समर्थाया यः सम्बन्धः स परब्रह्मणः समत्वात् सर्वत्र समः । ईदृग्देहानां मङ्गलमन्दिरवे-
दत्रयात्मकाक्षराधारत्वेन मङ्गलरत्नत्वम् । स्वयं विराजमानत्वात् ।

भौमानां विद्रुमत्वं भवति निजपरस्वीयदेहादिकानाम्
कृष्णेऽद्वा स्वर्षितानां रसमयपरमालौकिकानां स्वमक्तैः ।
स्त्रीयाचार्यस्य मार्गे परमगुणगणालङ्कृता भूषणार्हाः
सेवायुक्ता यतस्ते रसमयवपुषो जङ्गमाः कल्पवृद्धयः ॥ १ ॥

मच्चित्ते ता भवन्तु प्रणयरसभरा उर्वशी रत्नमध्यात्
बाह्यायां वीथिकायां हृदयपरिसरे रत्नरूपाः सुवर्णे ।
इत्थं रत्नं तृतीयं नवसु निगदितं पूर्णकामायमानम्
तस्मै दिव्याय मे स्यान्नम इह परमानन्दलाभाय नित्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥

ननु मध्यहीनाधिकारिभिः स्वयं ज्ञात्वा स्वदेहस्यार्षित्वेपि पुत्रादीनां ज्ञाना-
भावात् तद्देहानामज्ञानावृत्तचित्तत्वेन लौकिकत्वादन्यविनियोग एव भवतीति भवति-
चिन्तेति बुधस्य सेवकजनशिक्षकस्य महापुरुषस्य निवेदकस्य प्रमावादज्ञानकृतनिवेदि-
तदेहानामपि चिन्ता न कार्येति मरकताभिधं तुरीयं रत्नमाहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

अज्ञानस्य व्युच्चरणोत्तरक्षण एव सम्बन्धात् प्रथममुपादानम् । तच्चावरकत्वात्
सङ्कर्षणनिचोलनिमग्नम्, यतः ज्ञानात् प्रकाशकत्वेन मास्वरप्रायात् स्वच्छाद्देतुभूतात्
कृतं देहादीनां परमात्मने समर्पणम्, श्रीकृष्णाधीनकरणं प्राणानामविकृतमव्ययत्वाद्देवम् ।
अतस्तस्मै हितः प्रत्ययः सातिश्च वेधः । बुधेऽज्ञानाद् ज्ञानाद्वार्षितं स गृह्णाति, बुधत्वेन वैष-
म्याभावात् । तदीयत्वेन रत्नमपि तादृशम् । अ्रियतेऽनेनेत्यहन्ताममतात्मको विविषद्दुःखदो
मनोदेहेन्द्रियविकृतिजनकः संसारो मरः, तस्य कतो नैर्भल्यजनकः । यतः कं निरतिश-
यानन्दः, तं तायति तनोति वा उप्रत्ययान्तः । मनोदेहेन्द्रियादीन् स्वभावतो मलिनान्

कतकापरपर्यायनिर्मलीकृतघनरसं शोधयति, तथेदमपि । अतः प्रमाणरूपामेण ताद-
ग्वर्णवसनं धृतम् । अज्ञं सुज्ञं वा पण्डितत्वादनुगृह्णाति ।

सरस्वतीरूपनिचोलरामस्याङ्गे य आनन्दमये रसायाम् ।
श्रीबालकृष्णो रमते यथेच्छं तं पूर्णकामं प्रणमामि देवम् ॥ १ ॥

बुधो विद्यारूपः प्रकटपरमानन्दजनको
निचोलं यन्नीलं सकलरसशृङ्गारविभवम् ।
धृतं येन स्वच्छं मरकतमणिप्रख्यमतुलम्
स मे चित्ते भूयादखिलतिमिराज्ञानदलनः ॥ २ ॥

निकुञ्जे यल्लीनं सरसरमणीनां हृदि तटे
प्रसिद्धं वृन्दाया विपिनभ्रुवनेत्र प्रतिदिनम् ।
प्रमेयं विख्यातं दशरसरसालङ्कृतवपुः
महातेजःपुञ्जं मनसि मम भूयाद्भुमितम् ॥ ३ ॥

मरकतमिह रत्नं यद्बुधस्योक्तमेत-
त्प्रभवतु मम चित्ते शोधनाय प्रकामम् ।
गुरुचरणसमर्प्या स्याद्यथा पुण्यकर्त्री
सकलदुरितहर्त्री सर्वकामप्रदात्री ॥ ४ ॥

इति बुधस्य मरकताख्यं चतुर्थं रत्नम् ॥ ४ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता सकलरसमयः श्रीनिकेतनः पूर्णपुरुषोत्तमोऽर्पितमङ्गीकृतवान्, न वेति
संशयमुद्दिधीर्षवो मुकुन्दमुखारविन्दतेजोनिधिरूपाः श्रीवाक्पतय आचार्याः सर्वथा
प्रपन्नान् सेवकान् वाचस्पतेः सकलगुणनिधानं पुष्परागाख्यं पञ्चमं रत्नमाहुः तथा निवे-
दने चिन्तेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुष्यन्ति अनायासेन भक्तानां शुभमनोरथा येन स पुष्यः पुरुषोत्तमः, तत्र रागो
येन, समर्पणमात्रादिति अङ्गीकृतिः, तस्मिन्नुरागादेव सर्वथा भवतीत्यन्वयं रत्नम् । अयं
भावः । 'पुष्यसिद्धौ नक्षत्र' इति व्युत्पादनात् युध्यन्ति, पुष्टानि भवन्ति भक्तमनसेप्सि-
तानि येन स पुष्यः । स च तेजोमयनक्षत्रात्मा न क्षीयते, न क्षरति, रश्मिभिर्व्याप्तोतीत्य-
क्षररूपः सदानन्दः पूर्णः श्रीपुरुषोत्तमः, तस्मिन् रागो येन तादृशः । भगवदङ्गीकृतेरिदं
लक्षणं यत्तत्र परा भक्तिः प्रादुर्भवति । अत एव पूर्णः सदा ब्रह्माद्याश्रयणीयतया सहित-
त्वात् पुरुषेषूत्तमश्चेति नोपेक्षतेऽङ्गीकृतवस्तुमात्रम्, अर्पितस्य सच्छब्दार्थरूपत्वेन तस्य श्रीस-

र्थनामनामित्वेन तदीयत्वात् । एवं ब्रह्मानन्दादुद्धरणं पदार्थमात्रस्य वेद्यम् । भजनानन्दे
योजनं तु पूरणात् पुरुषधर्मः ।

पूरणात् पुरुषतामनवद्यामुत्तमां समधिगम्य रमेशः ।
सोयमत्र नहि मृश्रति भक्तान् क्रीडति प्रतिदिनं हृदयेषु ॥ १ ॥
पुष्यति प्रतिदिनं हृदये वै येन राग इह भक्तजनानाम् ।
तद्गुरो रसमयं पररत्नं पुष्पराग इति मे मनसि स्यात् ॥ २ ॥
स्वस्य स्वीयजनस्य वा परवशत्वादन्वयोगो भवेत्
दैवाद्भ्र सदा तदा निजजनैश्चिन्ता न कार्या यतः ।
सामर्थ्यं पुरुषोत्तमस्य सततं श्रीभर्तुरन्याहृतम्
जानीयादिति पुष्परागरचना मे मानसे भासताम् ॥ ३ ॥

इति पुष्परागाख्यं पञ्चमं गुरुदेवस्य रत्नम् ॥ ५ ॥

अहं ममेत्यसद्वाहेण लोचति यस्मिन्निति लोकः, पुनः पुनरावर्तनदः प्रवाहमार्गः ।
अत्र लोचनं नामाहन्ताममतयोरेव विशेषज्ञानम् । तत्र व्यवहारे क्रियमाणे सेवकस्य
स्मयनाशनाय फलं न भवति, किन्तु लोके व्यवहारेण फलाभावात् खेदे सति हरिः
करिष्यति, तदेव भविष्यतीति निश्चये जाते भगवान् पुष्टिमार्गं एव तिष्ठतीत्यनायासेन
सकलमनोरथाः सेत्स्यन्तीति तदस्थतया सेवकैः स्थेयमित्युपदिशन्ति, मर्यादामार्गेषु स्मय-
नाशनायोपदिशन्ति लोके स्वास्थ्यमित्यादिना ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

भक्तानां स्मयनाशनेन सकलं दुःखं हरतीति हरिर्यतोऽयं तृतीयमार्गस्थः । मर्यादा-
मार्गं देशादीनां कृष्णाश्रयोत्तरीत्या साम्प्रतमसाधकत्वात्, तत्र प्रत्युत प्रत्यूहमेव करोति
परीक्षायै, स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च, पुष्टिमार्गस्थितत्वेन सुखमेवान्ततः प्रयच्छतीति पुरुषार्थद्वयं
सम्पद्यते । अन्यथा विततानेकविध्युक्तसाधने क्लेशेपि फलाभावे सुतरां क्लेशः । तस्मात्
स्वयं कविनाम्ना रसाधायकरीत्या अलौकिकं न केनाप्यपनोद्यं फलं प्रयच्छतीति भावः ।
अत एव कवेर्वज्ररत्नेन व्रजति पर्वततुल्यं क्लिबधं गच्छत्यनेनेत्यन्वयेन सर्वं सेत्स्यतीति
साक्षितया सेवकैस्तत्कृतिं पश्यद्भिरेव स्थेयम् ।

वाणिज्यादौ च वेदे विविधविधिकृतौ विघ्नमेवेति वेद्यम्

यस्मात्तस्मात् फलं वै न भवति नितरां कर्तुरस्य कृपायाः ।

अन्तःस्थभूयोभिमानो न भवति सुतरां मानसं वज्रतुल्यम्

नीरीभूतं यथा स्यात् फलमपि भवति श्रीशनिष्ठं यतस्तत् ॥ १ ॥

पर्वतसदृशं किल्बिषमिह जातं भक्तवर्गस्य ।
व्रजति त्वरितं वज्रादित्यन्वर्थं कवे रत्नम् ॥ २ ॥
साक्षीवत्कृतिमादराद्भगवतो यूयं सदा पश्यते-
त्येवं सिध्यति सर्वमीप्सिततमं कार्यं फलं कर्तव्यतः ।
पुष्टिं श्रीपुरुषोत्तमादुपदिशन्त्यद्वा तदास्यात्मका

आचार्या इह वैष्णवान् स्वकुलतोप्यन्याननन्याश्रितान् ॥ ३ ॥

मर्यादात्यजनं विरुद्धमिह यत्तत्त्वं परं ये विदुः

पुष्टेः किन्तु दरिभरित्वमिति तत् स्वीकृत्य पुष्टिं गताः ।

दुष्टास्ते दयया सदा विरहिता वेदाक्षरान् वाचय-

त्यद्वाज्ञान्गुरुमीश्वरं ह्युपदिशन्तीशस्य चाज्ञाद्बुद्धः ॥ ४ ॥

इति कवेः शुक्तस्य रत्नं षष्ठम् ॥ ६ ॥

कविर्ज्योतीरूपो देवः सुरासुरभावज्ञ आसुरभावं निन्दयन् दैवभावं स्तुवन् स्वर-
त्नेन । एवं च प्रह्लादादिष्वासुरत्वेपि तद्धर्माभावादानुग्रहः, अन्येषु निग्रहोपि सूचितोऽ-
नेनेति । दैवैः किं कृत्वा श्येममित्यादिसन्देशान् सारिरत्नेन निवर्तयन्ति सेवाकृतिरित्यादिना ।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थायतां सुखम् ॥ ७ ॥

गृणाति परमात्मनस्तत्त्वमिति गुरुः, 'गुरुं न मर्त्यं मन्येते'ति वाक्यात् तदुपदिष्टमार्गेण
रसमयी सेवा विधेया । ततः कदाचिद्भगवदनुग्रहवशात् सेवकस्य विशेषेच्छायां भावरूपा
भगवदिच्छा विशेषाकृतिरूपेण तन्मनसः प्राकट्यमाप्नोति, साद्धा भगवदिच्छेत्यनुमित्या
मन्तव्या सेवकैः । एवं हि गुर्वाज्ञाबाधनमबाधनं वा हरीच्छया भवतीति भावः । इन्द्रनीलरत्नं
त्वमित्मन्थरगतेः सर्ववर्णैरनपनोद्यवर्णैः तमसाप्यनुपनोद्यं च सर्ववर्णत्वात् । इन्द्रः परमात्मा
परमैश्वर्यवान् सकलरसायां जीवनरसवर्षणशीलः, अत एवाद्युदात्तस्तद्दतिनिविडश्याम-
सुन्दरमूर्तिः, तस्येदम् । अनेन श्यामसुन्दरसेवायां मनःप्रभृतीनां वृत्तयोऽव्यावृत्ततया
मन्थरगतयो रसमयस्थिरविद्युल्लतारूपा भवन्त्यत उक्तं सेवापरं चित्तं विधाय
स्थायतां सुखमिति । निविडरसकुञ्जसेवाया मन्थरा गतिर्भवतीति सेवासक्त्या सकलं
सिध्यतीति व्यञ्जितम् ।

गुरुणा परमेश्वरेण या कथिता सर्वरसप्रदायिनी ।

परमा तनुसेवना तथा वसुना स्वस्य च सा परा मता ॥ १ ॥

यदि सा त्वधिका ततो भवेन्मनसस्तस्य परात्मनः प्रभोः ।

परमेष्टतयावगम्यतां निजभक्तैरवरुध्य चेन्द्रियम् ॥ २ ॥

स्थिरताम्रपगम्य सेवयावसरेऽन्यत्र कथारसैस्तथा ।

रविनन्दनरत्ननीलतां रमणीयां हृदये विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥

इन्द्रनीलमणिवद्विराजिता सर्ववर्णसमवायदेवता ।

मन्दमन्दगतिमद्रसान्विता मे मनस्यविरतं विराजताम् ॥ ४ ॥

यद्यप्यनेन भगवत्सेवायां देहेन्द्रियाणां स्थिरतोपदिष्टा, तथापि 'यततो ह्यपि कौन्तेय
पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसमं मनः । इन्द्रियाणां हि चरतां
यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसी' त्यादिवाक्यैर्वैयोरेव मनसो
दुर्ग्रहत्वेनानेकदुःखोत्पत्त्या चित्तोद्विगतायां सेवाया असम्भवात् तन्नित्यर्थं गोमेदाख्यं
विधुंतुदस्याष्टमं रत्नमाहुः चित्तोद्वेगमित्यादिना ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

सांसारिकानन्तदुःखजन्योद्वेगस्य चित्तधर्मतयाऽवश्यं प्रथमं भवनमित्यकृतोपि स कृतो
भवतीति क्वोक्तिः । तदुत्तरं सेवकस्य यत्कर्तव्यं तदाहुः हरिर्यद्यत्करिष्यतीत्यादिना ।
सेवकानां सकलदुःखहर्ता हरिर्यद्यदनेकविधं दशललितलकारप्रकृतिबोधितफलाश्रयं करि-
ष्यति, तथैव तस्य हरेर्लीलेति मनसि ज्ञात्वा चिन्तां शीघ्रं विसृजेत् । विधौ लिङ् ।
विधिः कर्तव्यार्थोपदेशः । करिष्यतीति वर्तमानसामीप्ये लट् । अनेन वर्तमानकार्यं
भविष्यत्कार्यं सकलं भगवल्लीलेति सेवकैर्मन्तव्यमिति भावः । अतीतसमये स्मृतिमात्र
आनन्द उपलक्षणत्वेन वेद्यः । वर्तमानस्यानुभूयमानागणितानन्दत्वे रसाधायकत्वम् ।
भविष्यति तु भाविनि कार्येऽत्युत्कण्ठितं मन इति रसाधायकत्वमिति त्रिष्वपि समयेषु
यद्यत्कार्यम्, सा लीला । एवं च सदा चिन्तात्यागे गवामिन्द्रियाणां तेषामाधारसारूपम-
ङ्गलदेहस्य बोधकवाणीनां च खेहात्मकभेदो वृद्ध्या गोमेदो विधुंतुदरत्नप्रकाशकस्यास्य
भवति । किञ्च, भगवत्सेवकमानसचन्द्रस्य भगवद्वियोगजरसं रूपस्फूर्त्या तत्तल्लीलायाः
स्मरणात् तन्मयत्वेन ब्रह्मभूयं लब्ध्वा परब्रह्मभगवत्प्राप्तिरविलम्बेन भवतीति श्रुतिरहस्या-
योऽनेन व्यञ्जितः ।

चिन्तात्याजनतस्त्वेन विदुषां वाणीहृषीकादिकाः

पुष्टिं यान्ति निरन्तरं विधुमनःखेदं विधायान्द्रुतम् ।

शीघ्रं प्राप्तिरतो यतो भगवतो लक्ष्मीपतेरञ्जसा

गोमेदाभिधरत्नरूपत इदं मे मानसे भासताम् ॥ १ ॥

गोपालगोरक्षणधर्महेतोर्वैश्वर्यत्वमङ्गीकृतमत्र विद्वन् ।

वसुन्धरां गां परिपालनाय कृतावतारत्वयुपेक्षसे कथम् ॥ २ ॥

ब्रह्मण्यदेवासु निजेषु कश्चिन्नियोजनीयः सुरतावनाय ।

नो चेत् कथं ते विरुदं स्थिरं स्यात् कृपानिधेऽनन्त शरण्य विद्वन् ॥ ३ ॥

इति मुरलीधरवाण्या देहहृषीकाणि पुष्टिमुपयान्तु ।

मुरलीधरस्य सततं श्रीगोपालप्रसादेन ॥ ४ ॥

इत्यष्टमं गोमेदाख्यं रत्नम् ॥ ८ ॥

नन्विदानीन्तनानां सेवकानां श्वः श्वः पापिष्टदिवसत्वेन देशादीनां साधकत्वाभावात् श्रवणादीनां सम्यक्तयाऽसम्भवात् पूर्वोक्तप्रकाराणां सुतरामसम्भवाच्च कथं फलप्राप्तिरित्याशङ्कसा भवत्यनायासेनेति तत्प्रकारः त्रिसूत्रापरपर्यायेण नवमेन वैदूर्यरत्नेनाहुःतस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मात् पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यम्, तस्माद्धेतोः सर्वात्मना वाचा व्यक्ततया मनसान्तरव्यक्ततया तदर्थानुसन्धानपूर्वकं सदा आसुरावेशाभावायाष्टाक्षरमुच्चारयद्भिरेव सेवकैः स्थेयम् । यथा मनसोऽन्यत्र वृत्तिर्न भवति, तथा विधेयमिति मे मनीषाऽस्तीत्युपदेशः । अयं भावः । श्रीकृष्ण इति विशेषणम्, शरणमिति विशेष्यम्, व्यक्षरं सूत्रद्वयम् । ततः समसम्बन्धबोधकं द्व्यक्षरमपि परोक्षास्तिना व्यक्षरिति नव । किञ्च । जीवात्मनः सम्बन्धबोधकं द्विधा, अव्ययमनव्ययं च । अव्ययात् विकाररहितात् पुष्टिमार्गीयसिद्धा पुष्टिमार्गीयाणाम्, साध्येतरेषामिति भावः । भक्तबोधकादनव्ययाच्च प्रवाहमार्गीयभक्तबोधकादस्तीति लीलाबोधकं पदमस्त्विति वा शेषत्वेन विज्ञैर्विज्ञेयम् । एवं च सलीलाप्रकाशकत्वेन सह व्यक्षरी नृतीयेति नवाक्षरी परमावधिसङ्ख्या वेद्या । एता ब्रह्मसूत्राक्षररूपाः सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धैर्दृष्टाः, सदैव शिखायज्ञोपवीतधारणं ब्रह्मवैवर्ते व्यक्तम् । ब्रह्मादिभिश्च सह जातत्वेन तद्धारणमत्र उक्तत्वादतः सदा धारणम् । 'सदा बद्धशिखेन चे'तिकारिकावन्मालापि सदा धार्या । मलधातोर्धारणार्थकत्वात् । मल्यते सदा ध्रियते सा माला ।

अनुपमसुवर्णरत्नैरद्भुतमाला वसुमितैर्विहिता ।

मध्यश्रीमाणिक्या विराजतां मामके मनसि ॥ १ ॥

इत्थं नवाक्षरीयं परोक्षनित्यास्तिना चोक्ता ।

प्रत्येकं व्यक्तीनां स्वरूपमस्या विराजतां हृदये ॥ २ ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमं जगन्मङ्गलमङ्गलमूर्तिर्भगवदुरसि स्थितेन श्रीवर्णेन सकलरत्नसुवर्ण-रससम्भृता नित्यानन्ता द्वितीया प्रकृतिः संसिद्धार्थिका विराजेते । द्विसुवर्णाकृतिवर्णो यत्र । अत एवादिर्विस्तरेण विस्ताराय श्रेष्ठभानुकीर्तिवेद्यपरम्परया प्रकाशकौ यत्र द्वौ सदा विराजमानौ सिद्धसाध्यौ यथा रामित्युक्तं श्रुत्यानुनासिकौ तौ तु व्यवहार्या-व्यवहार्यौ । तत्र पूर्वो गत्यर्थप्रकृतिश्चतुर्थः ।

इति श्रीमुरलीधरभट्टविरचिता नवरत्नटीका संपूर्णा ।

अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चिल्लिख्यते । 'प्रीयतेऽमलया मत्तया हरिरन्यद्विद्वम्ब-नम्' 'मत्तयाहमेकया ग्राह्यः' 'वशे कुर्वन्ति मां मत्तया' 'मत्तयैव तुष्टिमम्येती'-त्यादिवचोभिः प्रेमलक्षणया मत्तया भगवान् लभ्यः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणा'नि ल्यारम्य 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणाया निवेदनलभ्यत्वम् । निवेदनं च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकमगवदीयत्वबुद्धि-सम्पादने भवति । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुषियोऽपर ईश कुर्षु'रित्यादिवचनैर्निखिलवस्तूनां भगवदीयत्वात्तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भग-वत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात् । जाते च निवेदने पुनरिष्टानिष्टप्राप्तिनिवृत्त्यु-पायविमर्शनादिरूपचिन्ताकृतौ स्वकीयत्वाभिमानेन बाहिर्मुख्यसम्भवाद्निवेदनवैयर्थ्यं स्यात् । तथा सति न निस्तार इति परमकृपालुभिराचार्यचरणैश्चिन्तारूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं 'चिन्ता कापि न कार्ये'त्याद्युपदिदिशे । तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकानन्तरभावित्वात् श्रव-णादीनां च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तथात्वेन प्रेमलक्षणाया अनुत्पत्त्या कथं भगवदाप्तिरित्याशङ्क्य 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाक्षरमत्रो निरन्तरमावर्तनीयः, तेन च सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिश्चेत्युपदिष्टम् । तत्र कथमनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धि-रित्याकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः 'साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमा-हु'रित्याभासग्रन्थेन । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाक्षरमत्रे साधनफलयोरेकीकरणात्सर्व-समाधानमिति भावः । तथाहि । श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्धतिकृताभिव्यक्तिः सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणं आश्रयः शक्याशक्यसम्पादक इति मन्त्रार्थः । यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिसिद्धिर्नित्याभावः, तथापि प्रभोः पुष्टिस्वरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभम् । 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरा'दि-त्यादिवाक्यात् । तत्र साधनक्रमेण चेदुद्दिधीर्षुः, तदा जीवाशक्यानपि श्रवणादीन् सम्पा-द्योद्धरति । अन्यथा विनापि साधनं कृतार्थयति । अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम् । अत एव 'शरणं भावयेद्भरि'मिति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । 'भक्तद्रोहे भक्त्यभाव' इति च । इह भक्त्यभावे भक्तिसिद्धयर्थं हरिं शरणं भावयेदित्यर्थः । प्रकृतेपि श्रवणादिनवविधभक्तीनां दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविधभक्तिसिद्धयर्थमेतन्मन्त्रावृत्तिरुपदिष्टा । अतः प्रमाणबलविचारेण पूर्वपक्षः । प्रमेयबलविचारेण समाहितिरिति ज्ञेयम् । तथाच फलमेव साधनीकृत्येति फक्किार्थः । अनेन 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'ति मन्त्रार्थो व्याख्यातो ज्ञेयः ।

किञ्च । अयं मन्त्रो नेतरसाधारणः । किन्तु पुष्टिमार्गीयः । समर्पणगद्यवत् । अत एव प्रभुचरणैरभिहितं 'यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम । तत एवास्ति नैश्चि-न्यमैहिके पारलौकिक' इति । पुष्टिमार्गीयत्वं च भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाभावत्वम् । तथाच पुष्टिसैरयं मन्त्रो नवरत्नमावर्तनीयः । मनसा पूर्वोक्ततर्धानुसन्धानेन शरणभावनं

च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विवृतौ प्रभुचरणैरूचे 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्ताले-
शोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः, तेन च भगवत्प्रा-
प्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्तु ।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।' इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न संगच्छत इति बहूनामार्याणां महानेवोद्यमोऽस्मिन्नन्धे नानाविधोऽस्ति । परन्तु धमशतेनापि न लगतीयं फक्किका । तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः । इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने । अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते । तथाहि । इह पूर्व 'निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशाखुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति । तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र वदाम' इत्यादिना । तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कार-
व'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसा-
दत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता । तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्य इत्युत्तरं सिध्यति । तत्र किं प्रमाणमित्या-
काङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम् । तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्य इति ज्ञापनार्थं 'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यै 'रात्मशोध-
कत्वाच्चे'ति पठितम् । तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृते-
ऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रद-
र्शिता । तदग्रे 'अपरञ्चे'त्यारभ्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावाम्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाहं निषिध्य भगव-
न्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्य इति सिद्धान्तितम् । एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा । दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाच्चे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः । एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहो-
त्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरञ्च । दाने हि न स्वविनियोगः । न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदि-
तस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति । तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवद्यम् ।

अन्तःकरणप्रबोधः

पञ्चटीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः
२. श्रीरघुनाथानां विवरणम्
३. श्रीहरिरायानां विवृतिः
४. श्रीवजराजानां विवरणम्
५. श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-
सप्त-पीठान्तर्गत-षष्ठ-पीठाधिष्ठित-नित्यलीलास्थित-
गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलाल-महाराजानां-
स्मृतौ-तेषां-श्रीमती-कृष्णावती-बहूजी-महा-
राजश्रीत्येताभिः-प्रकाशितः

प्रकाशक ।

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज (षष्ठपीठाधीश्वर) के
श्रीकृष्णावती बहूजी महाराज,
श्री कल्याणरायजीकी हवेली, बैंक रोड, बड़ौदा, गुजरात ३९०००६, भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी,
बम्बई—४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा षोडशग्रन्थोंमें योजित ग्रन्थोंमें अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी—विरचित वल्लभदिग्विजयके अनुसार सन्यासग्रहण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर ३९ दिन विराजे थे और यह सन्यास आपने इस ग्रन्थमें वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था. अतः आषाढ शुक्ल द्वितीयासे ३९ दिन पहले यानि वैशाख (व्रज जेष्ठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि. सं. १५८७ में इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है.

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोबार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमें श्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणा के रूपमें देते हैं. जो बात इन विद्वानोंके गले नहीं उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओंका चमत्कारिक रूप! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका सहस्र जुटा नहीं पाते. अतः भक्ति और श्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोंकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं. इन विद्वानोंको कभी लगता है कि किन्हीं श्रान्तिके क्षणोंमें ये तीन भगवदाज्ञाकी श्रान्तियां पैदा होगयी होंगी—कभी इन्हें लगता है कोई तीन सांघातिक बिमारियोंसे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन बिमारियोंको परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे हैं—कभी इन्हें लगता है कि सम्भवतः किसी अन्तरवाणीके रूपमें श्रीमहाप्रभुने लोक-त्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रद्धावश भगवदाज्ञा मान ली हो!

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गको अपनानेकी मनोवृत्ति-वश अपनी निराधार कल्पनाओंको बौद्धिकताके रूपमें ये विद्वान् मान्य करना चाहते हैं. जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, वे ईश्वराज्ञाके श्रवणको 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते हैं. इससे अधिक चमत्कारपूर्ण तार्किकता और क्या हो सकती है!

इन कपोलकल्पित व्याख्याओंको प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्की तूटती हुई श्रद्धाको कयञ्चित जोड़ना होता है. पर अपने इस मोहमें ये विद्वान् अक्सर यह बात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिवैभव और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोबल दोबार केवल बीमार पड जानेपर तूट जाता हो उसे 'युगप्रवर्तक व्यक्ति' कैसे माना जा सकता है? दोबारकी बिमारीसे पनपी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आत्मघातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है?

भारतवर्षकी तत्कालीन नितान्त विषम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और संकल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और संस्कृति की मशालको अपने सुदृढ हस्तोंमें धारण किया था! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इतनी कमजोर इच्छाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है? वर्ण-आश्रम जाति-रिग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तित्वके घनी श्रीमहाप्रभु वीहड जंगलोंमें वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये बिना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे—विदेशी आक्रामकोंसे आतंकित नगर—जनपदोंमें बसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे. वे स्वयम् दो बारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसंगत मानी जा सकती है? जबकि वे जनताको—“त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते सर्वतः सदा” का उपदेश देते रहे! अतः—

आज्ञापूर्वं तु या जाता गंगासागरसंगमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्-द्वयं मया ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ॥

इन शब्दोंमें सस्ती अन्तर्वाणी या संघर्षजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी भ्रांति को खोजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है—उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनतासे नितान्त अपरिचयका द्योतन है!

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यों देते हैं :

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमें प्रकट दूसरा रूप है. भागवतकी वाणीके अर्थको प्रकट करनेके लिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके रूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहाप्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है. प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमशः दशमस्कन्ध तक पहुंचनेमें पर्याप्त विलम्बकी सम्भावना थी. फलतः तृतीयस्कन्धतक पहुंचनेके बाद अविलम्ब दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कहीं एक विशेष भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुकी हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही. अतः यहां उस आज्ञाका उल्लेख नहीं किया गया है. परन्तु उस आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयोजनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबोधिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है—“प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानां, निजपदसमवाप्तये च नित्यं निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम्”)

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए.

भागवतके सातों अर्थोंमें एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ—निबन्धमें शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी. इसी तरह वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थकी व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी. पुनः गूढतम रहस्योंको प्रकट करनेके लिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ. यह एक सुदीर्घकालमें पूरी होनेवाली लेखनशैलीमें लिखा जा रहा ग्रन्थ था. भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका विराजना भगवान्को अभिप्रेत न था. अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई. अब पुनः इसी शैलीमें अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नहीं थी. श्रीपुरुषोत्तमजी अतएव पांचवे और छठे श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं : “नच पूर्वाज्ञप्तासम्पूर्तिदोषः यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु, अधिकं

न कार्यम्... इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान—स्कन्धक्रमव्याख्यास्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरमसामयिकमाधवभट्टकाशमीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्यरनुमीयते.”

गंगासागर और मधुवन में जब सुबोधिनी-लेखनको बन्द करनेकी आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गोपिकाओंकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओंका उल्लंघन करना चाहा. वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुंच पायी उन्हें पुनः घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लौटी नहीं. श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य बन्द नहीं किया. भगवदाज्ञाके उल्लंघनके इन दोनों प्रकारोंमें किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओंमें भगवत्स्वरूप-सुखके लिए भगवद्-वाणीका उल्लंघन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लंघन नामसेवार्थ भगवद्-विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था. फलतः सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नवमतककी व्याख्या छोड़कर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ ही था और पुनः अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखनेकी प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काशमीरी किसी पारधीके तीरसे आहत हो गये. यों सारी प्रतिकूलतायें केवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुमापिका थी. तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई—लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञामें भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई. श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आग्रही मनको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे हैं.

“मेरे अन्तःकरण ! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है. भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेके लिए जिन दो भगवदाज्ञाओंका उल्लंघन किया था वह अपने आग्रहिल अन्तःकरणके कारण ही हुआ. अन्तःकरणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियों पर काबू पाया जा सकता है.”

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्ततः श्रीकृष्णके स्वरूपमें आसक्ति सम्पादित करना ही था. पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नहीं किन्तु अन्य पुष्टिजीवोंकी थी. भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोंका उपकार होगा. वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझ

कर उसमें आसक्त हो पायेंगे. जहांतक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न है तो उन्हें तो इस प्रक्रियामें भागवतकी लौकिकी भाषा और परमतभाषा का भी चिन्तन-मनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था. केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नहीं जा सकता. यों अनेक पुष्टिजीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहते उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोंको पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त करनेके लिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नहीं है. सर्व-निर्णय-निबन्धमें श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके हैं कि भगवत्सेवाके अवसरमें हिस्सा बंटानेवाले धर्मोंका त्यागकर देना चाहिये. परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामें बाधक होते हों तो छोड़ देने चाहिये. “एतद्विरोधित्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेद् । धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन् ॥ २३९ ॥ एतद्विरोधोति सामान्यवचनं धर्मादीनामुपलक्षणं...परोपकारादि सर्वधर्माणामपि क्षयिष्ण्वेव फलम्. अतः उभयोरन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्माः न कर्तव्याः, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति”. कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामें सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामें बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्म भी त्याज्य समझने चाहियें. फलतः आत्मसमर्पण के बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका हो ही नहीं सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोंकी स्थिति अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है. पर आत्म-समर्पणके बाद इन्ही पुष्टिजीवोंकी स्थिति, उक्त सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है. इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है. और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है. परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थामें थोडा-बहुत अपमान पश्चात्तापका विषय नहीं लगेगा. क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमें तो सम्माननीय ही मानी जाती है.

इसी तरह किसी प्रौढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लंघन करनेके कारण

अपमानित भी होना पड़े तो अपनी पहलेकी असमर्पित अवस्थाका विचार करना चाहिये. जिस पुष्टिजीवने सर्वसमर्पण कर दिया उसे मानापमानकी क्या परवाह ? उसका कर्तव्य तो केवल भगवदाज्ञाके अनुसरणमें ही निहित है.

पुष्टिसृष्टि प्रभुने अपनी स्वरूप-सेवाके लिए प्रकट की है. भगवान् तो सत्यमकल्प है, अतः भगवदाज्ञा शिरोधार्य करना ही पुष्टिजीवका प्रथम कर्तव्य है. अन्यथा स्वामिद्रोहका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा. और फिर चाहे विलम्बसे या अविलम्ब, जो फल हमारे स्वामी हमें देना चाहते हैं, वह तो स्वयमेव देंगे. अतः फलविलम्बकी चिन्ता किये बिना हमारा कर्तव्य है हमारे स्वामीकी आज्ञाका पालन करना.

पहले गंगा-सागरके संगमपर और बादमें मधुवनमें जो दो भगवदाज्ञा प्राप्त हुई थी उनका पालन न हो पाया. अब तृतीय भगवदाज्ञा लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी हुई है (अर्थात् आसुर व्यामोह-लीलाकी) ^१ इस आज्ञाका तो पालन करना ही पड़ेगा. फिरभी इसमें पश्चात्तापका कोई विषय नहीं है. जब हम सेवक हैं—जब हमारा सब कुछ हमारे स्वामीको समर्पित है—फिर लोकगोचर देह-देशके परित्यागकी आज्ञामें पश्चात्ताप कैसा !

हमारे स्वामी श्रीकृष्ण रुष्ट होनेपर किसी लौकिक स्वामीकी तरह निर्दय बन जायेंगे ऐसा तो सम्भव नहीं है. उनकी तो प्रत्येक आज्ञामें हमारा परम हित एवम् चरम सुख रहा हुआ है. अतः सब कुछ जब अपने स्वामी श्रीकृष्ण को भक्तिपूर्वक समर्पित कर ही दिया है तब और क्या करनेको शेष रह जाता है ? अतः आज्ञाके पालनमें ही अपनी कृतार्थताका अनुभव करना चाहिये और सुखी रहना चाहिये.

कभी—कभी विवाहिता पुत्रीके वयस्क हो जानेपर भी उसे उसके पतिके पास सुसराल भेजनेको पिताका मन नहीं मानता है. ऐसे वात्सल्य या मोह के वशीभूत होकर वह अपनी पुत्रीका हित करता है या अहित ? पुत्रीको उसके निजस्वामीके पास न भेजनेपर कन्यादानका क्या अर्थ रह जाता है—कोई पति ऐसी पितृगेहवासिनी पत्नीसे कैसे सन्तुष्ट हो पायेगा ?

१. प्राचीन सभी व्याख्याकार क्रमशः देहत्यागकी प्रथम आज्ञा देशत्यागकी द्वितीय और लोकत्यागकी तृतीय आज्ञा, अर्थ स्वीकारते हैं.

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्ण को कैसे सुहायेगा ? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा ? अतः यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोंकी तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता ?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है. परन्तु सर्वदुःखहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य संयोग—सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दुःख कैसा ? अतः किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हों जायें तो क्या करना—या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेंगे तो क्या होगा—या देह-देशके लोकगोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोंका उद्धार कैसे होगा—या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नहीं हो पायी इत्यादि-इत्यादि.

अपने इस अन्तःकरणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमें उपनिबद्ध कर श्रीमहा-प्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्तःकरणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहा-प्रभु उन सारे पुष्टिजीवोंके अन्तःकरणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते हैं, जिनमें भगवत्सेवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता है. अतएव “तव कथामृतं तप्तजीवनम्” की सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थित होनेपर है. अन्यथा स्वतः अमृतपानकी प्यास किसीको भी नहीं होती. इसी तरह भगवान्के स्वरूप और भगवान्की कथामें भी घनीभूत रस और तरलीभूत रस का सा अन्तर होता है. अन्यथा रासमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर उन्हें खोजनेके बजाय गोपीजनोंने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता ! “रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्.” अतएव “सेवायां वा कथायां वा” में ‘सेवा और कथा’ मुख्य कल्प हैं जबकि ‘सेवा अथवा कथा’ गौण कल्प है.

अतः सभी पुष्टिजीवोंको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि “भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नायथा भवेत्.” अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुतः भगवत्सेवाका अंग हो तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवांगभूत अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रकार उसे भग-
वान्की सेवामें अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमें दे रहे हैं.

प्रस्तुत संस्करण वि सं. १९८१ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रोसेस
द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण
छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमें श्रीचीमनलाल हरिशंकर शास्त्रीजीने उस
संस्करणका सम्पादन किया था. आर्थिक सेवा अनेक वैष्णवोंने मिलकर की
थी. इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. इति शम्.

उ दा हा र.

अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थ प्रकट करतां अमोने सहज आनंद स्थरे छे. आ ग्रन्थ श्रीसुभोधि-यादि
आलेआया पछी परिश्रित अवस्थांमां लभायेव होवाथी मार्गधि भूधन्य सिद्धान्तुं सिद्धाव-
लोकन क्युं छे. तेथी श्रीमहाप्रभुछनुं प्रलुसह सातुलावतानुं प्रदर्शन अने अतिहासिक प्रकाशने
लाल आ ग्रन्थद्वारा उपलब्ध थाय छे.

अन्तःकरणना मन, चित्त अम सामान्य पर्येथी टीकाकारोअे स्वीकार्यां छे. मन विगेरेनुं
स्थान हृदय गोलक होवाथी हृदयवायक अन्तःकरण शब्दने अत्र प्रयोग छे. श्रीपुरोत्तमछ
कहे छे क-मनने वश करे ते हेवने देव नान्यवे. आ प्रभाषानुसार मनने न साधवा भाटे
अन्तःकरणप्रबोध छे. मननुं स्वरूपलक्षण-संस्कृतिकल्पामक मनः । कार्यलक्षण कामजनकत्वं मनः ।
आ अने लक्षण आध्यात्मिक थयां. 'आधिदैविक लक्षण तो 'अनिहदात्रिभूतानत्वम्' छे. आधि-
लौकिक लक्षण योगिभिः शनैः संराध्यत्वम् । मननुं अल्लु परिभाष्य छे. अन्त हेवता छे. कामः
सहस्रवः त्रिचिह्नैवा ब्रह्माऽब्रह्मा विगेरे मनना गुण्य छे. तेथी ते अन्ता करे अे स्वाभाविक छे.

वस्तुतस्तु सेवकने अन्तारहित करी सेवकनी सेवा आधिदैविकी अने अेव मुष्पाशय आ
ग्रन्थने छे. आ आशयने स्वअन्तःकरणना व्यपदेशी लक्षणांतःकरणने न श्रीमहाप्रभुछ उपदेशे
छे. अन्तःकरणे लगवाननी आज्ञानुं उल्लंघन क्युं, देह अने देशत्यागनी आज्ञा न पावी तेथी
अपराधी थयुं. तेने उपदेश आपवे न जेअे. श्रीगोपीजनोअे लगवदाज्ञानुं उल्लंघन क्युं
हनुं. श्रीमहाप्रभुछे देहदेशत्याग करवानी आज्ञानुं उल्लंघन क्युं; तो सेवक पण्य करी. आनी
रीते लगवदाज्ञाने उल्लंघन करवानी प्रथा मार्गमां यालु यवाना लयथी अन्तःकरणप्रबोध
ग्रन्थने प्रादुर्भाव थयो, अम कहेनुं नराय अतिशयोक्ति अरेलु नथी. आ वात सेवकने समजववा
श्रीकृष्णनी उत्कृष्टता साधवा श्रीकृष्णथी पर दार्ढ उतम हेव नथी, अम साणीत क्युं छे. श्री
पुरोत्तमछे कहे छे क-श्रीकृष्णथी हेव अेटले देरीने समूह गोपीजनो-पर-अेटले उत्कृष्ट नथी
लित नथी, भाटे तेमने दापवे लछ आज्ञालंग न करवे. सामान्य रीते टीकाकारो आज्ञाना
विषयो आ प्रभाषे आलेअे छे.

- १ नित्यलीलांमां-लागवतार्थ प्रकट करवाने भाटे लूतलपर प्रकट थवानी आज्ञा,
- २ परदेशमां-वियोग न सही शकवार्थी त्रण्य स्कन्ध पछी दशमस्कंध विवरण्य करवानी आज्ञा.
- ३ गंगासागरमां-देहत्यागनी आज्ञा.
- ४ मथुरामां-देशत्याग करवानी.
- ५ लोकगोचर आज्ञाना अे अर्थ छे-संन्यास करवानी अथवा लोकोद्धार करवानी.

(आ आज्ञा पाणी.)

आ आज्ञांमां देहदेशपरित्यागनी आज्ञा न पाणी अे सामान्य मूल हेतु छे. आस
पालन नथी थयुं. अेनुं कहेनुं अेना करतां आज्ञानुं पालन थयुं छे अंनुं भर्मे जे श्रीमहा-
प्रभुछना-शब्दमां निकणतुं होय तो सुरभ्य गणाय अेवा आशयथी श्रीपुरोत्तमछ दिह
उपययार्थ लछ अने दिह अतिसर्जन दानार्थ लछ अेवे. अर्थ करे छे क, ग्रन्थ आहुत्य अने
उपदेशदानादिने लाग करे, अेनी लगवदाज्ञा थछ, ते आज्ञानुं पालन थछ न थयुं छे.
कारण्य के सक्षमटीकातिरोधान, स्कन्धकम व्याख्याने त्याग, दशमस्कंधविवरणानन्तर श्रीमहा-
प्रभुछना लेपक माधवलट्ट कारिभरीने आण्य वाण्युं अने ग्रन्थआहुत्यमां विह आण्युं, विगेरे
कार्यथी ग्रन्थआहुत्य अने दान उलय अंध पक्षां अने आज्ञानुं पालन थयुं छे.

આધુનિક કેટલાક અત્ર શ્રીકૃષ્ણદાસસ્ય વલ્લભસ્ય આ શબ્દમાં શ્રીમહાપ્રભુશ્ચ શ્રીકૃષ્ણના દાસ હતા પરંતુ કૃષ્ણ કે-આચાર્યનો દાવો કરતા ન હતા. એમ કહી દીનતાદ્યોતક દાસ શબ્દનો ગેરઉપયોગ કરે છે. શ્રીમહાપ્રભુશ્ચ પોતાને દાસ કહે છે, તેનો કહેવો સુંદર આશય છે તે જોવા શ્રમ લેશે. શ્રીમહાપ્રભુશ્ચ તે પોતાને દાસ કહે છે તે સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ કેમ કહેવાય ?

નદ્વ દાસત્વકૃણત્વે વિદ્ધે ભવતઃ કથમ્ ।
 एवं हि संशये कार्या सद्भिरेवं समाहितिः ।
 एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः ।
 रसात्मत्वात् तदास्यं च मन्दव्यं तादृशं पुनः ।

બતો દાસ્યરસાર્થાય પ્રાદુર્ભૂતં તદાત્મના । સ્વીયદૈન્યભાવનિક્ષપકમ્ । (શ્રીમોક્ષભાષ્યી) પુષ્ટિમા-
 ગાયકહરૂપદાસ્યં પ્રાપ્તસ્ય વિગેરે અનેક વચનોથી સિદ્ધ જ છે કે રસરૂપ ભગવાને દાસ્ય મેવા રસથી ભરેલા શ્રીમહાપ્રભુશ્ચને પ્રકટ કર્યા તેથી આ દાસ્યમેવારસ શ્રીમહાપ્રભુશ્ચમાં હોવાથી જ તે સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ અથવા આચાર્યપદભૂષણ છે.

સૂક્ષ્મ ટીકાના તિરોધાન થવાની વાત શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચ જ કહે છે. શ્રીમજ્જરાયશ્ચની ટીકામાં પણ આપ જ સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધે છે. સૂક્ષ્મટીકાનું તિરોધાન શ્રીગુણાષ્ટકના વખ-
 તમાં પરસ્પર વૈમનસ્યના કારણથી થયું છે પરંતુ આ પ્રભુની ઇચ્છાથી માનનાર સેવકને તે શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચએ કહ્યું તે જ માનવું યોગ્ય છે કે પ્રભુની અતિરહસ્યોદ્ઘાટન કરાવા ઇચ્છા ન હતી, માટે તિરોધાન થયું. પરંતુ શ્રીસુબોધિનીશ્ચ તે સમ્પૂર્ણ લખાયાં નથી એ વાત નિર્વિ-
 વાદ છે. શ્રીગોકુલનાથશ્ચ શ્રીમહાપ્રભુશ્ચના નિકટ પ્રકટેલા છે. આ સ્કન્ધક્રમલાગ કરવાનું વૃત્તાન્ત તેમને મળ્યું છે અને તે પોતાની ટીકામાં લખે છે.

શ્રીપુરુષોત્તમચરણે 'બ્રાહ્મ પૂર્વંતુ યા જાતા' શ્લોક ઉપર એક સ્વતંત્ર લેખ સ્વહસ્તાક્ષરથી જ લખ્યો છે, અન્ય કોઈ પ્રતિમાં નથી. આ લેખ ચાલુ જ ગ્રન્થમાં તેજ શ્લોક નીચે મુક્યો છે. આ સ્વતંત્ર લેખ શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચએ ગ્રન્થ કર્યા પછી કેટલાક સમય વિલાપાદ લખ્યો હોય તેમ જણાય છે. મૂલ ગ્રન્થમાં બે આજ્ઞા ન પાળવાનું કારણ " તદ્કરણે ભોજન્તુ નામિમાનો ન વા શાસ્ત્રવિરોધઃ કિન્તુ શ્રીભાગવતાર્થપ્રકટનાર્થાન્નાકાર્યસમ્પત્તિરિવ " લખે છે. અને સ્વતંત્રમાં તત્કૃતૌ સર્વે બ્રાહ્મણ ન સ્યાત્, તેન ચ સ્વાઙ્ગીકૃતાનામનુદ્ધારઃ સ્યાત્, તેન લોભયાય (સ્વલ્ય ભગવતશ્ચ) કરુણત્વં ન સ્યાત્ આવી રીતે બન્ને આજ્ઞા ન પાળવાનું કારણ સરખું જ છે. પરંતુ તૃતીયાજ્ઞામાં ભેદ પડે છે. મૂલ ટીકામાં લોકગોચર પદનો અર્થ સંન્યાસ કરે છે અને સ્વતંત્ર લેખમાં લોકગોચરનો અર્થ લોકપ્રસિદ્ધ સર્વોદ્ધાર કરવાની આજ્ઞા, (જે નિલક્ષીલામાં શ્રીમહાપ્રભુશ્ચને શ્રીહાકુરુશ્ચએ કહી હતી તે સર્વોદ્ધાર) અર્થ કરે છે. એમ સ્વતંત્રમાં ત્રણ આજ્ઞાનો પણ ભેદ પડ્યો. તેથી અમુક સમય પછી આપનો વિચાર ઉદ્ભવ્યો તે સ્વતંત્રરૂપે લખાયો હોય એમ લાગે છે. યદ્યપિ ટીકાના અક્ષરો એક સમયે લખાયા હોય એમ જણાય છે. સાહી અક્ષરનો મરેદા વિગેરે બોતાં એકજ સમયે આ ગ્રન્થ સાથે આ સ્વતંત્ર લખાયો હશે એમ અનુમાન થાય છે પરંતુ ગ્રન્થનું વિવરણ પૂર્ણ થયા બાદ લખ્યો અને આજ્ઞાપૂર્વંતુ શ્લોકનો વિકલ્પે દ્વિતીયાશય દર્શાવવાનો હેતુ શ્રીપુરુષોત્તમચરણનો હોવો બોધ્યે એમ સ્પષ્ટ છે.

આખા ગ્રન્થનો સાર શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચની ટીકાના અનુવાદના અંતિમ ભાગમાં છે. માટે પુનઃ લખતા નથી.

શાસ્ત્રી ચીમનલાલ. 'સાહિત્યભૂષણ' 'શુદ્ધાદૈતરત'

સુદ્રણપરિચાયક.

આ ગ્રન્થમાં અનેક પ્રતિ સમ્પાદન કરી છે. મારા સહલાગ્યે શુદ્ધ અને પ્રાચીન પ્રતિ પ્રત્યેક ટીકાની હસ્તગત થઈ ગઈ, તેમાં શ્રીમજ્જરાયશ્ચની ટીકા તે શ્રીમજ્જરતલાલશ્ચ મહારાજ તરફથી ઉપલબ્ધ થઈ તે શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચએ સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધિતવર્ધિત હોવાથી એક પ્રતિએજ સુદ્રણકાર્યસમ્પૂર્તિ કરી. શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચની ટીકા તે નિજહસ્તાક્ષરથી જ આલેખેલી છે. તેથી અન્ય પ્રતિના સહલાગ્યે પણ તેનાથી જ કાર્યસંસિદ્ધ થયું. મને અન્ય પ્રતિ બોડે સંવાદિત કરતાં સમબંધુ કે મૂલ લેખક પછી અત્યારે સો ખસો વર્ષની અંદર અવતરણ કરનારા અતીવ અશુદ્ધ કરી દે છે. શ્રીહરિરાયશ્ચની પ્રતિ માટે હું સંકાચાતો હતો પરંતુ મહાશય તેલીવાલા તરફથી પંડિતવર્ચ મટુલાલાશ્ચની સંસ્થાની એક નાણુક પ્રતિ ઉપસ્થિત થઈ કે જે શુદ્ધ અને પ્રાચીન હતી. સંતોષકારક હતી,

હવે પ્રત્યેક ટીકાની ખંડશઃ ગણના કરીએ.

(૧) શ્રીગોકુલનાથચરણની ટીકા-

પોરબંદર-શ્રીજીવનેશાચાર્યપુસ્તકાલયની	પ્રતિ. ૨
કોટા-શ્રીહોટામથુરેશ્ચની શ્રીરણજીડલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૩
સુરત-શ્રીમજ્જરતલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧
મુંબઈ-શ્રીગોકુલનાથશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૨
મુંબઈ-શ્રીગદુલાલાશ્ચની સંસ્થા. શ્રીયુત તેલીવાલાદ્વારા	પ્રતિ. ૧

(૨) શ્રીરઘુનાથચરણની ટીકા-

જુનાગઢ-શ્રીગોકુલનાથશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧
સુરત-શ્રીમજ્જરતલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧
મુંબઈ-શ્રીમજ્જરતલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ. ૧

(૩) શ્રીહરિરાયચરણની ટીકા-

પોરબંદર-શ્રીરણજીડલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ-૧
મુંબઈ-મહાશય મૂલચન્દ્ર તેલીવાલાદ્વારા	પ્રતિ-૧
પોરબંદર-સુરદાસશ્ચ દામોદાસ ભગવદીયદ્વારા	પ્રતિ-૧

(૪) શ્રીમજ્જરાયચરણની ટીકા-

સુરત-શ્રીમજ્જરતલાલશ્ચમહારાજદ્વારા	પ્રતિ-૧
-----------------------------------	-----	-----	-----	-----	---------

શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચ મહારાજને સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધિત વર્ધિત હોવાથી આ એક જ પ્રતિએ સમ્પૂર્ણ સુદ્રણ કાર્ય યથાયોગ્ય સિદ્ધ થયું. આ ટીકાની અન્યપ્રતિ અનેક સ્થલે શોધવા છતાં ઉપલબ્ધ થતી નથી, જે ભાગ શ્રીપુરુષોત્તમશ્ચ મહારાજને સ્વહસ્તાક્ષરથી સમ્પૂરિત કર્યો છે તે ભાગ અમે () કાર્ડસમાં મુક્યો છે. અને બે સ્થલે ત્રણ ચાર અક્ષર જેટલો ભાગ અડિત થયેલ છે. વધારે અડિત થયો નથી તે ભાગ.....ચિન્હથી જણાવ્યો છે.

(૫) શ્રીપુરુષોત્તમચરણની ટીકા

સુગત-શ્રીમજ્જરતલાલશ્ચ મહારાજદ્વારા	પ્રતિ-૧
------------------------------------	-----	-----	-----	-----	---------

(આજ પ્રતિ નિજહસ્તાક્ષરની છે.)

કાટા-છોટામથુરેશળની શ્રીરણુજીડલાલજીદ્વારા પ્રતિ-૧

પોરબંદર-શ્રીરણુજીડલાલજીદ્વારા પ્રતિ-૧

(ક) સ્વતંત્ર લેખ-શ્રીપુરુષોત્તમજી મહારાજને સ્વહસ્તાક્ષરથી નિજ પ્રતિમાં આલેખ્યો છે. ઉપર મુજબ અનેક શુદ્ધ પ્રતિથી આ ગ્રન્થ સંશોધન આ દાસે કર્યું છે, જ્યની અભુતા અને જીવસામર્થ્યાનુસાર શક્ય આયાસ કર્યો છે, પરંતુ અત્રાશુદ્ધિ દ્રષ્ટ્યર થાય તો શોધિત વાચન કરવા વિનતિ કરું છું.

શ્રીમદ્ગોસ્વામિવર્ધ શ્રીરણુજીડલાલજી મહારાજને કૃત સાર્થ વર્ષમાં પાંચ સાત ગ્રન્થો ખહાર પાડ્યા, શ્રીરણુજીડલાલજીમહારાજ નિજ પિતૃચરણના સ્મારક ઉપરાંત પણ સાંપ્રદાયિક સાહિત્ય માટે ઘણી જ ઉત્કંઠા રાખે છે. શ્રીસુબોધિનીજીનું પાંચ ટીકા સહિત મુદ્રણ કરાવાને મહત્કાર્યરંભ પણ આપે શ્રીગોકુલથી તાર કરી કરાવ્યો. આ સર્વ વિદ્યાનુરાગ જ સૂચવે છે. આથી આખા સમ્પ્રદાયમાં આપને માટે સમ્પ્રદાયના મુખ્ય હિતેચ્છુ તરીખે પ્રત્યેક અગ્રગણ્ય વ્યક્તિની દષ્ટિ આપની તરફ આકર્ષાઈ છે કે આપશ્રી જીવનેશપ્રભુવત્ સમ્પ્રદાય-સંરક્ષણ અને સાહિત્યોદ્ધાર કરશેજ.

પૂર્વોક્ત સર્વ સાહિત્યસમર્પક શ્રીરણુજીડલાલજી મહારાજ, શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ શ્રીવજરત્નલાલજી મહારાજ, અને શ્રીમગ્નલાલજી મહારાજને ગ્રન્થ સાહિત્યપ્રદાનદ્વારા અતીવ ઉપકાર કર્યો છે. ભગચાત્રનિષ્ણાત મગ્નલાલ શાસ્ત્રીજીએ મને આ ગ્રન્થાર્થ સૂચનાદિ દ્વારા સાહાય્ય વિતર્યું છે. તેમને પ્રત્યેક શુભ પ્રવૃત્તિમાં આભારી સદા છું, શ્રીયુત સમ્પ્રદાયજ તેવીવાલા મૂલ્ય-દ્રભાઇએ આ પોડશગ્રન્થની સીરીઝ શ્રીજીવનેશપ્રભુના સાહાય્યથી આરંભી તેમાં હવે શ્રીયમુનાજીક ખાલખોષ, શ્રીકૃષ્ણાશ્રય, અને વિવેકધૈર્યાશ્રય ચાર ગ્રન્થ અવશિષ્ટ રહ્યા. મુક્તકંઠે કહેવું જોઈએ કે આ સીરીઝ પૈકી કેટલાક ગ્રન્થો અમે મુદ્રિત કરીશું પરંતુ પોડશો-દ્ધારનું માન્ય તો શ્રીજીવનેશપ્રભુદ્વારા તેવીવાલાને જ ઘટે છે. મુઆઇમાં શ્રીઅનિરુદ્ધા-ચાર્યજી મહારાજને પોતાના પંડિતજી ભાઉશાસ્ત્રીજીને ગ્રન્થસંવાદિત કરવા આજ્ઞા અર્પી તેથી આપ-શ્રીનો પણ ઋણી છું. દામોદરદાસ સુરદાસ ભગવદીયની એક ટીકા શ્રીહરિરાયજીની મળી હતી. આ રીતે સાહિત્યનો ઉદ્ધાર કરવામાં વિના વિલંબે સાહાય્ય ગ્રન્થદાન ચાલુ રહે, એમ સર્વને પ્રભુ પ્રેરે, એ વિનતિ કરી વિરમું છું.

શાસ્ત્રી અમિનલાલ હરિશંકર

‘સાહિત્યભૂપણ’ શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન

શ્રીકૃષ્ણ:

શ્રીમદ્ભ્રમરભાચાર્યચરણવિરચિતાન્તઃકરણપ્રબોધઃ ।

અન્તઃકરણ મદ્ભવ્યં સાવધાનતયા શૃણુ ।
કૃષ્ણાત્પરં નાસ્તિ દૈવં વસ્તુતો દોષવર્જિતમ્ ॥ ૧ ॥
ચાળ્હાલી ચેદ્રાજપત્ની જાતા રાજા ચ માનિતા ।
કદાચિદપમાનેઽપિ મૂલતઃ કા ક્ષતિર્ભવેત્ ॥ ૨ ॥
સમર્પણાદહં પૂર્વમુક્તમઃ કિં સદા સ્થિતઃ ।
કા મમાધમતા ભાવ્યા પશ્ચાત્તાપો યતો ભવેત્ ॥ ૩ ॥
સત્યસક્લ્પ્યતો વિષ્ણુર્નાન્યથા તુ કરિષ્યતિ ।
આઙ્ગૈવ કાર્યા સતતં સ્વામિદ્રોહોઽન્યથા ભવેત્ ॥ ૪ ॥
સેવકસ્ય તુ ધર્મોઽયં સ્વામી સ્વસ્ય કરિષ્યતિ ।
આજ્ઞા પૂર્વં તુ યા જાતા ગજ્ઞાસાગ(સક્લ્પે ॥ ૫ ॥
યાઽપિ પશ્ચાન્મધુવને ન કૃતે તદ્દયં મયા ।
દેહદેશપરિત્યાગસ્તૃતીયો લોકગોચરઃ ॥ ૬ ॥
પશ્ચાત્તાપઃ કથં તત્ર સેવકોઽહં ન ચાન્યથા ।
લૌકિકપશુવત્કૃષ્ણો ન દ્રષ્ટવ્યઃ કદાચન ॥ ૭ ॥
સર્વં સમર્પિતં ભક્ત્યા કૃતાર્થોઽસિ સુસ્ત્રી ભવ ।
મૌઢાઽપિ દુહિતા યદ્વસ્ત્લેહાન્ન પ્રેષ્યતે વરે ॥ ૮ ॥
તથા દેહે ન કર્તવ્યં વરસ્તુષ્યતિ નાન્યથા ।
લોકવચ્ચેત્સિયતિર્મે સ્પાર્તિક સ્યાદિતિ વિચારય ॥ ૯ ॥
અજ્ઞવ્યે હરિરેવાસ્તિ મોહં મા ગાઃ કથચ્ચન ।
ઇતિ શ્રીકૃષ્ણદાસસ્ય વલ્લભસ્ય હિતં વચઃ ॥ ૧૦ ॥
ચિત્તં પ્રતિ યદાકર્ણ્ય ભક્તો નિશ્ચિન્તતાં વ્રજેત્ ॥ ૧૧ ॥
ઇતિ શ્રીમદ્ભ્રમરભાચાર્યવિરચિતોઽન્તઃકરણપ્રબોધઃ સમ્પૂર્ણઃ ।

૧' અપમાને વા ' ઇતિપાઠઃ શ્રીવજરાજશ્રીપુરુષોત્તમચરણાના ટીકયોઃ ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेश्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीगोकुलनाथचरणैर्विरचिता विवृतिः ।

दर्शयन् स्वस्य सौभाग्यं स्वीयानां भक्तिवर्त्म च ।
स्वमनोबोधवाक्यानि प्रकटीकृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥
प्रणम्य पितृपादाब्जं चिन्तिताधिकदायकम् ।
स्वमनोबोधकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः ।
तत्कृपैव तदीयस्य तदर्यावगमे गुरुः ॥ ३ ॥
भविष्यतीति निश्चित्य प्रवृत्तोऽहं न चान्यथा ।
अतः स्वाचार्यचरणौ शरणं मम सर्वदा ॥ ४ ॥

अथ भगवान् पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः स्वस्वरूपं श्रीभागवतं द्वादशस्कन्धात्मकं प्रकटीकृत्य तदर्थप्राकट्ये स्वातिरिक्तस्यायोग्यतां ज्ञात्वा स्ववागधिपतिरूपश्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यं विषाय तदर्थप्राकट्ये आज्ञां च दत्त्वा तदर्थप्रकाशिकां सुबोधिनीं कारितवान् । तत्र क्रमेण स्कन्धत्रयकरणे कालविलम्बादाचार्यविप्रयोगासहिष्णुः सन् श्रीभागवततत्त्वार्थप्रतिपादकदशमस्कन्धविवरणार्थं विशेषज्ञां दत्तवान् । तदाचार्यैः स्कन्धकर्म विहाय दशमस्कन्धविवृतिरेव कृता । तत्समाप्तौ स्वस्याचार्यमिलनविलम्बं ज्ञात्वा तद्विलम्बासहिष्णुः शीघ्रं स्वनिकटागमनार्थमाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्याः स्वसौभाग्यमौढिमवलम्ब्य स्वचिकीर्षितसम्पूर्णश्रीभागवतविवरणस्याज्ञातत्वात् स्वस्य धर्मिमार्गीयत्वात्तन्मार्गभावप्रौढ्या वारद्वयमाज्ञोल्लङ्घनं कृतवन्तस्तथापि भगवानाचार्यमिलनं स्वस्यात्यन्तावश्यकमिति श्रीभागवतविवरणार्थं दत्ताज्ञाप्यन्यथाकृत्वातिकृपारोषपूर्वकं पुनः स्वनिकटागमनार्थं तृतीयाभाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्या अत्यन्तं भगवदाग्रहं दृष्ट्वा पूर्वमाज्ञाद्वयोल्लङ्घनभावप्रौढिस्यानं स्वकीयमन्तःकरणमेवेति ज्ञापनाय तदेव बोधयन्ति । अन्तःकरण मद्वाक्यमिति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यपि, अत्रार्थे सर्वेन्द्रियोपयोगात्सर्वेन्द्रियप्रबोध उचितस्तथापि तेषामन्तःकर-

णाधीनत्वाद्यथा राजनि निगृहीते सर्वमेव राज्यं निगृहीतं भवति । तयान्तःकरणे प्रबोधिते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि प्रबोधितानि भवन्तीत्यन्तःकरणमेव प्रबोधयन्ति । मद्भाष्यं सावधानतया शृण्वति । यद्यपि मद्भाष्यं शृण्वत्येतावतैव प्रबोधसिद्धेर्यत् सावधानतयेत्युक्तं, तस्यायमाशयः । यथा स्वस्य धर्मिणोभिमानमौढ्या ब्रजसीमन्तिनीभिः फलप्रकरणे भगवदाज्ञोलङ्घनेन स्ववीर्यसम्पत्तिः साधिता, तथाहमपि सम्पूर्णश्रीभागवतविवृतिं साधयिष्यामीत्याग्रहोऽस्मिन्नर्थे वैपरीत्यादनुचितः । वैपरीत्यं तु ब्रजसीमन्तिनीभिः मियवाक्यानि फले प्रतिबन्धकानीतिभावमौढ्या निराकृतानि, प्रकृते तु भगवदाज्ञा फलसाधिकेति तत्राग्रहो विपरीतफलकः, अनिष्टपर्यवसानादितिवाक्यश्रवणे सावधानतयेत्युक्तम् । कदाचिदतिमौढ्या विलम्बकरणे बाधकमाहुः । कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । कृष्णात्फलरूपात्परमतिरिक्तं दैवं परमेष्ठरूपम् । दैवमितिपदादिदुष्वात्कः* सर्वेष्वर्थानां अत्र विवक्षिताः । तव धर्मिमार्गक्रीडास्यानभिदमेव । (क्रीडायां) विजिगीषाप्यत्रैव । (भक्तेन सह) स्वमार्गीयव्यवहारोपि । (भक्ताय स्वमाहात्म्यद्योतनेन) धुतिरप्यत एव, नो चेत्तत्रतिरेकेण शुष्कतैव । (भक्तानां) समयविशेषे स्तुतिरपि । (भक्ताय मोददानं यथा कालीयदमनेन) । मोदोऽपि तथा । भावविशेषजनितमदोपि । परमनिर्दृतिजनितः स्वप्नोपि । स्वप्नान्तरं भावविशेषसूचककटाक्षसूचितरसेच्छापि । तदनन्तरं स्वाभिलषितस्थानगतिरपि, (भक्तसमीपगमनम्) इत्यादिकं सर्वमेव पूर्वभावमौढ्या बाध्यत इत्यनिष्टहेतुत्वात् प्रौढिस्त्याज्येत्यत उक्तं कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । ननु श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसाय्येवेति कदाचित्प्रौढिचिन्ता भवेदिति शङ्कानिराकरणार्थमुक्तम् । वस्तुतो दोषवर्जितमिति । अत्रायं भावः, यद्यपि श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसायी तथापि विचारे क्रियमाणे स्वसिद्धान्तनिरूपणार्थं तद्विरुद्धशास्त्रान्तरीयसिद्धान्तनिराकरणमावश्यकमेव, भगवदाज्ञाहेतुकफलविचारे एतद्भावातिरिक्तभावप्रवेश एव फलमार्गे दोष इति वस्तुविचारे क्रियमाणे फलस्यैव निर्दुष्टत्वं भावान्तरप्रवेशहेतुवस्तुनः सर्वात्मना न निर्दुष्टत्वमितिज्ञापनायोक्तं वस्तुतः स्वरूपतो न निर्दुष्टत्वम् ॥ १ ॥

एवं प्रबोधनेपि पूर्वमौढिकताज्ञोलङ्घनजनितापराधेन यदि भगवानपमानेन फलविलम्बं कुर्यात्तदोभयप्रंशादेकमपि कार्यं न सिद्ध्येदिति श्रीभागवतार्थविवृतिसमाप्त्याग्रह एव समीचीन इति मनःकलिलं लौकिकदृष्टान्तेन कैमुतिकन्यायेन निरस्यन्ति, चाण्डाली चेदिति ।

† भगवत्प्राप्तिरूपत्वात् ।

* दिव्य क्रीडा-१ विजिगीषा-२ व्यवहार-३ धुति-४ स्तुति-५ मोद-६ मद्-७ स्वप्न-८ कान्ति-९ गतिदु १० ।

१ तवेति पाठः ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चाण्डालजातीया राजपत्नी जाता राज्ञा पत्नीत्वेन परिगृहीता, इतरपत्न्यपेक्षयाधिकं मानिता कदाचित्प्रमादतस्तस्या अपराधाच्चेदपमानोपि कृतस्तदा मूलतः राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् राजपत्नीत्वं न गच्छतीत्यर्थः । यद्यप्यस्यां यज्ञसंयोगाभावात्पत्नीत्वं न सम्भवति तथापि *भोग्या जातेतिपदं विहाय पत्नीपदोपादानाद्यथा पत्नी त्यागयोग्या न भवति, तथैवास्यामप्यङ्गीकाराभिमानो ज्ञापितः । तेन स्वातिरिक्तादृश्यत्वस्यर्थायोग्यत्वान्यविनियोगाभावादयो धर्मा ज्ञापिताः । यदि मूलपदेन चाण्डालीत्वमुच्यते तदा मानस्य चाण्डालीत्वमेव हेतुः स्यान्न तु राजपत्नीत्वम् । अत्र तु सम्मानने राजपत्नीत्वमेव हेतुत्वेनोच्यते न तु चाण्डालीत्वम्, अन्यथा पत्नी जातेतिपदं व्यर्थं स्यात् । तस्मात्कृतापमानेपि तथा न खेदः कार्यः, राजपत्नीत्वरूपमूलस्य विद्यमानत्वात् । यथा फाल्गुने मासि प्राचीनपत्राप्रगमेऽपि समूलस्य वृक्षस्य नूतनपल्लवाद्युद्गमेन पुनर्यथापूर्वत्वं तथा पत्नीत्वे सति पुनः पूर्ववदेव भविष्यतीति विचार्य खेदो न कार्यः । चेदिति पदाद्योग्यतायामपि दैवगत्याङ्गीकारेपि यत्रैवं व्यवस्था लौकिके, तत्र सर्वथाङ्गीकारयोग्ये, अङ्गीकर्तुरलौकिकत्वे, अङ्गीकारस्य च नित्यत्वे, तवेवं फलविलम्बचिन्ता सर्वात्मना नोचितेति तत्राग्रहः कर्त्तव्यः । यदि विलम्बः सोपि रसस्य संयोगविप्रयोगात्प्रकृताद्विलम्बस्य विप्रयोगरसात्मकत्वात् फलमध्यपात्येवेति सर्वप्रवृत्तम् । एवमलौकिकप्रकारेण स्वमनःप्रबोधनेनानुषङ्गिकी स्वमार्गीयाणामपि शिक्षा ज्ञापिता ॥ २ ॥

यद्यपि फलविलम्बजनितः खेदो नास्ति तथापि भावप्रौढ्यभिमानहानिजनितः पश्चात्तापो जात इति विन्नमन्तःकरणं प्रबोधयितुमाहुः समर्पणादिति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

मानहानिजनितः पश्चात्तापः स्वसमान एवोचितो न तु स्वीयत्वेन हितार्थं प्रमुक्तमानहानौ । भावजनितमानोत्तमचियोग्यतापि तव प्रभ्वसाधारणसम्बन्धेनैव जाता न तु ततः पूर्वमपीति विचारयेति ज्ञापनार्थमुक्तं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थित इति । सदा, असमर्पणदशायामपि उत्तमः पूर्वोक्तभावयोग्यः किमहं स्थितः ? । तस्मान्मम पूर्वोक्तभावजननयोग्यताऽभावरूपाऽधमता, का भाव्या, का कीदृशी भाव्या, विचारणीया । कीदृशीतिपदादधमताया निरवधित्वमुक्तम् । यस्मात्सर्वात्मना पश्चात्तापहेत्वभावस्तस्मात्त्वयास्मिन्नर्थे पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

* भोग्याया यथेच्छं त्यागो विधीयते । न तु पत्न्याः ।

यद्यपि पश्चात्तापहेत्वभावात् पश्चात्तापत्याग उचितस्तथापि फले बहुकालविलम्ब-
श्लेच्छदा किं कार्यमिति सन्दिहानमन्तःकरणं बोधयन्ति सत्यसङ्कल्प इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यः यथार्थः सङ्कल्पः मनोविचारो यस्य तादृशत्वाद्विष्णुः बाह्याभ्यन्तरभेदेन
रसव्याप्तः । अन्यथा फलदाने विलम्बं न करिष्यति । अस्मिन्नर्थेन्यथाभावशङ्कानि-
राकरणार्थं तुशब्दः । तस्माच्चया फलविलम्बसन्देहमपि त्यक्त्वा प्रभाज्ञैव कार्या सततं,
न तु भावप्रौढ्या कदाचिदप्यन्यथाभावः कार्यः । अकरणे बाधकमाहुः, स्वामिद्रो-
होन्यथा भवेदिति । अन्यथा आज्ञाया अकरणे स्वामिद्रोहो भवेत् । आज्ञैव कार्या
सततमित्येतावतैव आज्ञाकरणसिद्धावपि बाधकोक्तेरयमाशयः । यथा फलप्रकरणे
ब्रजसीमन्तिनीनां भावप्रौढ्या प्रभाज्ञाया अकरणेपि कार्यं सिद्धं, तथा ममापि सेत्स्य-
तीत्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमुक्तं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति । अस्यायमर्थः, ब्रजसीमन्तिनीनां
भावप्रौढ्या आज्ञोलङ्घनं प्रभोः स्वस्य च पुरुषार्थसाधकं जातम् । तद्दृष्टान्तेन तवैवङ्करणे
उभयोरपि विपरीतफलकत्वज्ञापनाय बाधकत्वमुक्तम् । बाधकत्वे हेतुः, तासां प्रभाज्ञो-
लङ्घनं फलप्रतिबन्धकनिराकरणे उपयुक्तं जातं, तेन प्रभोस्तासां च निरवध्यानन्दः
सिद्धः । तव त्वाज्ञोलङ्घनं प्रभुदिरिसतफलप्रतिबन्धकत्वेन प्रभोः क्रोधजननेन, तेन
क्रोधेन तव फलविलम्बेन च, प्रभवपराधस्तव चानिष्टं भवेदिति तत्सर्वात्मना नैव कार्य-
मित्येतदर्थमुक्तं, स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति ॥ ४ ॥

एवं सोपपत्तिकमाग्रहाभावमुपपाद्य कदाचित्पूर्वकृताग्रहेण प्रभुकोपे कथं स्वामिलि-
पितसिद्धिरिति सन्दिहानमन्तःकरणं प्रबोधयन्ति सेवकस्य त्विति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्प्रधुवने न कृतं तद्रयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

मया यत्पूर्वश्लोक उपपादितं, तव सेवकस्यासाधारणस्वाभाविकधर्मत्वेन तच्चेत्त्वयि
भविष्यति तदाऽसाधारणधर्मं दृष्ट्वा प्रभुरपि स्वस्वामित्वासाधारणधर्मं सेवकज्ञानागोचरमपि
सेवके करिष्यति । ननु दृढशायामपि मयि सेवकत्वस्य विद्यमानत्वात् स्नामिन्यपि सहज-
स्वामित्वासाधारणधर्मस्य विद्यमानत्वात् कथं फलविलम्ब इति सन्देहनिवृत्त्यर्थं फलविल-

म्बहेतुं सेवकधर्मं निरूपयन्ति, आज्ञेति । आज्ञा प्रभाज्ञा पूर्वं प्रथमतो गङ्गासागरसङ्गमे
या जाता पश्चाद्वितीया या आज्ञा प्रधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयमपि मया न कृतम् ।
ननु तदाज्ञाद्वयं किं विषयकं यत्र कृतं तत्राहुः, देहदेशपरित्याग इति । पूर्वाज्ञाया
विषयो देहपरित्यागः । द्वितीयाज्ञाया विषयो देशपरित्यागः । ननु बलात्कारेण देहपरि-
त्यागस्य दोषरूपत्वात् कथं तदाज्ञासम्भवः । तदकरणे च कथं दोषसम्भव इति चेत्सत्यं,
कर्माधीनदेहे प्रारब्धभोगसमाप्तिव्यतिरेकेण बलात्कारेण देहत्याग एव दोषसम्भवः । यत्र
केवलं भगवदिच्छाधीनायैव देहग्रहणपरित्यागौ तद्देहस्यालौकिकत्वात्तदाज्ञया परित्यागो
न दोषायेति ज्ञात्वापि यत्तदकरणं तस्याज्ञोलङ्घनहेतुत्वात् प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम् । देशप-
रित्यागः स्पष्टः । एवमाज्ञाद्वयाकरणेऽनिष्टहेतुत्वं ज्ञात्वा तृतीयाज्ञा कृतेत्याहुः, तृतीयो लोक-
गोचर इति । तृतीयः परित्यागः लोकप्रसिद्धस्मृत्यादिशास्त्रेषु गोचरो विषयः संन्यास-
ग्रहणपूर्वकं गृहपरित्यागः स कृतः । यद्यप्यत्र कृत इति शब्दो नास्ति तथापि पूर्वाज्ञाद्वय-
करणनिषेधादत्र च कृत इति शब्दाभावेपि करणमायाति । यद्यपि पूर्वोक्ताज्ञाद्वयाकरणा-
पराधः सम्भवति, तथापि तृतीयाज्ञाकरणेन तयोरप्याज्ञयोः करणं जातमिति नापराधः ।
तथापि, आज्ञोलङ्घनजनितापराधेन यदि फलविलम्बं कुर्यात् प्रभुस्तदा तज्जनितः
पश्चात्तापो भवत्येवेति कथमपराधनिवृत्तिरितिसन्देहे समाधानमाहुः, पश्चात्ताप इति

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

फलविलम्बेपि विलम्बस्य दण्डस्थानीयत्वात्सेवकेन पश्चात्तापो न कर्तव्यः । तत्र
हेतुः, सेवकोहमिति । अहं सेवकः सेवाकरणयोग्यः । आज्ञाद्वयाकरणस्य सेवाप्रति-
बन्धकत्वं ज्ञात्वा शीघ्रं सेवार्थं विलम्बजतापेन शिक्षामिव प्रतिबन्धनिवृत्तिं विधाय पुनः
सेवार्थमेव विलम्बं न कृतवान् इति न मम पश्चात्तापः । यतोहं सेवकः, न चान्यथा ।
यदि मयि सेवकत्वं न मन्येत तदापराधेनोपेक्षामेव कुर्यात्, न तु स्वीयत्वं ज्ञात्वा विलम्ब-
जतापरूपशिक्षां कुर्यादित्यत उक्तं, न चान्यथेति, अस्मिन्नर्थेन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः ।

ननु यथा लोके 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे'ति लौकिकप्रभुन्यायेन तापानन्तर-
मप्युपेक्षामेव कुर्यादिति चेत्तत्र बाधकमाहुः, लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकाः प्राकृता
जीवाः प्रभवो लोके प्रभुत्वेन व्यवहार्याः, तद्दृग्गवाश्च द्रष्टव्यः न ज्ञातव्यः । तत्र हेतुः,
यतः कृष्णः फलात्मा प्रभुश्च । लौकिकप्रभूणां प्राकृतत्वात्तेषामङ्गीकारस्यानित्यत्वादङ्गी-
कृतस्याप्युपेक्षा सम्भवति, प्रकृते प्रभोरलौकिकत्वेन तदङ्गीकारस्यापि नित्यत्वेन अङ्गी-
कृतेपेक्षैवासम्भावितेति ज्ञापनायोक्तं, न द्रष्टव्यः कदाचनेति । अत एव पितृचरणै-
युरक्तं 'अङ्गीकृतजनजनितापराधकृतक्षमाविनोदोस्य । अङ्गीकृतिश्च नित्या वदन्तु

कोन्योस्य साम्यमिया'चेनाङ्गीकारस्य नित्यत्वे न सन्देहः । कदाचनेति भूतभविष्य-
द्वर्तमानकालेपीत्यर्थः ॥ ७ ॥

यद्यप्युपेक्षां न करिष्यति, तथापि, अपराधस्य जातत्वात्पुनः पूर्ववत्तादृशीं कृपां
न करिष्यतीति मनःसन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुः, सर्वं समर्पितमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

त्वयि पूर्वं कृपासीदेव, यतस्त्वया सर्वमेव समर्पितं, तत्रापि भक्त्या भक्तिमार्गानु-
सारेण, न तु विहितत्वाद्युपाधिना, तस्मात्त्वं फलरूपभक्तिमार्गाङ्गीकारेण कृतार्थ एवासि ।
मध्ये प्रौढ्याङ्गोल्लङ्घनजनितापराधेन अन्तराये सति क्लेशं प्राप्तवानसि । अतस्तमाग्रहं
परित्यज्य प्रभ्वाज्ञां कृत्वा पुनः पूर्ववदेव सुखीभव यथापूर्वं सुखं प्राप्नुहि । ननु, अङ्गी-
कारस्य नित्यत्वात्फलमार्गीयं सुखं यद्यपि दास्यति तथापि पूर्ववत्सर्वात्मना दास्यति
न वेति सन्देहजनितक्लेशमग्रिमदृष्टान्तेन दूरीकुर्वन्ति । प्रौढापीति ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

फले प्रभुः तारतम्यं तदा कुर्याद्यदि त्वदपेक्षा न स्यात्, यस्यापेक्षावश्यकी तस्य
दोषमप्यनङ्गीकृत्य फलं ददात्येव । पूर्वोक्तं दृष्टान्तमेव विवृण्वन्ति । यथा प्रौढा रमणयोग्या
स्वकीया दुहिता तस्यां स्नेहाधिक्यात् तस्या वरे भोक्तरि भोगावश्यकदशासमये यदि
न प्रेष्यते तदा वरः स्वाभिलाषाया अपूर्त्याऽसन्तुष्टो भवति । प्रेष्यते चेत्सन्तुष्ट एव
भवति । अपि शब्देन यद्यपि पाणिग्रहणमारभ्यैव तस्य भोगेच्छास्त्येव, तथापि तस्यां
स्वोपमर्दासहिष्णुत्वेन विलम्बमपि सहते । सहिष्णुत्वदशायां विलम्बकर्त्तरि असन्तुष्ट एव
भवति । तथा प्रभोः सर्वात्मना स्वापेक्षासमये यदि अपेक्षां ज्ञात्वा कार्यसंपत्तिर्न क्रियते
तदा प्रभुरसन्तुष्ट एव भवति । तस्मादयं विलम्बः प्रभोः स्वाभिलषितसिद्धयभावहेतुक
इति, विलम्बाभावे पूर्ववदेव सर्वात्मना स्वाभिलाषापूर्त्यर्थं फलं दास्यत्येवेत्यस्मिन्नर्थे
विलम्बस्त्याज्य एवेत्यत उक्तम् । तथा देहे न कर्त्तव्यमिति । देहे देहत्यागविषये
सर्वात्मना प्रभुसन्तोषाभावाद्विलम्बो न कार्यः । यथा दुहितृप्रेषणविलम्बे स्नेहो हेतुः ।
तन्निराकरणपूर्वकप्रेषणे वरसन्तोषेणोभयकार्यसिद्धिस्तथात्राप्याग्रहहेतुत्यागपूर्वकमाज्ञा कर-
णेनोभयकार्यसिद्धिरिति सर्वात्मना प्रभुसन्तोषार्थं देहत्यागविलम्बहेतुर्दृष्टस्त्याज्य एव ।

ननु यद्यप्यस्मिन्नर्थे इतोऽनुचित्तयापि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थमाकृत्येन लोके
परमोत्कर्षः सिद्धयतीति कदाचिद्यत्किञ्चिद्विलम्बेच्छा सम्भवति । तस्या अपि फल-
विलम्बहेतुत्वेन तां निराकुर्वन्ति, लोकत्रदिति ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थमाकृत्येन जैमिनिव्यासादिवत् श्रुत्यविरुद्धालौकि-
कशास्त्रार्थमाकृत्येन लोक एवोत्कर्षः सिद्धयेत् । नत्वलौकिकस्वसिद्धान्तफलानुभवहेतु-
त्कर्षः सिद्धयति । लोकोत्कर्षसिद्धौ जैमिनिव्यासाद्युत्कर्षवद्यौकिक एवोत्कर्षः सेत्स्यति, न
तु स्वमार्गीयोत्कर्षोपि । तस्माच्चदुत्कर्षसिद्धौमे मम स्वमार्गीयफलभोक्तुः पूर्वोत्कर्षफल-
विचारस्य स्वमार्गीयफलविलम्बहेतुत्वार्तिक फलं स्यान्न किमपीत्यर्थः । स्वमार्गीयफलविचारे
यत्र भुक्त्यादीनामपि निःफलत्वं तत्र पूर्वोक्तलौकिकस्यापि फलत्वगणना सर्वात्मना दूरा-
पास्तेति ज्ञापनायोक्तम्, किं स्यादिति । अत एतत्फलतारतम्यविचारेण त्वयापि सर्वा-
त्मना फलसिद्धिविलम्बाभाव एव विचारणीयो न त्वन्योपि विचारः कर्त्तव्य इति ज्ञाप-
नायोक्तम् । विचारयेति ॥ ९ ॥

यद्यपि फलविलम्बाभाव एव विचारणीयस्तथापि बलात्कारेण शरीरत्यागस्य
स्वतोऽशक्यत्वात् कथं सम्भवतीति सन्देहनिवारणप्रकारमाहुः । अशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

यद्यपि बलात्कारेण शरीरत्यागः स्वकर्त्तव्यत्वात्तदाऽशक्यः स्यात् । प्रकृते
शरीरत्यागस्तु भगवदिच्छाकर्त्तव्य इति न स्वस्याशक्यत्वम् । यतोऽशक्यादिसर्वदुःख-
हर्त्ता यो हरिः स एव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन स्थित एवास्ति । अत्र हरिपदोक्त्या
देहत्यागोपि फलान्तरायदुःखदूरीकरणार्थमेव । अतो लोके अशक्यस्याप्यनायासेन
साधकत्वमुक्तं भवति । तस्मात्फलविलम्बाभावावर्थमेतावत्कर्त्तरि मोहं मा गाः, मोहं
चिचिक्षेपं मा गा, न प्राप्नुहि, कथञ्चन केनापि प्रकारेण आङ्गोल्लङ्घनजनितापराध-
फलविलम्बविषये आङ्गोल्लङ्घनात्पूर्वसामयिकफलानुभवे, आज्ञाकरणानन्तरं फलानुभव-
तारतम्यविषये च सर्वात्मना वैयर्थ्याभावबोधनायोक्तम्, कथञ्चनेति । अतः पर-
मुक्तार्थेषुपसंहरन्ति ॥ १० ॥

एवं प्रबोधनेन सर्वात्मना वैयर्थ्यनिवृत्तिजतिरिति ज्ञापनायाहुः । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितमन्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

इतीति समाप्तौ । श्रीकृष्णदासस्य श्रीकृष्णपदेन भक्तसहितलीलारसाविष्टत्वं
ज्ञापितं, तदासत्त्वेन शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यं प्राप्तस्य तत्रापि बल्लभस्य प्रभोः शुद्ध-

पुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यप्राप्तानां च बल्लभस्यात्यन्तं प्रियस्य तादृशस्य स्वचित्तं प्रति हितं वचः, हितं हितकारि । वचसि हितमिति पदोपादानेन वचनस्य आप्तवाक्यत्वेन प्राप्ताप्यावधारणेन चित्तस्य सर्वात्मना वैयर्थ्याभावः सिद्ध इति ज्ञापनायोक्तम् । चित्तं प्रतीति । एवं प्रबोधनेन स्वचित्तस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयपरमफलानुभवयोग्यतां निःसन्दिग्धामुपपाद्य एतच्छ्रवणेन स्वमार्गीयाणामपि स्वाधिकारानुसारेणापि भक्तिमार्गीयफलं सिद्धयतीति ज्ञापनायाहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वच आकर्ष्य आसमन्ताच्छ्रुत्वा । यद्यपि वचः श्रुत्वेत्येतावतैव श्रवणसिद्धावपि आसमन्तात्कथनेन साभिप्रायश्रवणं ज्ञापितम् । साभिप्रायश्रवणस्य फलमाहुः, भक्त इत्यादि । भक्तो भगवति स्निग्धो भवति । तदनन्तरमाचार्याणां फलविलम्बहेतुदूरीकरणसामर्थ्यं ज्ञात्वा स्वस्यापि फलविलम्बहेतुचिन्तां दूरीकरिष्यन्तीति चिन्तापरित्यागेन निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नोतीत्यर्थः ।

चित्तप्रबोधकाचार्यवचांसि विवृतानि वै ।

तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीये मयि सदा स्वतः ।

इति श्रीपितृपादाब्जपरागघनिना मया ।

श्रीवल्लभेन विरचिता विवृतिः पूर्णतामियात् ॥ २ ॥

अर्पिता श्रीमदाचार्यपदाब्जेषु मया स्वतः ।

तेनैव कृतकृत्योस्मि इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३ ॥

इति श्रीवल्लभविरचितान्तःकरणप्रबोधटीका समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीरघुनाथचरणनिर्मितं विशरणम् ।

व्रजस्त्रीनेत्रनलिनवनालीषु परिभ्रमन् ।

लिप्सेस्तन्मधु योऽलित्वं प्राप तं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

अथ भगवदीयानामनवरतभगवत्प्रजनसिद्ध्यर्थं तत्पत्युद्दुरितजनितचिन्तासन्तानदवदहनदमनोपायमन्तःकरणप्रबोधमन्तःकरणं संगृहीकृत्य प्रतिजानते । अन्तःकरणमद्वाक्यं सावधानतया शृण्वति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अत्र स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामन्तःकरणं प्रबोध्यत इति ज्ञेयम् । कृष्णात्परं नास्ति दैवमित्यादिवक्ष्यमाणं मदीयं वाक्यं सावधानतया प्रमादराहित्येन शृणु आकर्णयेत्यर्थः । तदेवाहुः, कृष्णात्परमिति । वस्तुतः परमार्थतो विचार्यमाणे 'कृषिर्भूवाचक' इत्यादिनिरुक्तिबलात्कृष्णात्परमन्यदोषवर्जितं दैवं देवः सर्वोपास्य ईश्वरो नास्तीत्यर्थः । अत एव गीतायां 'न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्य' इति । एवं बुध्यस्वेति वाक्यशेषः । ननु भगवदीयानामपि कदाचिद्धोक्त्वत्कृतश्चिदभिभवो दृश्यतेऽतश्चाभिमानेन स्वावमानमाशङ्क्य, अहं भगवति कृतात्मनिवेदीति सर्वं मयि भगवदेककर्तृकमिति विमृश्य भद्रमानमपि भगवतैव कृतमिति भगवत्यपि दोषस्फूर्त्तौ सहृष्टान्तं समाधानमाहुः ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

अत्र चाण्डालीतिपदं महादोषोपलक्षणपरं, तेन सदोषा या काचन राजपत्नीत्वेन परिहृता जाता राज्ञा च सत्कृता, कदाचित्तस्या अपमानेपि मूलतः स्वरूपात्क्षतिः हानिः का भवेन्न कापीत्यर्थः । अयं भावः । भगवत्सम्बन्धं विना सर्वेषामन्तःकरणं स्वभावतो दुष्टमेव । उत्कर्षस्तु भगवत्सम्बन्धकृत एव, तेन यत्सम्बन्धात्स्वयमुत्कृष्ट इत्य-

भिषमन्यते, तत्कृतापमानेपि स्वरूपं तु स्वस्य पूर्वं सदोषमेवेति कुतस्तरां दोषावकाश इति । चकारादन्यैरपि राज्ञीत्वेन मानिता पूजिता । दृष्टान्ते एवं ज्ञेयं, सदोषाया अपि चाण्डाल्या राजपरिग्रहात् मानिताया अपि कदाचिद्राजकृततिरस्कारे स्वजातीयपतिकृतसंमाननतो वरं राजकृततिरस्कार इति, यथा सम्बन्धुत्कर्षात्स्वोत्कर्षः । एवं भगवत्कृतापमानेपि स्वस्य लाभ एव न हानिरिति भावः ॥ २ ॥

स्वस्यान्तःकरणं स्वयमेव कथं बोधनीयमित्यपेक्षायामाहुः ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

काममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

योहमिदानीमुत्तमत्वाभिमानेनावमतोस्मीति मन्ये स एवाहमात्मसमर्पणात्पूर्वमपि किं सर्वकालमुत्तम एव स्थित आसम्, प्रत्युत तद्विपरीत एवासमतो मम पूर्वापेक्षयाऽधमता का भाव्या भविष्यति । यतः पूर्वावस्थामनुस्मृत्य पश्चात्तापो भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं बहुशः समाधानेपीदानीन्तनावमानवत्फलदशायामप्येवं कुर्याच्चिदानीं कथं समाहितिरित्यपेक्षायामाहुः ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यो यथार्थो यः सङ्कल्पो व्रतं तस्माद्विष्णुः सर्वत्र वर्चमानः फलदशायामप्यन्यथा न करिष्यत्येवेति ज्ञेयम् । तुशब्दो निर्द्धारणे च । स च सङ्कल्पो यथा । 'द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् । द्विर्देदाति न चार्थिभ्यो रामो द्विनैव भाषते । 'सकृदेव प्रपन्नो यो यस्तवास्मीति याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्दत्तं मम' । 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्येवमादिषु ज्ञेयः । येन भगवताहं सर्वतः पृथक्कृत्य स्वभजने योजितः स कथमग्रे त्यक्ष्यतीति भावः । स्वस्यावश्यकर्त्तव्यमाहुः । आज्ञैवेति । सततं निरन्तरमाचार्यद्वारा या आज्ञा सैव कार्या न तु कदाचिदप्यनाज्ञप्तमन्यमतसिद्धं वा । अन्यथा एवमकरणे स्वामिद्रोह एव भवेत् ॥ ४ ॥

नन्वाज्ञातिरिक्तकार्यमात्राकरणे प्राप्ते चिकीर्षितकार्यस्य कथं सम्पत्तिरित्याहुः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सर्वस्वनिवेदिमक्तस्यायमेव धर्मो यत् स्वामी प्रभुरेव सर्वमैहिकाण्डुष्पिकं स्वस्य स्वीयभक्तस्य करिष्यतीत्यर्थः । एवमनुसन्दधानेन स्थेयमिति भावः ॥ ५ ॥

अत्र विश्वासार्थमाचार्याः स्वानुभवमुद्भावयन्त्याज्ञा पूर्वमित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ॥ ६ ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

आज्ञापूर्वमिति । मां प्रति पूर्वं प्रथममाज्ञा देशपरित्यागविषयिणी गङ्गासागरसङ्गमे जाता । यापि पुनरन्या देहपरित्यागविषयिणी मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयं मया न कृतमेव । तृतीया या लोकगोचरा लोकविषयिणी लोकानुद्धरस्वेत्येवैवस्था सा कृतेति शेषः ।

तत्राज्ञाद्वयभङ्गरूपेण्यर्थे सति कथं मम पश्चात्तापो, यन्मया न कृतमित्येवं रूपः, स न कथमपि सङ्गच्छत इति । अकरणे हेतुः, सेवकोहमिति । सेवकस्य सर्वस्वनिवेदिनो या काचन कृतिः सा भगवदिच्छयैवेति निश्चयात् । न चान्यथा अन्यसदृशो नास्मीत्यर्थः ।

ननु लौकिकप्रभूणापिवाज्ञाभङ्गस्यादोषत्वे भगवतोपि तथात्वापत्तिरित्यत आहुः । लौकिकप्रभुवदिति । कदाचिदासुरव्यामोहार्थं लोकवदाचरणेपि लोकवद्भगवान् कदाचिदपि ज्ञेय इत्यर्थः । लोकवदाचरणं तु रामायणमौसलादिषु प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

कस्मिन्नप्यंशे चिन्ता न कार्येत्याहुः ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखीभव ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहात्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

लोकवच्चेस्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

सर्वं लौकिकालौकिकसाधारणं स्वीयं भक्त्या स्नेहपूर्वकं समर्पितमेवास्ति, अतः कृतार्थोसि कृतकृत्योसि सुखी भव, सुखैर्नैवं वर्त्तस्व, न मिथ्या चिन्तयेत्यर्थः । आलस्यादिना भगवदर्थं प्रियास्पदं स्वशरीरमनुपयुञ्जानं प्रति सदृष्टान्तं दोषमाहुः । प्रौढापिति । प्रौढा वृद्धा, अपि शब्दादप्रौढापि दुहिता यदा स्नेहवशाद्दरे तद्गर्चरि न प्रेष्यते न याप्यते तदा तत्स्वामी वरस्तां विना प्रकारान्तरेण न तुष्टो भवतीति, यद्वद्यथास्ति तथा निवेदिते देहेऽप्यतिस्नेहवशादनुपयोगो भगवदसन्तोषकारक इत्यर्थः । लोकवदिति ।

साधारणलोकवन्मे यदि स्थितिः स्यात्तदेदानीतनावस्यापेक्षया तदधिकं लोके वेदे च किं स्यात् किमपि, प्रत्युत सर्वनाश एव भवेदित्येवं त्वमेव विचारय, इदमुपपन्नं न वेति ।

ननु सर्वथा शरीराद्यशक्तौ भजनासम्भवे कथं निस्तार इत्यत आहुः ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

सर्वप्रकारेण कृत्यऽसाध्येथे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमवलम्बस्व । अस्मिन्नर्थे कथमपि मोहं वैचित्यं मा गाः, मा प्राप्नुहि ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्तता व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य वल्लभस्य, श्रीकृष्णदासस्येति जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा । श्रीकृष्णदासस्य चित्तं प्रति हितमभीष्टसम्पादकं वल्लभस्येदमभिहितं वचो ज्ञेयम् । कथं तदित्यत आहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वचः श्रुत्वा भक्तो नैश्चिन्त्यं प्राप्नुयादिति ॥ ११ ॥

इति * श्रीविठ्ठलेश्वरात्मजश्रीरघुनाथविरचितमन्तःकरणप्रबोधविवरणं संपूर्णम् ।

* केनचिद्व्यक्तकेन श्रीप्रभुचरणानां विवरणमिति लिखितं, परमन्मथ श्रीरघुनाथाभिधानमुपलब्धेरत्र श्रीप्रभुचरणविरचितटीकाऽभावात् कृतिरियं श्रीरघुनाथामेवेति निश्चीयत ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीमन्महानुभावश्रीहरिरायचरणविरचितविद्वृत्तिसमेतः ।

अथ श्रीवल्लभाचार्याः कृष्णेनातिदयालुना । निःसाधनजनोद्धत्यै पुष्टिप्रकटनेच्छुना ॥ स्वास्परूपाः स्वतस्तेन प्रशुणा प्रकटीकृताः । जीवोद्दाराय विद्वृत्तिं चक्रुर्मागवते घृदा ॥ तथा स्वतन्त्रभजनप्रकारस्योपदेशनम् । ततश्च भगवान्मत्वा स्वमार्गोद्घाटनं हि तैः ॥ आचार्यविप्रयोगं चासहमानोखिलेश्वरः । आज्ञाद्वयमदादेहदेहत्यागैकबोधिकम् ॥ ततः स्वभौदिवन्नतः करुणावशतोपि च । तद्वयोल्लङ्घनं चक्रुः पश्चात्तापस्ततोऽभवत् ॥ दोषस्फूर्त्या हरौ सङ्गविलम्बान्यागजाद्गयात् । अङ्गीकृतिगतेश्चापि धर्मत्यागात् दुःसहः ॥ बालवत्पूर्वमाङ्गलः पश्चात्तेति यदब्रवीत् । मां तेनास्थिरवाक्त्वं हि हरौ दोषस्तदास्फुरत् ॥ ततः समादधुश्चित्तं वचनैः स्फूर्तिमागतैः ।

अन्तःकरण मद्राक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अन्तःकरणपदतो बहिरज्ञानबोधनम् ॥

दोषसम्बन्धतश्चित्ते*स्वभिक्षत्वं हि मन्वते । आङ्गोल्लङ्घनतो दोषो भगवदोषभावनात् ॥ अत एव तदात्मीयं कर्तुमत्र समाहतिः । अन्यथा प्रौढिदाढ्ये तु सर्वभावाक्युतिर्भवेत् ॥ मद्राक्यमिति वाक्येषु स्वसम्बन्धो निरूपितः । निर्दोषभगवद्भावबोधकत्वात् सर्वथा ॥ अत एव समासो हि पदयोरत्र बोधितः । वाक्यमित्येकवचनं सर्वैरकार्यबोधनात् ॥ स्ववाक्यस्य दुरुद्धत्वाद्भावप्रौढस्य चेतसः । अर्थानवगमस्तस्मात्सावधानत्वबोधनम् ॥ श्रवणोक्त्या सतात्पर्यमर्थावगमनं मतम् । श्रवणेनैव हि स्वीयविचारान्तरवारणम् ॥ एतदश्रवणे दोषोपीति विध्यवतारणम् । पश्चात्तापो द्विधा जातः प्रभुदोषसमागतैः ॥ आज्ञारूपस्वधर्मस्य परित्यागात्स्वदोषतः । तत्र तु प्रथमं दोषः प्रभौ नास्तीति कथ्यते ॥ तदारोपणतश्चित्ते भ्रान्तत्वमपि चोच्यते । न हि कृष्णे सदानन्दे दोषसम्भावनोद्भवः ॥ सच्छब्देन यतस्तत्र दोषाभावश्च रूप्यते । सर्वस्यैव तदात्मत्वात् परं विद्यते ततः ॥

* 'स्वस्मिन् तच्चम' पाठः ।

अतो वैषम्यनैर्घृण्ये अपि दोषो न कर्तरि । नास्तीत्युक्तया तदन्यस्य सत्ताभावो विबोध्यते ॥
 दैवशब्देन पूज्यत्वं सर्वेषां ज्ञापितं हरौ । तस्यैव च परत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वबोधनम् ॥
 जगत्पूज्ये भगवति दोषसत्ता कथं भवेत् । अन्येषामपि पूज्यत्वं तद्भिद्रूपित्वतोपि हि ॥
 भृगवे हरिणा स्वस्य दोषाभावो विबोधितः । निर्दोषपूर्णगुणता सर्वत्रैव निरूपिता ॥
 सर्वेषां भाग्यरूपत्वं दैवशब्देन चोदितम् । यथा भाग्यं विना सर्वसाधनं विफलं मतम् ॥
 तथा तत्प्रतिकूल्ये न देवानां फलदातृता । अत एवास्पदाचार्यैर्ग्रन्थे सेवाफलाभिधे ॥
 तदान्यदेवसेवापि व्यर्थेति विनिरूपितम् । प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्यादिवाक्यानि सन्ति हि ॥
 स्वस्मन्वन्धेन सर्वेषां फलदे दोषवारके । स्वरूपतोपि निर्दोषे कथं दोषनिरूपणम् ॥
 ननु भ्रुव्यवतारे तु क्रोधादि दृश्यते हरौ । दैत्यमारणतो नन्तयुवतीनां परिग्रहात् ॥
 क्रोधोपि देवस्येत्यादिवाक्यं च खलु दृश्यते । इति चेन्न हरौ दोषः प्रतीत्या न हि वस्तुतः ॥
 विचार्यमाणे क्रोधादि हितं पर्यवसानतः । मुक्तिदानाभिज्ञानन्ददानात्तदधिकारतः ॥
 दोषा एव न जीवैस्तु प्रयुक्तास्तं स्पृशन्त्यपि । अभिवारा वैष्णववदतस्तद्दोषवर्जितम् ॥
 एवं सतीदृशे नाथे दोषारोपणतः स्वतः । पूर्वं जातोपि चोत्कर्षो नश्येत्तदपमानतः ॥
 स्वामिसम्बन्धराहित्याद्भवेत्तु महती क्षतिः । इति चेत्तत्समाधानमग्निमश्लोकरूपितम् ॥

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

संभावितस्य चाकीर्तिरिति गीतोक्तवाक्यतः । उत्कृष्टस्य पुरा पश्चादपकर्षे क्षतिर्भवेत् ॥
 पूर्वं स्वरूपे दृष्टान्तस्तथा हीनो निरूपितः । तादृशस्य तयोत्कर्षे मूलं तु भगवान्मतः ॥
 पुष्टिमार्गवृत्तौ नैव जीवोत्कर्षो नियामकः । भक्तिर्हंसे तथा चोक्तं प्रभुभिर्विद्वलेश्वरैः ॥
 पूर्वं जीवगतोत्कर्षोप्यप्रयोजक इत्यपि । मूलतस्त्वपमाने तु न हीनस्य क्षतिर्भवेत् ॥
 अपमानजदुःखं तु क्रियते स्वविचारतः । दास्यं स्मर मनः स्वीयं दासानां नापमाननम् ॥
 चेदित्यनेन दौर्लभ्यमङ्गीकारे निरूपितम् । जातं यद्राजपत्नीत्वं तन्न याति कथञ्चन ॥
 अन्यैर्वा सा न दुर्वाक्यैर्वक्तुं शक्या बलान्वितैः । न वा तदुपभोगोन्मैः पश्चात्कर्तुं हि शक्यते ॥
 अपमाने विलम्बस्तु विरहानुभवार्थकः । बहिः संवेदने पश्चाद्दैन्यभावनप्रसाधकः ॥
 तदनन्तरमन्येपि मातृत्वमतयो ध्रुवम् । मानयन्ति यतस्त्रां हि नापकर्षस्ततो मतः ॥
 कदाचिदित्यनेनात्र नित्यता नापमानने । मनःपूर्वकृतित्वेन नित्यताङ्गीकृतौ हरेः ॥
 नापमाने यतस्तत्र हरेरिच्छा न तादृशी । शिक्षार्थं दण्डनार्थं वा कुरुते न निजेच्छया ॥
 इच्छापूर्वकृतित्वे हि भवेदेव हि नित्यता । दण्डोप्यनुग्रहः प्रोक्तः सर्वत्रैवात एव हि ॥
 अपि शब्देन तस्यापि मानसाम्यं निरूपितम् । एवं वाक्यैर्बोधयित्वा दृष्टान्तेन च बोधनम् ॥
 क्रियते दृढता यस्मात्कृतबोधस्य सिध्यति ।

समपर्णादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

अहं समपर्णात्पूर्वमुत्तमः किं स्थितो मनः ॥

यतो दोषा निवृत्तास्तु सर्वेषां तत्समर्पणात् । सदेत्यनेन हृदये तदावेशात्कचित्कचित् ॥
 जाताप्युत्तमता नैव निरन्तरमभून्मयि । यथा श्रावणशुक्लैकादश्यां कृष्णे पुरःस्थिते ॥
 साक्षात्समर्पणे सर्वोत्तमत्वं न तथा पुरा । नन्वास्यरूपाचार्याणां कथनं नैव युज्यते ॥
 ईदृशं कृष्णरूपत्वात्सर्वस्योत्तमता यतः । इति चेन्न रसात्मत्वात्तत्स्वरूपं च तत्तथा ॥
 यथा भगवतो लीलारसानुभवसिद्धये । मानिनीषु तथारूपं प्रहं तादृग्वचोपि हि ॥
 तथावतारे भक्त्याख्यरसानुभवहेतुकम् । रूपं तथा वचश्चापि स्वाचार्यचरणोदितम् ॥
 अतो रसात्मके रूपे न कार्यः संशयस्तथा । यतो रसस्वरूपं हि यत्र यादृक् तथैव तत् ॥
 किञ्चाधुना चाधमता का वा भाव्या मम त्वया । यतोधमत्वतश्चित्तपश्चात्तापो भवेत्तवा ॥
 ननु सत्यं तथाप्येष कृष्णः सर्वोत्तमः स्वतः । कर्तुं चापि तथाऽकर्तुमन्यथा कर्तुमीश्वरः ॥
 अतः कदाचिद्वरणं कुर्याच्चेदन्यथा तदा । का गतिः कुत्र गच्छामि गत्वा वाऽन्यं कमाश्रये ॥
 इयं चिन्ता न कर्तव्या—

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पतो हरिः । स्वाङ्गीकृतिं कृपापूर्णो न कुर्यादन्यथा क्वचित् ॥
 केषां सत्या कृतिः केषां वाक् सत्या न विचारितम् । विचारितं हरेः सत्यमतस्तुकथनेन्यथा ॥
 कदाचिद्दासदोषेण नान्यथा तद्विचारितम् । अतो वचःश्रुतौ नैवं विधेयं भयमन्यथा ॥
 विष्णुः सर्वत्र सत्त्वेन रक्षकः कथमन्यथा । करिष्यति यतो रक्षा साधारण्या कृतिः प्रभोः ॥
 तुशब्देन न भक्तेषु क्वचिदप्यन्यथा कृतिः । करणं वाप्यकरणं सुस्वार्थोस्तु विद्वद्भये ॥
 नन्वेवं चेत्स्वतन्त्रत्वं किं दासानां न बाधकम् । स्वतन्त्रा गतचिन्तास्तु कुर्युराज्ञाविलोपनम् ॥
 तथासति महान् दोषस्तदर्थमिह चोच्यते । आज्ञैव कार्या दासेन न प्रश्नो न विचारणम् ॥
 एवकारेण धर्माणामाज्ञात्वेनैव वै कृतिः । कार्यन्वावश्यकत्वार्थप्रत्ययान्तपदोक्तितः ॥
 सेवकस्तामकुर्वन् वै प्रत्यवायी हि जायते । निरन्तरं तत्कृतिस्तु स्वधर्मत्वेन बोधिता ॥
 स्वधर्मो यादृशस्तस्याऽकृतौ दोषोपि तादृशः । वाग्वपवेदधर्मस्याऽकरणे वाङ्निरूपितः
 नरकादिः, स्वरूपात्मधर्मस्याकरणे हरेः । स्वामिद्रोहो महान् दोषः स्वरूपेण विरोधतः ॥
 आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामिति लौकिकवाक्यतः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

सेवकस्य हरेः सेवां कुर्वतो मार्गवर्तिनः ॥
धर्मोयमेव नान्योस्ति यदाज्ञाकरणं प्रभोः । तुशब्देनान्यथा धर्मः पुष्टिस्थेषु विलोक्यते,
तदाज्ञालोपमानादि तद्दर्शनेर्धर्मवेशनात् । तथैवात्रापि विज्ञेयं न, धर्मोयमितीरितम् ॥
अत एवार्जुनेनोक्तं करिष्ये वचनं तव । न चायमीदृशो धर्मः सन्दिग्धफलसाधकः ॥
यत आज्ञाभिधं धर्मं हरिः स्वीयं करिष्यति । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यः' इत्युक्तं हरिणा यतः ॥
अन्ये सर्वेपि ये धर्मास्ते विभूतिपराः कृताः । फलदानं विभूतिभ्यस्तेषु सर्वत्र निश्चितम् ॥
ईदृग् धर्मपरित्यागं स्वस्मिन्नाहुर्धनः प्रति । पश्चात्तापोप्यतो योग्यः सर्वथेति निरूपितम् ॥
तदेवाहुर्निजाचार्या मन्त्रमाज्ञात्रयं हरिः * अदात्, तत्र स्थलं पूर्वाज्ञायां च तन्निरूपितम् ॥
यत्र देहपरित्यागः कर्तव्य इति सोऽब्रवीत् । तत्र बीजं तु साभिध्याद्देहेर्भावात्मकस्य हि ॥
साक्षात्तद्भावसम्बन्धो विना मार्गोपदेशनम् । ततः स्वरूपमाकट्यं पुष्टिमार्गस्थितप्रभोः ॥
*ज्ञानं च नाभिलषितं गूढभावस्य वै हरेः । सर्वत्र सर्वजीवानां *तेनैवं प्रष्टुंरुक्तवान् ॥
ततः प्राकृतवत्कृत्या गार्हस्थ्यदादौ विमोहनम् । सम्पाद्य स्वीयसाभिध्यं भक्तानामेव कारितम् ॥
उपदेशनमारब्धमाचार्यैः पुष्टिमार्गगम् । ततो मधुवने सर्वा गूढलीला प्रकाशिता ॥
उपदेशेन भक्तेभ्योऽनभीष्टं तदपि प्रभोः । लीलाधारत्वतः स्वस्य तद्द्वारैव प्रकाशनात् ॥
तद्वयं न कृतं कृष्णाऽऽज्ञाया रसविशेषतः । श्रीभागवतगूढार्थप्रकटीकरणस्य ॥
लीलास्यलहगासक्तेर्न भयं प्रौढितो रतेः । तुशब्देनाधुना नैव तादृगाज्ञां ददाति हि ॥
स्वास्थ्यवाक्ये न संन्यासे कुरुते भावघातनम् । 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं' इत्यतोऽस्मत्प्रभोर्वचः ॥
स्थलं च प्रथमाज्ञायाः स्वसंयोगप्रबोधकम् । गङ्गायाः सागरेणात्र यथा योगस्तथा मया ॥
एकीभावेन सम्बन्ध इति स्वामिप्रलोभनम् । पद्ये द्वितीये यः प्रोक्तोऽपिशब्दस्तेन बोधितम् ॥
एतदाज्ञापनमपि स्वसम्बन्धप्रलोभकम् । पश्चात्पदेनैतदाज्ञा विलम्बेन समुद्रता ॥
स्थलं मधुवनं प्रोक्तं दुष्टसम्बन्धतस्तथा । तत्र नैवंविधं कार्यं कार्यमित्याशयो हरेः ॥
तत्रत्यानाञ्च विप्राणामतः प्रौक्तैव दुष्टता । एतद्वयं तु न कृतं तृतीयोऽर्थात्कृतो मतः ॥

* अदात्तत्र फलं पूर्वाज्ञायां तत्र निरूपितम् । इति पाठः ।

* एतादृशं प्रष्टुंरुक्तवात्मकं ज्ञानं सर्वत्र सर्वजीवानां स्यादिति गूढभावस्य हरेर्भिलषितम् ।

* एवं देहत्यागरूपम् ।

त्यागो लोकैकविषयो नामदानादिवर्जनात् । सेवामदर्शनाभावात् सहनादुःखदस्य च ॥
नन्वेवं धर्मगमने पश्चात्तापस्तु संभवेत् । इति चेन्न; यतः सेवाकरणात्सेवकोऽस्म्यहम् ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सेवा तु स्वाम्यभिहितकरणेन भवेत्पुनः । स्वामिनेव यदुक्तं मे श्रीभागवतवर्णनम् ॥
पुष्टिमार्गप्रकटनं तदेव क्रियते मया । तदुत्तरं चेत्स्थास्यापि तदा दोषो भविष्यति ॥
न चाज्ञाप्राप्तसेवायाः करणे धर्मतद्भ्युतिः । सेवाकृतेराज्ञयापि स्थितेरन्यविवर्जनात् ॥
तदा केन प्रकारेण पश्चात्तापो भवेन्मम । ननु प्रभूणां लोके तु दृष्टा सेवाकृतावपि }
परित्यागकृतिः स्वीयोत्तराज्ञापरिपालने । अत्रापि चेत्याभावे पश्चात्तापस्तु सर्वथा }
इति चेन्न हरिः कृष्णो द्रष्टव्यो लौकिकेशवत् । स भावाऽज्ञो हरिर्भाववेत्तास क्षणिको हरिः
न तथा, स तु दोषादयो हरिर्दोषविवर्जितः । सोऽनित्यस्वीकृतिः कृष्णो नित्याङ्गीकरणो मतः ॥
स दुःखरूपः कृष्णस्तु पूर्णानन्दो निरूपितः । सोऽल्पदः पूर्णपरमानन्दसन्दोहदो हरिः ॥
कदाचनेतिशब्देन सोऽस्थिरः स्थिरता हरेः । अतस्त्यागभयाऽभावादनुतापो निवारितः ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।

किञ्च, सर्वं लौकिकं हि वैदिकं च समर्पितम् । अहन्ताममते चापि त्वया तत्र समर्पिते ॥
अतः कर्तव्यताऽभावात् कृतार्थत्वमभूत्तव । किमर्थं कुरुषुः दुःखं किं त्वास्ति सुखी भव ॥
भ्रमादेवाभवद्दुःखं त्यजाम्भिति*ममाशयः । सेवावशाद्गमने नातोषोऽलौकिकप्रभोः ॥

प्रौढापि दुहित्वा यद्दत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

सेवाप्रियस्य करुणाकरस्य मृदुचेतसः । देहाध्यासाद्गमने त्वसन्तोषो भवेत्प्रभोः ॥
अतो विदधते चित्तसमाधानं निदर्शनात् । देहे न सत्ता स्थाप्या हि यथा दुहितरि स्वतः ॥
जामात्रयै पोषणं तु ह्यर्थं तद्दत्तं हि । अयोग्यतायां तच्चिन्ता कर्तव्या रक्षणदिषु ॥
प्रौढा चेतसकला चिन्ता तस्मैवेति विबुध्याताम् । अतो न देहाध्यासेन देहाद्यपेरणं हरौ
उचितं तद्दत्स्नेहात्स न तुष्येद्यतो वरः प्रत्यग्रभोक्ता, नाऽज्ञातरसस्यायोग्यवस्तुनः ॥
अतः स तु कथं तुष्येदपेक्षायामनर्पणात् । तदाशयपरिज्ञानमात्राच्चेदर्थ्यते स्वतः ॥
तदा विशेषसन्तोषस्त्वाज्ञायां मध्यमः स्मृतः । आज्ञायामपि चेल्लोभो देहादेस्तोषणं कथम् ॥
यदर्थं सकलापेक्षा तदभावेऽखिलं दृष्या ।

* 'महाशय' पाठः ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

ननु देहादिलोभस्तु लोकोत्पन्नस्य जायते ॥
स्वानभिप्रेतकथने मानोपि भवति प्रिये । मदीपि प्रियसौभाग्यात्स्वासाधारण्यबोधकः ॥
जायते दोषभावश्च प्रभौ प्रौढिवशाःपुनः । अतः किञ्चिन्नमिति चेन्नैवं चित्तोचितं मयि ॥
अहं तदास्यरूपोस्मि भक्त्यात्मा वह्निरूपधृक् । निर्दुष्टः केवलानन्दकरपादादिसङ्गतः ॥
कृष्णाधरसुधासारः परमानन्दरूपवान् । भक्तिदाता समस्तानां स्वीयसांनिध्यमात्रतः ॥
श्रीकृष्णरसभावात्मा ब्रजस्त्रीहृदयस्थितः । लीलाशतसमाकान्तसर्वाङ्गो विस्मृताखिलः ॥
हृदयस्वामिसहितो ह्याविर्भूतस्तदाज्ञया । एतादृशो ममापि स्याल्लोकवचेत्स्थितिर्मनः ॥
ब्रूहि किं स्यादिति पुनः स्वयं हृद्येव चिन्तय । तदास्यस्य स्थितौ चैवं प्रभोरपि तथा स्थितिः
इत्यज्ञानं न तद्युक्तं हरेरानन्दरूपिणः । अवाच्यत्वादेवमुक्तं स्वयमेव विचारय ॥
ननु जातेऽपराधे तु किं विधेयमशक्तितः । अज्ञात्वा वाथवा ज्ञात्वा यत्कृतं नाकृतं हि तत् ॥
अतः कथं सोनुतापो हृदयात्तु निवर्तते । इतिचेन्न हरिः सर्वदुःखहर्ता ह्युपेक्षते ॥
अशक्ये निजभक्तानां स्वयं सर्वत्र साधकः । यतो गजेन्द्रस्याशक्ये स्वयमाविर्भव ह ॥
कार्यं च कृतवान् सर्वमतो हरिपदं यतः । एतेन साधनाभावे दैन्यभावोद्भवे पुनः ॥
निःसाधनफलात्मासौ प्रादुर्भवति निश्चितम् । एवकारेण नान्येषां निःसाधनफलात्मता ॥
न वा कृपालुता पूर्णानन्दाभावाद्द्रसास्थितेः । अस्तीति पदतः स्वाग्ने प्रादुर्भूतो निरूपितः ॥
अतो मोहं स्ववैकल्यं मा प्रामुहि मनो मम । एवं स्वान्तःसमाधानं विधाय स्वसदुक्तिभिः ॥

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

सम्पाद्य स्वस्य नैश्चिन्त्यं स्वीयान् प्रति वदन्ति हि । एवं प्रकारकं वाक्यं हितं फलदशासु हि ॥
स्वचित्तं प्रति यत्प्रोक्तं तदाकर्ण्य भजन् हरिम् । स्वदोषेष्यपरित्यागी प्रभुरित्यवबोधतः ॥
परित्यागभयाभावाज्जनो निश्चिन्ततां व्रजेत् । नन्वैवं कथनादेव नैश्चिन्त्यं तु कथं भवेत् ॥
स्वानुभूतेरभावे तु वाङ्मात्रान्न हि सिध्यति । इति चेदुच्यते स्वीयान्समाधातुं स्वदासता ॥
आविर्भूतस्वरूपस्य प्रोक्तानुभवबोधने । अनुभूयैतदखिलं मयात्र विनिरूपितम् ॥
नात्र कार्यो ह्यविश्वासो भवद्भिः सफलाक्षिभिः । ननु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ॥
किं वा विधाय कापट्यं तथात्वं स्वस्य कथ्यते । महापुरुषवत्तत्र कृष्णत्वं चोपचारिकम् ॥

अथवा भाववशतः स्वस्वरूपस्य विस्मृतिः । विरुद्धधर्मता वापि ब्रह्मवत्तत्र रूप्यते ॥
यद्वा व्याप्तोऽसिध्यर्थमेवं रूपनिरूपणम् । एवं हि संशये कार्या सञ्चिरेवं समाहितः ॥
यथा रसात्मनो रूपं हरेर्यत्र यथाविधम् । वचः क्रियापि सर्वैवानुरूपा यत्र यादृशी ॥
तत्र तादृग्विधं रूपमुच्यते न प्रदर्शनम् । अन्यथा न रसात्मत्वं स्याद्बोद्धत्वं रसज्ञवत् ॥
लोकेपि यत्र नाट्यादौ प्रादुर्भवतिचेद्रसः । स्त्रीवेशादिह तत्रैवमुच्यते सेव वर्तते ॥
एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः । तद्रसानुभवार्थं हि विशिष्टस्तत्र तादृशः ॥
रसात्मत्वात्तदास्यं च मन्तव्यं तादृशं पुनः । अतो दास्यरसार्थाय प्रादुर्भूतं तदात्मना ॥
भक्त्यात्मकं मूलं तत्र रूपमेव हि तादृशम् । वचोपि तादृशं तत्र सत्यमेव न चान्यथा ॥
यथा वचो हरेः स्वीयदैन्यभावनिरूपकम् । मानापनोदसमयेऽस्मत्प्रभोस्तद्रसात्मनः ॥
तथाचार्येषु वाक्यानि नात्र कश्चन संशयः । वल्लभस्येति नामोक्त्या विश्वासस्यानमुच्यते ॥
हरेः स्वस्मिस्तथा नास्ति नित्या प्रीतिर्निरूपिता । ईदृक्स्वरूपविश्वासे नैश्चिन्त्यं निश्चितं मया ॥
भाग्यभाजां हि विश्वासो भवेच्छ्रीवल्लभप्रभौ । यथा निवेदने चिन्ता नवरत्ने निवारिता ॥
एवमत्र फले चिन्ता स्वकीयानां समुद्धृता । संयोगमानविनहाभिधभावत्रयं स्वतः ॥
अनुभूतं तु संयोगः सेवया त्यागतोऽपरः । आज्ञाकरणतो मानभावोत्र सफलीकृतः ॥
स्वरूपस्फूर्तितः पश्चात्पश्चात्तापो निवारितः । इति श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुरुहरेणुषु—
सक्तचित्तस्य विवृतिर्हरिदासस्य पूर्णताम् । अगमत्तेन ते स्वीयं दृढं कुर्वन्तु मां सदा ॥
अवधमनवद्यं वा विचारयतु मे प्रभुः । यत्प्रसादिदं सर्वं पूर्णतां याति सर्वथा ॥
सन्तोऽपि कृपया युक्तं मदीयं मूर्खजल्पितम् । श्रीमदाचार्यसम्बन्धात्पश्यन्तु परमाहताः १५१

इति श्रीहरिदासोक्तान्तःकरणप्रबोधविवृतिः

समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणम् ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ।

तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये ॥ १ ॥

* (अथ) श्रीमदाचार्यचरणाः (स्वीयान् प्रति नवरत्ने 'चिन्ता कापि न कार्या' इत्याज्ञाप्य तस्या अन्तःकरणधर्मत्वादन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद्गुणाध्यानादिसंभवे पूर्वोक्ताज्ञाभङ्गसम्भवाभिवेदनं कृतमप्यकृतं स्यादिति तदभावाय प्रमेयवलेन यथा भगवान् भक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे मदमाननिवारणं कृतवौस्तथात्र) स्वीयान्तःकरणबोधार्थं (तदभिष्टुखीकृत्य) सप्रौढिस्वरूपज्ञापनपूर्वकमन्तःकरणप्रबोधं निरूपयन्त्येकादशश्लोकैरेकादशेन्द्रियबोधकत्वेन । अन्तःकरणेति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण ? मदीयानामिति शेषः (समाप्तौ 'भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेदित्युपसंहाराद्धोषः) मद्वाक्यं सावधानतया सावधानीभूय शृणु शृणुष्वेत्यर्थः । स्ववाक्यत्वेनाप्ततोक्ता । श्रवणे सावधानत्वोक्तिः श्रवणानन्तरं तथाकरणार्थम् । अन्तःकरणस्यैकवचनं स्वमार्गे सर्वेषामेकरूपत्वज्ञापनाय जात्यभिप्रायेण । (अत्र सर्वे प्राञ्चः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेनाङ्गीचक्रुः । तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेनावतारबोधनात्सर्वोत्तमे 'स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकारे'त्युक्तेश्च, मुखान्गव्यवताराभिप्रायेण सङ्गतमेव,) एवं स्वीयानामन्तःकरणं सम्प्रुखीकृत्य बोधवाक्यमेवाहुः । कृष्णात्परमिति । कृष्णात् 'कृषिर्भूवाचक' इत्यस्य भावानन्दात्मकतया विवरणेन व्रजवरवल्लभानां भावात्मकात् (परमुत्कृष्टं दैवं देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'तिकोशात्तासां भाग्यरूपं वा । नास्ति इतरं) नास्तीत्यर्थः । ननु किं स्तुतिरेवेयमित्याशङ्क्यामाहुः, वस्तुत इति । तत्रोत्कृष्ट(ताया वास्तव)त्वार्थं विशेषणमाहुः—दोषवर्जितमिति । दोषवर्जितं रहितमित्यर्थः । (तथा चेदं तद्वास्तवत्वे बीजम् । किञ्च ;) कृष्णपदात् सदानन्द

कस्तेन यथा गोपिकार्यं कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटस्तथा सर्वत्रापि तदर्थं कटो भविष्यतीति ज्ञापितम् । तेनान्यत्र क्रीडारूपत्वं नास्त्येवेति जीवानामन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेवेति भावो दोषवर्जितमित्यनेन ज्ञापितः । अत एव 'वीरयोषिता'मित्यत्र 'व्रजनितम्बिनी'वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यैर्न हि कृष्णादन्य एवं सम्बोधनमर्हतीति निरूपितम् । आद्य श्रीमहिषीभिरपि 'त्वक्स्मश्रुरोमे'तिपद्येनान्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता । (तथा च स्वक्रीडानुरोधेन स्वीयभाग्यरूपतया च स्वयमेवास्माकं करिष्यतीति निश्चित्य चिन्ता न कार्येत्यर्थः ।)

(ननु सत्यमेवं तथापि भगवतो ब्रह्मश्रुत्यादिदुरापचरणरेणुत्वे स्वतुच्छत्वे च स्फुरिते सोत्पद्येतेवेति कथं तन्निवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां तन्निवृत्त्यर्थमेवं) दोषरहितस्वरूपं विचार्य तत्र मानापेक्षादिदोषराहित्येनाज्ञेय कार्थेति सादृश्विभिर्वेदन्तः प्रथमं (तुच्छत्वस्फूर्त्तैरकिञ्चित्करत्वाय निदर्शनमाहुः) चाण्डाली चेदिति ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चेत्कदाचिद्राज्ञा मानिता सती राजपत्नी च जाता । चकारेण स्वस्यापि तथाभिमानोत्पत्तिर्जातेति ज्ञाप्यते । (तदा) तादृश्याः कदाचिदपमाने वा मूलतो राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् ? न कापीत्यर्थः । माने कारणं राजपत्नीत्वं न तु चाण्डालीत्वम् । राजपत्नीत्वेपि कारणं राजसम्माननं न तु स्वयमः कोपि । तस्मात्कृतापमानस्यापि न राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशङ्के । यथा राजपत्नीत्वसम्पन्नानन्तरमपमानेपि न तद्दानिस्तथात्र समर्पणानन्तरं (परीक्षाद्यर्थे) द्वितीयसंपूर्णार्थे वा भगवतापमानेपि कृते स्वस्य पुनरन्यभावो न भविष्यति । समर्पणेन यो भावो जातः स तु जात एव, (पुनर्यदा परीक्षादिपूर्तिः) संयोगरसदानेच्छा (वा) भविष्यति तदा पुनस्तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यतीति विचार्यम् । (तथा द्वितीयव्याख्यानरीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्य, न तु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम् । भगवता पुष्टिमार्गस्य स्वार्थं प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षितजीवदोषानादरणपुरःसरं तदङ्गीकरणे अन्तरा च जीवदोषादासक्तौ भगवानेवेति न्यायेन विलम्बेपि पूर्वात्परबलीयस्त्वन्यायेन नाङ्गीकारविरस्कारो, नापि दोषप्राबल्यमिति न तुच्छत्वात्परसर इत्याश)येनाहुः । समर्पणादहमिति ।

१ (किञ्च यथा राजसम्पन्नानन्तरं पूर्वस्वरूपं न विचार्य, तद्विचारे सति स्वहीनत्वे स्फुरिते तस्य रसदानिः स्यात्तथा समर्पणे कृतेपि स्वस्वरूपविचारेण प्रथुः कृपां करिष्यति न वेति हीनत्वं न विचार्य) इति श्रीकृष्णोत्तमचरणैरनाहताः पङ्क्तयः स्वहस्ताक्षरबोधितग्रन्थे सन्ति ।

* () चिन्हागतगतं श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः संशोध्य सम्पूरितं ज्ञेयम् ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाद्यमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् पूर्वं किमहं सदा उत्तमः स्थितः ? अपि तु न । तथा च समर्पणात् पूर्वं येन भगवद्वत्तमानापेक्षा स्यात्तादृशभावयुक्तस्तु न स्थितः । तदनन्तरमेव तथाजातस्तेनापमानेपि (मम) काद्यमता भाव्या (भाविनी, विभावनीया वा) । यतः समर्पणानन्तरं पश्चात्तापो भवेत् ? ।कदाचित्कर इत्यनेनाभासनार्थं स्वसहजधर्म आगन्तुकधर्मश्च स्मारितः । अतः परमर्देन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्धर्मं तदर्थं स्मारयन्तस्तेन, प्रत्युत्तमानकरणात्मकस्वरूपसम्पत्तिर्भविष्यति, पुनरन्यथा सा न भविष्यत्येव, भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वादित्याहुः । सत्यसङ्कल्पत इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्प्यतो विष्णुर्व्यापकः, अन्यथा तु न करिष्यति । यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते,' 'द्विः स्थापयति नाश्रिता(नि'त्यादिः सङ्कल्पः सत्यो विषयाव्यभिचारी, तथा) 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न (भूयोर्हति शोचितु')मित्यादि(रपि)भगवतः सत्य एव सङ्कल्पस्तेन पुनस्तं (प्रपन्नमन्य)था न करिष्यति । (शोकयुक्तं न करिष्यतीत्यर्थः । किञ्च;) विष्णुर्व्यापकस्तेन विप्रयोगसमयेपि रसदानं करिष्यति, 'मया परोक्षं भजते'तिन्यायेनेति ज्ञाप्यते । एवं (स्वस्वरूपधर्मं भगवद्धर्मश्च स्मारयित्वा स्वीयसेवकस्य रक्षणाय यतः) प्रसुरन्यथा न करिष्यत्यतो भावात्मकं समर्पणमनुसन्धायापमानजं क्लेशं परित्यज्य, भगवान् यथैवेच्छापूर्वकमाज्ञापयति तथैव कार्यमित्याहुः । आज्ञैवेति । सततं निरन्तरमाज्ञैव कार्या । अन्यथा तदकरणे स्वामिनः प्रभोर्द्रोहो भवेत् । भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय)देहकरणात्तदाज्ञाया अकरणे बाधकमेव स्यादिति भावः । ('भगवदत्तं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठती'ति पुरञ्जनोपाख्यानाज्ज्ञेयम् ।) सिद्धमाहुः । सेवकस्येति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकस्यायमेव धर्मो यदाज्ञाकरणम् । तु शब्देनान्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते (एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापारिपालनरूपो दासधर्मो भगवत्चोषहेतुरिति, तुना पक्षान्तरनिरासपूर्वकं स मुख्यतयोपसञ्जन्हे ।) एवं सेवकधर्मस्युक्त्वा प्रभुधर्मस्वरूपमाहुः । स्वामी प्रभुः स्वस्य इच्छातः करिष्यतीति स्वपनोभिलषितकरणं प्रभुधर्म एव । सेवकधर्मस्तु तदाज्ञाकरण-

मेवेति तुशब्देन ज्ञाप्यते । (संयोगपृथक्त्वेनात्रापि तु शब्दस्यानुपङ्गः । यद्वा, स्वामी भगवान् स्वस्यात्मीयस्य दासस्य करिष्यति, स्वाज्ञापालनाग्रहं विलोक्य दयया तं धर्म निर्वाहयिष्यतीत्यर्थः । अतस्तदर्थमपि न चिन्तावसर इति भावः । एवं सार्धैस्त्रिभिराज्ञैव कार्येति सम्यगुपदिश्य,) एवं भगवदाज्ञाज्ञाकरणसंतुष्टप्रभुसम्पादितेन स्वस्योत्तमत्वेन कदाचिदाज्ञान्ययाकरणेपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव भाव्यं, न त्वन्यथा विचारणीयं, पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छातस्तथाकारयतीत्याशयेन स्वदृष्टान्तमाहुः । आज्ञेति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

या आज्ञा पूर्वं गङ्गासागरसङ्गमे गङ्गासागरसमीपे जाता, पश्चात्ता मधुवनेपि जाता, तदाज्ञाद्वयं मया न कृतम् । तु शब्दस्त्वाज्ञाद्वयाकरणस्य भगवदिच्छाविषयरूपत्वज्ञापनार्थः । ननु, आज्ञाद्वयं किं विषयकमित्यपेक्षायामाहुः । देहदेशपरित्याग इति । गङ्गासागरसङ्गमेऽन्यत्र गमनकृतस्वनिकटस्थित्यभावजकोपेन देहपरित्यागविषयिणी । सापि पूर्वोक्तप्रकारेच्छाजनितक्षणवियोगासहिष्णुतया जाता । (एवं मधुवने मथुरायां देशत्यागविषयिणी ।) स्वाचार्यैस्तु स्वीयशिक्षार्थकविप्रयोगतापानुभवार्थं दूर एव स्थितिः क्रियते । भगवता स्वार्थं तथाज्ञाप्यम् । श्रीमदाचार्यैः स्वसौभाग्यज्ञापनाय तदाज्ञाद्वयमपि न कृतम् । तृतीया लोकगोचरा लोकपरित्यागविषयिणी जाता, सा कृतेति भावः । (.....पाठे, तृतीय आज्ञाविषयः, स चोभयसमुदायरूपः सन्यास इति व्याख्येयम् । तथा च द्वयं न कृतमप्येवं कृतं, तदपि मया तद्वतारेण । अतो मभिर्दर्शनं पुरस्कृत्य अन्येन तथा न कार्यम्, किन्तु यथा प्रभवाज्ञा तथैव कार्यमिति भावः । यद्वा, न कृतमित्यत्र काकुः । 'दिह' उपचये, 'दिश' अतिसर्जने, देह उपचयः, देशो दानम् । अयमर्थः, भगवता श्रीभागवतार्थप्रकटनाय पूर्वमाज्ञातं, तत्सूक्ष्मटीकाकरणेन कृतम् । ततः सुबोधिन्यामुपचयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरब्धस्तदा देहपरित्याग आज्ञातः । ततस्तद्विहाय निरोध एव विवृतः । ततो मुक्तौ विच्रीयमाण्यां देशपरित्याग आज्ञातः । तदा विमोचने स्वाश्रयमापणे च विवृते फलं दत्तमेव स्यादितितदभावाय तादृशमाज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतश्चेदन्येन तु सर्वथा कर्तव्यमेवेति भावः ।)

(एवमाज्ञाया अकरणकरणे उक्त्वा) स्वस्याज्ञाद्वयाकरणजपश्चात्तापभावायमाहुः । पश्चात्ताप इति ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

तत्राज्ञाद्वयाकरणे पश्चात्तापो मया कथं कर्तव्यः ? । यतोहं सेवकोस्मि । तदपि स्वस्य सेवकत्वप्रौढ्यैव कृतम् । न चान्यथा, न केवलं स्वप्रौढ्येति । तथा च ममेदं (शोभते न त्वन्यस्येति भावः । यद्वा, आज्ञाद्वयाकरणान्ममापि पश्चात्तापश्चेदन्यस्य त्वत्यन्त एव स्यादतस्तयान्येन न कार्यमिति भावः) । ननु सेवकत्वे सति स्वप्रौढ्या आज्ञाया अकरणे भगवानप्रसन्नो भवेदिति कथं भवतां शोभाकरं, यदि शोभाकरं कथ-
मन्येन न कार्यमिति) तयाशङ्क्य भगवतोऽलौकिकत्वेन तदभावमाहुः । लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकप्रभुवत् कृष्णः सदानन्दः फलरूपः कथञ्चन केनापि प्रकारेण न द्रष्टव्यः । तथा च, यथा लौकिकप्रभूणां स्तोत्राकरणे क्रोधो भवति भगवतस्तथा न भवति । यतस्तद्रसानुभवार्थं प्रभुरेव तथा प्रेरयति । अत एव भगवता पार्थ प्रत्युक्तं 'कर्तुं नेच्छसी'-
त्यारभ्य 'मायये'त्यन्तम् । लौकिकानामतथाभावात् क्रोधो भवति । (अतो भगवदप्रसन्न-
ताया अभावाद्दस्माकं शोभाकरम् । अन्यस्य तु तादृग्योग्यताया अभावेन भगवदिच्छा-
ज्ञानाभावाद्नुचितमेवेत्यर्थः) ।

(एवमाज्ञाकरणतदकरणव्यवस्थापुक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद् वदिष्यन्तो,) भगवति सर्वसमर्पणं जीवधर्मः, पश्चात्तु प्रभुः स्नेच्छया यत्करिष्यति तत्करोतु, तथापि तथैव स्वधर्मः कृतोस्तीति नैश्चिन्त्येन स्वीयतामित्याहुः । सर्वमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

भक्त्या स्नेहेन सर्वं समर्पितमतः कृतार्थोसि सुखी भव सुखेनैव स्वीयताम् । परिणामे सुखमेवेति सुखी भवेत्युक्तम् । सर्वपदेन लौकिकं रसाधिकरणदेहसम्बन्धिभावरूपमलौकिकञ्चेति ज्ञापितम् । समर्पणे कृते देहेपि सम्बन्धस्य जातत्वादेहेनैव सेवा कर्तव्येति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वकं (तत्कर्तव्यत्वावश्यकत्वमाहुः) । प्रौढापि । प्रौढापि रसयोग्यापि दुहिता स्वस्य स्नेहात्तस्य वरे यद्वन्न प्रेष्यते तथा देहे न कर्त-
व्यम् । स्वस्य देहस्नेहेन भगवत्सेवायां देहस्याविनियोगो न कर्तव्यः । किन्तु देहेन लौकिकेन भावात्मकेन च भगवद्रसयोग्यसेवैव कर्तव्या । तदकरणे वरः प्रभुरन्यथा न तुष्यति । यथा स वरः स्वर्ही विना न तुष्यति तथा प्रभुरपि न तुष्यति । अत्रापि

समर्पणाऽनन्तरं मुख्यो भावः स एवोच्यते । एतज् ज्ञानार्थमेव पूर्वं निदर्शने राजपत्नी-
त्वमुक्तम् । द्वितीयेनापि तथैवोक्तम् ।

(एवं देहस्नेहेत्यागपूर्वकं देहेन सेवैव कारणीयेति निर्द्धार्य पूर्वं भगवता परीक्षार्थं कृते विलम्बे मम कथं गतिर्भवितीति या चिन्ता कृता, सा ते गुणायैव जाता, न तु दोषाय । न शोषानङ्गीकृतौ चिन्ता भवति, किन्त्वङ्गीकृतावेवेत्याभासनाय दृष्टान्तमुखेन परिचायकान्तरं वदन्त) एतत्सेवाद्यभावे सर्वं व्यर्थमेवेत्याहुः । लोकवदिति ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्याकिं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

चेत्, समर्पणाभावे मे स्थितिर्लोकवत् सर्वसाधारणेन स्यात्तदा किं स्यात्, फलमितिशेषः । इति विचारय । किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । (तथा च, तथा स्थित्यभाव एव गुणपरिचायक इति भावः) । नन्वेतद्भावस्य सर्वफलरूपत्वमस्तीति सत्यम्, तस्य परं भावस्याशक्यत्वात्तत्प्राप्तिः कथं स्यादिति चिन्ता तु भवतीति चेद्विधेयि तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेवेत्याहुः । अशक्य इति । अशक्ये सति हरि-
रकारणसर्वदुःखहर्त्वाऽस्त्येव, शरणमिति शेषः । अतस्तदभावे सर्वं व्यर्थमिति लौकिकेन विचारेण कथञ्चन तत्प्राप्त्यर्थं मोहं मा गाः, मा प्राप्नुहि ।

एवं प्रबोधं निरूप्या (तः परं शङ्कापिशाच्यनुदयाद्) पसंहरन्ति । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीब्रह्मभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

इतीति समाप्तौ प्रकारे वा । श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य बल्लभस्य रसरूपत्वेन प्रियस्य चित्तं (स्मृतिजनकमन्तःकरणं) प्रति हितं हितकरं वचोस्तीत्यर्थः । यद्वचः आकर्ण्य, आसमन्तात्तात्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा भक्तो भूत्वा, निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावमलौकिकत्वं व्रजेत् ।

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा ।

तिष्ठन्तु हृदये येन प्रसीदति हरिः स्वयम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन(श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराज)-

कृतम् अन्तःकरणप्रबोधविवरणम्

सम्पूर्णम् ।

श्राकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीदशदिगन्तजैत्रश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतं विवरणम् ।

जन्तुस्वभावदोषोत्पत्तौ चिन्ताकुलान् स्वकान् ।

अन्तः श्रीमदाचार्याः सन्तु मत्त्वान्तगोचराः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा उपदिष्टसेवाया निर्दोषत्वाय सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धेन सेवाकर्तृणां २ पूर्वेषां देहजीवयोः दोषाणामकिञ्चित्करत्नमग्रे दोषासंसर्गोपायं च भगवदुक्तं निरूप्य, सेवाया आधिदैविकीत्वाय नवरत्ने चिन्तानिष्ठवृत्त्युपायकथनश्रुतेनोद्वेगाख्यप्रतिबन्धकनिष्ठचित्तप्रकारश्च निरूप्य तथा सेवाकरणे भगवत्प्राकृत्यस्यानुभावनदर्शनस्य चावश्यभावात्तस्मिन् सत्यपि यदा प्रारब्धादिवशात्पूर्वदोषोपोद्बलनं तदा पात्रस्य स्वल्पत्वान्महत्याः कृपायास्तस्मिन् माने तस्य स्वोत्कर्षस्फूर्तिं भगवदाज्ञाभङ्गादावपराधे जाते भगवतोऽपसन्नता भवेत्तथापि भगवद्धर्मरूपायाः सेवाया नित्यं क्रियमाणत्वान् 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाप्स्यपि,' इत्येकादशे भगवद्वाक्यात् सेवाया नाज्ञाभावेनापराधजनितपश्चात्तापोत्पत्तौ चिन्तासम्भवे क्रियमाणकरिष्यमाणसेवयोरनाधिदैविकीत्वं स्यादिति तन्निष्ठवृत्त्यर्थमस्मिन् ग्रन्थे विचारात्मकं साधनमुपदेष्टुं तत्र विश्वासाय स्वाख्यायिकां मध्ये वदिष्यन्तो 'मनोवशेन्ये ह्यभवंस्म देवा मनस्तु नान्यस्य वशं समेति, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्जाद्दशे तं स हि. देवदेव' इति भिक्षुगीतावाक्यान्मनस एव दुष्टवृत्त्युत्पादकतया तस्यैव साधनीयत्वं निश्चित्य स्ववाक्यश्रवणार्थं स्वीयानामन्तःकरणमेवाभिमुखीकुर्वन्ति । अन्तःकरणेत्यादि ।

अन्तःकरण मद्राक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यप्यन्तःकरणपदं स्वपरान्तःकरणसाधारणं तथाप्युपसंहारे 'भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेदि'तिफलकयनेन ग्रन्थकरणस्य तादर्थ्ये निश्चायिते परान्तःकरणबोधन एव तात्पर्यावगत्या स्वीयानां भक्तानामेव यदन्तःकरणं तद्ग्रहणस्यैवोचित्यात्तदेव ग्राह्यम् । श्रीगो-

१ (अन्तः-अपराधः) २ 'पूर्वेषां देहजीवयोः' इति स्वहस्ताक्षरपाठः । पूर्वेषां देहजीवयो-
शाणाम्' इत्यन्यप्रतिफलकेषु पाठः ।

कुलनायास्तु स्वसौभाग्यप्रदर्शनार्थं स्वीयानां भक्तिमार्गप्रदर्शनार्थञ्च श्रीमदाचार्यचरणैः स्वान्तःकरणमेव बोध्यत इत्याहुः । तथैवान्येपि सर्वे । श्रीरघुनाथास्तु स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामेवान्तःकरणं बोध्यत इत्याहुः । ममत्विदमेव रोचते । सौभाग्यप्रदर्शनस्य सुबोधिन्धारम्मस्येन 'अर्थं तस्य त्रिवेचितु'मिति श्लोकेनैव कृतत्वात्ततोधिकदर्शनस्य प्रकृतानुपयोगात् । भक्तिमार्गप्रचारार्थमाविर्भूतत्वेन भक्तान्तःकरणस्यैव साधनीयत्वादिति । तथाचायमर्थः । हे अन्तःकरण ? इन्द्रियान्तरदुर्जय ? त्वं मद्राक्यं 'योन्तर्बहिस्तनुभृतामि'त्येकादशीवाक्यादा 'चार्यचैत्यवपुषा' हुताशनरूपेण स्वर्गतिं व्यञ्जतो वस्तुतः कृष्णत्वेन चाप्ततमस्य मम वाक्यं वक्ष्यमाणं त्वद्वितकरं ग्रन्थरूपं सावधानतया शृण्वार्कर्णयेति । एवमभिमुखीकृत्य ब्रह्मसम्बन्धकरणपूर्वकसेवया स्वस्य व्रजभक्तमार्गीयत्वेन भगवदनुभावदर्शित्वादिना च स्वस्मिन्नुत्कर्षस्फूर्त्या भगवदाज्ञादौ व्रजस्यदृष्टान्तेन प्रमाद्यन्तं प्रति तदभावाय तेभ्योपि भगवत उत्कर्षं पूर्वं भावयितुमाहुः । कृष्णादिन्यादि । वस्तुतः श्रुत्यादिरूपतया निर्गुणसेवया च लोकवेदोक्तदोषवर्जितं दैवं प्राप्त-रासक्रीडानां देवीनां कदम्बकं कृष्णात्परं भिन्नं न । उत्कृष्टं वा न । 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु' इति तापनीयश्रुतेः, उत्कर्षस्य निरवधिसदानन्दरूपे भगवत्येव विश्रान्तेश्च । अतस्तदीयतया तद्दृष्टान्तेन स्वोत्कर्षं विभाव्य प्रौढ्या भगवदनभिप्रेतं न कार्यम् । तासामप्यागन्तुकदोषोत्पत्तौ ताः प्रत्यपि पञ्चाध्याय्यां 'प्रश्नमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति-वाक्येन भगवत्तिरोधानस्योक्तत्वादिति । अत्र भावनार्थकक्रियापदाभावाद्यद्यपि वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वं तथाप्यग्रे उपान्त्ये विचारयेति क्रियाया वक्ष्यमाणत्वादेतेष्वान्तरवाक्येष्वपि दूरतरापि सैव योज्या, न तु क्रियान्तरमध्याहार्यम् । 'दूरान्वयापेक्षयाऽध्याहारस्य गुरुत्वात्' । तथा चेति विचारयेत्यर्थः । एवमग्रे यथायोग्यं बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं प्रौढिहेतुं निवार्यैतस्य जीवस्य पुनस्तथात्वाभावाय दैन्यसिद्धयर्थं स्वभावतो निकर्षं बोधयितुं दृष्टान्तमाहुः । चाण्डालीत्यादि ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

प्रारब्धवशादितिदुष्टकुलोत्पन्नापि, केनचिद्गुणेन कथञ्चिद्राजपत्नी, राजा पतिर्यस्या-स्तादृशी, राज्ञः पत्नीव पत्नी, पतनात् पत्नी, राज्ञो भोग्या सती राज्ञा मानिता च जाता । तस्याः कदाचित् कालविशेषे अपमाने; अर्थाद्राज्ञा कृते वाशब्दादनपमानेपि मूलतो अपमानहेतुभूताचाण्डालीत्वादनपमानहेतुभूताद्राजपत्नीत्वाच्च का क्षतिः का हानिर्भवेत् ? न कापीति विचारयेत्यर्थः । एतस्य वाक्यस्याऽऽचार्यविषयत्वं यैरङ्गीकृतं; तत्पक्षे तु

* 'मृगयुरिव कपीन्द्र'मित्यादौ केशवशाद्यथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यैः स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृग्विचारफलमाहुः । समर्पणादित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणाद् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वसहितात्मनिवेदनाद्राजपरिग्रहस्थानीयात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सहजागन्तुकदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य; उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः काकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु; समर्पणादेवात्कृष्टो राजपत्नीत्वाच्चाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे राजकृताधमानतुल्यभगवदपसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ! । कतमा भवत्री ! । यतो यया कृत्वा; पश्चात्तापस्तज्जनितस्वेदविशेषो मे भवेत् ! । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजत्वात् । नाप्यभगवदीयरूपा; भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्दर्पस्य नित्यत्वात्; संसारावेशरूपस्य भगवत्प्रागकार्यस्याभावेनात्यागनिश्चयान्; तेनैवाग्रिमात्यागानुमितेश्च । अतो जातायामप्यपसन्नतायां पूर्वदशात् उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारं भगवत्पसादसाधनं दैन्यमप्युद्बुद्धं भविष्यतीत्यपसन्नतापि निवर्त्येत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुपदिश्य भगवतोऽप्रतिहतच्छत्रानुसन्धानाय भगवद्दर्पपुरस्कारेण तमुपदिशन्ति । सत्येत्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुव्यापकः, अन्तर्यामितया सर्वान्तः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयाव्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याकारकं तस्मादन्यथा प्रकाशान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मैत्यस्मद्भि-प्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियामकोपि; अतस्तेषां विकृतेच्छायां तदनुरोधं न करिष्यति, किन्त्वमोयसङ्कल्पत्वात्स्वालोचितमेव करिष्यति, तद्धितार्थम् । अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एवं

* (भमरगीते)

शङ्कानिरासादेतोः सततं प्रमादराहित्येन निरन्तरं; आज्ञैव कार्या । अन्यथा प्रमादेनाकरणे स्वामिद्रोहो महानपराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बध्यते ॥ ४ ॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकत्वेत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करिष्यतीति । स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम करिष्यति, पदर्थं यद्यदालोचितं तत् करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकरताय तेनोपदेशे विश्वासार्थं स्वाख्यायिकाद्युपदिशन्ति द्वाभ्याम् ।

आज्ञा पूर्व तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमप्रदेशे समीपे वा या आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने मथुरायामपि याज्ञा जाता, तद्वयं मया भगवता स्वात्मानुभावप्रकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थप्रकटनार्थं चाज्ञेन न कृतम् । तयोर्विषयः क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य परित्यागशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्यागविषयिणीति सिद्ध्यति । तदकरणे वीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु; श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि देहे त्यक्ते साज्ञा सिद्ध्यति; वाग्व्यापारस्य तद्धेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कलिप्रस्तानां विश्वासाभावात् । नापि भगवदेशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्वैनैतद्विचारप्रतिबन्धकत्वात् । तदेतदवधार्य आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः ; देशो दानम् ; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकभावैतौ शब्दावाज्ञायास्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वाज्ञासम्पत्तिदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाशस्यानभिप्रेतत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थताप्रसक्तावधिकार्यनधिकारिविभागभङ्गाद्यापत्तेः । इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्यात्याजनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाधवभट्टकाश्रीरिश्वरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्यै-

रनुमीयते । सोयमाचार्यैर्नावधारितः । न वाचार्याणां भगवदाज्ञार्थानवधारणकथनमयुक्त-
मिति शङ्क्यम् ; भक्तानां पञ्चाध्यायीस्यस्कन्धारोहणवाक्यार्थाज्ञानवत् सम्भवात् । तदा
तृतीयाज्ञा जाता । तद्विषयस्तृतीयपरित्यागः स लोकगोचरः । 'लोकस्तु भुवने
जन' इति कोशाज्जनविषयः । स च संन्यासेन भवत्येकचार्यनिकेतः स्यादित्यादिवाक्यैः
संन्यासे तथात्वात् । तत्र तादृश्यामाज्ञायां जातायां पश्चात्तापो मम जात इति शेषः । स
कथं केन प्रकारेणेति विचार्यमाणे, सेवकोहं; अहं सेवक इति सेवकत्वप्रकारेणाज्ञाभ-
ङ्गकरणहेतुकः । च पुनरन्यथा न, स्वचिकीर्षितकार्यासम्पूर्णादिहेतुको न । अतो
मत्कृत्यादिविचारेपि मत्सेवकत्वपुरस्कारेण विचारात् पश्चात्ताप एव युक्त इत्यर्थः ।

* 'आज्ञा पूर्वन्तु या जाते'त्यत्र । अत्रेदं बोध्यम् । प्राकट्यात् पूर्व हि 'अर्थे
तस्य विवेचितम्' इत्यत्रोक्ताज्ञा जाता, तदनन्तरमाज्ञाद्वयं देहदेशपरित्यागविषयं गङ्गासा-
गरसङ्गमे मथुरायाञ्च जातमिति । एवमाज्ञात्रयं सिद्धम् । तत्र श्रीमदाचार्येष्वतिकरुणत्वमस्ति
न वेति लोकानां संशयनिवारणार्थं पुष्टिमार्गस्यत्वात् स्वस्य वा तदर्थं प्राकट्यानन्तरमाज्ञाद्व-
यमतिकरुणत्वविरोधिजातम्, तदाज्ञाद्वयं स्वस्य भगवतश्च स्वाङ्गीकृतपुत्रेषु अतिकरुणत्वख्या-
पनार्थं न कृतम्, तत्कृतौ हि सर्वमाज्ञासं न स्यात्तेन च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्,
तेन चोभयस्य करुणत्वं न स्यात्, यदि तदेव न स्यात्तदा पूर्वं तदर्थं नाज्ञापयेत् ।
भगवान् स्वयं च नाविर्भूयात् । नत्वेवम् । अतः परीक्षार्थत्वात्मानःकरणगोचरा । अतो न
विशेषगत्यादि कृतमित्यर्थः । न च पूर्वयैव तत्सम्भवे किं देशत्यागविषयिण्या तयेति
वाच्यम्, क्रीडादेशे त्यक्ते विरहेण स्वयमेव देहं त्यक्ष्यन्तीति तेनातिकरुणत्वमेव परी-
क्षितं न भविष्यतीति भगवदभिप्रायः । श्रीमदाचार्यैस्तु तदपि तथैव ज्ञातमिति सापि न
कृतेति भावः । नन्वयमेवाशयो भगवतः श्रीमदाचार्याणाञ्च तथैव ज्ञानं जातं, इत्यत्र किं
मानमित्यपेक्षायां भगवदादिसर्वसम्मतं हेतुमाहुः । तृतीयो लोकगोचर इति । तद्व्यापे-
क्षया पूर्वमाज्ञासं सर्वोद्धारः लोकगोचर इति न किञ्चिद् अलौकिकं मानं वाच्यम् ।
किन्तु सर्वलोकप्रसिद्धमेव मानमित्यर्थः । एवं कृते पश्चात्तापः कथम् ? न कथमपि ।
यतः सेवकधर्मोन्तःकरणकमाज्ञाकरणम्, न चान्यथा तद्विरुद्धमित्यर्थः । अत एव
श्रीमदाचार्यैराज्ञासं विवेकधैर्याश्रये 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादित्यनेनेतिदिक् । (इति
स्वतन्त्रलेखः) ॥ ५-६ ॥

ननु युक्तोयं विचारस्तथापि पूर्वापराधजनितभगवद्प्रसन्नताया अनिष्टतौ भय-
रूपोयस्युद्देगः, स कथं निवर्त्ततामित्याज्ञाज्ञायां तदर्थं विचारान्तरमुपदिशन्ति । लौकिक-
प्रभुबदित्यादि ।

* श्रीपुरुषोत्तमचरणानामेवायं स्वतन्त्रलेखः । किञ्चित् स्वहस्ताक्षरैः । अत एवात्र विवेकितः ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

लौकिका हि प्रभवोपराधेनापसन्नाः कस्यचित्त्वसीदन्ति, कस्यचिन्न प्रसीदन्ति,
तद्वत् कृष्णो भगवान् कदाचन अवतारकालेऽनवतारकाले च न द्रष्टव्यः । अवतारकाले
'अहो बकीयमि'तिवाक्येन अनवतारकाले च वरणश्रुत्या 'प्रह्लादाय यदा दुःखेदनिष्येपि
वरोजितमि'ति देवान् प्रति भगवद्वाक्येन चापराधसन्तुत्वपूर्वकसत्फलदातृत्वस्य भक्ते कृपाव-
वस्य च सिद्धत्वात् । त्वया च सर्वं भक्त्या भगवते समर्पितमतो भक्तत्वात् कृतार्थोसि ।
'एवं धर्मैर्मुष्याणामि'तिवाक्ये भगवता भक्तौ जातायां निरवशेषायांसिद्धयनात् सर्वं
साधनरूपं फलरूपं चार्थं प्राप्तवानसि । अतः सुखी भव, दौर्भिनस्यनिवारणेन निष्टप्तो
भवेत्यर्थः । इयं चोक्तविचारात्मकाज्ञाकर्तुः प्रभुभिराञ्जीरेव दीयते ।

अतः परं विद्यमानेषु दैहिके सेवासामर्थ्ये पूर्वोक्तस्नेदेन वा देहाध्यासेन वा
कार्यान्तराभिनिवेशादिना वा दैहिकसेवायां प्रमाद्यन्तं प्रति पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति ।
प्रौढापीत्यादि ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

प्रौढा भर्तृसकलकार्ययोग्या तत्समर्थापि दुहिता यद्वत् यथा, स्नेहाद् इयं बाला
पतिपृष्टे महत्कार्यं कर्त्तव्यं तत् कुर्वन्ती श्रान्ता किष्टा च भविष्यतीति ज्ञात्वा वरं भृ-
तसमीपे न प्रेष्यते, तथा तद्वदेहे स्नेहात् सेवां विना स्वापनं न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः ।
वरस्तुष्यति नान्यथेति । अन्यथा प्रेषणविरुद्धे प्रकारान्तरे वरो न तुष्यति; तथा
शरीरेण सेवाया अकरणे भगवानपि न तुष्यति । एतस्य देहस्य भगवता स्वसेवार्थमेव
दत्त्वात्; 'भवाय नाशाय'ति पञ्चमस्कन्धीये वाक्ये तथैव प्रतिपादितत्वात् । अत एव
विचारेण पूर्वोक्तदोषाभ्यत्कृत्याज्ञासंसेवैव कार्येत्यर्थः ।

अथापराधेन प्रतिबन्धादिना वा देहस्य तदर्थतायां सन्देहे विचारान्तरमुपदि-
शन्ति । लोकवचेदित्यादि ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

लोका यथा संसारासक्ता नानास्वभावास्तत्र तत्र तेन तेन ज्ञासादिना प्रवर्त्तन्ते,
तद्वचेन्मे स्थितिः स्यात्; उक्तरीत्या पश्चात्तापो न स्यात् तदा किं स्यात्? लोक-
तुल्यतैव स्यात् । सा तु मे न जाता, अतो मद्गुपरि भगवान् दयां करोतीति विचारय ।

तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चिनुहि; निश्चित्य चाज्ञासं कुर्वित्यर्थः । एवमुक्त-
तया सेवाकरणेपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्त्राप्युपायमाहुः । अशक्य इत्यादि ।
पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भातं तदा हरिः स्मर्तेसर्वापहर्त्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मान्
परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य प्रपन्नसर्वापनिवारकत्वं वदन् रक्षकोस्तीति विचारय । कथ-
ञ्चन, केनापि पूर्वयुक्तेन कृतेनानुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं
ममातः परं किं भविष्यतीति मौढ्यात्मकमुद्देगं मा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव
सर्वोद्देगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारवाक्यश्रुतबोधोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्ष्मीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदासस्य हितं सुखसम्पा-
दकं बल्लभस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम् ; इति एता-
वत् शरणोपदेशान्तमेव नाधिकं; यदाकर्ण्य श्रुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोपि निश्चि-
न्ततामुद्देगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

अत्रैतत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाभ्यधिकराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायामपि
भगवदधीना एव भगवदभिन्नाश्चातः स्वस्य तन्मार्गीयत्वेपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य
भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेपि समर्पणादुत्कृष्यतीति कृपाबाहुल्येपि
स्वोत्कर्षो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सरयसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात्
सर्वदा तदाज्ञैव कर्त्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवत् स्वामिद्रोहात्मको
महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं सेवक इति मदनुसृतं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः
सेवकस्योचित इत्यतोप्याज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं प्रौढिः कर्त्तव्या ।
तैरपि स्वमोढ्या तथाकृतौ पश्चात्तापत्वस्यैवोक्तत्वात् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वमयुक्ताताया
एवोक्तत्वाच्च ।

(६) किञ्च; भगवान् न लौकिकप्रभुवद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भग-
वद्दर्परूपस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनानुभितायां

भगवदुक्ततद्दर्माचरणे उपक्रमदशायामपि फलतः साधनतश्च वैगुण्याभावस्योद्धवं प्रति
स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवतीति भावनीयम् । न तु सन्देग्यव्यम्, 'अज्ञश्चाश्रद्धानश्चे'ति
वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

(७) किञ्च; देहोपि प्रौढदुहित्रप्रेषणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु,
येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्त-
त्वात् । तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात् । यदि पुनस्तस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भव-
स्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो
हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तत्तरणोपायश्च प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव
गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-श्रीदश-ग्रन्थान्तर्गतो-अष्टमो

विवेकधैर्याश्रयः

चतसृभिः षटीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीरघुनाथानां दीपिका
२. श्रीगोपीशानां विवृतिः
३. श्रीगोकुलोत्सवानां विवृतिः
४. श्रीवजरायाणां विवृतिः

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-

पीठान्तर्गत-सप्तम-पीठाधिष्ठित-नित्यलीला-स्थित-

गोस्वामिश्री १००८ श्रीरमणजी-महाराजश्रीत्येतेषां-

-स्मृती-तदात्मजः-गोस्वामिश्री १००८

श्रीरघुनाथलाल-महाराजश्रीत्येतैः

प्रकाशितः

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीरघुनाथलालमहाराज
मनुभवन, भगतसिंह मार्ग,
पाले (पश्चिम) बम्बई.४०० ०५६. भारत.

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्री रमणजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

कब कहां और किस प्रसंगमें विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नहीं चलता.

वैसे तो विवेक धैर्य तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ट है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंके लिए विवेक धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही हैं. वास्तविकता तो यह है कि इन तीनोंकी कर्म ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है. 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोंमें श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं हैं अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित हैं.

यथा :

(१) विवेक = हरिः सर्वं निजेच्छातो करिष्यति

(२) धैर्य = त्रिदुःखसहनमामृते सर्वतः सदा

(३) आश्रय = ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः

इन्हीं पारिभाषिक अर्थोंमें विवेक धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामें उपयोगी बनते हैं.

कृष्णसेवामें प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन-किन परिस्थितियोंमें कृष्णसेवाकर्ताके लिए आवश्यक विवेक धैर्य या आश्रय को खो सकता है तथा किन उपायोंसे इनकी रक्षा सम्भव है आदि विषयोंका निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है.

सिद्धान्तमुक्तावलीमें उपदिष्ट सेवाके बाह्य अंगोंका निरूपण हमें सिद्धान्तरहस्यमें तथा आभ्यन्तर अंगोंका निरूपण नवरत्नमें मिलता है. इन्हीं बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोंकी सांगोपांगता विवेक-धैर्य-आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है. अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनके लिए भी विवेक-धैर्य-आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है.

इन विवेक धैर्य तथा आश्रय का परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है, जिसे भगवत्कृपासे आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धैर्य स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं, अन्यथा विवेक और धैर्य के बिना आश्रय दृढ़ नहीं हो पाता। हमारे अविवेक और अधैर्य हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं, अतः अपने जागृत विवेक तथा धैर्य के द्वारा अदृढ़ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होती है। इस तरह विवेक-धैर्य एक कोटी है तथा आश्रय दूसरी कोटी है।

यह आश्रय पुष्टिभक्तिका आवश्यक अंग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नहीं अपितु कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी मार्गोंका अनुकल्प है। कर्म-ज्ञान-भक्तिके अनेकविध उपायोंको दिखलानेके वावजूद भगवान्ने गीताके अन्तमें—“सर्वधर्मन्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज” के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक् शरणमार्गके रूपमें इसी आश्रयको समझाया है। भागवतके एकादशस्कन्धमें भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है—“तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च। मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्” अर्थः श्रुतिस्मृतिमें उत्सर्ग-अपवादके रूपमें कहे गये विधि-निषेध और तत्प्रेरित विविध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य-श्रुत विषयोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमें सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये।

यहां भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥

अर्थ : इस तरह आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दुःसाध्य होगये हैं।

कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर चल सकनेवाले जीवोंके लिए विवेक-धैर्य-आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्बल बन जाते हैं, जो इन मार्गोंपर चल नहीं पाते उनके लिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी !

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है :

यथा कथंचित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम् ॥

अर्थः जैसे भी जो भी छोटे-बड़े या अच्छे-बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा-शरण हैं, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये।

मूलतः गीतामें जिस तरह—“अहं त्वा सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच” या भागवतमें जिस तरह—“मया स्या ह्यकुतोभयम्” में भगवान्ने अपने श्रीमुखसे शरणागतोंको अभयदान दिया है वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक्-शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है। अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहां षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रयमें भगवत्सेवाके अंग-रूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं, जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अंग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमें एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है। अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक-धैर्य की रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी।

विवेक

विवेकके वैसे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं, यहां परन्तु ‘विवेक’का विवक्षित अर्थ इतना ही है कि जो कुछ जहां जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदुःखहारी भगवान् श्रीहरिकी अपनी इच्छासे ही हो रहा है, ब्रह्माण्डके सारे क्रिया-कलाप भगवान्की क्रीडाके अंग है, भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धि में यह भावना और धारणा सर्वदा ही बनी रहनी चाहिये, यही ‘विवेक’ कहलाता है।

“भगवान् सर्वसमर्थ हैं सर्वात्मा तथा सर्वान्तर्यामी हैं” ऐसे भाव भगवद् धर्मके विचारसे ‘विवेक’ कहलाते हैं, मैं भगवान्का अंश हूं, दास हूं, भगवत्क्रीडाका अंग हूं तथा मेरी अहन्ता-ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे ‘विवेक’ कहलाते हैं, इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हमसे चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा, हमारे भीतर चार प्रकारकी

वृत्तियां अविवेकके कारण घर कर जाती हैं. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह हैं :

- १) प्रार्थनाकी वृत्ति
- २) अभिमानकी वृत्ति
- ३) हठकी वृत्ति
- ४) आग्रहकी वृत्ति

१) हमें थोडा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोंको दूर करनेके लिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिके लिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानों भगवान् सर्वज्ञ सर्वा-न्तर्यामी या सर्वात्मा ही न हों ! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते हैं कि हमारी क्या अपेक्षाएँ हैं तथा किन कामनाओंकी पूर्तिमें हमारा हित निहित है और किनमें अहित. हम पहचान नहीं पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामें निवास करते ही हैं. अतः हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते हैं उसे जाने बिना हम मांगनेकी भूल कर बैठते हैं. हमारे हितमें ही परमात्मा कुछ हमें देता है या नहीं देता परन्तु हम हमारे हिता-हितके ज्ञानके बिना ही मांगनेकी बेसब्री कर बैठते हैं! अतः भगवान् सर्वज्ञ हैं सब कुछ देनेमें समर्थ हैं पर दंगे वही जिसमें हमारा हित निहित हो, ऐसे दृढ विश्वासको मनमें रख कर प्रार्थना—कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना—न करना विवेकका प्रथम लक्षण है.

२) यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुरुषार्थवादी अहंकारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वर-वादी अश्रद्धाकी मनोवृत्तिसे या कि कर्तव्य-विमूढ़ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नहीं है. अतः प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है. अभिमान केवल हमें अपने स्वामीका होना चाहिये—अपने पुरुषार्थपर या परमात्मासे भिन्न—किसी जड़शक्ति यथा प्रकृति काल कर्म स्वभाव माया शैतान आदिका नहीं. क्योंकि इनके कारण यदि कुछ सुख-दुःख हमें होता है तो वह भी परमात्माकी वैसी इच्छा होनेके कारण ही. अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते हैं. यह विवेकका द्वितीय लक्षण है.

३) मिथ्याभिमान तथा प्रार्थना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एक ऐसा हठीलापन पनप जाये कि सामान्य-विशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बैठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये. अभिमानत्याग तथा प्रार्थनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिकी हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है. भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने दैहिक स्वार्थोंकी पूर्तिसे प्रेरित नहीं होती. भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्तःकरणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे. ऐसी विशेष भगवदाज्ञाये अवसर—विशेषपर किसी भक्तविशेषसे किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करानेके लिए होती है. भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मुझे ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्य-ताकी हठको छोड़कर उस विशेष कार्यको सम्पन्न करना चाहिये.

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलेपनसे उसके साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड़ जाता है. अवसरविशेषपर स्वधर्म — भगवत्सेवा या उससे सम्बन्धित किसी कर्तव्य — को विशेष आयास-प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञाजन्य प्रेरणा जब हमारे अन्तःकरणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम यह भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई है. अतः हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुरुपयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है.

(४) एक बार किसी अवसर विशेषपर "सब कुछ भगवदिच्छाके अनु-सार होता है" इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नहीं हो जाता कि सिद्धान्तिक आग्रहोंसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये. व्यवहारमें सिद्धान्ततः क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये. तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये. अतः आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यरीतिको सार्वदिक माननेका आग्रह भी नहीं रखना चाहिये. अतः हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये. आग्रहसहित नहीं !

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है. इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपीशजीके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहां उप-

देश करते हैं, जिसे इनकी व्याख्यामें इन्होंने भलीभांति समझाया है. यहां विस्तारभयसे हम अनुवाद नहीं दे रहे हैं.

धैर्य

जन्मसे मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दुःखोंको सहन कर लेना धैर्य है. दुःखोंको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना—उनका प्रतिकार न करना. कभी एकाद दुःख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नहीं है. निरुत्तर सभी तरहके दुःखोंको सर्वदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है.

दुःख अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा—रोगादिजन्य कायिक या भौतिक दुःख होते हैं. कामक्रोधादिजन्य—इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दुःख होते हैं. सेवार्थ उपयोगी वस्तुओंके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दुःखोंको आधिदैविक दुःख कहा जाता है. इस तरह धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंके सम्पादनके लिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयास आध्यात्मिक तथा भगवदर्थ आयास आधिदैविक दुःख माने जाते हैं. कभीकभी काल-कर्म-स्वभाव-जन्य दुःखोंसे भी हम पीड़ित हो जाते हैं. इन सभी तरहके दुःखोंको सहन करना धैर्य कहलाता है.

धैर्य धारण करनेके चार उपाय होते हैं:

- १) अनाग्रह
- २) सहन
- ३) त्याग
- ४) असामर्थ्यभावना

१) दुःखोंको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दुःखी होनेके काम नहीं करने चाहिये. अपने प्रयत्नके बिना स्वतः भगवदिच्छासे दुःख दूर हो जाते हों तो जान-बूझकर दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नहीं है. अतएव समागत दुःखोंका प्रतिकार सहज-सरलतया हो जाता हो सहनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न होता हो तो विचलित भी नहीं होना चाहिये. यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है.

दुःख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण अधोलिखित कथाश्लोक द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है :

तक्रवत् धैर्यधारण

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजंगदष्टं
देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता ।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम् ॥

अर्थ : मुझे हठात् रनिवासमें पकड़ रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुंची तो सर्पदंशके कारण उसे भी मृत पाया. देश देशान्तरोमें भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनातेको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मैं कथञ्चिद् बच गयी. बचानेवाले ग्वालेकी पत्नी बनकर छाछ बेचती हूँ सो आज वह भी ढुल गई. अब बताओ कि कितने दुःखोंको रोऊं! इस छाछके ढुल जानेके दुःखको कहां तक रोऊं ?

जीवनमें एकसे बढ़कर दूसरे कष्ट आते हैं. किन-किनको रोया जाये और कब तक रोया जाये ? ग्वालेकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोंका विचार कर नित-नये आनेवाले दुःखोंको झेल जाती है. जब भी जैसे जीवन-यापनके अवसर सामने आते हैं, उन्हें स्वीकार लेती है. न तो दुःखसे विचलित होती है और न दुःखी बने रहनेकी निराशा या कुण्ठा से ग्रस्त ही होती है. न दुःखोंके आनेका कोई आग्रह और न दुःखोंके जानेका कोई आग्रह ! “प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्”.

२) धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है — दुःखोंको कष्टोंको या तिरस्कारोंको सह लेना. हमें यह सोचना चाहिये कि जो हमें कष्ट है वह अन्य किसीको भी हो सकता है. हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख भी हो सकता है. हमारी सुख-दुःखकी अनुभूतिके हम अकेले ही दावेदार नहीं हैं परन्तु अनेक दावेदार हैं. फिर अकेले हमारे उद्विग्न होनेकी क्या तुक है ?

देहवत् धैर्यधारण

देहः किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा ।

मातुर्पितुर्वा बलिनः क्रतुरग्नेः शुनोपि वा ॥

अर्थ : इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है ? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनक पिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधीन कर ले उसका, या धन देकर जो हमें खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी-कीट-पशु-पक्षियोंका !

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नहीं — इतने सारे हैं. सभीके किसी न किसी तरहके कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुड़े हुए हैं. ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता है ?

इसी तरह हमारे सुख-दुःखमें भी हमारे परिवार समाज राष्ट्र मानव-मात्र और प्राणिमात्र का कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही. फिर अकेले हमें ही अपने कष्टोंको असह्य क्यों मानना चाहिये ? किसीका कष्ट जैसे हमारे लिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख होगा. वनस्पतीका कष्ट बकरीका सुख है—बकरीका कष्ट सिंहका सुख है—सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि. अतः हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी असाधु पुरुषों द्वारा किया गया तिरस्कार हमें सह लेना चाहिये.

३) धैर्य धारण करनेका तीसरा उपाय है त्याग. त्यागका अर्थ है अपनी ओरसे सभी इन्द्रियोंके व्यापारोंको स्थगित कर देना. उन्हें काया वाणी और मन के अभिनिवेशसे मुक्त करना.

जडवत् धैर्यधारण

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमें बैठे हुए थे. जब राजाके सैनिक उन्हें पालकी ढोनेके लिए ले गये तो आनाकानी किये बिना पालकी ढोने लग गये. ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा गाली देने लगा तो वह भी मस्तीसे सुन ली. पूछनेपर बुद्धिमत्ता पूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोंमें पड़ गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर दिया !

इस तरह जडवत् व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है.

४) धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना.

गोपभार्यवत् धैर्यधारण

कृष्णके विरहमें गोपिकाओंने तथा अन्य भी व्रजवासियोंने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमें तथा मथुरा-गमनके प्रसंगमें भी. भगवान्पर जब बस नहीं चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नहीं रह जाता है.

इस तरह भगवद्विच्छाका और अपनी असमर्थताका विचार कर आधि-दैविक दुःखोंको सहन कर लेना चाहिये.

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नहीं लगते हों तो सर्वदुःखहर्ता हरिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि भगवान्के आश्रयसे अशक्य भी सुशक्य हो जाता है. सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं. इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये.

आश्रय

ऐहिक-पारलौकिक सभी बातोंमें सर्वथा एकमात्र हरिका ही सहारा स्वीकारना आश्रय कहलाता है. आश्रयकी दृढताके भी चार उपाय हैं:

- १) मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना
- २) कायिक वाचिक और मानसिक रूपमें अन्याश्रयका त्याग करना
- ३) मेघपर चातकके दृढ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ विश्वास रखना—स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान्पर कभी अविश्वास न करना.
- ४) सुखसे या दुःखसे जो भी मिल जाये उसका ममतारहित उपभोग करना.

१) हमारे जीवनमें अनेक प्रकारकी विषम स्थितियां सामने आती रहती हैं. जिन उद्वेगजनक परिस्थितियोंमें हम विचलित हो जाते हैं, उन परिस्थितियोंमें यदि हमारे मन और वाणी में हम शरणभावना बनाये रखें तो आश्रय दृढ हो जाता है. जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक कष्ट आते हैं. ऐसे समय बहुधा हम विवेक और धैर्य

निभा नहीं पाते. पर मन और वाणी में यदि शरणभावना बनाये रखनेमें सफल हो पायें तो आश्रय दृढ हो जाता है.

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पड़े--पापकी, भयकी, अपूर्ण कामनाओंकी, भक्तद्रोहकी, भक्ति-अभावकी या भक्तोंसे तिरस्कृत होनेकी-सभी स्थितियोंमें भगवद्शरणभावना एक कारगर उपाय है. जब किसी अशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब उद्वेग आशंका एवम् कुण्ठा के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं. जब कोई सुशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहंकार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं. कार्य चाहे अशक्य हो या सुशक्य भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन-वाणीपर बनी रहनी चाहिये. हमारा अहंकार जब प्रबल हो रहा हो — हमपर जो आश्रित हों उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या सम्बन्धी जन जब हमारे अहम्को ठेंस पहुंचा रहे हों अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हों, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है.

मानसी सेवा, व्यसनदशा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभव योग्य अलौकिक मनकी सिद्धिके लिए भी एकमात्र श्रीहरि ही हमारी शरण होते हैं. मनवाणीसे निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्रका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये. यह आश्रयको दृढ करनेका प्रथम उपाय है.

२) काया वाणी और मन से अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये. श्रुतिमें नित्यकर्मके रूपमें विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका स्वतः चलाकर — निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है. कहीं जाते समय मार्गमें किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूसरी बात है, अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मंदिरमें जाना अन्याश्रय है. मार्गसे जाते हुए अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो नमनद्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नहीं है. किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है. 'अन्यदेव' का अर्थ है — भगवान्के ऐसे देवरूप कि जिनकी पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है. अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ हो जाता है.

३) भगवान्पर अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये--सर्वदा चातकका सा दृढ विश्वास रखना चाहिये. लंकामें हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बांधा गया तब स्वयम् बांधनेवाले राक्षसोंको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अतः वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अर्गला से बांधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनों ही बन्धनोंको तोड़कर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये. जल बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिविन्दुके बारेमें कभी खण्डित नहीं होता. ऐसा दृढ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये. दृढ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ होता है.

४) हमें जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके ममतारहित उपभोगका व्रत यदि हम लेलें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही. इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उपभोगसे भी भगवदाश्रयकी दृढता सिद्ध होती है.

उपसंहार

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढता अपेक्षित है. छोटे-बड़े अच्छे-बुरे किसी भी तरहके कार्योंको करते हुए यदि हम शरणभावनाको हृदयमें जगाये रखनेमें सक्षम हो जाते हैं तो अन्य सारी बातें शनैःशनैः स्वतएव सिद्ध होने लगेंगी. इस तरह हमने देखा कि कलियुगमें भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दुःसाध्य हो गया है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कर्म ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही हैं. परन्तु जो जीव इन मार्गोंपर चर नहीं पाते या चलते हुए थक कर बैठ जाना चाहते हैं, उनकी साधना अधूरी रह जाती है. पर थके हुए या बिन थके जो जीव भगवान्के चरणोंमें बैठ जाते हैं, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुंच जाते हैं. भगवान्के चरण या शरण अपने आपमें मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी. "एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्..."

प्रस्तुत विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ वि. सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. वह संस्करण श्रीमद्-गोस्वामिकुल-भूषण-विद्यानिधि-श्रीब्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा प्रकाशित हुआ था. सम्पादन श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीजीने किया था. इन दोनों महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं.

ઉ દા હા ર

—:—

આ અન્ય ધોડશઅન્યમાં ફલ અન્ય છે. જેમ શ્રીકૃષ્ણાશ્રય છે, તેમ આ પણ વિવેકધૈર્ય પૂર્વક આશ્રયનું નિરૂપણ કરે છે. કાઈ વિવેક ધૈર્ય આશ્રય આ ત્રણે દૈવ્યકવત્ ભક્તિમાં ઉપયોગી હોવાથી આ ત્રણે સરખા પ્રાધાન્યમાં છે. એમ માને છે. કાઈ વિવેક ધૈર્યને સાધન માની આશ્રયને ફલ માને છે. કાઈ સેવાપ્રવૃત્તિ જીવને આશ્રયપૂર્વક વિવેકની અને આશ્રયપૂર્વક ધૈર્યની આવશ્યકતા છે એમ બતાવી આશ્રયને વિવેક ધૈર્યનો નિર્વાહક માને છે. વસ્તુતસ્તુ આ વિવેક ધૈર્ય આશ્રય ત્રણેનું નિરૂપણ કરી અંતમાં ભક્તિદાદિ માર્ગ દુઃસાધ્ય હોવાથી જીવને માટે મુખ્ય શરણુમાર્ગને દર્શાવનાર આ અન્ય છે. વિવેક ધૈર્ય સાધન છે. આ મુખ્ય શરણુમાર્ગ નિબંધમાં “જગન્નાથે ચિટ્ટલે ચ” આ શ્લોકમાં દર્શાવ્યો છે, તેજ શરણુમાર્ગનું શ્રીમદ્દાયાયેચરણુ આ અન્યદ્વારા વિવરણુ કરે છે. આ શરણુમાર્ગ ત્રણે માર્ગને ઉપકારક છે. કર્મ, જ્ઞાન, અને ભક્તિને ઉપકારક છે. પ્રવાહપુષ્ટિ, મર્યાદાપુષ્ટિ, પુષ્ટિપુષ્ટિ, આ ત્રણેમાં મુખ્ય પ્રપત્તિમાર્ગ ઉપકારક છે, અને અનુકલ્પરૂપ પણ છે. અનુકલ્પમાં ગૌણકલ્પ અને પ્રતિનિધિ બે અર્થ સમાયા છે. મુખ્ય શરણુ માર્ગ છે. પરંતુ તેને છોડી તે તે સાધનમાં રહેવું. અથવા આ કળિમાં સર્વ નષ્ટ થવાથી ત્રિકાળ અબાધિત સ્થિર શરણુમાર્ગ ગ્રહણુ કરવો, એમ અનુકલ્પમાં ઉભય તરફ જવાય છે. આશ્રય એજ મુખ્ય પ્રપત્તિ માર્ગ છે. તેનું જ આ અન્યથી નિરૂપણ છે. માટે શ્રીમહાપ્રભુજીનું જ “વૃથક્ષરણમાર્ગોવેદ્યા” નામ સાર્થક થાય છે. શરણુમાર્ગનું સ્વરૂપ યદપિ સુખોદિનીજીમાં છે. પરંતુ તેને શ્રીમજરાજચરણ સંકીર્ણુ કહે છે. અને નિબંધમાં છે તે સંક્ષેપ છે. એમ કહી સ્વતંત્રતાથી શરણુ નિરૂપણુ કરનાર આ અન્ય છે. એમ સ્વીકારે છે.

વિવેક ધૈર્ય અને આશ્રય ત્રણે મળી સેવાને આધિદૈવિકી બનાવે છે. એટલું જ કાર્ય આ અન્યમાંથી નિકળે છે, એમ નથી, પરંતુ તે ઉપરાંત વિવેકાદિનાં લક્ષણુ સમજી તેના સર્વ સ્વરૂપોને જીવનમાં ઉતારવામાં આવે તો ગીતામાં કહેલા દૈવી જીવનને અનુરૂપ પરમ ભગવદીય થયા વિના ન રહે, એવા વ્યવહારિક ઉપદેશની પણ અંદર યુંચણુ કરી છે. સર્વેશં સર્વદા હિતમ્ આ આશ્રયણુ મહાન પ્રપત્તિમાર્ગ સર્વને સર્વકાલમાં હિતકારી છે, આશય એજ છે કે ગમે તે પ્રાણી આ માર્ગે તરી શ્રીપુરુષોત્તમલીલાસાસ્વાદમાં અધિકારી થાય છે.

સુરત.
મોટામંદિર.

શ્રીમદ્ગોસ્વામિકુલભૂષણુ શ્રીમજરત્નલાલજી મહારાજ વિધેય,
શાસ્ત્રી ચીમનલાલ.
“સાહિત્યભૂષણુ” “શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન”

ઉપકારસ્મરણ.

—:—

આ વિવેકધૈર્યશ્રય માટે નીચે પ્રમાણુ પ્રતિ ઉપલબ્ધ થઈ હતી.

(૧) શ્રીરઘુનાથચરણવિદ્યુતિ—

૧ ક.	ગો. શ્રીજીવનેશાયાર્યાત્મજ શ્રીરણુજીડલાલજી, કોટાના તરફથી મળેલી-મુદ્રણુમાં આસ ઉપયોગી	શુદ્ધ છે. વાંચેલી અને પ્રાચીન છે. પ્રાય: શુદ્ધ અપૂર્ણ અશુદ્ધ
૨ જ.	” ” ” ” ” ”	અપૂર્ણ અશુદ્ધ
૩ ગ.	ગો. શ્રીમજરત્નલાલજી મહારાજ, સુરત તરફથી મળેલી	પ્રાય: શુદ્ધ
૪ ઘ.	શ્રીગદુલાલજીની સંસ્થાની શ્રીયુત મૂલચન્દ્ર તેલીવાળા તરફથી... ..	પ્રાય: શુદ્ધ પ્રાચીન

(૨) ગો. શ્રીમજરત્નલાલજી-શ્રીગોપીરાજી મહારાજકૃતવિદ્યુતિ

૧ ક.	ગો. શ્રીરણુજીડલાલજી મહારાજ તરફથી	શુદ્ધ વાંચેલી, નૂતન
૨ જ.	” ” ” ” ” ”	” ” પ્રાચીન
૩ ગ.	જીનાગઢની, ગો. શ્રીગોપીરાજી મહારાજ તરફથી	નૂતન, પ્રાય: શુદ્ધ
૪ ઘ.	ગો. શ્રીરણુજીડલાલજી મહારાજ તરફથી સં. ૧૮૫૮	પ્રાચીન પ્રાય: શુદ્ધ
૫ ઙ.	ગો. શ્રીમજરત્નલાલજી મહારાજ સુરત તરફથી	અપૂર્ણ
૬ ચ.	” ” ” ” ” ”	વાંચેલી શુદ્ધ
૭ છ.	” ” ” ” ” ”	અપૂર્ણ
૮ જ.	શ્રીગદુલાલજીની, શ્રીયુત મૂલચન્દ્ર તેલીવાળા તરફથી	પ્રાય: શુદ્ધ
૯ ઝ.	” ” ” ” ” ”	” ”
૧૦ ઞ.	ગો. શ્રીગોપીરાજી મહારાજ મુંબઈ તરફથી	અશુદ્ધ
૧૧ ટ.	” ” ” ” ” ”	નૂતન પ્રાય: શુદ્ધ
૧૨ ઠ.	ગો. શ્રીમજરત્નલાલજી મહારાજ સુરત તરફથી	વાંચેલી શુદ્ધ

(૩) શ્રીગોવિન્દરાયાત્મજશ્રીગોકુલોત્સવવિદ્યુતિ.

૧ ક.	ગો. શ્રીરણુજીડલાલજી મહારાજ મુંબઈ તરફથી... ..	પ્રાય: શુદ્ધ પ્રાચીન
૨ જ.	” ” ” ” ” ”	શુદ્ધતર વાંચેલી પ્રાચીન
૩ ગ.	ગો. શ્રીરણુજીડલાલજી મહારાજ મુંબઈ તરફથી... ..	શુદ્ધતર સં. ૧૭૭૦
૪ ઘ.	” ” ” ” ” ”	”
૫ ઙ.	ગો. શ્રીમજરત્નલાલજી મહારાજ સુરત તરફથી	”
૬ ચ.	” ” ” ” ” ”	શુદ્ધ-નૂતન

૭ છ. શ્રીયુત ગૃહલાલજીની રા. મૂલચન્દ્રભાઈ તરફથી ...	વાચિત પ્રાયઃ શુદ્ધ પ્રાચીન સં. ૧૮૮૩
૮ જ. ગો. શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ મુખ્ય તરફથી ...	વિચ્છિન્ન વાચેલી
(૪) શ્રીદયામલાત્મજ-શ્રીવ્રજરાજચરણવિરચિતવિવૃત્તિ.	
૧ ક. ગો. શ્રીરણુછોડલાલજી મહારાજ મુખ્ય તરફથી શ્રીપુસ્પે-તમજીએ સ્વહસ્તાક્ષરથી લિખિત, મુદ્રણુકાર્ય આજ ઉપરથી,	શુદ્ધ મય પ્રાચીન
૨ જ. ગો. શ્રીરણુછોડલાલજી મહારાજ મુખ્ય તરફથી ...	પ્રાયઃ શુદ્ધ વૃત્તન
૩ ગ. " " " " " " ...	" " પ્રાચીન
૪ ઘ. " " " " " " ...	પ્રાચીન વાચેલી પ્રાયઃ શુદ્ધ
૫ ઙ. ગો. શ્રીમગ્નલાલજી મહારાજ મુખ્ય તરફથી ...	વૃત્તન, શુદ્ધ
૬ ચ. ગો. શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ " " ...	વૃત્તન
૭ છ. "ગુજરાતી" પ્રેસના મેનેજર શ્રીયુત નટવરલાલ ઇચ્છા-રામ તરફથી ...	અશુદ્ધ

ઉપર પ્રમાણે અનેક પ્રતોથી આ મુદ્રણુ કાર્ય કર્યું છે; ઉપર શ્રીગોકુલોત્સવજીની ટીકા ઉપર ચાર પાંચ પ્રતિમાં આરંભાન્તમાં પણ શ્રીગોકુલનાથજી કૃત એમ લખે છે. પરન્તુ તે અસંભવિત છે. શ્રીગોકુલનાથજીની ટીકા જ આ ગ્રન્થ ઉપર નથી. શ્રીવ્રજરાજચરણ પોતાની પાછળના ત્રણ ટીકાકારોનો ઉલ્લેખ પોતાની ટીકામાં કરે છે. શ્રીરણુનાથજી શ્રીગોપીશજી અને શ્રીગોકુલોત્સવજી એમ ક્રમશઃ જણાવે છે. તેથી આ ચાર જ ટીકા આ ગ્રન્થ ઉપર છે. એમ નિશ્ચય થાય છે. આ સામ્પ્રદાયિક કાર્યથી આ ગ્રન્થની જે પ્રતિ અનેક સુંદર પ્રતિઓ આપી, તે બદલ હું તો સર્વથા ઋણી છું, આ પ્રતિઓ જોડે ગ્રન્થ મેળવવા માટે રા. રા. શ્રીયુત ઇશ્વરલાલ મગ્નલાલ શાહ તથા હેડ માસ્તર સાહેબ-પ્રભુદાસ-ભાઈ અને રા. રતિલાલભાઈ હંમેશાં નિયમિત સાહાય્ય કરતા, વસ્તુસ્તુ સુરતમાં કાર્ય કરવાનું ધણું જ સારવ્ય થયું છે. શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ પોતે વિદ્યાવિલાસી હોવાથી ગ્રન્થમુદ્રણુ પ્રતિબંધનવૃત્તિપૂર્વક અનુકૂલસાહિત્યસમ્પાદન કરવામાં સ્વયં સમુત્કણ્ડ રહે છે. જે મહારાજશ્રી સાથે પરદેશમાં ફરવાનો અનુબંધ ન હોય તો ગ્રન્થો જે વિલંબથી પ્રકટ થાય છે તે ન થતાં સત્વર આવિર્ભાવ પામે. સાથે મુદ્રણુલય પણ ચોમાસાના તહેવારોને ભોગ થવાથી વિલંબમાં લાગીદાર થાય છે, આ વસ્તુસ્થિતિએ પણ અત્ર સુરતમાં સ્થાયી પાણમાસ મળતાં શ્રીમયુનાઈક શ્રીબાલભોધ-શ્રીવિવેકધૈયાશ્રય, આ ગ્રન્થ આપી શકાય છે. આગ્રન્થથી શિકારપુરના તરફથી આર્થિક સાહાય્ય મળી છે. શ્રીયુત શેઠજી હરિરામભાઈ તરફથી આ ગ્રન્થ માટે તેમજ આર્થિક સાહાય્ય અપાવા આયાસ કર્યો હતો.

સુરત. મોટામંદિર. }

શ્રીમનલાલ હરિશંકર શાસ્ત્રી.

વિવેકધૈયાશ્રયઃ ।

વિવેકધૈર્યે સતતં રક્ષણીયે તથાશ્રયઃ ।
વિવેકસ્તુ હરિઃ સર્વં નિજેચ્છાતઃ કરિષ્યતિ ॥ ૧ ॥
પ્રાર્થિતે વા તતઃ કિં સ્યાત્ સ્વામ્યભિપ્રાયસંશયાત્ ।
સર્વત્ર તસ્ય સર્વં હિ સર્વસામર્થ્યમેવ ચ ॥ ૨ ॥
અભિમાનશ્ચ સંત્યાજ્યઃ સ્વામ્યધીનત્વભાવનાત્ ।
વિશેષતશ્ચેદાજ્ઞા સ્યાદન્તઃકરણગોચરઃ ॥ ૩ ॥
તદા વિશેષેત્યાદિ ભાવ્યં ભિન્નં તુ દૈહિકાત્ ।
આપદ્વત્યાદિકાર્યેષુ હઠસ્ત્યાજ્યશ્ચ સર્વથા ॥ ૪ ॥
અનાગ્રહશ્ચ સર્વત્ર ધર્માધર્માગ્રદર્શનમ્ ।
વિવેકોડન્યં સમાખ્યાતો ધૈર્યં તુ વિનિરૂપ્યતે ॥ ૫ ॥
ત્રિદુઃખસહનં ધૈર્યમા મૃતેઃ સર્વતઃ સદા ।
તત્ક્રવદ્દેહવદ્ધાન્યં જહવદ્ગોપભાર્યવત્ ॥ ૬ ॥
પ્રતીકારો યદ્દેચ્છાતઃ સિદ્ધશ્ચેન્નાગ્રહી ભવેત્ ।
માર્યાદીનાં તથાન્યેષામસતશ્ચાક્રમં સહેત્ ॥ ૭ ॥
સ્વયમિન્દ્રિયકાર્યાણિ કાયવાહ્મનસા ત્યજેત્ ।
અશૂરેણાપિ કર્તવ્યં સ્વસ્યાસામર્થ્યભાવનાત્ ॥ ૮ ॥
અશક્યે હરિરેવાસ્તિ સર્વમાશ્રયતો ભવેત્ ।
એતત્સહનમત્રોક્તમાશ્રયોસ્તો નિરૂપ્યતે ॥ ૯ ॥
એહિકે પરલોકે ચ સર્વથા શરણં હરિઃ ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
 भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।
 अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥
 अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
 पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥
 अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्था शरणं हरिः ।
 एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥
 अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
 प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥
 अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
 ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥
 यथाकथंचित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
 किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भारयेद्वरिम् ॥१६॥
 एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
 कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥१७॥
 इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो विवेकधैर्याश्रयः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीरघुनाथचरणप्रकटिता दीपिका ।

स्वगोकुलपरित्राणसम्भ्रमेणोद्धृताचलम् ।

क्रीडद्रोपाङ्गनापाङ्गसङ्गिगोपालमाश्रये ॥ १ ॥

मन्मानसेऽस्तु सततं श्रीविद्वल्लपदाम्बुजम् ।

संसारभयभीतानां यत्स्मृतिर्भयनाशिनी ॥ २ ॥

अथ भगवन्मार्गप्रवृत्तानामेकान्तिकभक्तानां भक्तिं सिसाश्रयिषूणां तस्साधनो-
पायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षणलक्षितान् विवेकुमादौ तानसाधारणस्वश-
ब्देन निर्दिशन्ति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

रक्षणीये स्वीकार्ये । तत्र विवेकादयः कीदृशा इति स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमो-
द्दिष्टस्य विवेकस्य फलितस्वरूपमाहुर्विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति ।
तुशब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । अन्यथाऽप्रमाणिकत्वं स्यात् । हरति त्रिविधमपि भक्तदुःख-
मितिव्युत्पत्त्या सकलदुःखहारिसमभिव्याहारिहरिपदेन, 'भगवान् करिष्यति न वे'त्यवि-
श्वासो निरस्तो वेदितव्यः । हरिपदनिर्वचनन्तु महाभारते स्फुटम् । तद्यथा, 'हराम्यघं
हि स्पर्तूणां हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिश्चेष्टस्तस्माद्दरिद्रं स्मृत' इति । सर्वमैहिकं
पारलौकिकं निजेच्छातो जीवाहृष्टप्रयत्नादिनिरपेक्षाकौकिकस्येच्छात इत्यर्थः । एवं
वाक्यार्थानुसन्धानेन स्थेयमिति तात्पर्यम् ।

'ननु लोके भगवद्भक्तानामपि प्रौढदुःखदूरीकरणार्थं भगवान् प्रार्थनीय एव ।
तस्मादश्रयार्थोपदेश एवायं पञ्जोर्गिरिलङ्घनवद्विवेकोपदेश इत्यत आहुः ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

वेति विकल्पे विवेकास्फूर्तिदशायाम् । ततः प्रार्थनातः किं स्यात् किमपी-
त्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां, स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । स्वामी प्रभुः, तस्याभिप्रा-
यस्य चिकीर्षितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् संशयो भवत्येव । यत्र 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः
संस्काराः प्राक्तना इवे'त्यादिषु लौकिकप्रभवभिप्रायोपि पूर्वं ज्ञातुमशक्यस्तत्र किं वाच्य-
मलौकिकप्रभोरभिप्रायस्येति । ननु भक्तेच्छापूरणाय भगवानशक्यमप्यर्थं सम्पादयति,
तच्च, बह्वायाससाध्यरूपदादिवद्भगवतोपि कदाचित् स्यादिति तदर्थं पुनः पुनः प्रार्थ-
नया भगवान् स्मार्यते । (भगवतस्तत् कार्यं स्मार्यते) इत्यत आहुः सर्वत्रेति । सर्वस्मिन्
काले देशे च यत्किञ्चिद्द्रुस्तुमात्रं तत्सर्वं तस्य भगवत एवेत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धौ ।
सा च 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभव' इत्यादिषु ज्ञेया । ननु भक्तार्थं भगवतोप्यकालवस्तु-
सम्पादनमायाससाध्यं भविष्यतीति चेत्त्राहुः सर्वसामर्थ्यमेव चेति । न हि भगवतोपि
कालमपेक्ष्यैव कार्यकरणं सम्भवति, प्रत्युत कालस्यैव भगवदधीनत्वाज्जन्यत्वाच्च तत्सा-
पेक्षत्वम् । चकारात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमपि द्योत्यते ॥ २ ॥

कदाचिदत्यन्तापेक्षितमपि कार्यं भगवान्न करोति, तेन भक्तमनस्यभिमानो भवेन्मया
भजनार्थमपि प्रयत्नो न कर्तव्य इति, तन्न कार्यमित्याहुरभिमानश्च सन्त्याज्य इति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावेनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

चकारात् कार्यानिष्पत्तिनिमित्तग्लानिरपि । समित्यनेन बाह्याभ्यन्तरभेदराहि-
त्येन त्यागः सूचितः । ततो हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । सर्वस्वनिवेदनेनान्तः-
करणमपि निवेदितमेव । अभिमानश्चान्तःकरणधर्मः । स च सुतरां न कार्य इतिभावः । एवं
स्वतः कार्यमात्रं न कर्तव्यमिति प्राप्ते भगवदाज्ञायां विशेषमाहुर्विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादिति ।
देहसम्बन्धि देहनिर्वाहकं कार्यं दैहिकमित्युच्यते । तच्च, सर्वदाप्यनिषिद्धमेव ।

विशेषतो विशेषनिमित्तात् विशेषकार्यकरणार्थमिति यावत् । सापि न बाह्यतः,
किञ्चान्तःकरणगोचरोन्तःकरणपूर्विका यदि स्यात्, तदैव दैहिकाद्भिन्नं विशेषग-
त्यादि भाव्यं कार्यमित्यर्थः । गतिपदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते । आदिपदेन प्रार्थनमपि
कार्यमध्ये क्वचित्सम्भवति चेत् तत् कर्तव्यमेवेति सूच्यते । ननु विशेषाज्ञायामपि यद्यपि-

त्कालादिवशाद् भगवदाज्ञाकार्यानिष्पत्तिस्तदापि किं भगवदाज्ञापतिकृत्वा प्राणादि-
भयं सोढ्वापि हठेनाशक्यमपि कार्यं कर्तव्यमेवेति नेति प्राप्त आहुरापद्रत्यादिकार्ये-
ष्विति । भगवदीयानामेवंविधदशामाप्तौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाज्ञोल्लङ्घनदोषोपि न
भवतीतिज्ञेयम् । 'गति'शब्देन प्राप्तिरुच्यते । 'आदि'पदेनाशक्यार्थ उच्यते । तेनाऽऽपत्का-
लीनाशक्यकार्येष्वपि सर्वेषु हठ आग्रहः सर्वथा सर्वप्रकारेण त्याज्यः । चकारादापन्नि-
वृत्तौ पुनराग्रहः स्वीकार्य एवेत्यर्थः, यद्वा, आपद्रतिरादियेषु कार्येषु कृतेषु भवति
तेष्वग्रहो न कार्य इति । भगवदनुक्तेष्वपि कार्येष्वनापद्यपि स्पृहा न कार्येत्याहुरनाग्रहश्च
सर्वत्रेति । कर्तव्यान्तरमप्याहुर्धर्मधर्माग्रदर्शनमिति । धर्मश्चाधर्मश्च तयोरग्रं पर्यवसि-
तफलं तद्दर्शनमप्रमादेन तदनुसन्धानम् । विहेतेपि कार्ये यस्मिन् कृते स्वधर्मत्यागः सम्भा-
व्यते, तन्न कार्यम्, स्वधर्मत्यागस्याधर्महेतुत्वात् । स्वधर्माविरोधिनश्च धर्महेतुत्वात् तत्का-
र्यमितिभावः ॥ ४ ॥

उपसंहरन्ति—

विवेकोयं समाख्यातः

क्रमप्राप्तं धैर्यं निरूपयन्ति—

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणां दुःखानां समाहारस्त्रिदुःखम् । दुःखस्य त्रिविधत्वं त्वाधिभौतिकादिभे-
देन कायिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैर्वा । तस्य सहनं तत्प्रतीकारं विनानुभवः ।
तदप्यामृतेः । मृतिर्मरणं वर्तमानदेहत्यागः, तं मर्यादीकृत्य । तदपि न यत्किञ्चित्
परिगणितनिमित्तात्, किन्तु, सर्वतो भगवदिच्छातो यद्यदुपस्थितं तत्तत्सर्वं सोढव्यमे-
वेतिभावः । तदपि न कालनैयत्येन, किन्तु सर्वदा । आमृते'रित्यनेन सार्वकाली-
नत्वे सिद्धेपि सर्वदेति पुनः स्पष्टार्थं वचनम् । नन्वनवरतदुःखसहनेन शरीरशोषात्
तन्नाशोपि स्यात्, तन्नोचितमिति न दुःखं सोढव्यमिति चेत्त्राहुस्तक्रवद्देहवद्भाव्य-
मिति । देहानौ शोको न कार्य इत्यर्थे प्राक्तनं दृष्टान्तत्रयं ज्ञेयम् । तच्च त्रयं, तक्रव-
ज्जडवद्गोपभार्यवदिति । अन्वयस्तु, देहवता भाव्यं देहवद्भाव्यम् । तच्च देहवता पुरुषेण
शरीरादिकमेवात्मीयत्वेन भाव्यमनुसन्धेयं दृश्यते, तादृशन्तु न कार्यम् । तत्र कीदृ-
गनुसन्धानं कार्यमित्यपेक्षायां तत्रादिषु यथा तेषामनुसन्धानं तथा स्वदेहेपि कार्य-
मित्यर्थः । तत्राख्यायिका तु, "हत्वा नृपं पतिमपेक्ष्य भुजङ्गदष्टं देशान्तरे विधिवशाद्-

णिकापि जाता । पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्” इत्यादौ प्रसिद्धा । जडो जडभरतस्तदारुणायिका पञ्चमस्कन्धतोऽवगन्तव्या । गोपैश्चिरयते धार्यते पोष्यते वेति गोपभार्यो, (देहः) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः प्राकृतो देहस्तदपगमे यथा गोपीनां न शोकस्तथा स्वदेहेपि कार्यमित्यर्थः । अत्र गोपभार्याशब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽप्रतिकारस्तथा तदिच्छाप्राप्ते स्वप्रयत्नं विनैव दुःखप्रतीकारेपि मम सुखं मास्त्विति बुद्ध्या दुःखाभावसम्पादकहेतुनिवृत्तावाग्रहं न कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यदृच्छात इति ।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोष्यवर्गाणां, अस्तस्य भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिष्कृष्टस्य सदोषस्याप्याक्रमं तत्कृततिरस्कारमपि सहेतेत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्मैपदं ‘सह मर्षण’ इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि, तथापि सहनं सह इति व्युत्पत्त्या ‘अच्’प्रत्यये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्याचरतीति वा परस्मैपदं ज्ञेयम् ।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वप्रयत्नं विनैव सुखदःखादेः सहनमुक्तमिदानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अश्रूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि । तत्तदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः । तं तु कायेन वाचा मनसा त्यजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्यत्र द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनं ज्ञेयम् । दुःखं शोडुमशक्तेनापि तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहत्य धैर्यमेव । तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्यभावात् । भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वप्रकारेणाशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमाश्रित्य तिष्ठतः सर्वमैहिकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः ।

उपसंहरन्ति-एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रममाप्तमाश्रयं निरूपयन्ति-आश्रयोत इति । अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । आदौ फलितं रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते । परोऽस्मादन्यः, अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः । चकाराद्भगवदिच्छया कदाचिन्नरकभोगः सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं मयेति चित्ते निश्चित्य स्थेयमित्यर्थः । भगवद्गीतानां नरकः स्वर्गादिरेव नतु तामिस्रादिः । अत एव विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्” सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्युच्यते । तानि निमित्तानि ‘दुःखहानौ,’ इत्यारभ्य ‘सर्वथा शरणं हरिरिति’त्येतत्पर्यन्तोक्तानि ज्ञेयानि । दुःखस्य हानौ प्राप्तायामपि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र योज्यम् । पापे प्रारब्धवशाज्जाते, भये शत्र्वादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेपि, अन्यत्र भक्तिदृष्टा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहामात्रेपि, भक्तैः स्वस्यातिक्रमे कृतेपि तेषु प्रातिकूल्यं न कार्यमितिभावः । अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुमयोग्येऽर्थे, सुशक्येऽनायासेन कर्तुमयोग्येऽर्थे, उभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थः । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहङ्कारेण कृतेऽपि । चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः । पोष्यवर्गस्य देववशादतिक्रमे सति । अन्तेवासी भगवन्मार्गजिज्ञासुः शिष्यः । सर्वार्थे सर्वस्मिन्मुक्तानुक्तरूपेऽपि हरिरेवाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तसप्तमी । तेनालौकिकमनःसिद्धयर्थमेव सर्वार्थे हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवसितः । एवमिति । विवेकादीनां स्वरूपं यादृशमुक्तं तादृशं

सदा चित्ते सम्यगनुसन्धयेम् । वाचा च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परि-
कीर्त्तयेत् परितः सर्वतः कीर्त्तयेत् । चकारात् कायव्यापारयोग्यं कुर्यादपि ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

यथाकथञ्चिःकार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्यस्य भजनं तत्रेति । तत्र तस्मिन्नाश्रयरूपेण सम्पन्ने, अन्यस्य भगवद्भ-
क्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं स्वस्यानाकारितस्य स्वस्य तत्समीपे गमनम् ।
चकारात्तेन सह शारीरसम्बन्धोपि न कार्यः । कार्यमात्रेपि कर्तुं विहिते स्वधर्माविरो-
धिनि कर्तव्येण प्रार्थना कार्यतिशेषः । प्रार्थनीयो भगवान् तद्भक्तो वा । अत एव विष्णु-
धर्मोत्तरे शङ्करगीतासु “अपृष्टा यस्तु यां काञ्चित् क्रियां नारभते हरिम्, असम्भिन्नार्थ-
पर्यादस्तस्य तुष्यति केशव” इति । तथान्यत्रेति । यथा भगवति प्रार्थना तथाऽन्यत्र
विरोधिनि विशेषेण (तां) वर्जयेत् । यद्वा, भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना,
तथा अन्यत्र स्वधर्मविरोधिनि (कार्ये) न कार्येति । ननु भगवत्प्रार्थनायामपि भगवांस्तु
साक्षान्न वदत्येव किमपि, किन्वाचार्योक्तसङ्केतग्रहेणानुमीयते, इदमुक्तमिदं नोक्तमिति । तत्र
जीवानामविश्वासः सम्भावित इति चेत्वाहुरविश्वासो न कर्तव्य इति । आचार्योक्त-
मार्गं यद्यविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्यर्थः । अविश्वासस्य महाबाधकत्वानु-
सन्धानेन सर्वथा स न कार्यं एवेत्यर्थः । विश्वासदाढ्यार्थं किञ्चित्स्मरणीयमाहुर्ब्रह्मास्त्र-
चातकाविति । ब्रह्मास्त्रं चातकश्च तौ भाव्यौ, विश्वासार्थं स्मरणीयौ । अत्रायं भावः ।
यथा हनुमान् ब्रह्मास्त्रेणाप्रतिकार्येण बद्धोपि बन्धकानामविश्वासेन मुक्तः । पश्चादुद्यमः
सर्वोपि व्यर्थो जातः । अत्राविश्वासस्य महादोषहेतुत्वे ब्रह्मास्त्रं दृष्टान्तः । विश्वासमात्रस्य
सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः । स यथा चातकः कश्चन पक्षी यथा वर्षासु मह-
ज्जलमप्यनास्वाद्य स्वातिजलमल्पमप्यास्वाद्य पुनर्वर्षपर्यन्तं तत्पतीक्षया जीवन् यथा पूर्वमेव

तिष्ठति । तस्य तु सर्वं स्वातिबिन्दुविश्वासेनैव योगक्षेपादिनिर्वाहो यथा, तथा सर्वं
विहायाचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेवेत्यत्र तात्पर्यम् । प्राप्तं स्वमार्गपर्यादया
कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेत कुर्यादित्यर्थः । निर्ममो निरहङ्कार इत्यर्थः । स्वयं बहुज्ञत्वाद्यभि-
मानेनाचार्योक्तो कुसृष्टिकल्पनं न कार्यमिति भावः । यथाकथञ्चिदिति । लोकवेदकुला-
चारप्राप्तानि कर्माणि येन केनापि प्रकारेण कुर्यान्न तु परित्यजेत् । उच्चञ्च, अवचञ्च,
उच्चावचं, तानि उच्चावचानि, उःकृष्टनिकृष्टानि । यद्यपि भगवद्दर्शनेऽपि सर्वाण्यन्यानि
कर्माणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेणोत्तमाधमत्वं ज्ञेयम् । ईदृशापि सर्वथा करणं
भगवानेवाह, ‘सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्’ । आश्रयस्य विवेकधैर्यापेक्षयाऽत्या-
वश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिभ्योपि सर्वथा साधकत्वञ्चाहुः किं वेति । वेति पक्षान्-
तरे । विवेकधैर्याद्यस्य महापापपतितस्यापि यथोक्ताश्रयाश्रयणेनैव सकलपुरुषार्थसि-
द्धिरित्यर्थेन बहुना प्रोक्तेन पुनः पुनर्वचनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ।

उपसंहरन्ति एवमिति । एवममुना प्रकारेण यदाश्रयणं तत् प्रोक्तम् । आश्रय-
णरूपं वस्तु प्रोक्तमित्यर्थः । सर्वेषां पतितापतितस्त्रीशूद्रसाधारणायम् । अत एव भगवता-
प्युक्तम्, ‘मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि
यान्ति परां गतिमि’त्यादिना । सर्वदा समयानियमेन । हितमतिस्ौख्यसम्पादकम् । ननु
भक्तिज्ञानकर्मादिषु सस्तु सर्वं विहाय कथं तदेकपरतया स्थेयमित्यत आहुः कलाविति ।
भक्तिरादियेषां, कर्मज्ञानादयो दुःसाध्या देशकालद्रव्यादिसाधनवैगुण्येन कर्तुं न शक्या
इत्यर्थः । हिशब्दो लोकवेदप्रसिद्धियेतनार्थः । ननु लोके भवतु भक्त्यादीनामस्माकं
तदकरणे किमायातम् ? इति विशेषजिज्ञासायां स्वसम्पत्तिमस्मिन्नर्थे विश्वासार्थमाहुर्मै
मतिरिति । मतिः सम्पत्तिरित्यर्थः ।

न शक्यं मे विवेकादिनिरूपणमथापि तु ।

स्वल्पदाम्बुजसन्ध्यानाध्यस्तात्रीः कृतवानहम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभनन्दनचरणशरणश्रीमद्ब्रह्मनाथकृतौ
विवेकधैर्याश्रयदीपिका
समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्दत्तानलावतारश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगो० श्रीगोपीशविरचिता विवृतिः ।

श्रीमदाचार्यचरणनखचन्द्ररुचे नमः ।

हृदि प्रविश्य यद्ध्वान्तं निर्धूतं मे यथा स्वतः ॥ १ ॥

यत्कृपातो विवेकादिधर्माः स्वीये भवन्ति हि ।

तत्पादतलसम्बन्धिरेणुः शरणमस्ति मे ॥ २ ॥

अथ भक्तिमार्गाङ्गीकारेण भगवतो दासत्वं प्राप्तस्य सेवायां प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहेण भक्तिदाढ्यार्थं नवरत्नोक्तचिन्तात्यागकथने विवेकधैर्याश्रया यद्यपि सङ्क्षेपत उक्तास्तथापि विवेकादीनां विशेषविज्ञानाभावे सेवायां तादृशी दृढता न भविष्यतीति स्वीयानां विशेषेण तद्दाढ्यार्थं श्रीमदाचार्यचरणा विवेकधैर्याश्रयान् विस्तरतो निरूपयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सेवायां प्रवृत्तस्य प्रथमं विवेकः सर्वथापेक्षितः । ततो धैर्यम् । एतद्व्यसिद्धयर्थमाश्रयश्चेति क्रमः । एवं सति सर्वात्मनाश्रय एव कृते सर्वं सेत्स्यतीत्यन्ते तन्निरूपणम् । तत्र प्रथमं विवेकलक्षणं निरूपयन्ति विवेकस्त्विति । हरिः सर्वदुःखहर्ता । सर्वं लौकिकं स्वप्रयत्नसाध्यं योगक्षेमादि । अलौकिकं भगवत्सेवोपयिकं च स एव करिष्यति, न तु सेवां विहाय स्वप्रयत्नादिकं कर्त्तव्यमिति प्रथमो विवेकः । यतः सर्वेषामपि दुःखहर्ता स एव । मम त्वङ्गीकृतस्यापेक्षितं करिष्यत्येवेति विश्वासेन सेवैव कार्या, न तु प्रयत्नादिकम् । तत्करणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धादिकं भवतीति एतदेव “चिन्ता कापी”तिश्लोके निरूपितं नवरत्ने । ननु प्रार्थनाभावे कथं करिष्यति तत्राहुर्निजेच्छात इति । स अलौकिकः प्रभुः स्वकीयानामपेक्षितं जानाति । सेवामपि जानातीति

स्वेच्छयैव करिष्यति न प्रार्थनामपेक्षत इति प्रार्थना न कार्येतिद्वितीयो विवेकः । एतदेव ‘सर्वेश्वरश्च सर्वात्मे’त्यत्रोक्तं नवरत्ने ॥ १ ॥

ननु प्रार्थना कुतो न कार्या, तत्राहुः प्रार्थिते वेति ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

कृतेपि प्रार्थने किं स्यात् किमपीत्यर्थः । तत्र हेतुः । स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

भगवान् स्वेच्छयैव दास्यति, नान्यथेति, किमर्थं स्वधर्महानिः कर्त्तव्येति तृतीयो विवेकः । किञ्च, स्वस्य प्रयत्नकरणेपि भगवाञ्छेन दास्यति तदा प्रतिबन्धादिना तन्न सेत्स्यति । अथवा सर्वत्र स्वापेक्षितवस्तुनोऽभावात्तत्प्राप्तिर्न स्वशक्या । अथवा, तद्वृत्तेपि तथापि तत्प्राप्तिसाधने सामर्थ्यं नास्ति । भगवतस्तु सर्वत्र तत्तद्वस्तु सिद्धमेवास्ति, अभावे वा तदैव तत्सम्पादने सामर्थ्यमपि वर्तते इति । असाध्यमपि भगवान् साधयतीति तत्सेवां विहाय स्वप्रयत्नादिकं वृथेति चतुर्थो विवेकः ।

तमेव निरूपयन्ति सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्रैव सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अभावेपि सर्वं सम्पादयितुं सामर्थ्यं वर्तते इति । सर्वत्र यत्र यत्र यद्यद्वस्तु वर्तते तत्सर्वं भगवत एव, स्वाज्ञानेन लोकाः स्वत्वं मन्यन्त इति । यस्य यदपेक्षितं तदपि साक्षात्परम्पराभेदेन भगवानेव ददाति । स्वाज्ञानेन मया प्रयत्नेन कृतमिति मन्यन्त इति मम पूर्वसिद्धमपि भगवतैव दत्तं, साम्प्रतं तदङ्गीकृतस्य तु दास्यत्येवेति निश्चयेन सेवैव कर्त्तव्या न प्रार्थनेतिभावः सूचितः ॥ २ ॥

ननु किञ्चित्कालं सेवां कुर्यादितरकाले चेदन्यत्कार्यं करोति, तदा को दोषस्तत्राहुरभिमानश्चेति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

समर्पणानन्तरं स्वदेहादिषु स्वत्वेनाभिमानस्त्याज्यः । तत्र हेतुः । स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । स्वतन्त्रत्वेनाभिमानात्तद्विषयेषु देहेन्द्रियाणां विनियोगो भवतीति तस्यागेन तेषु सर्वेषु भगवति समर्पितत्वात्तदधीनत्वभावनं कार्यम् ; एवं सति केवलं भगवदधीनत्वानुसन्धानेन तद्व्यतिरिक्तकार्यकरणे दोषस्फूर्त्या स्वस्वामिसम्बन्धिकार्यमात्र एव स्वधर्मस्फूर्त्या च प्रभुसेवामेव करिष्यति, न त्वन्यद्, दोषरूपत्वादिति पञ्चमो विवेको निरूपितः । एतदेव “निवेदनं च स्मर्तव्यमि”त्यस्य विवरणे ‘सर्वदा सर्वांशेन तदीयत्वानुसन्धानेन

१ “स्वस्वकृत्या”श्लो २ अस्तीति पाठः ३ ‘कार्यकरण एव’ इतिपाठः । ४ ‘प्रभुकार्यमेव करोति’ इतिपाठः ।

तथा न भविष्यतीत्युक्तं श्रीप्रभुचरणैः । किञ्च । यथा स्वदेहादिष्वभिमानस्त्याज्यस्तथा देहादिसम्बन्धिभार्यापुत्रादिष्वपि स त्याज्यः । तेपि स्वात्मना सह भगवतैवाङ्गीकृता इति तदधीना इति तेषामपि योगक्षेमं प्रभुरेव करिष्यतीति सर्वदानुसन्धानेन तदर्थमपि प्रयत्नादिकरणं न भविष्यतीत्यपि भावो ज्ञापितः । तत्राप्यभिमानः सम्यक् सवासनस्त्याज्यो यथा तद्वासनापि न तिष्ठति । एतदेव “चिन्ता कापी”तिश्लोके ‘लौकिक्यलौकिकी च सा त्याज्ये’त्युक्तम् ।

एवं श्रीमदाचार्याज्ञया विवेकादिना सेवाकरणे स्वापेक्षितवस्तुज्ञापिका भगवदाज्ञा, तं प्रत्याचार्याज्ञातो विशिष्टा चेज्जायते, तदा साज्ञा कर्तव्या, तदाहुर्विशेषत इति ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

चेद्विशेषतः सेवाविषयिण्याज्ञा स्यात्तदा भगवदपेक्षितार्थज्ञाने तद्विशेषगत्यादि कार्यं कर्तव्यम् । नो चेदाचार्याज्ञानुसारेणैव कृतिः कार्या सेवायामितिभावः । ननु साज्ञा कथं ज्ञायते? तत्राहुरन्तःकरणेति । भगवदीयस्यान्तःकरणे गोचरः, साज्ञा भवति, स्वमद्वारा तां ज्ञापयतीत्यर्थः । अथवा, एवं सेवाकरणे यतः स प्रभुरन्तःकरणगोचरो भक्तानामन्तःकरणे मनस्यात्मनि वा, अन्तःकरणं ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्यन्तःकरणे आत्मा तत्र स्थितो भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

एवं सति तादृक्प्रकारेण सेवाकरणे भक्तस्य सर्वांशे आत्मस्वरूपत्वेन भगवानेव स्फुरतीति साज्ञापि ज्ञायत इति । तदा विशेषगतिर्भगवत्स्वरूपलीलयोः सम्बन्धिनी या विशेषगतिः सेवायां ज्ञाता भवेत्, तदादि सर्वं स्नेहभावेन भाव्यं कर्तव्यं, नोचेदाज्ञानुसारेणैवेत्यर्थः । एतदेव “सेवाकृतिरि”तिश्लोके निरूपितं नवरत्ने । ननु कदाचिल्लौकिककार्येष्वपि भगवदाज्ञा विशेषेण भवेत्तत्राहुर्भिन्नमिति । दैहिकाद्देहसम्बन्धिपुत्रादिविवाहोपनयनरूपाङ्गिभ्रं यथा भवति तथाज्ञा भवति, न तु लौकिककार्ये विशिष्टाज्ञा । तेन लौकिकं तु सर्वसमर्पणानन्तरं सर्वस्य तदीयत्वानुसन्धानेन तद्वत्प्रसादत्वेन तावन्मात्रमेवावश्यकं यत्कर्तव्यं, न तु विशेषोत्साहेन धनादिव्ययादिकं कर्तव्यमित्यादिरूपः षष्ठो विवेको निरूपितः । अथवा, भिन्नमिति विशेषगत्यादिविशेषणम् । तेन दैहिकाङ्गिभ्रविशेषगतिकरणकथनेन विशेषाज्ञापि दैहिकविषयिणी न भवत्येवेत्युक्तं भवति, अनर्थरूपत्वात् ।

ननु सेवायामपेक्षितधनादिसाधनाभावे सा कथं निर्वहति? तदा ऋणादिकमपि कृत्वा सामर्थ्यादिकं कार्यं (सम्पादनीयं) न वेति, तत्राहुरापद्भृत्यादीति ।

आपद्भृत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आपत्प्राप्तौ यानि कार्याणि भगवद्विषयकाणि, तेषु हठो न कार्यः । ऋणं कृत्वापि मया सर्वं कर्तव्यमेवेति हठो न कार्यः, किन्तु यथालाभसन्तोषेण प्रयत्नाभावेन यत्सम्पन्नं भवति, तदेव समर्पणीयम्, नान्यत् । मार्गस्थित्या यदेव समर्पयिष्यति तदेव साक्षादङ्गीकरिष्यतीतिभावः । एतदेव ‘प्राप्तं सेवेत निर्मम’ इत्यग्रे वक्ष्यन्ति च । यत्र भगवत्कार्येष्वपि हठो न कार्यस्तत्र लौकिककार्येषु किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचित इति सप्तमो विवेकः ॥ ४ ॥

ननु वैदिकेषु का व्यवस्था? तत्राहुरनाग्रह इति । सर्वत्र स्मार्तश्रौतादिधर्मेषु अनाग्रह एव कर्तव्यः । भगवत्सेवामपि विहाय स्मार्तश्रौतादिधर्माचरणं सर्वथा कर्तव्यमित्याग्रहो न कर्तव्यः । किन्तु भगवदाज्ञया प्राप्तमावश्यकं कर्म सेवानवसरे कर्तव्यमित्यर्थः । चकारात्साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तसर्वेष्वप्यनाग्रह एव कर्तव्य इत्यष्टमो विवेकः । ननु वैदिकधर्मेष्वनाग्रहः कथं भवेत्तत्राहुर्धर्माधर्मेति । धर्माणां स्मार्तादीनामधर्माणां तत्तदकरणजनितानामग्रदर्शनं पर्यवसानविचारः कर्तव्यः, यस्मिन्कृते अधर्मो भवेत् स न कर्तव्य इतिभावः । स्मार्तश्रौतभगवद्दर्मास्तु उत्तरोत्तरबलिष्ठाः, तत्र यथा श्रौतविधौ स्मार्तत्यागे न दोषस्तथा भगवद्दर्पकरणे उभयविधस्यापि त्यागे न दोषः, सर्वाधिकबलवत्त्वादिति विचार्य तद्दर्माणां गौणत्वात्स्वधर्मत्वाभावाच्चाानाग्रह एव कर्तव्य इति नवमो विवेक उक्तः । यत्तु कर्मादिकरणं तद्भगवदाज्ञया मार्गेऽप्याप्यशङ्काभावायेति ज्ञेयम् । एवं भगवत्सेवाविषयकविवेकानुत्तवोपसंहरन्ति विवेकोपमिति । भगवत्सेवायां प्रवृत्तस्यार्थं विवेकः सम्यक्प्रकारेण विस्तरेण आख्यातः । एतादृशविवेकेन प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहो भविष्यतीति भावः । एवं विवेकेन सेवायां प्रवृत्तस्य बहिर्भजनसिद्धिप्रकारमुक्त्वा धैर्यं विना सेवा न सिद्ध्येदिति मुख्यमान्तरमिति तत्सिद्ध्यर्थं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यमिति । पूर्वमपि “चिचोद्गमि”त्यादिना धैर्यं निरूपितं, साम्प्रतन्तु विशेषेण निरूप्यत इति विश्वद्वार्यः । तुशब्दः धैर्योपक्रमज्ञापकः ॥ ५ ॥ तद्वृत्तमेवाहुः त्रिदुःखमिति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतैः सर्वतः सदा ।

तत्रवदेहवद्भावं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

प्रयाणामाधिभौतिकादीनां दुःखानां सहनं धैर्यमुच्यते, तत्र देहसम्बन्धजनितं दुःखं भौतिकं, कामादिजनितमिन्द्रियसम्बन्धि तद् आध्यात्मिकं, परीक्षार्थं प्रारब्ध-भोगार्थं वा भगवत्कृतं भगवदर्थस्वापेक्षितकरणविलम्बजनितं तदाधिदैविकम् । तेषाम-सहने चित्तव्याकुलतया सेवा न सिद्धयेत्तदभावे सेवकस्य स्वधर्महानिरेवेति सेवासिद्धयर्थं तत्सहनमेव कार्यमिति धैर्यमुक्तम् । तदप्यामृतेः मरणपर्यन्तं, अथवा यावदायुरपि चेद्भ-वेत्तावदपि धैर्यमेव रक्षणीयम्, न त्वन्तर्निष्ठा हेया । तदपि सर्वतः देहेन्द्रियादिसर्वसम्बन्धि-ष्वप्येकस्य द्वयोर्वा सहनं तन्नास्ति, किन्तु सर्वतः । तदपि सदा निरन्तरं तत्सहनमिति धैर्य-लक्षणमुक्तम् । अतः परं देहाभिमानस्य विद्यमानत्वाद् दुःखसहनं दुष्करमिति दृष्टान्ते-न तदभिमानकर्तव्यत्वनिरूपणात् तदुपपादयन्ति तत्रैवदिति । तत्र यथा निःसारं भवति हेयत्वेन तत्र नाभिमानः । कदाचित्तन्नाशेपि न दुःखं भवेत् । नवनीतन्तु तत्सारं तत्राभिमानो जायते तन्नाशेपि दुःखमिति तद् गृह्यते, तथा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च निःसा-रत्वेन हेयत्वबुद्ध्या तत्राभिमानस्त्याज्यः । तस्यागेन तत्कृतमानापमानदुःखेऽपि अभि-मानत्यागेन दुःखं न भविष्यतीत्याशयेनोक्तं तत्रैवदेहवदिति, तत्रैवदेहवता देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च भाव्यमिति । अनेन भगवत्सम्बन्धिकार्येष्वेव नवनीतवदभिमानो रक्ष-णीय इति सूचितम् । तेन भगवदीयानां प्रभुसेवाकरण एव सुखं, तदभावे दुःखम् । न तु देहादितत्सम्बन्धिकृतं तद्भवतीति ज्ञापितम् । एवं भौतिकदुःखसहने दृष्टान्तं निरूप्याध्यात्मिक-कृतसहने दृष्टान्तमाहुः, जडवदिति । आध्यात्मिकं दुःखं इन्द्रियादिसम्बन्धिकामक्रोधा-दिजन्यम् । तत्सहने जडस्य भावना कार्या । जडस्य यथा सकलेन्द्रियाणां भगवद्भावा-विष्टत्वात् न तदिन्द्रियजन्यदुःखभानम्, जडत्वं च जातम् । तथा सेवायां प्रवृत्तस्यापि सकलेन्द्रियाणां तदीयात्वानुसन्धानेन स्वाभिमानाभावात् भगवत्येव विनियोगकरणे निरन्तरं तत्सेवागुणकीर्तनस्मरणवेशेन न कामादिजनितदुःखं भवेदित्याशयेनोक्तं जडवदिति । एवं सति यावत्पर्यन्तं जडवद्भावनया निरन्तरं भगवदाविष्टत्वं भवेत्ता-वत्पर्यन्तं तच्चदिन्द्रियदुःखसहनेन सेवा कार्या । न तु विषयभोगादिकं कार्यमिति । अतितुच्छत्वात्तदावेशेन भगवदावेशाभावाच्च । एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविके दृष्टान्त-माहुर्गोपभार्यवदिति । प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते तदा गोपभार्यानां भावना कार्या । यथान्तर्गृहगतानां जारत्वबुद्धिहेतुकप्रारब्धभोगार्थं विलम्बः कृतस्तद्भो-गानन्तरं तत्प्राप्तिर्जाता तथा ममापि प्रारब्धभोगानन्तरं भगवान् दास्यत्येवेति धैर्येण दुःखं सोढव्यमितिभावः । अत एवामृतेरित्युक्तम् । तासां गुणमयदेहत्यागानन्तरमेव फलं

१ तदपि सहनमेव कर्तव्यमिति पाठः कश्चिदुक्तः ।

जातमिति तद्दत्रापि परीक्षार्थं चेद्विलम्बते, तदा तद्व्यतिरिक्तानां भावना कार्या । यथा तासां रासारम्भे आगमनानन्तरं निषेधवाक्यश्रवणेपि यद्गतनीवदन्यथाभावो न जातः, किन्तु स्वापेक्षिताभावजनितदुःखभरेण स्थाणुवत्स्थितानां व्याकुलसकलेन्द्रियाणामपि तदुःखं सोढुं धैर्यमवलम्ब्य तच्छरणागतिभक्तिप्राप्तिसार्थुत्तरदानमेवाभूत्, न तु गृहा-दिषु प्रत्यागमनेच्छा जाता । तथास्यापि तादृग्भावनया विलम्बजनितदुःखसहनेन निरु-पधिलेहेन मार्गस्थितौ भगवान्फलं दास्यतीतिदुःखं सोढव्यमित्युक्तं गोपभार्यवदिति । किञ्च, गोपानां भार्याः, भार्यापदेन भर्तुं योग्या यद्यपि तथापि तासां तत्कृतभरणपोष-णादिकं नापेक्षितं किन्तु भगवत्कृतमेव । भगवत्कृततदभावे तासां जीवनमेव न भवति । यतस्तदुपयोगाभावे सर्वमेव भरणपोषणादिसाधनं गृहादिकं त्यक्तं भवति । एतदुपयोग एव तद्भोग्यत्वेन गृहीतो भवतीति । तथा प्रभुविलम्बकरणेपि तद्द्व्यतिरिक्तदेहादिसम्बन्धि पूर्वोक्तं किमपि न भावनीयं, किन्तु प्रभुः मम भरणपोषणादिकं करिष्यत्येवेतिनिश्चयेन धैर्येण स्यात्तव्यमिति गोपभार्यपदेन ज्ञाप्यते । किञ्च, श्रीमदाचार्याणां साक्षात्पुरुषो-त्तमास्यत्वेन तदुक्तवाक्यानामुपनिषद्रूपत्वाद्भ्रं भार्यापदे ऽहस्वच्छान्दसो ज्ञेयः । स्वकी-यानामेतादृशेव बुद्धिर्भविष्यति, परन्तु कस्य चिद्धान्तस्याशङ्का भवेत्तदभावात् पक्षान्तर-मुच्यते । यद्वा, गोपानां भार्यः भरणपोषणयोग्यः, अर्थात्सेवामेव भार्यजन इति यावत् । यद्वा, गोपभार्यः भार्यानां समूहो भार्यः, गोपानां भार्यस्तत्समूह इत्यर्थः । एवं दृष्टान्तत्रयभावनया तच्चदुःखसहनेन कायमनोवाक्प्रपत्तिर्भवेत् । तथा च देहसम्बन्धिभौ-तिकदुःखसहने प्रथमं सेवायां प्रवृत्त्या कायिकी प्रपत्तिर्भवेत्, इन्द्रियसम्बन्ध्याध्यात्मिक-दुःखसहने मनो भगवन्निष्ठं भवेदितितत्प्रपत्तिः । ततो भगवत्सम्बन्धितत्सहने भगवत्कृत-विलम्बस्य विरहात्मकत्वेन तत्स्वभावात् निरन्तरं गुणगानकरणे वचोपि तन्निष्ठं भवतीति त्रिधा प्रपत्तिर्निरूपिता । अत्रैवं ज्ञेयं, देहेन्द्रियादिसम्बन्धिनश्चेत्प्रतिकूला भवन्ति, तदा सेवान्तरायत्वेन तेषां परित्यागः कर्तव्य इति सेवाप्रकरणे तत्त्वार्थदीपे निरूपितं “भार्यादि-रनुकूलश्चे”दिति, तेन तस्यागे स्वोपयोगाभावात् तिरस्कारादिकं कुर्वन्तीति लोके दृश्यते । तथा सति भगवदीयस्य तु तेषु क्रोधादिकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धो भवेदिति तत्सर्वं प्रभुसेवार्थं सोढव्यमित्यत्र तत्सहनमुक्तमन्यथा तदभावे दुःखस्यैवाभावात् किं सहनं स्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु तिरस्कारादिना ते चेद् दुःखं न प्रयच्छेयुस्तदापि किं तेषां त्याग एव कर्तव्य इति चेत्त्राहुः प्रतीकार इति ।

प्रतिकारो यद्दृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भगवदिच्छया प्रतीकारः सिद्धश्चेद्भार्यादयो बलुकूला उदासीना वा भवेयु-
स्तदा तस्यागे आग्रहवान् न भवेत्किन्तु अनुकूलत्वे भार्यादिभिरपि सेवां कारयेदु-
दासीनत्वे स्वयं कुर्यात् । परन्तु तेषां तथापि योगक्षेममात्रं कर्तव्यं न तु त्यागः ।
प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्याशयेनोक्तं नाग्रहो भवेत् । प्रतिकूलत्वाभावेपि
सर्वथा त्याग एव कर्तव्य इत्याग्रहवान् न भवेत् । हठेन त्यागकरणे समीचीनानामपि
भार्यादीनां क्रोधावेशेन स्वस्मिन्नेषकर्तृत्वं संभवतीति तेन सेवाप्रतिबन्धकः स्वयमेव भवतीति
तन्न कर्तव्यमिति भावः । भौतिकदुःखप्रतीकारे परमियं व्यवस्था । आध्यात्मिकदुःख-
प्रतीकारेपि व्यवस्थोच्यते । सकलेन्द्रियाणां स्वस्वविषयभोग्यवस्तुत्यागे दुःखं भवति ।
तद्भगवदिच्छया स्वभोगार्थं तेषु पुरैव प्रवृत्तिरेव न भवेत् चेत्तदा तन्नितसेवान्तरायाभा-
वात्तस्यागे आग्रहवान् न भवेत् । यतस्तादृशस्य स्रक्चन्दनादिसकलभोगसामग्री स्वप्रशु-
नित्तित्वेनावश्यमपेक्षितेति तदुपयोगे जाते तद्वत्तमहाप्रसादत्वेन स्वसौभाग्यरूपत्वेन तदुप-
भोगकरणे बाह्याभ्यन्तरशुद्ध्या भगवद्धर्माविष्टत्वं भवतीति न तस्यागः । एवं सति विष-
यभोगार्थं सर्वस्यापि त्यागस्तदभावे तस्यालौकिकत्वे फलमध्यपातित्वान्न तस्याग इति
सूचितम् । इदमेवोक्तं सेवाफले, 'अलौकिकभोगस्त्वित्यादि, आधिदैविकदुःखप्रतीका-
रव्यवस्थाप्राहुः । प्रारब्धभोगानन्तरं परीक्षानन्तरं वा भगवान् कृपया सेवोपयोगि धनादिकं
दातुमिच्छेत्तदा साक्षात्परम्परया च तदिच्छया स्वप्रयत्नं विनैव तस्यागं भवति,
तदपि निरुपाधिकं विहितं शुद्धं चेद् भवेत्तदा तस्यागे आग्रहो न कर्तव्यः । जन्मान्तरं
प्रतिबन्धाभावात् मम प्रारब्धादिभोग एव भवतीति, प्रारब्धस्यापि तदधीनत्वात् । किन्तु
भगवता स्वोपभोगार्थमेवेदं दत्तमिति मत्वा सर्वं भगवदर्थमेवोपयोक्तव्यं न तु स्वार्थ-
मिति भावः । तथा चोक्तमपि, 'निजेच्छातः करिष्यती'त्यत्र स्वीयानामविकृतेच्छात
इति । सिद्धान्तमुक्तावल्यामपि 'भजनोपयोग्यथापेक्षायामपि प्रशुनैव सर्वं सम्पाद्यत इति,
तथा "कृष्णं परं ब्रह्मे"त्यस्य विवरणे । एवं सामान्यत आधिभौतिकादिदुःखसहनमुद्देशत
उक्तम् । अतः परं देहादिसम्बन्धिनः क इत्याकाङ्क्षायां प्रथमं देहसम्बन्धिनो विशेषत आहुः
भार्यादीनामिति । भार्यादयो भरणपोषणयोग्यास्ते देहसम्बन्धिषु स्वसमानास्तेषां
भरणपोषणमेवापेक्षितं न तु धर्मः, भरणपोषणं नाम सर्ववस्तुनो देहादिपर्यन्तस्य स्ववि-
षयको विनियोगस्तदकरणे तैतिक्रमं कुर्वन्ति, तदा तत्सर्वं सहनमेव कुर्यान्नतु क्रोधादि,
तत्करणे तदावेशेन सेवान्तरायो बाहिर्मुख्यं स्यादिति । तथान्येषां बान्धवानां मित्रा-
दीनामुदासीनानां बाहिर्मुखानां च पूर्वसामयिकनित्यमिलनव्यवहाराद्यकरणेनेर्षया तेप्यति-
क्रमं कुर्वन्ति, तस्यापि सहनमेव कर्तव्यम् । अथवा भक्तत्वेपि बान्धवानां बन्धुत्वस्वभावाद्
विभागादिजनितद्वेषेणापि अतिक्रमः सम्भवति । अथ च, अस्तत्तच्च स्त्रदासतोपि, यथा
भार्यापुत्रादयो देहसम्बन्धिनस्तथा दासो धनसम्बन्धी पोष्येष्वन्तर्भवति, तेषां सङ्गेन

सोपि चेदतिक्रमं कुर्यात्तदपि (दुःखं) सहनमेवेत्यर्थः । एते तु प्रतिकूला धर्मविरोधिनि
उक्ताः । चकारात् स्वधर्मानुरोधिनः शिष्यभक्तादयोपि ज्ञेयाः । प्रमादतो जीवस्वभावात्
शिष्योप्यतिक्रमं चेत्करोति, भक्तोपि तदा स्वप्रारब्धादिभोग एवायमिति भावनया धैर्येण
तदुःखसहनमेव कर्तव्यं, न तु क्रोधादि । क्रोधादिकरणे तु आसुरावेशेन सेवाप्रतिबन्धो
बाहिर्मुख्यश्च स्यात् । किञ्च, शिष्यभक्तयोरपि प्रशुसम्बन्धो वर्तते स्वकृत एव, पुनस्तत्र
क्रोधकरणे तदनिष्टं कृतं भवेत्, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यत् (स्वकीयानां)
स्वाङ्गीकृतानामनिष्टं कुर्वन्ति इति तत्सहनमेव कर्तव्यमिति भावः ।

एवं सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भार्यादीनां त्यागेन तत्कृतातिक्रमसहनं निरूप्य सेवाप्रति-
बन्धकत्वेन भोगत्यागेपि तत्तदिन्द्रियजनितस्याध्यात्मिकदुःखस्य सहनमाहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनत् ॥ ८ ॥

स्वयं स्वभोगार्थं इन्द्रियकार्याणि त्यजेत् सेवायां प्रतिबन्धकत्वात् । तानि
च त्रिधा, क्वचित् कायिकानि, क्वचिद्वाचिकानि, क्वचिन् मानसानि भवन्ति । तस्यागकथनेन
प्राकृतविषयांस्त्याजयित्वाऽलौकिकेषु तेषु तानि योजनीयानीति भावः । एवं सति याव-
त्पर्यन्तमलौकिकेषु युक्तानि भवेयुस्तावत्पर्यन्तं तस्यागजनितदुःखं भवतीति तत्सहनमुक्त-
मिति ज्ञेयम् । एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविकं तदाहुरशूरेणापीति । प्रारब्धभो-
गार्थं परीक्षार्थं वा विलम्बकरणे स्वापेक्षितवस्तुप्राप्त्यभावाच्चदुःखं सोढुं यद्यप्यशूरो धैर्य-
रहितः, यथा दरिद्रः प्रात्यहिकभक्ष्याभावे, तथाप्यशूरेणापि तद्वैर्यं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः,
स्वस्येति । स्वस्यासामर्थ्यं भावनीयं, पूर्वोक्तदुःखसहने स्वप्रयत्नोप्युक्तः । भगवत्कृत-
विलम्बे प्रयत्न एव न, तत्करणेपि विघ्नः प्रशुकृतो भवेदिति, स्वप्रयत्नसाध्यत्वाभावात् ।
स्वस्यासामर्थ्यभावनया 'तथैव तस्य लीलेत्य'नुसन्धानेन धैर्यमेव कर्तव्यमिति भावः ।

ननु स्वशक्यमपि पूर्वोक्तदुःखसहनमशक्यं, कुतस्तरां यत्र स्वस्य सामर्थ्यमेव नास्ति
तत्सहनमिति किमर्थमशक्योपदेश इत्यत आहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तम्,

सेवायां प्रवृत्तस्य विवेकधैर्यादिस्थितौ चेदशक्तिर्भवेत्तदा हरिरेव शरणमस्ति
नान्य इति मनसि भावनीयम् । विवेकधैर्यादिप्रयत्नकरणेपि चेदशक्तिस्तदा तदर्थं
प्रशुशरणगमने दयया स एव सर्वं सम्पादयिष्यतीति भावः । यतः स हरिः सर्वदुःखहर्ता,
तदेवाहुः सर्वमाश्रयत इति । आश्रये कृते सर्वं सेत्स्यति । अशक्यपि शक्यं भवेत् । विवे-
कोपि भविष्यति, धैर्यमपि भविष्यतीति भावः । यद्वा, तस्मिन्कृते सर्वं स्वशक्यं सर्वथा

यद्दशक्यं च तत्सर्वं भवेदन्यथा तदभावे स्वशक्यमपि न भवेदित्यर्थः । किञ्च, प्रयत्नकर-
णोपि तदेव सिद्धयेन्नत्वन्वत् । निःसाधनत्वेन शरणागतौ तत्कृपया सर्वं युगपदेव सिद्धये-
दित्यपि ज्ञापितम् । अनेन सर्वसिद्धयर्थमाश्रय एव कर्तव्यो नान्यत् किञ्चिदिति निश्चितम् ।
एतदेवोक्तं कृष्णाश्रये 'विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्ये'ति । एवं धैर्यलक्षणमुक्तोपसंहरन्ति
एतदिति । अत्र भक्तिमार्गे पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तं तदनस्वरूपमेतत् । अतः परमाश्रयो निरूप्यते ।

आश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

नितरां विशेषेण रूप्यते स्वरूपतः कथयत इत्यर्थः । यद्वा, यत एतद्वि-
वेकादिकं सर्वमाश्रयं विना अशक्यमत आश्रयो निरूप्यते । यस्मिन्कृते सर्वं
भवतीति प्रथमं समुदायेनाश्रयस्वरूपमाहुर्ऐहिक इति । भक्तिमार्गाङ्गीकृतस्य सेवायां
प्रवृत्तस्य प्रभुसेवाव्यतिरिक्तकर्मकरणस्यास्वधर्मत्वेनैवैहिकपारलौकिकसाधनकरणाभावात्
सेवायाप्यन्तरायबाहुल्येन तथात्वाभावाच्च तदुभयमपि कथं सेत्स्यतीति तत्सिद्धयर्थं शर-
णमेव सर्वात्मना भावनीयं न तु सेवां विहाय किञ्चित्साधनान्तरं कार्यम् । शरणगतौ
प्रभुः स्वयमेव सम्पादयिष्यति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, स्वकीयानां निरूपधिभगव-
त्सम्बन्धपेक्षिताभावजनितदुःखं हरिष्यत्येवेति भावः ।

एवं समुदायेनाश्रयमुक्त्वा तत्रापि प्रत्येकभेदेन विशेषत आश्रयस्वरूपमाहुर्दुःख-
हानाविति ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामार्थपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वोक्तदेहेन्द्रियादिसम्बन्धाधिभौतिकादि-
दुःखहानौ धैर्येण तत्कृतचित्तोद्देगाद्यभावार्थं शरणमेव भावनीयं, तेनैव सर्वं सेत्स्यतीति
प्रत्येकं तत्तत्कार्यं भावनीयमित्यर्थः । तथा पापे पापनिवारणे पूर्वसामयिके प्रमादाज्जा-
यमाने च, सेवायां भगवद्विषयके देहेन्द्रियादिभगवदपराधादिरूपे च तदेवोक्तं "महं त्वां
सर्वपापेभ्यः" इति । न तु तदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कर्तव्यं, तत्करणे शरणधर्मो गच्छे-
दित्यर्थः । तथा भये राजचौरादिजनिते, पापादिविषये प्रभवपराधविषये च आधिभौ-
तिकादित्रयं सर्वत्र ज्ञेयम् । कामार्थपूरणे इति । कामानामभिलाषाणां येषां पदार्थाः,
ऐहिका भगवत्सम्बन्धिनश्च । तत्राप्यैहिकं द्विविधं, दैहिकमैन्द्रियकञ्च, तत्पूरणे च, तत्रापि
विशेषमाहुर्भक्तद्रोहे इति । प्रमादतो जीवस्वभाववशात्तस्य द्रोहो जातश्चेत् सोपराधः

केनापि दूरीकर्तुं न शक्यते पर्यादायामपि, किं पुनः पुष्टिमार्गे । यथा दुर्वाससोऽम्बरीष-
विषये तथास्यापि । तथा सम्भवे शरणमेव भावनीयं नत्वन्वत् । भक्त्यभावे सेवायां
प्रवृत्तस्यापि स्वरूपे स्नेहो न जायते, तदर्थं भक्तैश्च स्वस्यातिक्रमे कृते सति, नहि
भगवदीयानामयं स्वभावो यन्निमित्तं विना यस्य कस्याप्यतिक्रमं कुर्वन्ति । तत्करणे तु
स्वदोषमेव विचार्य शरणं भावनीयं तदोषनिवृत्त्यर्थम् । किञ्च, अशक्ये वेति । स्वस्य
कर्तुमशक्ये कार्ये शरणं भावनीयम् । अशक्य इत्युक्ते शक्यत्वे स्वयमेव कार्यमिति न ज्ञेयं,
तत्राहुः सुशक्य इति । सर्वथा शरणं हरिः । स्वस्य सुतरां शक्यमपि, तथापि शरण-
मेव भावनीयं, प्रभुशरणेनैवेदं सिद्धं नान्यथेति । प्रभोविघातकरणे स्वस्य सामर्थ्याभा-
वात्स्वकृतेनाभिमानाच्छरणधर्मोपि गच्छेदिति सर्वात्मना तदीयत्वानुसन्धानेन शरण-
मेव भावनीयम् । यतः प्रभुः हरिः सर्वदुःखहर्ता अशक्यादिदुःखं हरिष्यत्येवेत्यर्थः ।
अथवा, अशक्ये भगवत्सम्बन्धिनि साधनासाध्ये, सुशक्ये साधनसाध्ये लौकिकेपि
तदेव भावनीयं, न तु स्वप्रयत्नः कर्तव्यः, तत्करणे शरणधर्मो नश्येदिति ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

किञ्च, अहङ्कारकृते चैव जीवस्वभाववशात्केनापि उदासीनेन भक्तेन च सहा-
हङ्कारः कृतस्तदा तेनासुरावेशो भवत्येवेति, पश्चाद्विवेके जाते पश्चात्तापो जायते मयाऽसमी-
चीनं कृतमिति, तदोषपरिहारार्थं शरणमेव भावनीयम् । यद्वा, प्रभुकृपाभारेण प्रौढ्या प्रभुणा
सहैवाहङ्कारः कृतस्तदापि दोषपरिहारार्थं तदेव भावनीयम् । किञ्च, पोष्याणां पोषणं रक्षणं
च, तत्करणेपि तदेव भावनीयं, न तु प्रयत्नः कार्यः । पोष्यातिक्रमणे चैव । पोष्यादीनां
भार्यादीनां चकारादन्येषां बन्धुदासपर्यन्तानामप्यतिक्रमे, तथान्तेवासी स्वशिष्यस्तत्कृते-
प्यतिक्रमे शरणमेव भावनीयं, न तु क्रोधादिकम्, तत्करणे आसुरावेशसम्भवात् । किञ्च,
तदुपरि स्वस्य क्रोधकरणे शिष्यस्यानिष्टं भवेत् इति सुकृतिनां नायं स्वभावो यदङ्गीकृतं
त्यजन्तीति । तस्य दण्डादिकं प्रभुरेव करिष्यतीति तत्राभिमानेन न स्वधर्महानिः
कार्येति भावः ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतानां चित्तादीनामध्यासनिवृत्तिरतिकठिना, तदभावे सर्वमेव कठिन-
मिति चेत्प्राहुरलौकिकेति ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

मन इत्युपलक्षणम् । किन्तु सर्वेषां देहेन्द्रियादीनां प्राकृतांश्च निवृत्त्या यथा
अलौकिकत्वं भवति तत्सिद्धौ तदनन्तरं सर्वार्थेऽलौकिकसकलपदार्थसम्पत्त्यर्थमपि हरिरेव

शरणं भावनीयो नान्यत्, तदेवाहुरेवमिति । एवं प्रकारेण चित्ते ज्ञानरूपे, न तु जडे, सदा निरन्तरं भावना कार्या । अथ च वाचापि परितः कीर्त्तयेन्निरन्तरं मुखेन कथयेदित्यर्थः । क्षणमात्राकथने तदेवासुरभावप्रवेशः स्यादित्युक्तं सदेति । चित्तस्य ज्ञानरूपत्वाभावेपि कीर्त्तनमस्यावश्यकमिति कीर्त्तनमुक्तम् । एतदेवोक्तं नवरत्ने 'तस्मान्स्वर्वात्मने'त्यत्रान्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा वदनमावश्यकमिति । यद्वा, चकारात् कायेन सेवापि कर्त्तव्या, मनसा भावना, वाचा कीर्त्तनमिति त्रिविधापि प्रपत्तिर्निरूपिता । एवं सति सर्वमेव पूर्वोक्तं शक्यं भविष्यतीति भावः ॥ १३ ॥

नन्वेवमपि सति महत्यशक्य एवार्थे हरिः शरणं भावनीयः स्वशक्यार्थे भगवति भावः किमर्थं देय इति तदर्थं देवान्तरभजनं चेत् कुर्यात्तत्राहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य देवान्तरस्य भजनं स्वतस्तदर्थगमनमपि वर्जयेन्न कुर्यात् । चकारादन्यप्रेरणयापि तत्र न गच्छेत् । यदि न वर्जयेत्तदा शरणपदार्थो गच्छेदित्यर्थः । इदमेवोक्तं 'न्यासादेशेषु' इत्यत्र 'मदितरभजनापेक्षगमि'ति । ननु प्रभौ प्रार्थनाया अनुचितत्वात् कदाचित्सदापेक्षायां देवान्तरादौ प्रार्थना मात्रं कुर्यान्न तु भजनगमनादिकं तत्राहुः प्रार्थना इति । यथा अन्यस्य भजनगमनादिकं न कुर्यात्तथा कार्यमात्रे महति स्वल्पेपि वा प्रार्थना अपि विवर्जयेत् । विशेषेण सर्वथा न कुर्यात्, कापि प्रार्थना न कार्येति बहुवचनमुक्तम् । * अत्र केचन पूर्वपक्षं कुर्वन्ति, प्रार्थनारहिता न केपीति, यतो लौकिकं पारमार्थिकं वा सर्वेषां प्रार्थनीयमस्ति । परमविरक्ता अपि पारमार्थिकं प्रार्थयन्त्येव । केचन मुक्त्यादिकमपि न वाञ्छन्ति, तथापि भगवच्चरणारविन्दानुरागरूपां भक्तिं प्रार्थयन्त्येव । ते तु तादृग्भक्त्युत्पत्त्यनन्तरं किमपि न प्रार्थयन्तीति चेत्तदात्यन्तं परमप्रेमासक्तिव्यसनवन्तो ब्रजवासिनस्ते तु स्थले स्थले प्रार्थितवन्तः । अन्ये तु मुक्त्यादिकं प्रार्थयन्ति । ब्रजवासिनान्तु दाशानलक्षुद्गृष्ट्यादिजनितलौकिकप्रार्थना तिष्ठतीति तद्रहितभक्तजनाभावात् प्रार्थनानिषेधः कथं क्रियते ? तत्रोच्यते । रे दुर्विदग्ध ! सन्दिग्धतयैव विदग्धमन्योसि, यतो यद्ब्रह्मादीनां मनसाप्याकलयितुं न शक्यं तत्स्वरूपे ये सुस्मिन्नाः प्रेमासक्तिव्यसनिनः येषां तन्मतिरिक्तं लौकिकं पारमार्थिकं वा न किञ्चनास्ति । तेषां लौकिकनिमित्तप्रार्थनादिकं ब्रवीषि । यदि वदसि श्रीशुकैरुक्तं, तत्रोच्यते । एतत्स्वरूपानभिज्ञ ? स्वरूपनिष्ठः सन् शृणु । येषां तदन्तराये त्रुटिर्युगायते तेषां तदन्तरायस्यासहिष्णुत्वात्

* अत्र पूर्वपक्षोत्तरे सङ्गपल्लयेषु प्राचीनेषु नवसु पुस्तकेषु नस्तः । अतीचीनपुस्तकद्वये वर्तते । अतः केनाप्याधुनिकेन विदुषा प्रक्षिप्ते ते स्याताम् ।

स्वानिष्टे सम्पन्ने संभवतीति प्रार्थनं व्यसनस्वभावेन न तु स्वनिष्ठं भवतीति कुतो लौकिकनिमित्तप्रार्थनसम्भावनापि । यद्यपि तादृशानां मध्ये अनिष्ठं न सम्भवति, तथापि तत्र क्रीडारसावेशेन यत्किञ्चिदपि प्रभौ स्वसाम्याधिक्यज्ञाने तन्निरोधार्थं प्रशुणैव क्रियत इति ज्ञेयम् । अन्यथा तन्निरोधो विशेषरसानुबन्ध न भवेत् । एतदेव दावानलप्रस्तावे गोपेषु भगवति लौकिकभावेन स्वसाम्येनैव क्रीडासक्तेषु, गोषु च तृणलोभेन भगवन्तं विस्मृत्य वनगच्छरं प्रविष्टासु प्रपत्तिहीनैः सह भगवत्क्रीडा न भवतीति तन्निरोधार्थं प्रशुणैव वनाग्निसुत्थापितः । अन्यथा तादृशप्रशुक्रीडायां विघ्नकरणे कः समर्थः । अत एव तत्प्रपत्त्यनन्तरमेव तस्य या शान्तिः कृता सापि प्रशुणैव कृता न तु साधनैः । तत्केवलं स्वीयत्वं ज्ञापनाय, इतरसम्बन्धे स्वीयत्वाभावात् । अग्रे तैरपि तथैव विज्ञापितम् तदा, 'नूनं त्वद्ब्रह्मन्वाः कृष्ण न चाहन्त्यवसीदितुं, वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः' इति । अस्यार्थस्तु ये केवलं त्वद्ब्रह्मन्वा एव तेषां नावसीदन्ति, किं पुनः प्रपन्ना इति । स्वप्रपत्तिज्ञापयन्ति वयमिति । अत्रायं गूढाभिसन्धिः । केवलं बन्धुत्वेन तत्स्वभावात् कदाचित् स्वसाम्येनापि प्रशुणा सह क्रीडादिकं संभवति, एवमिदं तत्प्रपन्नानामनिष्टकारकं तदस्माकं पूर्वं जातमिति स्वापराधनिषेदनं, तथापि सा क्रीडास्माकं त्वां विना न भवति, किन्तु, त्वया सहैव, त्वन्नतिरेकेण जीवनमेव न भवेदिति विशेषणद्वयेन द्योत्यते । अतः सर्वात्मना प्रपन्नानां नो वनाग्निभयं न भवति, किं तर्हि, पूर्वोक्तापराधेन महदनिष्टं सति त्वत्स्वरूपान्तरायस्तु ततोप्यसन्न इति प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वापराधं प्रपत्तिं च ज्ञापयन्ति । अत एव पूर्वश्लोके सर्वथा प्रार्थनाया अनौचित्यमित्यभिप्रायेणैव प्रातुर्मर्षयेत्युक्तं, न तु "त्राही"ति । पूर्वमपि कालियसङ्गानन्तरं दावानलोद्गमे 'न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयमि'त्येवोक्तम् । दाहरतु सोढुं शक्यो न तु चरणवियोग इति विवरणे विवृतं, न हि व्यसनव्यतिरेकेणैवं वचनं सम्भवतीति भावः । ननु पूर्वमेवं कथमेतादृशी प्रपत्तिर्न कृता तत्राहुः 'सर्वधर्मज्ञे'ति । सर्वं धर्मं त्वमेव जानासि, वयं तु मूढा अतोस्माकं तदुपदेशभावेन तदज्ञानात् क्रीडारसावेशेन त्वत्प्रपत्तिविस्मृतिर्भवतीत्यर्थः । इदानीं प्रमेयबलादेव तज्ज्ञानं जातमिति सर्वथा प्रपन्नानामस्माकं त्वत्स्वरूपान्तरायो मा भवत्विति स्वरूपाशक्तिस्वभावेनैव प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वशरणगतिरेव ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम् । नन्वेतावदपि प्रार्थितमिति चेत्तत्रोच्यते । रे कुतर्काप्रतिष्ठितमते ! शृणु । श्रीगोकुलं तु केवलं तदेकपरं, तेषां भावोपि तादृश एवेति तादृश्यस्य तस्य प्रभुरपि स्वयं तदेकपर एवेत्युभयोः परस्परैकपरत्वमेव लोके ज्ञापयितुं तन्मिण्यन्त्वेन प्रशुणैव तथा प्रेरितं यथा तैः प्रार्थितं, तदनन्तरं तदेव स्वयमेव साक्षात्प्रपत्तिं च कृतवानिति न तत्कृतप्रार्थनेतिनिर्गर्वः । प्रकृतेपि प्रपत्त्यभावे कृतेपि प्रार्थने तन्न करोतीति स्वस्य तादृशं प्रति तत्परत्वाभाव एव ज्ञाप्यत इति भावः । प्रार्थनादिनिषेधस्तु साधनदशायां न तु फलानुभवे । तथा च, श्रीगोकुलं तु फलरूपं फलोपयोगिसर्वरसात्मकं

भगवता स्वलीलार्थं स्वस्वरूपेणैव साक्षात्कटीकृतम् । सा लीला बहिल्लोकानुसारिणी, अन्तस्त्वलौकिकी, बहुप्रयोजनगर्भितेति यथा यथा तत्तद्रसात्मिकास्तास्ता लीला भवेयुः, ततः स्वमाहात्म्यगुणादिकं सर्वजनानं च भवेत्तथा तथा भगवानेव सर्वं करोति, न तु तेषां तत्स्वरूपव्यसनवतां तदन्यत्किञ्चिदपेक्षितम् । अत एव द्विजपरन्यनुग्रहं कर्तुं मनसैव तादृशानां क्षुधामुत्पादितवान् । अन्यथाऽऽकस्मिकी तादृशी दुःसहा सा कथमुत्पद्येत ? एवं सति श्रीगोकुले तत्तन्निरोधार्थं सर्वं भगवानेव करोतीति न किञ्चिदपूर्वपक्षावसरः । किञ्च, तेषां स्वरूपापेक्षापि आसक्तिव्यसनस्वभावत एव न तु कृत्रिमा । तादृशी चेत् प्राप्ती शक्येत । इयं तु तत्प्राप्तावपि उत्तरोत्तरं वर्द्धत इत्येतस्याः सर्वतो भिन्नैव रीतिनान्य-मार्गीयपूर्वपक्षादिना कलुषयितुं योग्येति दिक् । किञ्च, प्रार्थनं तु यावन्मनोरथं भवति, प्रकृते मनोरथान्तमानन्दं दत्तवान् इति प्रार्थनानपेक्ष एव सर्वकर्त्तैति किमर्थं प्रार्थनं भवेत् ? यन्न दृश्यते तत्र हेतुः पूर्वमुक्त एवेति सर्वं सुस्थम् । एवं सति श्रीगोकुलस्वरूपलीलाकृती-नामज्ञानात् तत्प्रार्थनावलोकनेन तदितरस्यापि प्रार्थना कर्त्तव्येतिपक्षो निरस्तः ।

प्रस्तुतमाहुः । ननु सर्वेषां देवानां धर्माणां च त्यागेन केवलं भगवच्छरणगतावपि को वेद भगवानपेक्षितं दास्यति वा न वेति चेत्तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

अस्मिन् शरणगमनेऽविश्वासो न कार्यः, यः सर्वथा बाधकः । बाधकान्त-रापेक्षयाऽयमधिकबाधक इति स्वर्थेत्युक्तम् । यतोऽविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरण-धर्मो गच्छेद्, इदमेवोक्तम् 'अन्यसंमेलने वा ब्रह्मास्त्रन्याय उक्त' इति तेन विश्वास एव कर्त्तव्य इतिभावः । अतः परं विश्वासे फलं भवत्यविश्वासे नेत्यत्र दृष्टान्तं निरूपयन्ति ब्रह्मास्त्रेति । अविश्वासे ब्रह्मास्त्रं भाव्यं भावनीयमित्यर्थः । यथा हनुमद्विषये प्रयुक्त-मपि तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे ततो निर्गतमासीत्तथात्राप्यविश्वासेन धर्मान्तरस-म्बन्धे शरणमन्त्रो यास्यति शरणधर्मो न तिष्ठतीति स न कर्त्तव्य इतिभावः । विश्वासे चातको भाव्यः । स्वातिजलविश्वासेन चेत्स तिष्ठति तदा मेघो वर्षत्येव, स च पिबतीति भावनया विश्वास एव कर्त्तव्यो नत्वविश्वासः । शरणगतौ विश्वासे भगवान् सर्वं करिष्यतीतिभावः । एवं विश्वासेन शरणस्थितौ भगवदिच्छया प्रयत्नं विना यदेव प्राप्तं भवेदनायासेन स्वल्पमपि तदेव प्राप्य, तत्रापि निर्ममः भगवदीयत्वात्तत्रापि ममतारहितः सन् प्रशुसेवां कुर्यान्न तु विशेषार्थं यत्नं कुर्यात्तदेवाहुः प्राप्तमिति । सेवे-तेतिपदेन तत्सर्वं भगवदुपयुक्तमेव कुर्यान्न तु स्वार्थमिति सूचितम् ॥ १५ ॥

ननु धर्मान्तरसम्बन्धे शरणपदार्थो गच्छतीत्यावश्यकलौकिकवैदिककर्मणामपि त्यागे कदाचिदप्रामाण्यशङ्का स्यान्मार्गे, तदभावार्थं तत्करणप्रकारमाहुर्यथाकथञ्चिदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्हरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

यथाकथमपि मार्गे लोकानामप्रामाण्यशङ्का न भवेत्तथोच्चावचान्यावश्यकलौकि-कवैदिकसम्बन्धीनि कार्याणि मार्गप्रामाण्यार्थं प्रभोराज्ञां ज्ञात्वा तानि कार्याणि, न तु स्वधर्मत्वेनेति । यथा "करिष्ये वचनं तवे"ति पार्थेन भगवदाज्ञा कृता तथेत्यर्थः । एवं सति शरणपदार्थो न गच्छेत् । इति पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता । तदेवोक्तं, पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापञ्चात्तेषु नान्यथे"ति । अथवा, तदर्थमपि कर्माद्यकरणे न दोषः, शरणपदार्थस्यैव तावद्रूपत्वात्तदाहुः किं वेति । बहुना प्रोक्तेन किम्, न किञ्चित्सिद्धयति, किन्तु सर्वत्र शरणमेव भावनीयं न तु लोकसङ्ग्रहार्थमपि कर्मकरणम् । तदर्थमपि विधिरूपत्वेन कर्मकरणे शरणपदार्थाभाव इति भावः । एतदेवोक्तं 'मन्यसम्मेलने वेत्यत्र । एवं सति प्रभोराज्ञां मत्वा कर्मकरणमायातं नान्यथेत्यर्थः । नन्वेवं सर्वात्मना ज्ञानेन कदाचित्पापं सम्भवेत्तत्राहुर्हरिमिति । स हरिः सर्वदुःखहर्ता तत्सम्भावनायां स एव पापादिकं दूरीकरिष्यतीतिभावः । एतत्सर्वं 'सर्वधर्मानि'त्यस्य निरूपणे न्यासादेशेऽवि-त्यत्र द्रष्टव्यम् । अतः परमुपसंहरन्ति एवमिति । एवं प्रकारेणाश्रयणमाश्रयस्वरूपं प्रकृष्टेन साङ्गमुक्तम् । तावता किमिति चेत्तत्राहुः सर्वेषामिति । सर्वेषां जीवानामाश्र-माणां वर्णानां सर्वदा क्रियमाणं सन् हितं हितकारि, साधनं विनाप्यैहिकपारलौकिक-सम्पत्तिसाधकमित्यतः परं किमत्रशिष्यते ।

ननु सर्वयुगेषु साधनैरेव फलं भवतीत्यधुना तानि विहाय केवलं शरणमेव कथमुच्यते, तत्राहुः कलाविति ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्ययुगेषु धर्मस्यैव प्राधान्याद्विहितभक्त्यादीनां साधनसाध्यत्वात् तैरेव विहि-तभक्त्युपासनाकर्मादीनां फलं भवति । कलिस्तु पापप्रधान इति साधनानामसम्भवा-द्विहितभक्त्यादिमार्गा दुःसाध्याः, प्रत्युत यत् किञ्चित्करणेपि पाषण्डप्रवेशेन पाप-मपि जायत इति सर्वथा दुःसाध्याः, यतो यत्र साधनसाध्या अपि भक्त्यादिमार्गाः कलौ दुःसाध्यास्तत्र कृतादियुगेष्वपि यो भक्तिमार्गः साधनसाध्यः केवलभगवदनु-ग्रहैकलभ्यस्तस्य कलौ सुतरामेव साध्यनासाध्यत्वेन दुःसाध्यत्वमिति सर्वात्मना शरण-

गतौ भगवान् तादृशे भक्तिमार्गेऽप्यनुग्रहं करिष्यतीति, सर्वात्मना शरणमेव भावनीयं, नान्यत्कर्त्तव्यमिति स्वसिद्धान्तज्ञापनायोक्तं मे मतिरिति । मे मतिरित्येव । तेन स्वमा-
गीयाणामिदमेव कर्त्तव्यं नान्यदितिभावः ।

श्रीमदाचार्यचरणशरणस्मरणेन मे ।

हृद्यायाता प्रणालीयं ग्रन्थस्याध्वानुसारिणी ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे स्वकीयस्य दाढर्यार्थं सर्वथा इमे ।

अपेक्षिता विवेकाद्यास्त्वेतदर्थं तदाश्रयः ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणैरिति ते वर्णिताः स्फुटम् ।

अतस्त एव चरणास्तदर्थं शरणं मम ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीधनश्यामात्मजश्रीगोपीशचरणविरचिता

विवेकधैर्याश्रयविवृत्तिः

सम्पूर्णा ।



श्रीरूपणाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवृत्तिः ।

यत्पादाब्जाश्रयादासन् सर्वे पूर्णमनोरथाः ।

तमेव गोकुलाधीशं सर्वसिद्धयै समाश्रये ॥ १ ॥

अथ सकलकर्मादिमार्गाधिकारेषु सत्सु भक्तिमार्गानुसारेण भगवदाश्रय एव सर्वपुरुषार्थसाधकस्तदाश्रये च विवेकधैर्ये हेतू । तथाहि । विवेके सति सर्वोत्तमत्वं भगवति ज्ञात्वा तदाश्रयं करोति जीवः । धैर्यं च सति दाढर्यं भवति, तेन विवेकधैर्याभ्यामविरतं भगवदाश्रयो भवति तत्र स्वीयानां भक्तिसिद्धयर्थं विवेकधैर्याश्रयान् आचार्या निरूपयन्ति विवेकधैर्ये इति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

विवेकधैर्ये निरन्तरं रक्षणीये । आश्रयो भगवदाश्रयः सोपि तथा निरन्तरं रक्षणीय इत्यर्थः । एतेषां रक्षणञ्चेत्तदनुसन्धानपूर्वकमेव तदनुकूलकृतिकरणम् । मुख्यो भगवदाश्रयः । तदङ्गे च विवेकधैर्ये इति ज्ञापनाय विवेकधैर्ययोरेकपदेन निरूपणम् । आश्रयनिरूपणं चान्येन । तत्र विवेकस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्प्रथमं विवेकं लक्षयन्ति विवेकस्त्विति । विवेकस्त्वयमेव, नत्वन्य इत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थस्तुशब्दः । विवेकस्वरूपमाहुर्हरिरिति । हरिः सर्वदुःखहर्ता, तेन यत्करिष्यति तद्भव्यमेव करिष्यतीतिभावः । तदपि कियत्कार्यं कृत्वा निवर्त्तिष्यत इति नास्तीत्याहुः सर्वमिति । निजेच्छातः स्वेच्छातः । तथा च न प्रार्थनीय इत्यर्थः । अत एव प्रल्हादवचनं, 'नान्यया तेऽत्रिलगु-
रोर्घटते करुणात्मनः' । 'यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्,' अत एव

‘नकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीयाः, येन्योन्यतो भागवत-
प्रधानाः सभाजयन्ते मम पौरुषाणी’त्यादिवाक्यानि ॥ १ ॥

ननु सेवकैः प्रभुः प्रार्थनीय एवेति चेत्तत्राहुः पार्थिते वेति ।

पार्थितेपि ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

पार्थितेपि ततः प्रार्थनात् किं स्यान्न किमपीत्यर्थः । तत्र हेतुः स्वाम्यभिप्रा-
येति । यतः प्रभोरभिप्रायः पूर्वं ज्ञातुमशक्यः, प्रभुश्च स्वाभिप्रेतमेव करिष्यति । लौकिका
अपीश्वराः स्वतन्त्रा भवन्ति किं पुनः सकललोकमहेश्वरः । ननु निजेछातस्तदा करि-
ष्यति यदि सामग्री सङ्गृहिता स्यात् । नह्यसम्भृतसामग्रीकः किमपि कर्तुं शक्नोतीति
चेत्तत्राहुः सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्र सर्वस्मिन्नेवायोग्येपि देशे सर्वयोनिषु च
सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अप्रतिहतेच्छत्वात् । अत एव किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने
श्रीनिकेतने’ इत्यादि । ननु सम्भृतसामग्रीकोपि यदि स्वयमसमर्थः स्यात् तदा कथं कुर्या-
त्तत्राहुः सर्वेति । ‘यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति श्रुतेः । सर्वप्रकारकं सामर्थ्यं विद्यत इति
साधनन्यूनत्वे साधनमपि सम्पाद्य फलं दातुं समर्थः । साधनं विनापि फलं दातुं समर्थ
इत्यर्थः । अत एव ब्रजवासिभ्यो निःसाधनेभ्य एव फलं दत्तवान् । ‘तेनाधीतश्रुति-
गणा नोपासितमहत्तमाः । अत्रतातप्तवपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः । केवलेन हि भावेन
गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मापीयुरञ्जसे’त्यादिवाक्यात् ।
अत एव निन्दारक एवकारः । चकारादिच्छापि । नहीच्छां विना कोपि किमपि
करोति ॥ २ ॥

भगवद्धर्मान् विविच्य जीवधर्मान् विवेचयन्त्यभिमानश्चेति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

सेवकैः सर्वदा स्वाम्यधीनत्वमेव मनसि भावनीयं दासधर्मत्वात् । ल्यब्लोपे-
पञ्चमी । तथा च स्वाम्यधीनत्वभावेन प्राप्य अभिमानः सर्वथा सम्यक् त्याज्यः ।
सवासनस्त्याज्य इत्युपसर्गः । अथवा, लौकिकस्त्याज्यो नत्वलौकिक इति विवेकार्थ-
मुपसर्गः । चकारादन्येपि कामक्रोधादयः । ननु भगवदीयानां लौकिकं वैदिकं वा यदि
विशेषतः कार्यं कर्तव्यं स्यात् तदा केन प्रकारेण कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्विशेषतश्चेदिति ।
यदि विशेषतो भगवादाज्ञा स्यात्, तदा विशेषः प्रकारः सर्वोपि कर्तव्यः । न तु

भगवदाज्ञां विना । साप्यन्तःकरणपूर्विका न तु क्रोधेन परिहासेन वा, तदाहुरन्तः-
करणगोचर इति । अजहङ्गिमिदं पदम् । तेन लौकिक आवश्यकके व्यवहारे नाज्ञापेक्षा,
वैदिकेपि नित्यकर्मणि वेदरूपसामान्याज्ञयैव तत्करणम् । तस्माद्भगवदीयानां लौकिके
वैदिके वा विशेषकार्ये कर्तव्ये भगवदाज्ञापेक्षा ।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अत एव राजसूयोद्यतेन धर्मराजेन विज्ञापितं ‘यक्षे विभूतीर्भवत’ इति । लौकिकेपि
यावदावश्यकं तावदेव कर्तव्यमधिकन्तु भगवदाज्ञातः । गतिर्गमनम्, तेन विशेषगतिस्ती-
र्यादियात्रा । आदिपदादन्यदप्यागन्तुकम् । तथा च, यत्किञ्चिदप्यागन्तुकं कार्यं,
तत्र भगवदाज्ञापेक्षा । उत्पन्नार्थस्य* भूधातोर्ण्ये, तस्य भाग्यत्युत्पादयतीत्यर्थः । तथा च
भाव्यते क्रियत इति भाव्यं कर्तव्यमित्यर्थः । ननु पुत्रादीनामुपनयनविवाहादावाज्ञाम-
पेक्षेत न वेत्याशङ्क्य, नेत्याहुर्भिन्नन्तु दैहिकादिति, दैहिकाद्भिन्नं विशेषकार्यमाज्ञाय
कर्तव्यं नतु दैहिकमित्यर्थः । तु शब्दः सन्देहवारकः, तेन पुत्रादीनामुपनयनविवाहादिकरणे
नाज्ञापेक्षा, किन्तु निर्वाहमात्रं कर्तव्यं । न त्वधिको ह्यथा व्ययादिः कर्तव्यः । ननु विप-
दादौ कथं व्यवहर्त्तव्यमिति चेत्तत्राहुरापद्गत्यादीति । आपद्गतिरापत्प्राप्तिस्तत्र यानि
कार्याणि तेषु हठो न कार्यः, किन्तु यथा सौकर्यमेव विधेयम् । आदिपदाद्भगवदाज्ञा,
आचार्याज्ञा, भगवदीयानामाग्रहः । तेष्वपि स्वकीयो हठो न कार्यः । ननु विपदादौ हठेऽपि
का क्षतिः, भगवतैव तद्दण्डनिर्वाहात् । न हि भगवान्कदाचिदपि स्वकीयानुपेक्षते, ‘ये यथा
मां प्रपद्यन्त’ इति भगवत्प्रतिज्ञानादिति चेत्, सत्यम् । परन्त्वन्वयैव कार्यसम्भवे प्रभौ
सङ्कोचदानस्यानुचितत्वात् । हठविषयस्य भगवदनभिप्रेतत्वे निर्वाहाभावाच्च । ननुक्तमेव
मया भगवान् कदाचिदपि प्रपन्नं नोपक्षत इति तत्कथमनिर्वाह इति चेत्, सत्यम् । यदि
सर्वथा प्रपन्नः स्यात्, परन्तु भगवदनभिप्रेतस्य करणे प्रपत्तेरेव न्यूनत्वात् । न हि सर्वथा
प्रपन्नो यः स भगवदनभिप्रेतं कदाचिदपि करोति । तेन सर्वथा प्रपत्त्यभावे भागवतोपि
नावश्यको हठनिर्वाहः । नन्वनभिप्रेतत्वं तेन कथं ज्ञातव्यमज्ञाते तु न तस्य दोष इति चेत्,
सत्यम् । तथापि सन्देहेपि हठस्यानुचितत्वादित्यलं विस्तरेण । एतत्सर्वमभिसन्धापाहुः
सर्वथेति । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः । तथा च केनापि प्रकारेण हठो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥४॥

एवं भगवत्कृत्येषु विचार्य लौकिकेषु व्यवस्थापाहुरनाग्रहश्चेति ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

सर्वत्र लौकिके व्यवहारोऽनाग्रहेण कर्त्तव्यः । किन्त्वौदासीन्येन व्यवहर्त्तव्यं, न केवलमौदासिन्यमेव कर्त्तव्यं लौकिके, किन्तु भक्तिविरोधिलौकिकांशस्य त्यागोपि कर्त्तव्य इति चकारार्थः । किञ्च, धर्माणां धर्माणां च पर्यवसानविचारेण तदनुसारेण व्यवहर्त्तव्यमित्याहुर्धर्माधर्माग्रदर्शनमिति । एके स्मार्तधर्मा अपरे श्रौतधर्मा अन्ये भगवद्धर्माः, ते सर्वेपि सम्प्रदायत्तिभेदेन द्विविधाः उत्तरोत्तरबलिष्ठाः । तत्र स्वाधिकारो विचार्यः । यदि भगवदाज्ञा भवति, तदा सापि विचार्या, भगवदिच्छा च विचार्या, आचार्याज्ञा च विचार्या । तथा च धर्माधर्माणां बलाबलमेतत्सर्वं च विचार्य यथा क्रियमाणे पर्यवसाने उत्तमं भवति तथा करणीयम् । तेनैवं पदयोजनिका । धर्माणां धर्माणाञ्च यदंशं पर्यवसानं तस्य दर्शनं विचारः कर्त्तव्य इति शेषः । उपसंहरन्ति, विवेकोयमिति । अयमेव विवेको नत्वन्य इति ज्ञापनायायमिति । सविस्तरमवान्तरभेदनिरूपणपूर्वकमिति समिति । आख्यातः कथितः । उद्देशानुसारेण धैर्यं लक्षयन्ति धैर्यमिति । विवेकानन्तरं धैर्यं विलम्बो न कार्य इति ज्ञापनाय अव्यधानेन पूर्वोपसंहारोत्तरोपक्रमयोर्निरूपणम् । तुल्यः प्रकारभेदज्ञापकः विशेषणविस्तरप्रकारेण निरूप्यते ॥ ६ ॥

धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रिदुःखेति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणामाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकानां दुःखानां सहनम्, लौकिकायास आधिभौतिको, वैदिक आध्यात्मिको, भगवदर्थ आधिदैविकः । मरणपर्यन्तं सहनमित्याहुरामृतेरिति । तत्रापि मध्ये मध्ये विच्छिद्य सहनं न साधकमित्याहुः सदेति निरन्तरमित्यर्थः । सर्वस्मात्सहनं न तु तत्र हीनमध्यमत्वादिकं भावनीयमित्यर्थः । अध्यासनिवृत्तौ धैर्यं सुकरमिति देहाद्यध्यासनिवृत्तिप्रकारमाहुस्तक्रवदिति । देहवदिति, देहवता सङ्घाते तक्रवद्भावना कार्या । तथाहि, अत्रैवमाख्यायिका । काचिद्राज्ञी केनचित्पापरेण सम्बद्धचित्ता सती तेन सह सङ्केतं कृतवती राजानमहं मारयिष्यामि, तत्र भार्या भविष्यामिति । ततः कस्मिंश्चिद्दने तं स्थापयित्वा स्वभवनमागत्य राज्ञौ राजानं हत्वा तद्वनं प्रतिष्ठा । तत्र च पतित्वेन कल्पितं तं पुरुषं सर्पदंष्ट्रं दृष्टवती । तदन्तरमितस्ततो भ्रष्टा सती कुत्रचिद्देशे गणिका बभूव । तत्र चाज्ञानात् स्वपुत्रेण सम्भुक्ता । तदन्तरं च प्रसङ्गात् ज्ञातवती ममायं पुत्र इति । तदन्तरमत्यन्तग्लानिमास्या शरीरं त्यक्तुं चितां प्रविष्टा । तत्रापि, वह्नितापमसहमाना ततो निर्गत्य कुत्रचिद्देशे कस्यचिद्गोपस्य भार्या बभूव । तत्र च,

गोरसविक्रयेण जीविकां चकार । सा चैकदा स्वसमानाभिर्बहुभिः सह तक्रविक्रयाय निश्चक्राम । मध्येमार्गं केनचित्पत्युद्देन पतितानि सर्वासां भाण्डानि भ्रान्त्यन्वभवन् । तदान्याश्रुशुभुः, सा तु जहास । तदा हसन्ती तां सर्वाः पपच्छुः, कथं त्वं न क्षुभ्यसि किमिति च हससीति ? । तदा सा स्ववृत्तान्तकथनेन पथनैकेनोत्तरमदात् । तथाहि,

हत्वा नृपं पतिमवेष्य भुजङ्गदंष्ट्रं देशान्तरे विधिवशाद्गणिकास्मि जाता ।

पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपपृष्ठिणी कथमद्य तक्रमि"ति ॥

तदाहुस्तक्रवदिति । सम्प्रथमे वति, तेन यथा तस्यास्तक्रे उदासीनभावना नत्वभिमानः, तथा सङ्घाते भावनीयमित्यर्थः । इयमाख्यायिकानान्यत्र प्रसिद्धेति सुप्रसिद्धपौराणं दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति । तृतीये जन्मनि भरतो जडस्तस्य यथा सङ्घाते नाभिमानस्तथा भावनीयमित्यर्थः । यथाजडः स्वबन्धुषु सङ्गं त्यक्तशानुदासीनेपि रहगणे च सङ्गं कृतवान्, तथा श्रीमत्पशुचरणारविन्दानुपपद्युक्तेषु बन्धुष्वपि सङ्गो न कार्यः, श्रीमत्पशुचरणारविन्दानुरक्तेषुदासीनेष्वपि सङ्गः कार्य इति जडदृष्टान्तेन सूच्यते । अत एव कर्दमं प्रति विज्ञापयन्त्या देवहृत्या सङ्गो यः 'संयतेर्हेतुरसत्सु विहितो धिया । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गतायः कल्पते' (भा० ३-२३-५५) इत्युक्तम् । अत एव कपिलदेवनाप्युक्तम्, 'प्रसङ्गमजरं पाशात्पनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपाहतमि'त्युक्तम् (भा० ३-२५-२०) । अत एव वृत्रेणापि प्रार्थितम्, "ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्य"मिति (भा० ६-११-२७) । यथा च प्रयत्नमकुर्वाणेपि जडे भद्रकालीसम्बन्धी विज्ञो न जातस्तथा सर्वेष्वेव भगवदीयेषु देवान्तरकृतो विज्ञो न भवतीत्यपि सूच्यते । अत एव गर्भस्तुतौ, "त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप मूर्द्धसु प्रभो" इति देवचने गीयते । किं बहुना, कालोपि न प्रभुत्वं कर्तुमिष्टे । अत एव कपिलदेवेनोक्तम्, "न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नक्षयन्ति नो मे निमिषो लेदि हेतिरिति" (भा० ३-२५-३८) । अनिमेषो हेतिः कालः । अत एव यमेनाप्युक्तम् 'ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समहशो भगवत्पद्माः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्निषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्ड' इति (भा० ६-३-२७) वयः कालः । अत एव द्वितीयस्कन्धे द्वितीयाध्याये । न यत्र कालेति । (भा० २-२-१७) एवं मध्ये सुप्रसिद्धं पौराणं दृष्टान्तपुत्रा पूर्वाख्यायिकायाः सत्यच्चज्ञापनाय पुनस्तत्सम्बन्धिनमेव दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यवदिति । गोपेन भ्रियते पोष्यत इति गोपभार्यः, तस्या देहस्तत्र यथा तस्या उदासीनबुद्धिस्तथा देहादौ भाव्यमित्यर्थः । ननु तक्रविषयकशोकाभावकथनात्तक्रविषयकपौदासीन्यं तस्या आसीदित्युक्तं, परन्तु देहादौ तस्या उदासी-

नभावः कथं निर्धारयति चेत्, सत्यम्, यदि देहादावासक्तिस्तस्याः स्यात्तदा तत्क्रविक्रयेण जीवन्त्यास्तस्या देहादिपोषके तत्रे क्यमोदासीन्यं स्यात् ? तेन ज्ञायते तस्या उदासीनबुद्धिरेव देहादौ । ननु प्रतिकाराशक्त्या कृतोपि शोको व्यर्थ इति शोकं न कृतवती, नत्वनासक्तिर्देहादाविति चेन्नैवम् । प्रतीकाराशक्तिं ज्ञात्वा प्रतीकारोद्यमं मा कुर्यात्, शोकाभावस्तु दुर्निवारः । यो देहो राज्यदशायामनेकदेहपोषकः सर्वसम्पत्तिसम्पन्नः सर्वसुखसन्दोहनिधानमासीत्स एव देहः पश्चात्पामरेण गोपेन पोष्यः, सर्वसम्पत्तिशून्यः, सर्वदुःखनिधानमजनीति ज्ञापनाय गोपभार्यत्वेन निर्देशः । तथा च, यदर्थं धैर्यं त्यक्तव्यं ताः सम्पदश्चञ्चला इव चञ्चला इति । किमिति । सर्वदा स्थायिसकलपुरुषार्थप्रतिक्षणपोषकं प्रभुपादपद्मं (कथं) परित्यक्तव्यमितिभावः । तथा च देहवता तत्क्रवज्जडवद्गोपभार्यवत् स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः पर्यवसन्नः । देहवता भाव्यमिति तृतीयासमासः । देहावता देहाभिमानवता तेन यत्किञ्चिदभिमानोपि संरक्ष्यः । तथा च भगवत्सेवादिविषयकः सर्वथा संरक्ष्यो, लौकिकविषयकस्त्याज्य इति भावः, यदा, देहवतेति मनुष्याधिकारकत्वनियमो व्यावर्तितः । तेन पश्चादिशरीरेष्वेवं भाव्यमितिभावः । अत एव भरतस्य हरिणजन्मन्यप्यध्यासेनिवृत्तिः । तदुक्तम्, तस्मिन्नपि कालं समीक्ष्यमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्दिग्ध आत्मसहचरः शुष्कवृणपर्णवीरुधावर्त्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकं क्लिन्नमुत्ससर्जेति तस्मिन्पुलहाश्रमे । अथवा । त्रिदुःखसहनमिति । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रयाणां कायिकवाचिकमानसिकानां दुःखानां देहपातपर्यन्तं सर्वेभ्यः सहनं धैर्यमित्यर्थः । स्वशरीरस्वीयवस्तुनोरासक्त्याधिक्ये दुःखाधिक्यसम्भवाद्दैर्घ्यमशक्यं स्यादिति तादृश्यासक्तिर्न कार्येति दृष्टान्तैराहुस्तत्क्रवदित्यादि । जडेन तुल्यं जडवत्, तृतीयासमर्थादिति । देह इव देहवत्, सप्तमीसमर्थादिति । जडभरतेन स्वदेह इव देहेष्वासक्तिः कार्येत्यर्थः । गोपभार्यवद्गोपभार्यया तुल्यं, गृहे स्थितायाः स्त्रिया भरणीयत्वात् । भार्यात्वाभावाद्बस्तुत्वेन नपुंसकतानिर्देशः । तत्क्रवदिति सप्तमीसमर्थादिति । गोपभार्यया स्वतः स्ववस्तुष्वासक्तिः कार्येत्यर्थः । तेन स्वशरीरवस्तुनोर्निर्वाहार्थमासक्तिं कृत्वा जडभरतेनेव भगवत्परतया स्थैर्यमितिभावः । ननु यदुक्तं त्रिदुःखसहनं धैर्यमिति तत्र यदि कदाचित् स्वत एव दुःखप्रतीकारः सिद्धस्तदापि किं तं प्रतीकारं निवार्य दुःखं सोढव्यमेवाहोस्वित्प्रतीकारेण तद् दुःखमपोह्यम् ? इति सन्देहे निर्णयमाहुः प्रतीकार इति ॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदृच्छातः, अनायासेन चेद् यदि प्रतीकारः दुःखप्रतीकारः सिद्धः सम्पन्नः

स्यात्तदा आग्रही मयेदं दुःखं सोढव्यमेवेत्याग्रहवान् भवेत् । इदमत्राकृतम्, अत्र हि भगवदाश्रयसिद्धयर्थं विवेकधैर्यं उच्यते । तेन त्रिदुःखसहनरूपं यद् धैर्यं निरूपितं तदपि यदि भगवदाश्रयनिमित्तं तदा कर्त्तव्यं, नोचेत्प्रयोजनं विना किमिति तत्कर्त्तव्यं ? 'न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि प्रवर्त्तत' इति न्यायात् । अत एव केनचिदुक्तम् 'अनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेव न संशय' इति । न केवलं प्रयोजनाभावमात्रं, प्रत्युत विपरितत्त्वमासुरत्वञ्च । अत एव गीतासु भगवताप्युक्तम्, 'अशास्त्रविहितं धोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः । दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः । कर्षयन्तः शरीरस्यं भूतग्राममचेतसः । माञ्जैवान्तः शरीरस्यं तान्विद्धयासुरनिश्चयानिति । यदृच्छात इति, स्वयं तदर्थमायासो न कर्त्तव्य इति सूचितम् । तदर्थमायासकरणे स्वसर्वस्वप्रभुचरणारविन्दविस्मरणं यतः । 'भूमिनिन्दाप्रसंसा नित्ययोगेतिशायने । संसर्गेस्त्विति विवक्षायां भवन्ति मातुवादय' इति वाक्यान्निन्दायामिनि प्रत्ययोत्र । तथा चासदाग्रहवान् भवेदित्यर्थः । तेनायमर्थः पर्यवसन्नः । यदि किञ्चिदपि भगवतो भगवदीयानां वा कार्यं सिद्धयेत्, तदा स्वतः सिद्धेपि प्रतीकारे दुःखं सोढव्यमेव । तत्राग्रहस्यासत्त्वाभावात् । न हि येन भगवतो भक्तानां वा सेवा सिद्धयति, तस्य कदाचिदप्यसत्त्वं भवति । यतो जन्मनो लाभः स एव यद्भगवतो भक्तानां वा कार्यसाधनम् । इदमपि स्नेहस्यापरिपाकदशायामुच्यते । परिपाकदशायां यथा यथा स्वयं क्लेशं सोढ्वा भगवतो भक्तानां वा साधयति, तथा तथा परमसन्तोष एवेति दुःखमेव नास्ति किं सोढव्यम् ? अभिमानस्यैव संसारत्वादपमानजनितदुःखसहनमतिकठिनम् । तत्रापि स्वापेक्षाया हीनैः कृतोपमानसुतरां सोढुमशक्यः । तत्रापि स्वस्वाधीनैः कृतस्ततः सुतरां सोढुमशक्यस्तेन तत्सहने कदाचित्कस्यचिच्छिथिलता स्यादिति "त्रिदुःखसहनमि"ति सङ्क्षेपेणोक्तमपि पुनर्बि-शेषत आहुर्भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषामिति । सर्वे एव बान्धवास्तेषामाक्रमं तत्कृततिरस्कारं सहेत् । आसमन्तात्क्रमः पादविक्षेपः, शिरसि पादप्रहारपर्यन्तमपि तिरस्कारं सहेदित्यर्थः । पुत्रा अपि कदाचिद्विभागादिना स्वतन्त्रा भवन्ति । भार्या तु केवलं भर्त्रेधीनैवेति तत्कृततिरस्कारो भर्तुरतिदुःसहस्तादृशोपि सोढव्य इति ज्ञापनाय प्रथमं भार्याया निर्देशः । यथैतादृशदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यस्तत्रान्यसहने किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायोप्यनेन सूचितः । तथा च, प्रभुचरणनखिनयुगलसमाश्रयणाय किं न कर्त्तव्यमिति भावोप्यसूचि । यतोत्राश्रयनिरूपणायैव विवेकधैर्यं निरूप्यते । बन्धुष्वपि एकस्य द्वयोर्वा सोढव्यो नास्ति, किन्तु सर्वेषामिति ज्ञापनाय बहुवचनम् । ननु "बह"मर्षणे, इति धातोरनुदात्तेत्वात्सहेदिति परस्मैपदं कथं चकास्तीति चेद्, इत्यम् ।

“चक्षिद् व्यक्तायां वाची”त्यत्रेकारसत्त्वेऽपि ङकारग्रहणं यत्, तत् ङितामेवात्मानेपदं नित्यमनुदात्तेतान्तु अनित्यमिति ज्ञापयति । तेन अनुदात्तेतां कदाचित् परस्मैपदमपि भवति, अत एव पण्डितप्रवणेन बोपदेवेन कविकल्पद्रुमधातुपाठे अयम् उभयपद्युक्तः । अत एव महाकविना शाकल्यपुत्रेणाप्यधिपत्समंतुमसहजुपयन्ताविकलो भवेति मधवानमशासीदिति प्रयुक्तम् । अत एवानुक्तमप्युहति पण्डितो जनः इतिप्रयोगः । ननु उदासीनाश्चेत् केपि तिरस्कुर्युस्तदा किं करणीयम् इत्याशङ्क्य, तत्रापि यदि तदसहने आश्रये कश्चनान्तरायः स्यात्, तदा सोढव्यमित्याहुस्तथान्येषामिति । यथातिदुःसहोपि बन्धूनां तिरस्कारः सोढव्यस्तथोदासीनानामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । ननु नीचश्चेत् कोपि तिरस्कुर्यात् तदा किं कार्यमित्याशङ्क्य पूर्ववदेवाहुरसत इति । असतो जात्यादिहीनस्येत्यर्थः । यदि भगवत्सेवादिकं निर्वहति तदा तदर्थे म्लेच्छादीनामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । न केवलं तेषां तिरस्कारमात्रं सोढव्यं, प्रत्युत यदि तैः प्रभुसेवादिकं निर्वहति तदा वान्धवा उदासीना म्लेच्छादयश्च त्रयोपि अनुसर्तव्या इति चकारार्थः ।

यथा भगवदर्थमतिदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यः, तथा प्रभुचरणसमाश्रयणाय प्रतिबन्धरूपः सर्वोपि सुखभोगः सुदुस्त्यजोपि त्यक्तव्य इत्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

“स्वयं”पदात् श्रीप्रभुप्रसादत्वेन प्राप्तस्य विहितत्वेन प्राप्तस्य च मिष्टान्नादेः परित्यागाभावः सूचितः । अत एव “त्वयोपभुक्ते”त्यादि । इन्द्रियकार्याणि सर्वेन्द्रियविषयभोगात् कायेन वाचा मनसा च स्वयं प्रयत्नेन त्यजेदित्यर्थः । अयमभिसन्धिः, “तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये”दिति सप्तमे नारदवचनान्निन्तरं भगवद्भावनादिरेव परमपुरुषार्थः । अत एव “तस्माद्भारत सर्वात्मे”त्यादि । “तस्मात्सर्वान्पना राजन् हृदिस्थं कुरु केशव । त्रिपमाणोऽप्यवहितस्ततोयाति पराङ्गतिम् ” । अतस्तत्साधक एव परमलाभकरस्तद्विघातक एव परमहानिकरः । यतश्चिन्तनादिविच्छेदक एव परमहानिकरः । अत एव सा हानिः “कालोस्ति यत आयुर्हरति वै पुंसामित्यादि । भोगश्च स्मरणादिविघातकः । अतः परमहानिकरत्वेन भोगास्त्यक्तव्या इत्यर्थः ॥

नन्विदमसङ्गतम्, तथाहि, अन्येषां यथा तथास्तु, भक्तानान्तु विषया न बाधकाः । यतः सत्स्वपि विषयभोगेषु भक्तिरेव सर्वसाधिकास्ति । अत एव “बाध्यमानोपि मद्भक्तः” “अपि चेत्सुदुराचार” इत्यादि । अत एव प्रियव्रतप्रह्लादाम्बरीषादीनामपि

राज्यादिकरणम् । न हि स्मरणादिविघातकेषु ते प्रवर्तन्ते । अतः कथं भगवद्भावविघातका विषया इति चेत् ? स्वानुभवं जानन्नप्येवं वदन् निरपत्रोसि । न हि त्वया भोगं भुञ्जानो भगवच्चरणारविन्दाभिनिविष्टचितः कश्चिदृष्टचरः श्रुतो वा । ननु श्रुता एव बहवः प्रियव्रतप्रभृतय इति चेत् ? रे मूर्ख ! तेषु भोगस्य नाममात्रम्, न हि ते विषयेष्वासक्तचित्ताः, किन्तु, केवलं प्रभुचरणपरायणा एव । अतः प्रभोराज्ञया ते राज्यादिकं कृतवन्तो न तु भोगं भुञ्जानाः । नन्वनुभवेन कथं निर्द्धारः प्रमाणसम्पत्तिं विनानुभवत्वप्रमात्वयोः सन्देहादिति चेत् ? वत्स ! विमलामतिस्ते, यतः प्रमाणसम्पत्तिमपि श्रोतुकामोसि । अवहितः शृणु । प्रथमं तावद्गीतासु श्रीमद्यदुकुलजलधिसमुद्गतश्रीकृष्णचन्द्रोक्तमवधारय । तथाहि, ‘विषयान्ध्यायतः पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते । क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्पणश्यति’ । सङ्ग आसक्तिः, कामोभिलाषः, क्रोधः, कोपः, सम्मोहो विवेकाभावः, स्मृतिविभ्रमो भगवच्चरणविस्मरणम्, बुद्धिनाशः सुबुद्धिनाशः, प्रणाशः स्वरूपलाभाभावः । मुक्तौ लीलाप्रवेशे वा स्वरूपलाभस्तदभावः संसारः । अत एव कपिलदेवैरप्युक्तम्, ‘चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये, इति । (भा-३-२५-१५) गुणेषु रूपरसादिषु पञ्चस्वपि विषयेष्विति यावत् । अत एव “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरि”त्यपि । अत एव विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशस्तु दूरत” इत्यपि । भोगेष्वपि स्त्रीसंभोगः सुतरां बाधकः, तत्क्षणमेव बुद्धिनिर्पयासकरत्वात् । अत एव कपिलदेवैरपि ‘न तथास्य भवेन्मोह’ इत्याद्युक्तम् । ‘भोगान्सन्त्यज्य यः सर्वान्न जातु काम’ इत्यादि यथातिवचनम् । ‘महत्सेवाद्वारमाहु’रित्यादि ऋषभवाक्यम् । ननु तर्हि ‘बाध्यमानोपि मद्भक्त, (भा. ११-१४-१८) इत्यादिना विषयाणामबाधकत्वं कथमुच्यत इति चेत् ? अत्र वदामः । केवलं भजनं कुर्वाणः कदाचिदिन्द्रियनिग्रहं कर्तुमशक्नुवन्निवर्त्यैः स्ववशः क्रियते, तस्याशक्येयं भगवान् क्षमत इति । न तस्य तत्प्रापभोगो भवति । अत एव कृपयाहं तथा सम्पादयामीति ज्ञापयितुं स्वपक्षपातज्ञापकं ‘मद्भक्त’ इति पदमुक्तवान् । अत एवा “जितेन्द्रिय” इति तस्याऽशक्तिः (दृष्ट्वा) दयायां हेतुमुक्तवान् । अजितेन्द्रियः इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः । ईश्वरः केनापि न नियन्तुं शक्य इति कदाचिदेतादृशेऽपि न क्षमं करोति, तदा तेन पापेन सोभिभूयत एवेतिप्राय इत्युक्तम् । प्रायो बाहुल्येन नतु सर्वथा नियमः । भक्तिरपि प्रगल्भा चेदुत्कर्षं प्राप्ता भवति, नोचेन्न क्षमते । तेनैवं पदयोजना, इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः सन्निवर्त्यैर्वशो यो मद्भक्तः स विषयैः पराजितो न भवति परमया भक्त्या । तथा च अनेनापि भक्तिरूपरोत्तरमधिका कार्या, यावच्छक्यमिन्द्रियनिग्रहश्च कर्तव्य इति सूचितम् । यद्वा, पूर्वमजितेन्द्रियः सन् स विषयै-

बाध्यमानोपि, यदा तत्सर्वं परित्यज्य प्रगल्भमक्तिमान् भवति तदा नाभिभूयत इति । अथवा, प्रौढिककारमेव प्रभुराह 'बाध्यमानोपी'ति । तथाहि, प्रभुर्द्वेषाप्यङ्गीकरोति मर्यादाया पुष्ट्या च । तत्र पुष्ट्या यमङ्गीकरोति स नाभिभूयते, प्रगल्भया पुष्टिमार्गीयया । एवमङ्गीकारे निमयाभावात्प्रायः इति । यथा राजानोतिक्रियाप्रायः यस्मिन्निदमि कार्यमकुर्वाणायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमप्यपराधान्न मन्यन्ते, मालिदानेपि परिहासं मन्यन्ते । अन्यस्मै च कार्यमकुर्वाणाय किमपि न प्रयच्छन्ति, उच्चैर्भाषणेपि दण्डं विदधति, स्वतन्त्रा यतः, तथा भगवानपि यस्मै अतीव कृपयति तस्मै निःसाधनायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमपि दुराचारात्न मनुते । यत्र क्षुद्राः खण्डमण्डलाधिपतयोपि स्वैरचारिणो भवन्ति, तत्र किं वाच्यं त्रिभुवनपरिवृष्टस्य पुरुषोत्तमस्य स्वच्छन्दाऽऽचरणे । यद्यपि प्रभुः कदाचित्साधनं नापेक्षतेपि, तथापि मर्यादा कदापि कस्यापि न हेया, किन्तु कार्यैव । सर्वेषां प्रभोरिच्छा दुर्ज्ञेया, यतः को वेद भगवान्कथं वा मनुते, कदाचित्प्रभुः लोकसङ्ग्रहार्थमपि कारयति, कदाचिदेवमपि । अतः करणे न बाधकमकरणे तु कदाचित्प्रभुकोपोपि सम्भावितः । तस्मात् "पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेन करणीयैव मर्यादा । यदि च मर्यादात्यागे प्रभोरिच्छां जानीयात्तदा त्यागेपि न क्षतिः । अत एव गुर्वादिहननं विदधानोपि पार्थो न दोषभाग् जातः । यदा च ज्ञानस्य भक्तेर्वा प्राचुर्येण देहाद्यनुसन्धानमेव निवर्त्तते तदा त्यागे न दोषः । अत एव ऋषभदेवजडभरतादीनां तथैवाऽऽचरणम् । यदा च भगवद्दार्तादिषु व्यसनं स्यात्तदा ज्ञात्वापि मर्यादात्यागे न दोषः । अत एव "तावत्कर्माणी"त्यादि । यदा च तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तदापि न दोषः । अत एवा"पि चेदसि पापेभ्य" इत्यादि । तस्माद्यावच्छक्यमिन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति सिद्धम् । अत एव "सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च" ।

तत्र भगवदिच्छया यदा भविष्यति तदा भवत्विति प्रकारकमालस्यं न कार्यं, किन्तु स्वयमुद्यम्येन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति ज्ञापनाय स्वयमिति ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्त्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

बहुवचनेन सर्वेन्द्रियभोगस्त्याज्य इति सूचितम् । यद्वा, भोगानत्यज्यन्तमन्यं दृष्ट्वा कदाचित्कश्चिदालस्यं कुर्यात्तत्राहुः स्वयमिति, अन्यस्त्यजतु, मा वा, स्वयन्तु त्यजेदित्यर्थः । न ह्यन्यत्रापकर्षं दृष्ट्वा स्वयमप्यपकृष्टेन भाव्यं, किन्त्वन्वयत्रोत्कर्षं दृष्ट्वा स्वयमुत्कृष्टेन भाव्यम् । अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्सत्राचार्येण शिष्यशिक्षणप्रकारे "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणी"त्युक्तम् । भोगस्य सामर्थ्यां सत्यां धैर्यं दुष्करमिति पूर्वमेव सामग्रीमेव न सम्पादयेदिति ज्ञापनायेन्द्रियकार्याणीति ।

अन्यथा 'भोगोस्त्यजेदि'त्येवोक्तं स्यात् । अत एव "मात्रा स्वस्ते"त्यादि । तेन समूलघातं भोगं हन्यादिति पर्यवसितोर्थः । अत एव शब्दादीन्विषयोस्त्यक्तवेत्यादि । त्यागे प्रकारमाहुः कार्येति । कायेन वाचा मनसा चेत्यर्थः । इन्द्रसमासोयम् । "सर्वो हि इन्द्र" इत्येकवद्भावः । यद्वा, "कायवाग्भ्यां सहितं यमन" इति मध्यमपदलोपी समासः । तेन कायवाचोर्गौणत्वं तृतीयया सूच्यते । तथा च मुख्यो मानस एव त्यागः । कायिको वाचनिकश्च गौणः । अत एव गीतासु "कर्मेन्द्रियाणि संयम्ये"त्यादि । नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । यतः कठिनतम इन्द्रियनिग्रहः । अत एव गीतासु, "इन्द्रियाणि प्रमाथीनी"त्यादि । उपदेशश्चासम्मतः । न हि शास्त्रमप्यशक्यमुपदिशति । अतः कथमुपदेश इति चेत्त्राहुरशूरेणापीति । अशुर इन्द्रियजयं कर्त्तुमशक्तः । तादृशेनापि यथाशक्तीन्द्रियदमनं कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः, स्वस्येति भावनात्, विचारणात् । अयमभिसन्धिः । यदि जीवः स्वयं स्वदोषाभिराकर्तुं समर्थः स्यात्तदा मर्यादोलङ्घनेन जनितदोषाभिवार्य सुखी स्यात्, परन्तु, स्वयमसमर्थः न हीश्वरमर्यादां मनसाप्यन्यथा भावयितुं कोपीष्टे । अत एवेशस्य हि वशेलोक-इत्यादि । तथा च, विचारे क्रियमाणे निग्रह एवेन्द्रियाणां कार्यः । अत ए"वेन्द्रियाश्चिनिर्माह" इत्यादि विचारश्चावश्यकः । न हि विना विचारं कोपि कुत्रापि प्रवर्त्तते । "न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि प्रवर्त्तत" इति न्यायात् । कुतस्तराश्च विवेकी । पदसम्बन्धस्तु, स्वस्यासामर्थ्यविचारणादशूरेणापीन्द्रियनियमनं कर्त्तव्यमिति ॥ ८ ॥

ननु निग्रहः सर्वथावश्यक इति सत्यं, परन्तु यदि कथमपि कर्त्तुं न शक्नोति तदा किं तस्य नाश एवाहोस्वित्कथञ्चिन्निस्तार इत्याशङ्क्याप्राहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

अशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति । रक्षक इतिशेषः । तत्र हेतुः, सर्वमिति । आश्रयतः भगवदाश्रयं कुर्वतः पुरुषस्य सर्वं भवेत् । आश्रयत इति पञ्चमी वा । इदमत्राहुतम्, यदि सर्वथाऽशक्यं ज्ञात्वा केवलं भगवच्छरणमेव भावयति तदा दयया भगवानेव तस्य सर्वं साधयति, अतो भगवदाश्रयात् सर्वसिद्धिः । अत एव "किरातहूणे"त्यादि । अतो न तस्य नाशः । अत एव "कौन्तेय प्रतिजानीही"त्यादि । सर्वदुःखहर्त्ता हरिः । तेन दीने परमदयालुरित्यवश्यं कार्यं साधयत्येवेति ज्ञापनाय हरिपदम् । एव कारेणान्यव्यपह्नेदः । न ह्यन्यः सर्वेषां सर्वदुःखानि निवार्य सर्वानन्दं दातुं शक्तः । एवं सर्वथाऽशक्ये रक्षकत्वेन भगवद्भावनमपि गौणः पक्षः । मुख्यपक्षे तु भगवान् किमपि करोतु, स्वेन तद्भावनमपि न कर्त्तव्यम् । न ह्येतावानपि सङ्कोचः प्रभो

३४ विवेकधैर्याश्रयः श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीकुलोत्सवविट्टितिसमेतः ।

दातुमुचित इति ज्ञापनाय रक्षक इति विधेयपदस्याप्रयोग एव, किन्त्वध्याहारः ।
 “ब्रह्मवर्चसकामस्त्वित्यादिवाक्यात्प्रतिनियतकार्यसाधका अन्ये, भगवाँस्तु सर्वे
 साधयति, “अकामः सर्वकामो वे”ति वाक्यात् । तदाहुः सर्वमिति । अत एव
 “किमलभ्यमि”त्यादि । आश्रयत इत्यासमन्तात् श्रयतः सेवां कुर्वतः “श्रिञ्सेवायां,”
 सेवा च चित्तस्य तदेकपरता, “चेतस्तत्त्ववर्णमि”ति लक्षणात् । तदनुकुला च या काचन
 कृतिः सा सर्वापि सेवैव । अत एव “मानसी सा परामते”ति । तादृश्येव च कृतिः
 सन्तोषजनिका, सेवा च सन्तोषजनिकैव । “यद्वचे”ति वाक्यात् । लोकेपि तात्पर्य-
 पूर्विकैव कृतिः सन्तोषजनिका । तथा च, स्वज्ञानानुसारेण प्रभुसन्तोषजनिकां ज्ञात्वा
 निरन्तरं कृतिः कार्येति सिद्धम् । शतृपत्ययेनाश्रयत्यागे किमपि न सिद्धयती-
 त्यप्यसूचि । अत एव “पतन्त्यथोऽनाहत युष्पदद्वयम्” इत्यादि । अशक्य इति पदाच्छ-
 क्यत्वेऽवश्यमिन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति सूचितम् । शक्तौ सत्यां मर्यादोलङ्घने प्रभुरपि
 क्रुद्धयति । अशक्यत्वे दयाविष्टः सन्सर्वमेव साधयतीति निर्गर्वः । अत एव सकलदुःख-
 दूरीकरणज्ञापितपरमदयालुत्वज्ञापकं हरिपदं प्रयुक्तवन्तः । अत एव “समस्तदुःखात्यय-
 भाशुधत्त” इत्यादि । ननुपक्रमे त्रिदुःखसहनं धैर्यमित्युक्तम्, उपसंहारे च विषयभोग-
 रूपसुखस्य त्याग उक्तः तथा उपक्रमोपसंहार विरोध इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंह-
 रन्त्येतदिति । अत्र धैर्यप्रकरणे एतन्त्रिदुःखसहनमित्यारभ्य यन्निरूपितं तत्सर्वं
 सहनमेवोक्तमित्यर्थः । न हि दुःखसोढा भोगत्यागः कर्त्तुं शक्यते, तेन भोगत्यागे-
 नापि पर्यवसन्नं दुःखसहनमेवोक्तमिति नोपक्रमोपसंहारविरोधः । नन्विदं न सङ्गच्छते ।
 तथा हि, भवद्भिः सहनमेव धैर्यमुच्यते, तच्चासङ्गत्तं, वचनविरोधात्, वचनेषु सर्वत्रोभयो-
 र्भेदात् । तानि च “तेजो बलमि”त्यादीनि । अत एव श्रीमदुद्धवैः पृथक् पृष्टं, श्रीमद्य-
 दुवंशजलधिरत्वेनापि तथैवोत्तरितम् । तस्मादुभयोरैक्यं कथं घटत इति चेद्, अत्र वदामः ।
 अन्यत्र यथा तथास्तु, अत्रास्मिन्ग्रन्थे एतद्धैर्यमेव सहनमुक्तं न तु भिन्नमिति पद-
 सम्बन्धः । वस्तुतस्तु द्वयोरैक्यमेव । उक्तप्रश्नोत्तरयोर्भिन्नतया कथनन्तु अवस्थाभेदमा-
 श्रित्य । नतु क्षमाधृत्योर्भेदः । अत एवोत्तरे ‘तितिक्षा दुःखसम्पन्नै’ इति सामान्यतः
 सहनमुक्तम् । ‘जिह्वोपस्थजयोधृतिरि’ति विशेषतः । न हि जिह्वोपस्थयोर्जयस्तदुभय-
 सम्बन्धिदुःखसहनादन्योस्ति । ये हि तदुभयजयनिमित्तं यतन्ते ते तयोर्निग्रहे क्रियमाणे
 जिह्वाविषयस्य सुस्वाद्वद्वादेरुपस्थविषयस्य स्त्रयादेरलाभेन यद् दुःखमापद्यते, तत्कीदृश-
 मपि कठिनं सहन्ते नन्नन्यत् किञ्चित्कुर्वन्ति । यथा यथा चाभ्यासस्तथा तथाऽनायासेन
 सहन्ते । अत एव गीतासु क्षात्रस्वाभाविककर्मसु “शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्षयमि”ति धैर्यं
 गणितम् । न हि जिह्वोपस्थयोर्जयः क्षत्रियाणां सहजो धर्मः, किन्तु, दुःखसहनमात्रम् ।
 अत एव गीतासु, (११) “धृतिं न विन्दामि गीतासु (२८) “धृत्या यया” । उदेशकमानु-

सारेणाश्रयमाहुराश्रयोत इति । अत इति ल्यङ्लोपे पञ्चमी । अत इदं द्वयं निरूप्येत्यर्थः ।
 तेनैवं पदसम्बन्धः । अतः विवेकधैर्ये निरूप्य तदनन्तरमाश्रयो भगवदेकशरणत्वं
 नितरां विविच्य रूप्यते कथ्यत इति । तथा चातः परमाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।
 यद्वा, हेतौ पञ्चमी । अत आभ्यां विवेकधैर्याभ्यां हेतुभ्यामाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।
 यद्यपि भगवदनुग्रहं विना नाश्रयः सम्भवति, तथापि, यदा साधनद्वाराङ्गीकरोति
 तदा विवेकधैर्येपि साधने । अत इति सहाय्ये तृतीया । सार्वविभक्तिकस्तसिल ।
 तथा च, विवेकधैर्याभ्यां सहाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । तृतीयया विवेकधैर्य-
 योरप्राधान्यं, प्राधान्यं चाश्रयस्यैवेति निरूप्यते । अथवा, एतद् विवेकसहितं सहनं
 धैर्यमत्रास्मिन्ग्रन्थे उक्तं कथितम् । अतो हेतुराश्रयो निरूप्यते अयमभिसन्धिः ।
 आश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, तेन यद्याश्रयो न निरूप्यते, तदा विवेकधैर्य-
 निरूपणं व्यर्थं स्यात् । तथा चैवं पदसम्बन्धः । यतः कारणादाश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन
 विवेकधैर्ये उक्ते, अतो हेतोर्विवेकधैर्ययोर्निरूपणस्य सार्थकत्वाय विवेकधैर्यनिरूपणान-
 न्तरमाश्रयो निरूप्यत इति । बुद्धिस्थवाचकत्वात्सर्वनाम्नां पूर्वं च विवेकसहितमेव धैर्य-
 मुक्तमिति विवेकसहितमेवैतत्पदेनोच्यते । यद्वा, एतद्विवेकसहितं सहनं धैर्यम्, अत्राश्रये
 उक्तमभिहितमतो हेतोस्तदुभयनिरूपणानन्तरं यत्रेदं द्वयं निरूपितं स आश्रयो निरू-
 प्यत इति । तथाहि, अत्र हि भगवदाश्रये क्रियमाणे यादृशे विवेकधैर्ये अपेक्षिते तादृशे
 निरूपिते, स आश्रयस्तदुभयनिरूपणानन्तरं निरूप्यत इति । आश्रयः आसमन्तात्
 श्रयः सेवनम्, श्रिञ्सेवायाम्, अस्मात् घञ् । सेवा च चित्तस्य तदेकपरत्वम्, अत एव
 “चेतस्तत्त्ववर्णं सेवे”ति लक्षणमुक्तमाचार्यैः । यद्यपि, मनोवाग्देहेः सेवा त्रिविधा,
 तथापि, मुख्या मनोव्यसनरूपस्नेहात्मिका । अन्या तु सेवा तत्साधनरूपा । अत एव
 “चेतस्तत्त्ववर्णं सेवे”तिलक्षणमुक्तम् । “तरिसिद्धयै तनुवित्तजे”ति सेवान्तरस्य तत्साधन-
 त्वमुक्तम् । मनोवचनरूपायास्तु “मनसी सा परा मते”ति मुख्यत्वमुक्तम्, इयमेव
 भक्तिरित्युच्यते । शाण्डिल्यसूत्रे “सा परानुरक्तिरीश्वर” इति लक्षणात् । अत एव
 नारदपञ्चरात्रे “स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त” इति लक्षणमुक्तम्, तत्र माहात्म्यज्ञानपूर्वकं
 तु अपराधनिवृत्त्यर्थम्, न तु लक्षणे प्रविष्टम् । श्रवणादिलक्षणा तु भक्तिस्तस्याः साधन-
 रूपा, अत एव ‘भक्त्या सज्जातया भक्त्यै’ति । अतः सेवामार्गो भक्तिमार्गश्चैक एव ॥ ९ ॥
 प्रतिज्ञातमाश्रयं पद्यचतुष्टयेन लक्षयन्ति, एहिक इत्यादिना ।

एहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

एवं चित्त इत्यनेनान्वयः । “मुख्यो मानस” इति पूर्वमानसोक्तिः । तत्र सङ्केपत आश्रयस्वरूपमर्द्धेन पथेनाहुरैहिक इति, ऐहिके इह लोक सम्बन्धिनि, परलोके परलोकसम्बन्धिनि कार्यमात्रे सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हरिः श्रीकृष्णः शरणं रक्षकोस्तु । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यग्रिमेणान्वयः । रक्षणं चात्र हितकरित्वं, न तु प्राण-रक्षकत्वमात्रम्, लोकेपि महाशास्त्रयुपस्थितौ धनादिमोषे वा उपस्थिते तस्माच्चिवारणे कृते अनेनायं रक्षित इति प्रयोगः । तेनैहिकपारलौकिकयोरर्थयोः सर्वैः प्रकारैस्त्वमेवास्मद्धि-तकारी भवेति प्रार्थना । जीवाः प्रायेण स्वस्य हितमपि न विदन्ति । हितज्ञानेऽपि प्रबलेषु स्वदोषेषु विद्यमानेषु प्रबलैः प्रत्युद्भिः कृत्वा स्वहितं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तस्मात्त्वमेव सर्वान्दोषाच्चिवार्यं हितं साधयेति भावः कटाक्षितः । केचनैतादृशा ये किमपि न प्रार्थयन्ते, उच्यते त एवेत्यपि ज्ञापयितुमस्त्विति प्रार्थनार्थकक्रियापदस्याप्रयोगः । नन्वेतादृशाः के सन्ति, येषामैहिकं पारलौकिकं च किमपि न प्रार्थनीयमस्ति । न हि परमविरक्ता अपि पारमार्थिकाद्विरज्यन्ते इति चेद्, अत्र वदामः । येषां प्रभुचरणारविन्दे व्यसनमस्ति ते श्रुत्यादिकमपि नेच्छन्तीति पारमार्थिकमपि न प्रार्थयन्ते । अत एव “न नाकपृष्ठं” “नैकात्मतामि”त्यादिवचनानि । ननु ये श्रुक्तिं न वाञ्छन्ति, तेषां प्रभुचरणारविन्दा-नुरागरूपां भक्तिं वाञ्छन्त्येव, न हि भगवदीयास्ततोपि निरपेक्षा भवन्ति । अतः सा भक्तिरेव परमार्थिकी प्रार्थनीयास्तीति प्रार्थनानिरपेक्षाः सर्वदुर्लभा इति चेत्, सत्यम्, दुर्लभा एव, कः सन्देहः, परन्तु, दुर्लभा एव, नत्वलभ्याः, तथाहि, ये चरणा-रविन्दे व्यसनिनस्ते ततोपि निरपेक्षाः । यदि तावदप्यपेक्षितं स्यात्तदा तद्व्यसनमेव न स्यात् । व्यसनं हि तदेव यत्र तद्विना स्यात्तुमेव न शक्नोति, इदमेव (व्यसनं) तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं, नत्वन्यत् किञ्चित् । अत एव लौकिकेपि घृतादौ ये व्यसनिनस्ते स्या-तुमशक्ता एव तत्र प्रवर्तन्ते, नत्वन्यन्निमित्तमस्ति । ननु धनाशैव निमित्तमस्तीति चेत्, रे हृदयशून्ये ? यदि धनाशैव निमित्तं स्यात् तदा मुहुर्मुहुः पराजिता अपि कथं प्रवर्तेरन् ? सन्देहादेव प्रवर्तन्ते इति चेत्, ज्योतिर्विद्भिः समूलघातं सन्देहे इतेपि प्रवर्तन्ते एव । न ह्युपायसहस्रेणापि तत्तद्व्यसनिनः कथमपि तेभ्यो निवर्तन्ते क्वचित् । किञ्च, इदमपि श्रुते आश्चर्यं स्यात्, व्यसनान्तरेषु का गतिः, न हि पापद्विपरायणा मरेयमत्ताः परदाररताश्च धनाशया प्रवर्तन्ते, प्रत्युत शम्भलीशुक्तसर्वस्वास्ते । तस्माच्चरणारविन्द-

व्यसनिनोपि निमित्तनिरपेक्षा एव, अत एव कपिलदेवेनापि “अनिमित्ता भाग-वती”ति फलभक्तिलक्षणं श्रुतम् । यदि किमपि निमित्तं तत्र विद्यते तदा अनिमित्तत्वं कथं वदेत् ? अग्रे च “अहेतुव्यवहिता या भक्तिः गुरुषोऽन्ते” इत्युक्तम् । “कुर्वन्पदै-किमपि” । अत एव कौण्डिन्यप्रभृतयस्तथाभूताः । अत एव ब्रजवासिनामपि तथा भावः । ननु यदि व्यसनिनः किमपि न प्रार्थयन्ते, सर्वनिरपेक्षत्वात् तदा ब्रजवासिनः कथं प्रार्थितवन्तः ? न हि तदपेक्षयाप्यन्ये व्यसनिनः सन्ति, “क्षणं युगशतमि-वे”त्यादि वाक्यात् । प्रार्थयते च तैरनारतमेव । ननु केरुक्तं तैः प्रार्थयत इति ? शुक-दिधिरेव । कुत्र ? श्रीभागवतादावेव । तथाहि, ॥ १२ ॥ “राम ! राम !” ॥ १६ ॥ “कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २० ॥ “राम ! राम !” ॥ “कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २६ ॥ “मैवं विभो” ॥ ४४ ॥ “मनसो वृत्तयः” ॥ ७९ ॥ “आहुश्च ते,” इत्यादिषु तत्कर्तृकप्रार्थना श्रूयते । न च तत्र प्रार्थनं किन्तु, कथनमात्रमिति वाच्यम्, “इति विज्ञापितो गोपैरि”त्यादि श्रुकोक्तिव्याकोपात् विज्ञापनं प्रार्थनमेव, अपि च, अन्ये तु श्रुत्यादिनिमित्तं प्रार्थयन्ते, न त्वैहिकनिमित्तम् । एते तु श्रुत्यादिनिमित्तव्यर्थमपि प्रभुं प्रार्थयन्ते । अल्पतमे श्रुतिव्यादावपि यदि प्रभुं प्रार्थयन्ते तदा किमुवाच्यं महति कार्ये, यत्र निरूपमनिरूपधिनिरवधिस्त्रिधा ब्रजवासिनोऽजस्रप्रार्थयन्ते तत्रान्यः को वा सनाथः स्वनाथं न नाथेत् । तस्मादपार्थः प्रार्थनारहितान्वेषणप्रयास इति चेद्, अत्रोच्यते । प्रथमं तावत्प्रार्थनास्वरूपं विचारय, प्रार्थना नाम कः पदार्थः । ननु ममेदमपेक्षितमित्यपे-क्षितकथनं प्रार्थनेति चेत्, न, राज्ञः सेवकं प्रत्येवं वचनमपि प्रार्थना स्यात्, न हि सा प्रार्थना, किन्त्वाज्ञा । तथा मित्रं प्रति अन्यं कञ्चिदुदासीनं प्रति तादृग्वचनमपि प्रार्थना स्यात् । न हि सा प्रार्थना किन्तु, कथनमात्रम् । ननु तस्य प्रार्थनात्वे किं बाधकमिति चेत्, प्रयोगाभावात् एव, न हि तत्र राज्ञा मित्रेण वा इदं प्रार्थयत इति कश्चित्पयुक्ते । ननु लाभहेतुकं वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रार्थनानन्तरं लाभे तद्वचनस्य प्रार्थनात्वं न स्यात् । लाभरूपकार्याभावेन पूर्ववर्तित्वादिरूपकारणत्वा-ऽभावात् । न च सा न प्रार्थनेति वाच्यम्, प्रार्थितमनेन न दत्तमिति प्रयोगात् । ननु लाभेच्छया वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रजाभ्यो धनं गृह्यतामिति राजाज्ञाया अपि प्रार्थनात्वप्रसङ्गात् । करादिसञ्ज्ञया प्रार्थने अव्याप्तिश्च । न च तत्प्रार्थनमेव न भवतीति वाच्यम्, हस्तेनायं याचत इति प्रयोगात् । गृहीतमौनव्रतस्य भोजनादावपि तथात्वात् । स्यादेतत् । न वयं वचनपर्यन्तं वदामः, किन्तु लाभेच्छया यत्क्रियते तत्सर्वं प्रार्थनेति, तस्मात्प्रार्थयितुमर्थः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । एवमप्याप्त्यावर्चनेपि राजाज्ञायामतिव्याप्तिर्वज्रलेपायितैव । ननु दयोत्यादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । श्रुण्वतां दयोत्यादकं “दुष्टमेनमाशु मारये”ति महादारुणवचसोपि याञ्चात्त्वमसङ्गात् । ननु

सम्बोध्यस्य दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, न, आङ्गस्य दयालुत्वे उक्तवचने-
ऽतिव्याप्तेः । निर्दयं प्रति प्रार्थने व्याप्तेश्च । अश्रवणे चाव्याप्तेः । न चेदं द्वयमपि न
याञ्चेति वाच्यम्, निर्दयोयमेतत्प्रार्थनां न मनुते, व्यग्रोयमेतत्प्रार्थनां न शृणोतीति च
प्रयोगात् । किञ्च, “अयं देवदत्तो भृशमक्लेशीदि”ति प्रासङ्गीकोक्तावप्यतिव्याप्तेः ।
अथ स्वस्मिन्सम्बोध्य दयोत्पादकं वचस्तथेति चेत्, न, “सखे भृशमहमक्लेशिषमि”-
तिवृत्तचान्तवचनेऽतिव्याप्तेः । न हि सुहृत्केशश्रवणेपि नानुकम्पते मनः । अथ दयार्थ-
मुक्तिः प्रार्थनेति चेत्, न, किं स्वस्मिन्दयार्थमाहोस्वित्परस्मिन्नुत सामान्यतः । न
प्रथमः । परार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न द्वितीयः । स्वार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न तृतीयः ।
“निर्दयमेनं सदयं कुर्वि”त्युक्तेन देवदत्तेन पूर्वराजकथादिभिः कृते क्रूरराजमबोधनेऽति-
व्याप्तेः । न च या च नैव सेतिवाच्यम् । राजानमयं पुराणादिभिः प्रबोधयतीति
वद्याचत इत्यपि प्रयोगापत्तेः । तस्मात् प्रीमांसितव्यमेवैतदिति चेत्, न, धात्वर्थविचारेण
याचनैव प्रार्थना, न च राजादिवचनादावतिप्रसङ्गः । तत्राऽप्यकर्षाद्यभावेपि प्रार्थना-
त्वस्येष्टत्वात् । अत्र निरपेक्षत्वमपि भगवत्स्वरूपभजनातिरिक्तनिरपेक्षत्वमेव । न हि
भगवदीया भगवति निरपेक्षाः, तथा सति ज्ञानमार्गपातात् ॥ १३ ॥

शरणसिद्धयर्थमाहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

देवान्तरस्य भजनं, तत्र देवान्तरसमीपे मार्गवशाद्यभावेपि स्वेच्छया गमनम्,
चकारात्तदर्थमन्यप्रेरणं च विवर्जयेत् । भगवति च कार्यमात्रे अल्पेपि कर्त्तव्ये अथवा
सर्वेषु कर्त्तव्येषु प्रार्थना वर्जयेत् । अत्यशक्यार्थे प्रभौ प्रार्थनायां कृतायामपि मुहुः प्रार्थना
न कार्येति बहुवचनम् । तथा प्रभुवद् अन्यत्र देवान्तरे प्रार्थना विशेषण वर्जयेत् ॥ १४ ॥

नन्वेवं सति कथमिष्टसिद्धिः? प्रभुरपेक्षितं कुर्यान्न वेति चेत् तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

भक्तिमार्गे अविश्वासो न कर्त्तव्यः, “ये यथा मां प्रपद्यन्त ” इति वाक्यात्,
सः सर्वथा बाधकः । विश्वासस्तु कर्त्तव्यः । अनयोः (विश्वासाविश्वासयोः) क्रमेण
बाधकत्वसाधकत्वयोर्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यावनुसन्धेयौ । लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण
बद्धो हनुमान् चलितवान्, ततस्तैरन्यैः पार्श्वैर्दुमारब्धो ब्रह्मास्त्रे राक्षसानामविश्वासं दृष्ट्वा
स्वयमपि ब्रह्मास्त्रमर्यादागुलङ्घय ततश्चलितवान् । ततो ब्रह्मास्त्रं व्यर्थमभूत् । एवं भक्तिमार्गाऽ-

विश्वासे भक्तिमार्गीयं सर्वं व्यर्थं भवति । चातकः पक्षिविशेषः, स्वातिर्वर्षिष्यति स्वाति-
जलमेव मया पेयमिति विश्वासेन महदन्यत् जलं विहाय तिष्ठति, तदर्थं स्वातिर्वर्षति
स पिबति । एवं भक्तिमार्गे हरिः सर्वं करिष्यतीति विश्वासेन भक्तिमार्गमर्यादां
गृहीत्वा यस्तिष्ठति, तस्य योगक्षेमनिर्वाहं प्रभुः करोति, “तेषां नित्याभियुक्तानां योग-
क्षेमं वहाम्यहमि”ति वाक्याच्च । सर्वं भगवत एव, अहं भगवदासो भगवदत्तमेव भगवते
समर्पयामीति ममत्वं त्यक्त्वा प्राप्तं सेवेतेत्वाहुः प्राप्तं सेवेत निर्मम इति ।

नन्वेवं ममत्वाभावे भगवत्कार्यातिरिक्तं कार्यं न कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्यथा-
कथञ्चिदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्चावचान्यनेकप्रकारकाणि, वैदिकानि लौकिकान्यप्यविरुद्धानि कार्याणि ।
यथा कथञ्चिद् न विस्तारेण कुर्यात्, व्यवहारोपयोगित्वाद्, व्यवहारस्य परम्परया
भगवद्भजनोपयोगित्वादित्यर्थः । कियन्तः प्रकाराः वक्तव्या इति सङ्क्षेपेणाहुः किं वा
प्रोक्तेन बहुनेति । कर्मभिर्न मम निस्तारः, किन्तु, भगवदाज्ञया कृतैः भगवान्प्रसन्नः
शरणं भवत्विति भावयेदित्याशयेनाहुः शरणं भावयेद्धरिभिति ॥ १६ ॥

नन्वाश्रयनिरूपणेऽन्यस्य भजनवर्जनादिकं किमित्युक्तमित्याशङ्क्याहुरेवमाश्रय-
णमिति ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्वैश्वानरश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो
विवेकधैर्याश्रयः सम्पूर्णः ।

“यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम् । आलोकयेन्न कृपया, अनन्यजन-
वत्सल” इति प्रह्लादवाक्यात् । अन्यभजने सम्यगाश्रयणमेव न सिद्धयेदिति तदभाव-
स्याङ्गत्वात् प्रथमाधिकाररूपत्वात् । अनेन प्रकारेण साङ्गमाश्रयणमेव प्रोक्तं तत्सर्वेषां
वर्णानामाश्रयणां च सर्वकालं सुखकारि । ननु मुख्यं भक्तिः कुतो नोच्यत इति
आशङ्क्य, “प्रायेणाल्यायुषः सूत कलावस्मिन्गुणे जनाः । मन्दाः सुमन्दमतयो मन्द-

४० विवेकधैर्याश्रयः श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीकुलोत्सवविवृतिसमेतः ।

भाग्या ह्युपद्रुता” इति कलावेतादृशा जनाः किं साधयेयुः ? अशक्योपदेशे वाऽनाप्तत्वं स्यात् । इत्येवमाश्रये क्रियमाणे भगवान्कृपया भक्तिमपि दास्यतीत्याशयेनाहुः कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिरिति । भक्तिरादिर्येषां ते भक्त्यादयः । तेन च ते मार्गाश्च भक्त्यादिमार्गाः । प्रावाहिकभक्तिमार्गो मर्यादाभक्तिमार्गः पुष्टि-भक्तिमार्गश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिः कृतिशर्मणे ।
श्रीगोविन्दमुतेनोक्ता गोकुलोत्सवसूरिणा ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगो-
कुलोत्सवविरचिता विवेकधैर्याश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिनः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद्रोकुलाधिपे ।

स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मेहं प्रसीदतु ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गयोर्भक्तिमार्गस्य च सम्यक्प्रपञ्चितत्वेपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं विमृश्य तत्रासमर्यानामर्थं सङ्क्षेपेण 'जग-
न्नाथे विह्वले चे'त्यत्रोक्तं प्रपत्तिमार्गं हृदि सिद्धवत्कृत्वैदानीं तं प्रपञ्चयिष्यन्तस्तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वञ्च बोधयिष्यन्तो विवेकधैर्याभ्यामाश्रयस्य सिद्धिं बोधयितुं तत्साधने विवेकधैर्ये रक्षितुं नियुञ्जन्ति, तद्रक्षणस्यावश्यकत्वं वा बोधयन्ति । विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सततं निरतरं रक्षणीये इति प्रैषे प्राप्तकाले वा अनीयस्तेन नियोग आवश्यकत्वञ्च समञ्जसम् । रक्षणे नैरन्तर्योक्त्या आश्रयोत्तरमपि तद्रक्षणवश्यकत्वं बोध्यते । रक्षणञ्चात्र तन्नाशकनिवारणेन तःपोषणम् । एतदेव साम्प्रदायिकैः स्वीकारत्वेन तदनु-
सन्धानपूर्वकतदनुकूलाकृतिकरणत्वेन च बोधितम् । तेन च फलमाहुस्तथाश्रय इति । तथाकृते आश्रयः सिद्धयेदित्यर्थः । यद्वा, ते तथा तेन प्रकारेण रक्षणीये यथा आश्रय सिद्धयेदित्यर्थः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् क्रियामात्रस्यैवाध्याहारः । आश्रये क्रियास-
म्बन्धस्य कण्ठतोऽनुक्त्या पृथगुपादानेन च स्वकृत्यसाध्यत्वं तृष्टप्रभुदानसाध्यत्वञ्च ज्ञाप्यते । “सोऽहं तवाङ्गुपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीक्षमन्य” इत्यक्रूरस्तुतौ सुबोधिण्यां तथा प्रपञ्चनात् । अत्र साम्प्रदायिकाः । अध्याहरापेक्षयाऽनुसङ्गस्य वचनविपरिणामस्य च लघुत्वात्तथा आश्रयो रक्षणीय इत्येवं योजनं ज्यायो मत्वा केचन

त्रयाणां दण्डचक्रादिन्यायेन भक्त्युपायत्वसामान्यात् समप्राधान्यं रोचयन्ते । केचन पूर्व-
योरेकपदेन कथनात् तृतीयस्य पृथगेवोपादानात्पूर्वयोरुत्तरहेतुत्वं युक्तमुत्पश्यन्ति ।
केचन त्रयाणां क्रमेणोक्तेः सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वं विवेक आवश्यकस्ततो धैर्यम्, आश्र-
यस्तुभयनिर्वाहक इति तात्पर्यं प्रकाशयन्ति । यद्यप्येवं मतत्रयमप्युपपन्नं, तथापि, समा-
प्तावाश्रयस्य फलसम्बन्धबोधनात् स्वस्वाभिसंहितरूपेणाश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनाच्चा-
ध्याहारेण योजनाप्यदुष्टैव । न च गौरवं शङ्कनीयम् । तत्पक्षेप्यनुषङ्गविपरिणामयोर्द्वयो-
रङ्गीकारेण तौल्यात् । किञ्चैवं “पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे”ति नामापि पुष्टार्थं भवति ।
अन्यथा तु निबन्धे सङ्क्षेपेण निरूपणात्सुबोधिन्यामप्यन्यशेषत्वेन कश्चित् सङ्कीर्ण-
त्वात्तत्र तत्र किञ्चित् किञ्चित् कथनेन विप्रकीर्णत्वाच्च ‘पृथक्’पदमपुष्टार्थं स्यात् ।
न चैवं सति भक्त्यङ्गत्वभङ्गात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निरूपणं विरुद्धयेतेतिवाच्यम् ।
उपकारकत्वेन गौण्यापि तत्सम्भवात् । किञ्चायं शरणमार्गो न भक्तिमार्गाद्विविक्तः,
पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे पृथक् तदनुक्तेः । किन्तु, प्रवाहादत्यन्तं विविक्तो भगवति स्वस्वा-
मित्वस्य सर्वदानुसन्धानान्मर्यादाया अपि विविक्तः, पुष्ट्या सङ्कीर्णः । तेन प्रयोजकै-
क्यात्तत्र मिश्रभेदेऽप्येवमिश्रत्वानुक्तेरत्र च समाप्तावाश्रयकथने “कलौ भक्त्यादिमार्गा हि
दुःसाध्या इति” मार्गत्रयदुःसाध्यत्वस्य हेतुत्वकथनेनास्य भक्त्यादिमार्गानुक्त्वत्वबोधनाच्च
स्वरूपभेदात् त्रितयसजातीयः स्वफलसाधनेन तत्तदुपकारकश्चेति सिद्धयति । तच्चातु-
कल्पत्वं “नामान्यनन्तस्ये”त्यत्र प्रथमस्कन्धपष्ठे प्रपञ्चितम् । यद्यपि, तद्विरक्ताधिका-
रित्वं तथापि, गीताया द्वादशोऽध्याये “अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुमुद्योगमाभित” इत्यत्र
“सर्वधर्मानि”त्यत्र च, गृहस्थमर्जुनं प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वमपि सिद्धयति ।
अनुकूलस्योपकारकत्वञ्च पूर्वतन्त्रसिद्धम् । एतावान्परं विशेषस्तत्र फलोपकारकत्वं
सिद्धमत्र तु स्वरूपोपकारकत्वमप्यस्तीति । तेन येषां यथा भातस्तैस्तथा विवृत इति न
कोपि कापि विरोधः । ननु निबन्धोक्तस्यैवायं विस्तार इति कथं निगन्तव्यमिति चेत्,
इत्थम् । तत्र पूजाप्रवाहस्य भगवत्साभिध्यगमकत्वमुक्त्वा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपत्ति-
रितिमार्गस्वरूपं निष्कृष्टम् । परन्तु, तच्छरीरमविष्टं तत्परत्वं न विचारितम् । तदत्र
सिध्यतीति तथा विनिगम्यते । किञ्च, प्रपत्तिपदार्थः शरणगमनम् । “कृष्ण कृष्णाममे-
यात्मन् प्रपन्नभयभङ्गन, वयं त्वां शरणं याम” इति मागधसंस्कृतराजवाक्यसुबोधिन्यां
प्रपन्नभयनिवारकत्वं तवावश्यकं, “अतो वयं प्रपन्ना भवाम” इत्याहुर्“वयं त्वां
शरणं याम” इति शरणगमनस्य प्रपन्नभवनत्वेन व्याख्यानात् । तच्चात्र स्फुटमतोपि

तथेतिदिक् । प्रकृतमनुसरामः । एवमुभयोर्विवेकधैर्ययो रक्षणं, तस्य फलसम्बन्धञ्च
बोधयित्वा तयो रक्षणप्रकारमाश्रयस्य च मार्गं वक्तुं तेन तत्स्वरूपञ्च वक्तुमुद्देशानुसारेण
प्रथमं विवेकस्य स्वरूपमाहुः विवेकस्त्वित्यादि । साम्प्रदायिकास्तु, ‘विवेकोयं समा-
ख्यतः’ ‘एतत्सहनमत्रोक्तम्’ ‘एवमाश्रयणं प्रोक्तमि’त्युपसंहारदर्शनात् सामान्यविक्षेप-
भावेन विवेकधैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरूपणमत्र ग्रन्थनाम्ना समासव्यासवारणस्य
विद्वद्दृष्टत्वेन च तथा कथनस्योचित्याच्चेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति । तथा सति रक्षणप्रकार-
स्यार्थात् सिद्धिः । एवन्तु वचनादिति शेषः । प्रकृतमनुसरामः । विवेकस्यन्दः पृथक्त्वे
तज्ज्ञाने वा प्रसिद्धः । यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक इति । श्रीलक्ष्मणेशे च यथा उचित-
सत्कारकत्तरि विवेकीति । “विवेकः पुनरेकान्ते जलद्रोणीविचारयो”रिति कोशात्रिषु
रूढश्च । तदत्र किमपि न विवक्षितमिति ज्ञापनाय तुष्यन्दः । कस्तर्हि ? । हरिः सर्वं
निजेच्छानः करिष्यति । हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वं स्वीयानां लोकिकालौकिकं,
निजेच्छानः स्वतन्त्रेच्छातः, क्रीडेच्छातो वा, निजानामिच्छातो वा, करिष्यति ।
अयञ्च निजनिर्देशस्तेनैतद्विषयकमनुसन्धानं विवेक इत्यर्थः । अत्र हरिपदेन गजेन्द्र-
मोक्षकर्तृत्वस्फोरणात्पशुवदज्ञानामत्यन्तदुःखहारित्वं सूच्यते । निजेच्छात इत्यनेन
“क्रीडाभाण्डमिदं विश्वं” “क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतमि”त्यादिवाक्योक्तं जगतः
क्रीडाभाण्डत्वं स्मार्थते । इच्छाविशेषणीभूतनिजपदेन स्वस्य विशेषतस्तदीयत्वञ्च । अतः
स्वस्याङ्गत्वं क्रीडाभाण्डत्वे वा स्फुरिते, “विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वर-
रपि दुरत्यययोगमायः, क्षेमं विधास्यति स नो भगवांश्चर्षीशस्तत्रास्पदीयविष्टुशेन क्रिया-
निहार्थे” इत्यादिरूपेणानुसन्धेयम् । विशेषतस्तदीयत्वस्फूर्त्तौ “अहं भक्तपराधीनः”,
“मयि ते तेषु चाप्यहं,” “आत्मारामोप्यरीरमदि”त्यादिवाक्योक्तं भगवतो भक्ताधी-
नत्वं परोक्षेण हितकारित्वं स्वनिकटवर्तित्वं स्वरूपमर्यादामप्यतिक्रम्य भक्ताभिलाषपूर-
कत्वं यथाधिकारमनुसृत्य भाविहितकारित्वमनुसन्धेयमिति तस्य तस्य तादृक्तादृगनुस-
न्धानं धिवेक इति भावः । करिष्यतीति भविष्यदर्थकप्रयोगो भान्यर्थचिन्ताया जाय-
मानत्वात्प्रतिष्ठस्यर्थो, न तु भूतवर्त्तमानयोर्भगवत्कार्यत्वानुसन्धानव्यावृत्त्यर्थः । तेन
करोत्यकार्णीत् करिष्यतीति त्रेषाप्यनुसन्धानं विवेक इति फलति ॥ १ ॥

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणप्रकारं वदिष्यन्तस्तत्प्रसङ्गेन कामनायास्तत्पूर-
णसाधनस्य च तन्नाशकत्वं हृदिकृत्य गजेन्द्रवत् व्रजस्थवत् प्राप्तस्यापि प्रार्थनस्यबाधकत्वञ्च
हृदिकृत्य ततो रक्षितुं प्रार्थनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या समर्थयन्ति प्रार्थितेवेति ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंश्रयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

१ अत्रकल्पस्योपकारकत्वं “अपि श्यन्न् ह्यमद्राणि” इत्यैकादशोऽप्युक्तम् । २ “अधिकारि-
कम्” इति पाठः च ।

वेत्यनादरे, अभ्युपगम्य दृष्यते, प्रार्थिते प्रार्थनकृते ततः प्रार्थनातः किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । न हि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं, किन्तु स्वेच्छातः । यदि ततः स्यात् प्राग्जन्मन्येव स्यात्, “जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितमि”ति वाक्यात्तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात् । किन्तु, विचारितस्य मर्यादास्थापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वज्ञापनादेश्च कार्यस्य जातत्वेन स्वेच्छात् एव । अन्यथा “नय मामि”-त्यत्र नान्तर्दध्यात् । अथाऽपेक्षितदानमापाततः प्रार्थनयैव चेदाद्रियते तदापि, कालविलम्बेन फलव्यभिचारेण चान्यथासिद्धत्वम् । अथ सापि चेत् कथञ्चित् परिह्रियेत तर्हि, सा भगवदभिप्रायनिश्चयकृता प्रार्थना, न तु स्वाम्यभिप्रायसंशयकालीना । तथा सति तत्रापीच्छैव कारणत्वेन पर्यवस्यतीति तत्र प्रार्थनाया व्यापारतामात्रं सेत्स्यति । संशयकालीनायास्तु तदपि न । पत्युताधीरत्वज्ञापकतया क्रोधोपेक्षावहतया वा बाधकत्वञ्च । एतेनैव भ्रमकालीनापि व्याख्यातैव । किञ्च, यथा तथास्तु, स्वस्य जीवत्वेनालग्नत्वात् स्वमनोरथस्याप्यल्पत्वात्प्रार्थितस्तावदेव दास्यति कुञ्जाया इव । कुमनीपित्वञ्चाधिकं भविष्यति । अप्रार्थितस्तु पशुरलौकिकत्वात्तोनन्तगुणं दास्यति । तदुक्तं “मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरि”ति । तदेतदुक्तं प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । तथा च प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यानाशः, अदाने खेदात् स्वरूपनाशस्ततोस्माद्भाषकादेवं विचारेण स रक्षणीय इति भावः । एतेन कामनायाः पूरकं साधनान्तरं कैमुतिकत्वादेव निरस्तम् । प्रार्थनैव चेन्निष्फला काम्यकर्माणि किमुतेति । ‘सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखञ्चान्यदुपारमं वा, विन्देत् भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्न’ इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्माणां फलव्यभिचारस्यानिष्टहेतुत्वस्य च विदुरेणैव दर्शितत्वात् । न च साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमात्फलव्यभिचारो न प्राप्तवसर इति शङ्क्यम्, दक्षयज्ञादिवत् साङ्गताया एव दुर्घटत्वात् । इदं यथा तथा “कर्मणां गहनागतिरि”त्यत्र निबन्धे प्रपञ्चितमिति ततोऽवधेयम् । नन्वस्त्वेवम्, तथापि निन्दावाक्यात्कुञ्जादावप्यभिप्रायाऽज्ञानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञाने तु न तथा दोष इति स्वाभिलाषपूर्त्यर्थं प्रभुर्विज्ञापनीय एवेति चेन्नैत्याहुः सर्वत्रेत्यादि । सर्वत्र ब्रह्माण्डे अन्तर्बहिश्च तस्य स्वामिनः सर्वं वस्तुमात्रमस्तीति शेषः । हीनियुक्तं क्रीडार्थत्वात्, सर्वसामर्थ्यञ्च तस्यैव, “यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः,” “सर्वस्य वशी सर्वस्येशान,” इत्यादि श्रुतेः । तथा च यदि दित्सेत् सर्वज्ञत्वादस्मदभिलाषं ज्ञात्वा तदैव दद्यात् । यदि जीवै तत्फलानुभवासामर्थ्यं पश्येत्तदपि विदद्यात् । तन्मनोभिलषितप्रकारेणैव स्वस्मिन्नपि तथात्वं प्रकटीकृत्य वा तन्मनोरथं पूरयेत् । एतदपि, “एवं सन्दर्शिताखण्ड हरिणा भक्तवश्यता, गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्,” दर्शयस्तद्विदां

लोक आत्मनो भृत्यवश्यतामि’त्यादिभिरुक्तम् । एवं सत्यपि यन्न ददाति तस्मान्न दित्सतीति निश्चितम् । निश्चिते चाभिप्राये प्रार्थना न प्राप्तवसरेति न प्रार्थनीय इत्यर्थः । एतदेवाभिसन्धाय श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तं, “यथा वयं तदीयाः स्पस्तथा सोपि निसर्गतः, अस्मत्प्रभुरतश्चिन्ता नैहिके पारलौकिक” इति । एवं कामितपूरकाद्रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो वक्तव्यस्तं वक्तुमाहुरभिमान इत्यादि ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

अभिमानो गर्वः । यौगिकार्थगृहणे अभितः उभयतो मानोऽभिमानः, स्वतः परतश्च चित्तसमुन्नतिः पूजा वा । तत्सर्वमत्राभिमान इत्यनेन सङ्गृह्यते । चकारात्तत्साधनादिश्च । स सम्यक् लौकिकप्रकारेण त्याज्यः । तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाव्य त्याज्य इत्यर्थः । कामनामूलं हि गर्वश्चित्तोन्नतिः पूजा च । अहमीदृशः, ईदृशकुलोत्पन्नः, ईदृग्भिः प्रशस्यः, इत्याद्यनुसन्धान एव । तदनुरूपाकामनादर्शनात् । तदनुत्पत्तिर्निवृत्तिश्च स्वाम्यधीनत्वभावनाया, तद्वतां तददर्शनात् । किञ्च, गर्वादिजनकस्य स्वोत्कर्षस्यापि तदधीनत्वमेव, तस्य सर्वकारणत्वाद्भावनीयम् । तथा सति यथेदं सम्पादितवान् तथाऽन्यदपि सम्पादयिष्यतीत्यपार्या कामना, तन्मूलो गर्वादिश्चेत्यादिभावनेन तन्निवार्य विवेको रक्षणीय इति भावः । एतेनेदमपि ज्ञापितम्, यद्भक्तानां दासत्वात् स्वतोभिमानसम्भवः, किन्तु, दुःसङ्गादिवशात् । सोपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनात्याज्यः । कदाचित्प्रभुः कृपया तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेत्तथा वा सेवां कारयेत्तदापि, तद्भावनात्स न कार्यस्त्याज्यश्च । यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाद्दण्डं कुर्यात्तदा खेदोपि त्याज्य इति चकारोऽनुक्तसमुच्चायकः । अत्र हेतुवचनाद्देशाभिमाननिवृत्तिस्तु न विवक्षितेति प्रतिभाति । अथ विवक्षिता तदा सेवनशरणागतप्रतिकूलदेहाध्यासनिवृत्तिर्ग्राह्येति न विवादलेशः । एवमान्तरो रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं बाह्यं वदिष्यन्त उक्तरीत्याभिमानत्यागेन रक्षणे तत्सिद्धयभिज्ञापकं भगवदाज्ञारूपमवान्तरफलमिव प्रदर्शयन्तस्तस्यां स्वाज्ञाविरुद्धायाऽभयतः पाशारज्जुरिति शङ्कामपि वारयन्तः, प्रयोजकविभागेन स्वरूपविभागेन विषयविभागेन च व्यवस्थापमाहुर्विशेषत इत्यादि ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ॥ ४ ॥

उक्तहेतुहेतुपञ्चम्या अत्राप्यन्वेति । अन्यथास्य ग्रन्थस्याकस्मिकता स्यात् । सेवादेहेतुत्वपक्षेऽपि स्वाम्यधीनत्वभावनस्य तत्राप्यावश्यकत्वात्सहकारित्वमदण्डवारित्तमेव । तथा च तस्मात्सहकृतसेवादेर्विशेषतः श्रीमदाचार्याज्ञातो विशेषमाधिक्यं विषयीकृत्य वाऽऽग्रहबोधकप्रकारतो वा दैहिकादाधिक्यं वैलक्षण्यं विषयीकृत्य वा चेद्भवत आज्ञा स्यात्, तदा तत्प्रयोजकं विचारणीयं, किमयमन्तःकरणगोचरो न वा । अजहल्लिङ्गमिदम् । अन्तःकरणमभिप्रायस्तस्य गोचरः विषयभूता अभिप्रायप्रयुक्ता न वेति । किञ्च, अन्तःकरणस्य गोचरः, अन्तःकरणे विषयत्वेन भाता, न तु स्वामी, न वान्यद्वारिकेतिस्वरूपमपि विचारणीयम् । न चैवं सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति नियमभङ्ग इति शङ्क्यम्, प्रायिकत्वात् । अन्यथा श्रुष्टप्रयोगोच्छेदप्रसङ्गात् । अतोर्थद्वयमप्यत्र सङ्गाद्यम् । तत्र यद्यन्तःकरणप्रयुक्तत्वेनान्तःकरणे भाता स्वामीप्रभृति उक्तृत्वेन च भाता, तदा तु दैहिकादेहसम्बन्धिनो भिन्नमाज्ञं विशेषगत्यादि भाव्यमुत्पार्थं कार्यमिति यावत् । तथा चायमर्थः । आज्ञाविषयविचारेण तत्प्रयोजकं निश्चयेम्, यदि दैहिकविषया तदा नाभिप्रायपूर्विका, किन्तु, परीक्षार्थी, तदा ततोऽवगतं विशेषगतिसाधनादिकं न कार्यम् । यदि स्वसेवाविषया, यदि वा सेवाप्रतिबन्धकनिर्वर्तकविषया तदा साभिप्रायपूर्विका, ततस्तदवगतो विशेषः सामग्र्यादिविषयस्तादृशी गतिस्तीर्थदेशान्तरादिविषया, आदिपदेन तादृशं तत्साधनञ्च कार्यम् । तेन बाह्यतो रक्षणमान्तरस्य स्वनुष्ठितत्वाभिज्ञानमाज्ञाद्वयं विरोधपरिहारश्चेति सर्वं सामञ्जस्यमिति भावः । पुष्टिमार्गस्य नानाविधस्यापि कृपात् एव प्रकटनात् । “सर्वधर्मान् परित्यज्य,” “तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य,” “भज तमाखिलसंशयाधिभि”त्यादिवाक्यैः शरणागतौ सेवायां च भगवत्तात्पर्यात् । “अनन्याश्चिन्तयन्तो मामि”तिवाक्येन भगवत एव जीवस्याखिलनिर्वाहकत्वावगतेश्च नात्र कोपि शङ्कालेशः ।

ननु दैहिकातिरिक्तविषयायां भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिदापदन्तरा समागता, तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभावादाज्ञासाऽसिद्धिः, अकरणे तद्भङ्गात् स्वामिद्रोह इत्युभयतः पाशारज्जुरित्यतस्तत्रोपायमाहुरापदित्यादि ।

आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ॥ ५ ॥

विवेकोयं समाख्यातः

उक्तहेतुरत्राप्यनुवर्त्तते, आपदो गतिः प्राप्तिरापद्रुतिः, सा आदौ येषां, तादृशानि यानि कार्याणि, अश्वार्या इति यावत् । तेषु “स्वाम्यधीनत्वभावनात्” हठस्त्या-

ज्यश्चाग्रहस्त्याज्यः । चोपपत्तये । अयमाशयः, निर्वाहो ह्यभिप्रायस्य लिङ्गम् । प्रतिबन्धकापाते निर्वाहाभावत्साऽऽज्ञा नाभिप्रेता, परीक्षार्थैवेति निश्चयेम् । नहि भगवतो भक्ताऽऽपदभिप्रेता, न वा काञ्चादयस्तत्र प्रभवन्ति, “ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहमि”ति वाक्यात् । अत आपत्पराभूताया आज्ञायाः परीक्षार्थत्वेनानभिप्रेतत्वात्कोक्तदोषः । किञ्च, हठेऽनिष्टसम्भवात्सेवाप्रतिबन्धः पर्यवस्यतीत्यतो हठो न कार्य इति ज्ञापनाय सर्वथेति । उक्तसमुच्चयार्थश्च । एतेनैवङ्करणे हेत्वनुसन्धानप्राप्त्यादाभिमाननाशे विवेकपोषणम्, हठे तु तन्नाश इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन करणरूपं रक्षासाधनमुपदिष्टम् । अथ दैहिकादिविषये व्यवस्थामाहुरनाग्रह इत्यादि । सर्वत्र दैहिके तत्सम्बन्धिसम्बन्धिन्यस्मिंश्च कार्ये अनाग्रहः, “कार्यं” इति शेषः । चोनुक्तकार्यान्तरसमुच्चयकः । तथा च, स्वतःसिद्धावतिसुखसाध्ये च न विचारः । सायासमप्यौदासीन्येन कार्यं, तेन विवेकपोष इति भावः । अत्र हेत्वनुवृत्तिर्बोध्या । नन्वस्त्वेवं लौकिके, परं वैधस्य तु सामान्याज्ञाविषयत्वादाग्रहः प्रसृज्येतैवेति चेत्तत्रोपायमाहुर्धर्मैत्यादि धर्माधर्मयोर्विहितनिषिद्धयोरग्रं पर्यवसितं परिणामस्तस्य दर्शनं विचारस्तत्कार्यमिति शेषः । पौराणस्मार्त्तश्रौतानामुत्तरोत्तरमुत्सर्गतो बलिष्ठत्वं, तथैव शारीरात्मभागवतधर्माणाम्, तेषु स्वयं तादृशे भगवद्धर्मे निष्ठितस्तदविरोधिपरिणामकः कार्यः, इतरो न कार्यः । तथा अधर्मोपि म्लेच्छसम्भाषणानुसरणादिरूपो बुद्धिमकलुषयन्स्वधर्मनिर्वाहाय चेद्युक्त्या कार्यः, इतरस्तु न कार्य इति । तत्रापि “स्वाम्यधीनत्वभावनाद्यथातस्तिद्विस्तया विवेकरक्षणमनुसन्धेयमिति भावः । एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्योपसंहरन्ति । विवेकोयं समाख्यात इति, अयं न त्वन्यो विवेकः । सम्यक् रक्षाप्रकारोपदेशपूर्वकमाख्यातः प्रमाणयुक्तिगर्भाभिरुक्तिभिः कथित इत्यर्थः ।

एवं विवेको निरूप्यातः परं प्राप्तावसरं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यन्तु विनिरूप्यन्ते इति ।

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

पूर्वोक्तरीत्या विवेकरक्षणे जिह्वोपस्यजयादिरूपस्य धैर्यस्य प्रसङ्गत एव सिद्धे-स्तन्निरूपणं न प्राप्तावसरमिति शङ्कानिरासाय तुशब्दः । विवेकस्वरूपे हृदयारूढे धैर्ये स्वत एव भवेत्, परं याथात्म्येन स्वरूपे अज्ञातेऽरक्षणे च कदाचित्किञ्चिदपेयादपि, अतस्तदर्थं विशेषण निरूप्यते रक्षणोपायसहितं कथ्यत इत्यर्थः ।

विवसितं धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रीदुःखेत्यादि ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवदेहवद्भावं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

आमृतेः सर्वतः, “मृति”शब्दो मरणकाललक्षणः। “मृति”जनकं मर्यादीकृत्य सर्वस्मात् सदा सर्वकाले त्रिदुःखसहनं त्रयाणामाधिदैविकादिभेदभिन्नानां कायिकादिभेदभिन्नानां कालकर्मस्वभावजानां “त्रैवर्गिकायासविघाते”ति वृत्रवाक्यात् त्रिवर्गसम्बन्धावच्छिन्नानाञ्च सहनं मर्षणमृषेणममतीकारयुक्तोऽनुभवो धैर्यमित्यर्थः। ननु भगवदीयानामाधिदैविकादिदुःखसम्भावनेव नास्ति, यतः कालादयोपि न, तद्दुःखहेतवो भवन्ति इति कथं तत्सहनोक्तिः, इति चेत्—भगवता धैर्यपरीक्षार्थं कालादयस्तथा प्रेर्यन्ते, अतः पूर्वं भगवद्भयादेव न प्रवृत्तिस्ततस्तदाज्ञायाऽज्ञाभङ्गभयात्प्रवृत्तिरपि सम्भवति, यतो भगवतैवोच्यते “मद्भयाद्वाति वातोयमि”त्यादि, श्रुतिश्च, “भीषास्मादि,”त्यादि। अयं न्यायः कालादावपि तुल्यः, भगवन्नियम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वादिति। ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति तत्कथं परीक्षार्थं तथा करणम्, किञ्च, परीक्षार्थं भक्तेषु दुःखं ददातीत्यपि नोचितमिति चेद्, अत्रापि वदामः। भगवति सर्वज्ञत्वादिधर्मास्तु ज्ञानादिमार्गं साधारणेच्छायां प्रकटाः। पुष्टिमार्गं विशेषरमणेच्छायां तद्रीत्यैव सर्वं करोतीति नानुपपत्तिः। यतः “स्वागतमि”त्यादिना अन्तरङ्गभक्तेष्वपि परीक्षैव कृता। द्वारकालीलायामपि “अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु, कचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सये”ति लोकरीत्यापि तथाकरणमुक्तम्। अपरञ्च, “मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी”ति भगवता भक्तिमार्गरीत्या भक्तातिरिक्ताज्ञानं स्वस्योक्तम्, तेन ज्ञायते भक्तिमार्गं लौकिकरीतिमेव भूयः प्रदर्शयतीत्यतोपि नानुपपत्तिः काचित्। किञ्च, दुःखदानस्यायुक्ततायामप्युच्यते। साक्षात्स्वरूपात्मकाश्रयदानार्थमेव धैर्यपरीक्षा क्रियते इति बालाध्यापनार्थताडनवत्, पर्यवसानतः सुखरूपत्वमेवेतिनोक्तशङ्कालेशः। प्रकृतमनुसरामः। धैर्यस्वरूपमुक्त्वा दृष्टान्तपुरः सरं तद्रक्षणप्रकारमाहुस्तत्कवदित्यादि। भाव्यमित्यस्य विष्वग्यन्वयः। तत्कवतो राजकलत्रस्य देहस्तत्कवदेहस्तेन तुल्यं स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः। इयञ्चाख्यायिका—

“ हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं

देशान्तरे विधिवशाद्गणिकास्मि जाता

पुत्रं पतिं सधिगम्य चितां प्रविष्टा

शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तत्कमि”ति

श्लोके प्रसिद्धा। तथा च, तथा यथा स्वदेहादिषोषणसाधनीभूते तत्रे गते स्वदेहावस्थामनुसन्धाय शोकाभावपुरःसरममतीकारेण दुःखमेव सोढं, तथा स्वस्याधि-

१ दुःखदाने समर्थाः, न च्छाच्छास्येष्वेव तथा, नेतरेष्विति वाक्यं, प्रायकाभावात्। भगवरीयत्वस्य गुण्यत्वात्। ततः कथं त्रिदुःखसहनोक्तिरिति चेद्। इत्यधिकं कुत्रापि।

भौतिकलौकिकसाधनीभूतधनपुत्राद्यपगमेपि शोकमकृत्वा अपतीकारेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम्। वैष्णवत्वलाभानन्तरं तेषां हेयतैव यतः। अत एव निवन्धेपि श्रीमदाचार्यैः “प्रतिकूले गृहं त्यजेदि”त्यादिना त्याग एव तेषामुक्तः। अथवा दृष्टान्तद्वयमिदम्। तत्र पूर्वं व्याख्यातः। द्वितीयस्तु, देहः किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा? मातुः पितुर्वा बलिनः क्रनुरग्नेः शुनोपि वे”ति देहः साधारणो नात्मीयस्तथा सर्वेपि तत्तद्दृष्टसम्पादितत्वात्साधारणा इत्येवं तदर्थमनुसन्धेयमित्यर्थः। भौतिककायिककर्मजार्थिकदुःखसहने दृष्टान्त उक्तः। आध्यात्मिकसहने दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति। यथा जडभरते मुक्तिसाधनसत्त्वेपि तेन पूर्वं मृगशरीरमाप्तिजन्यं ततो भ्रातृजायादिकृतं भद्रकालिबलिदानसमयपर्यन्तं, ततो रहूगणशिविकावाहनसामयिकं सोढं, तथा आध्यात्मिककालजादिदुःखं सोढुं, तद्दृष्टाव्यम्। किञ्चित्देहानन्तरं * साक्षात्सेवोपयोगिदेहे विप्रयोगादिदुःखेपि तत्सोढुं जडवदधुना भावनीयमित्यर्थः। किञ्च, भाव्यमित्यनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि द्योःयते। तेनाप्रतीकार्यत्वात्तन्निवारणार्थं यत्नो न कर्त्तव्य इत्यपि सूच्यते। आधिदैविकस्वाभाविकादिसहने दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यवदिति। भार्याणां समूहो भार्यम्, गोपानां भार्यं गोपभार्यं, तेन तुदयं भाव्यम्, यथान्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरहेणातिदुःखं सोढुं ततो ध्यानप्राप्तभगवत्सान्निध्यसुखमनुभूयापुण्यपुण्योपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तस्तथाहमपि प्रारब्धादिसम्भवमुभयं सोढुं प्राप्स्यामीति दुःखसहनार्थमनुसन्धेयम्। एवं प्राप्ते प्रायिकत्वनिरासाय समूहदृष्टान्त इति सर्वं सुस्थम् ॥ ६ ॥

अतः परं यदृच्छातः प्रतीकारोपस्थितौ यदि सहनाग्रहस्तदा विवेकहानिराज्ञाभङ्गश्च, यदि तूष्णीकृत्वं तदा दुःखनिवृत्त्यासहनाभावेन धैर्यहानिराज्ञाभङ्गश्चेत्युभयतः पाशायां रज्जौ समाधानार्थमाहुः प्रतीकार इत्यादि।

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदृच्छातो भगवदिच्छातः स्वकृतोपायं विनेति यावत्। आग्रहीति निन्दायामिति। “भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने, संसर्गंस्तिविक्षायां भवन्ति मनुवादय”इत्यभिपुक्तोक्तेः। तथा च, भगवदिच्छया सिद्धे प्रतीकारे निन्दिताऽऽग्रहवान्न भवेत्। एवञ्चानाग्रहेऽभिसन्धानाऽभावाद्धैर्यस्य सिद्धिर्भगवदिच्छानुसन्धानाद्विवेकस्य आज्ञातः करणादाज्ञयोरप्यभङ्ग इति सर्वं सामञ्जस्यमिति भावः। यद्वैवं योज्यम्। जडवद्गोप-

* दृष्टान्तवनीयमृगादिभवेन तदनन्तरं साक्षात् सेवोपयोगिदेहे इति पाठान्तरम्।

भार्यवत् प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेदिति । तथा च, यथा जडो भगवदिच्छया रङ्गणेन संवदन् शिविकावाहनार्थं नाग्रहवान् जातः । यथा च रासमण्डलमण्डनायितं गोपभार्यं विप्रयोगतापे भगवदिच्छया गुणगानस्पर्णरूपदर्शनादिरूप-प्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत्, तथा स्वयमपि स्वाधिकारानुसारेणा-नाग्रही भवेदित्यर्थः । तत्समूहस्याऽनाग्रहोपि श्रीमदाचार्यैर्गत्या ललितयोदारे"त्य-स्याभासे "यदा पुनरि"त्यारभ्य "स्वयमाविर्भूत"इत्यन्तेन "त्वयि धृतासव" इत्यत्र "त्वदर्थमेवे"त्यारभ्य "तदैव त्यसन्ती"त्यन्तेन, "दुस्त्वजस्तत्कार्यं" इत्यत्र च स्फुटीकृतः । चेदित्यनेन तादृक्तापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रचुरेव प्रतीकारं सम्पादयति । न सम्पादयति चेदिति स्वयं तदर्थं न यतेत । तथा सति प्रभोरनभिप्रेतत्वेन कोपाद्वैपरी-त्यापत्तिरित्यपि सूच्यते । अतः परं कायिकं रक्षासाधनमुपदिशन्ति भार्यादीनामित्यादि । भार्यादीनामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन येत्यन्तस्वनिग्रह्यास्तेषाम् । अन्येषां विभक्ताविभक्तवान्भवादीनामुदासीनानाञ्च, असतो दुर्जनस्य, "दुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रममि"ति वाक्याद् दुःसहत्वात्पृथग्निर्देशः । एतेषामाक्रमं तिरस्कारं सहेत । आक्रमपदस्य योगेन पादप्रहारपर्यन्तता बोध्यते । सहेदिति अनुदात्तेत्व-लक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदम् । ब्रह्मचारिप्रभृतीनामन्येषामेकाकिनाञ्च भार्या-द्यभावाद्द्वन्द्वभावाच्च त्रितयनिर्देशः । तेषां सेवाप्रतिकूलत्वे त्यागरूपमेव सहनम् । स्वविवेकमात्रप्रतिकूल्ये च तदप्रतीकारेण तिरस्कारमर्षणमेव सहनं तदाचरेदित्यर्थः । अत्रोपायो निबन्ध उपदिष्टः । "सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनादि"ति । "एत-दन्तः स्थितः कृष्ण एवास्मानुपदिशती"ति च व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

एवमाक्रमसहनोपदेशे गृहस्थितिरागता । तथा सतीन्द्रियकार्यकरणमर्थाक्षिप्तं, तत्राऽऽसक्तौ च धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाश इति तन्निवृत्त्यर्थं साधनान्तरं रक्षण-स्योपदिशन्ति स्वयमित्यादि ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अश्रूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

स्वयमित्युद्यम्य आग्रहेणेति यावत् । इन्द्रियकार्याणि ज्ञानक्रियाप्रधानान् भोगान् कायवाङ्मनसां कायवाग्भ्यां सहितं मनस्तेन सर्वात्मना त्यजेत् । क्रीडायामपि नाद-दीत, तेषामत्यन्तबाधकत्वादित्यर्थः । बाधकत्वञ्च, "विषयान्ध्यायतः पुंस" इत्या-दिना गीतायां स्फुटमेव । कायेन त्यागो भोग्यानुपादानम् । वाचा त्यागः शुभा-

१ सर्वोपि द्वन्द्वो विभाषकत्वत् ।

शुभत्वाकीर्तनम् । मनसा त्यागस्तन्निःस्पृहत्वम् । न चैवमुद्यम्य त्यागे आग्रहापातेन विवेकहानिः प्रसज्येतेति शङ्कनीयम् । आग्रहस्योपभोगस्त्वाद्यंश एवोपसयेण विवेकभङ्गाऽ-समर्थत्वात् । ननु "स्वयं त्यजे"दित्यनेन यादृच्छिकस्यात्यागः प्राप्तः, उचितं चैतत् । अन्यथा शरीरयात्रानिर्वाहाभावेन साधनस्याप्यनुष्ठानाशक्तिप्रसङ्गात् । अत्यक्ते च यादृ-च्छिके तस्यापि विषयत्वेन बन्धनस्वभावत्वादिन्द्रियाण्यकार्षणीयानि, तथा सती"न्द्रियै-र्विषयाऽऽकृष्टैरि"ति प्रनाड्या सर्वनाशप्रसङ्गः । न च ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं शक्यः । आरम्भदृशायां तादृक् सामर्थ्याभावात् । "स्वभावविजयः शौर्य"मिति वाक्येन तस्य शूकार्यत्वात् । अतः कथं धैर्यरक्षेत्यतस्तत्रोपायमाहुरश्रूरेणापीत्यादि । स्वभाव-मिन्द्रियाणि च जेतुमसमर्थेनापि स्वस्यासामर्थ्यं भावयित्वा इन्द्रियकार्यत्यजनं कर्तव्यम् । किं करोमि, मन्दभाग्योहमसमर्थे एतावत्यप्याज्ञा मया पालयितुं न शक्यते, इत्यादि भावनीयम् । एवं प्रयतमानस्य ग्लानाविन्द्रियाणां कौड्ये, विषयैरपि तथा अनाकर्षात् क्रमेण तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अत्राप्यशक्तौ पुनरन्यमुपायमाहुरशक्य इत्यादि ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

एवमप्यशक्ये हरिरेवास्ति शरणमिति शेषः । नन्वेवं शरणोपदेशेन कथं तत्सिद्धिरित्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वमाश्रयतो भवेदिति, "सर्वधर्मान्परित्यज्ये"ति शर-णोपदेशवाक्ये स्वस्थैव पापमोचकत्वकथनेन शोकनिवारणेन च आश्रयादेव सिद्धिबोध-नात्तथेत्यर्थः । एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्योपसंहरन्तोऽग्निमनिरूपणस्य गतार्थत्वमपि वार-यन्ति एतदित्यादि । अत्र शरणमार्गे एतदुक्तसाधनकथनान्तं धैर्यमुक्तम् । तथा च "अशक्य" इत्यादिना यदाश्रयणमुक्तं तदपि धैर्यरक्षणशेषत्वादधैर्यान्तःपात्येव, नत्वा-श्रयरूपमित्यर्थः । अतः परं क्रमप्राप्तं प्रधानमाश्रयं निरूपयन्ति आश्रयोतो निरूप्यत इति । अतः तावता चारिताध्याऽभावादावश्यकत्वाच्च आश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । आश्र-यशब्द आधारे योगरूढः । सेवने यौगिकः, आसमन्तात् श्रयणं सेवनमाश्रय इति । तत्र प्रकृते किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपमाहुरैहिक इत्यादि ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

"हराम्यधं हि स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुर्वहम्, वर्णश्च मे हरिश्चेष्टस्तस्माद्धरिरहं स्मृत" इति भारते भगवद्वाक्यात्स्मर्तृणां पापतत्फलयोर्हर्ता सर्वदेवात्मा तन्नियामकः "श्यामाच्छ-

बलमि"ति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो हरिः, ऐहिके एतज्जन्मसम्बन्धिकार्ये फल-
भोगे स्वप्नोऽभिलषितसेवादिसाधने तत्सम्पादने च, परलोके एतज्जन्मान्तरभाविनि
जन्मनि, चकारात्तत्र सुखदुःखफलभोगे भगवदिच्छानुरूपसर्वादिसाधने तत्सम्पादने
सर्वथा "शरणं रक्षणे गेहे वध रक्षकयोरपी"ति कोशात् । ततस्ततः प्रमादादिभ्यो रक्ष-
णात्मा, तत्र तत्र गेहात्मा, तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यात्मा, तत्र तत्र ततस्ततो रक्षकश्च, स्वयमे-
वास्तीत्यनुसन्धानमाश्रय इत्यर्थः । तेनात्र चित्तस्यैवं भगवत्प्रवणत्वरूपसेवाविशेषात्मा
स्वीकृतः । अन्यैरपि "मामाश्रित्य यतन्ति ये," मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये"त्यत्र चित्तस-
माधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वकशरणागतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः । शर-
णागतिश्च रामानुजाचार्यैस्तमेव शरणं गच्छे"त्यत्रानुवर्तित्वेन व्याख्यातात् । शङ्करभाष्ये तु
"मामेकं शरणं व्रजे"त्यत्र भगवदनतिरिक्तानुसन्धानत्वेन व्याख्यातः । मधुसूदनीये तु
"अस्यैवाहं" "ममैवायं" "स एवाहमि"ति त्रिधा, भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकत"
इति भक्तिपूर्वकमेवमनुसन्धानत्वेन । अत्राप्येतदेव स्वीकृतम्, परन्तु, मायावादनिरासाद्
ब्रह्मवादेनाऽविहितभक्तेराधिक्येन चेति विशेषः । एवं प्रकारेण सदा येषां भावो भवेत्तदा
तेषां भगवता आश्रयो दत्त इति ज्ञातव्यम् । कदाचित्कदाचिद्विच्छेदे तु साधनावस्था, कदा-
चिद्भवनेत्यारम्भदशा, रक्षकत्वमात्रभावे त्वाश्रयस्य भावित्वमित्याद्युक्तम् । अयमेवाश्रयो
भक्त्याधिकारिणां भक्तिं पोषयन्नुत्तमः । तां जनयन् भक्तिमार्गीयः जनयिष्यन् भक्ति-
मार्गानुकल्परूपः । एवमेव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः । कर्मफलस्य
वैराग्यस्य पोषणादिकं कुर्वन्स्तन्मार्गीय इति ज्ञातव्यम् । एवं स्वरूपं निरूप्याश्रयरक्षणप्रकार-
माहुः दुःखेत्यादि । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यादिना अग्रिमेणान्वयः । तथा
च दुःखहान्यादौ हरिः सर्वथा शरणं भाव्य इत्यर्थादार्थिके कर्मयोगे सिद्धे दुःख-
हानावित्यादौ क्वचित् क्वचिन्निमित्तात् कर्मयोग इत्यनेन सप्तमी । तेन दुःखहान्यर्थं
शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानजनितं जीवबुद्ध्या दुःखं, तद्धान्यर्थं तथेत्यर्थः । एव-
मग्रेपि । साम्प्रदायिकाभिप्रेते विषयसप्तमीपक्षे तु दुःखहानिविषये तथेत्यर्थः । एव-
मग्रेपि । दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरणाऽभावार्थमुपदेश इति श्रीरघुनाथचरणाः ।
भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य दुःखपतीकाराकरणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्वेगादि-
सम्भवात् तदभावार्थं शरणभावनमेव कर्तव्यमित्येतदर्थमिति चाचागोपीशाः ।
गोकुलोत्सवास्तु नात्र किमपि व्याचख्युः । एवं सर्वत्र तत्तद्ग्रन्थादिशेषोऽवसेयः ।
तत्रापि भक्तिं पोषयन् सपरिकर आश्रयो गोपीशैर्विवृतः । भक्तिजनयन् जनयिष्य-
श्रेत्युभयविधः प्रकारभेदेन श्रीरघुनाथचरणैर्गोकुलोत्सवैश्च विवृतः । अत्र त्वाधु-
निकानां श्रीमदाचार्यमार्गप्रविष्टानामपि स्वभावभेदेन तत्तद्बुद्धिदर्शनात्तत्तदधिकारानुसारेण
तत्फलसिद्धयर्थं सर्वप्रकारको दिव्यान् प्रदर्श्यत इति न कोपि कापि विरोधः । तथा

पाप इति । सेवादिप्रतिबन्धकपापे दैवाज्जाते वा भगवदपराधे वेत्यर्थः । भये, स्वस्य
जीवस्य तुच्छत्वात्कथं ब्रह्मादिदुरापचरणेणोः प्राप्तिरिति भये, भयान्तरे च । कामा-
द्यपूरणे, काम आद्यो येषां, तद्गुणसंविज्ञानः, अलौकिककाममुख्यामुख्यगुणज्ञानात्मक-
मोक्षाणां पूरणे पूर्यर्थं कामादेरपूरणे वा ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

स्वस्य कामादिपूचौ तस्या अन्यत्रादर्शने मदाद् अवज्ञायां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे,
भक्तद्रोहापराधो मर्यादापामपि न दूरीकर्तुं शक्यते, यथा दुर्वाससोम्बरीषयोः विषये,
किं पुनः पुष्टिमार्गे । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमयमुपदेशः । स्वस्य, स्वीयानां चोत्कटानुत्कटभक्त्यनु-
त्पत्तौ दुःसङ्गादिना तन्नाशे च । भक्तैश्चातिक्रमे कृते तत्सहनार्थमयमुपदेशः । ते विना
निमित्तं सर्वथा कमपि नातिक्रामन्ति । अथातिक्रामन्ति तदा स्वस्तिपन्कोपि दोषोस्ति ।
ततस्तन्निवृत्त्यर्थमयमिति चाचागोपीशाः । अशक्ये वा सुशक्ये, वा शब्दोप्यर्थः ।
स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च सर्वथा व्याख्यातप्रकारेण कायवाङ्मनोभिर्वा सर्वदुःख-
हर्तैव शरणम् । सुशक्ये शरणोपदेशेहङ्काराभावार्थं इति चाचाः । एवं विशेषेणार्थं
सर्वोप्युपदेशो विवेकाभावेपि आश्रयस्यासहायशूरत्वार्थं इति मम प्रतिभाति । धैर्याभावेपि
तथात्वार्थमाहुरहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अहङ्कारकृते अभिमानेन कृते, तदोषनिवृत्त्यर्थमभिमाननिवृत्त्यर्थश्चायमुपदेशः ।
चकारः सर्वत्रानुक्तसजातीयसमुच्चयार्थः । एवकार उपायान्तरानुष्ठानव्युदासार्थः ।
पोष्यपोषणरक्षणे सम्भावेनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात्तत्करणे स्वस्य सेवादिविधाता-
दरक्षणे भगवत्पोष्यानां क्लेशदुःखसापञ्जस्यार्थमिदम् । पोषणक्रियासहितरक्षणक्रियायां
वा पोष्यातिक्रमणे । पोष्यैः सह निवेदितैः कृते, स्वयं वा तेषां कृतेऽतिक्रमणे आसुरं
भावं विना तदभावान्तत्तन्निवृत्त्यर्थं स्वप्रयत्नत्यागार्थं चेदम् । तथान्तेवास्यतिक्रमे,
अत्रापि तथा, । तस्मिन्स्वकृतोपकाराद्यनुसन्धानेन गर्वाद्यनिवृत्तसम्भवात्तन्निवृत्त्यर्थं
पृथगुपदेशः ॥ १२ ॥

१ पोषिदुमावश्यकानां पोषणं येन तत् पोष्यपोषणम्, आवश्यकलौकिकोपयोगिद्रव्यादि तस्य
रक्षणे, इत्यधिकम् ये ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनः सिद्धौ, निमित्तात्सप्तमी । “मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धञ्चा-
शुद्धमेव च । अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितमि”ति श्रुतेः । कामसङ्कल्परहित-
मनःसिद्धयर्थं सेवाश्रयाद्यनुकूलमनःसिद्धयर्थमित्यर्थः । सर्वार्थं पुष्ट्यादिमार्गीयसकल-
पुरुषार्थाद्यर्थम्, अतिदीनभावसिद्धयर्थोयमुपदेशः । शरणं हरिः व्याख्यातमेतत् । एवं
विषयमुपदिश्य रक्षणप्रकारमाहुरेवमित्यादि । चित्ते भावनेन भगवानाश्रयं ददाति ।
क्षणमात्रमप्यासुरावेशाभावार्थं सदेति । वाचा परितः कोर्त्तनेन मार्गः प्रचलति ।
तेनोभयोपदेशः ॥ १४ ॥

कायिकमाहुरन्यस्येत्यादि ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य भजनं वर्जयेत् । अन्यं देवत्वेन कामपूरकत्वादिदुरा-
शया वा न सेवेत । तत्र स्वतो गमनमेव च, तत्कारणभूतं तत्र तत्समीपे स्वत उद्यम्य
गमनञ्च वर्जयेदेव । “यावद्वाश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम्, विलोकयेन्न दयया ह्यनन्य-
जनवत्सल” इति वाक्यादन्याश्रये भगवानाश्रयमपि न दद्यादिति ज्ञापनायैवकारः । कौतु-
कार्थमप्यम्बिकालयगमने नन्दग्रासस्योक्तत्वाच्च । मध्येमार्गं सामीप्ये जाते त्ववज्ञानं कुर्याद्,
भगवत्सेवकत्वावयवत्वादिकं भावयेदित्यपि सूचितम् । प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत् ।
तेन कार्यव्यामोहे भगवति प्रार्थनां कदाचित् सकृत्कुर्यादपीति सूच्यते । श्रीरघुनाथचरणैस्तु
प्रार्थनापदं प्रथमान्तं कार्येत्यध्याहृत्य व्याख्यातम् । “अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित्क्रियां
नारभते हरिम् । असम्भ्रमार्थमयादस्तस्य तुष्यति केशव” इति विष्णुधर्मोपनिषद्गीता-
वाक्येनोपपृष्टञ्च । तथा च प्रार्थनापदं विज्ञापनमात्रपरमिति तेषामाशयः । एवञ्च न
पूर्वग्रन्थविरोधोपीति युक्ततरमेव तैर्विमृष्टम् । यावनव्यवहारासाधारणकारणीभूतः
कायादिव्यापारोयं ददात्वित्यभिसन्धिपूर्वको वा सः प्रार्थना । तदकारणमनभिसंहितं
स्वज्ञातवस्तुस्वरूपमात्रकथनं विज्ञापनमिति तयोः स्वरूपभेदादुचितं चैतत् । स्वाम्प-
धीनत्वदाह्ये न विवेकोपपृष्टभात् । आज्ञाया विलम्बे धैर्यस्याप्युपपृष्टभादाश्रयदाह्येन
तस्य शीघ्रं स्वकार्यक्षमत्वसिद्धेरिति । तथान्यत्र विवर्जयेत् । यथा भगवति सकृ-
त्प्रार्थनं सर्वविज्ञापनञ्च, तथेतरेषु विशेषेण वर्जयेत्, तदुभयमपि सर्वथा न कुर्यादित्यर्थः ।
मनसाप्यविचारणं वर्जने विशेषः । एवं कायिकमुपदिष्टम् ॥ १४ ॥

अतः परमेतत्सर्वसिद्धयर्थं बाधकत्यागोवश्यं वक्तव्यस्तमाहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

“मदुक्तावि”ति शेषः । “आश्रय” इति वा । सर्वथेति, स्वरूपतः फलतश्च ।
तु पूर्वपक्षनिरासकः । “यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ती”ति श्रुतिम्, “अज्ञश्चाश्रद्-
धानश्च संशयात्मा विनश्यती”त्यादिस्मृतिश्च प्रमाणत्वेनाक्षिपति । तर्हि तन्निवर्तनायो-
पायो वक्तव्य इत्यत आहुः ब्रह्मस्त्रेत्यादि । ब्रह्मास्त्रं चातकश्चेत्युभौ अविश्वासस्य
बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथा यथं भाव्यौ चिन्तनीयौ, तयोर्वृत्तान्तः स्पर्शव्य
इत्यर्थः । यथा लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण हनुमान् बद्धस्ततस्तं बद्धं निश्चेष्टमालोक्य तै
रञ्जुभिर्बधुमारब्धस्तदा तेषां विश्वासाऽभावं दृष्ट्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतं, हनुमान्मुक्त-
बन्धनो रञ्जुबन्धनानि बभञ्ज । तेन तेषां प्रयोगप्रयासो व्यर्थोऽभूत् । तथात्राविश्वासे
भगवानपि त्यजति भक्तिमार्गं शरणमार्गं च प्रवृत्तिरपि वृथा भवतीत्यविश्वासे दृष्टान्तः ।
चातकः पक्षिविशेषः, स च स्वातिविन्दुमासाद्यावर्षपर्यन्तं, विश्वासेन तिष्ठति, तेन तस्य
क्षेमं निर्बहति, पुनश्च स्वातौ पर्जन्यो वर्षत्येव । तथात्र श्रीमदाचार्योक्तौ विश्वासे, तथा
भगवति मार्गे च विश्वासे सर्वं सिद्धयतीति विश्वासे दृष्टान्तः । तथा चाविश्वासं परित्यज्य
विश्वासं कृत्वा प्राप्तं सेवेत निर्ममः, लौकिके ममतां परित्यज्य यहच्छया प्राप्तं सुखं
वा दुःखं वा तत्साधनं वाऽनुभवेन्न तु तत्राभिनिवेशेतेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाहप्रकारमाहुर्यथा कथञ्चिदित्यादि ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्चानि सेवार्थानि, अवचानि लौकिकार्थानि, उभयान्युभयविधानि वा यथा
कथञ्चित् कुर्यात् नतु ऋणादिना, नापि लौकिकसम्भ्रमेणेत्यर्थः । एवमपि कथञ्चिन्नि-
र्वन्धसम्भवे तत्राप्युपायमाहुः किं वेत्यादि । बहुना प्रोक्तेन किं, न हि यावन्तः
प्रकाराः कालकर्मस्वभावसङ्गदेशादिनिबन्धना आनन्त्यादृक्तुं शक्यन्ते । तस्माद्ब्रह्मात्रेणो-
क्तेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वमुक्तस्तमेव सर्वत्रानुसन्ध्यादित्याशयेनानुवदन्ति शरणं
भावयेद्धरिमिति । “सर्वधर्मान्परित्यजे”त्यत्र “तस्माच्चमुद्धवे”त्यत्र च भगवता तथैव
निर्द्धारितत्वाच्छरणागतेषु तेनैव निर्वाहस्य व्रजस्थेषु सत्यव्रतसप्तर्ष्यादिषु दर्शनाच्चेत्यर्थः ।
एतेनाङ्गाभावेप्याश्रयस्यासहायशूरता निर्द्धारिता ॥ १६ ॥

एवंमार्गपदश्रयोपसंहरन्त्येवमित्यादि ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

एवमुक्तप्रकारेण आश्रयणं मार्गरूपं प्रोक्तं, प्रकर्षेण विवेकधैर्यसाहित्येन कैवल्येन चोक्तम् । तदिदं सर्वेषां वर्णाश्रमयुक्तानां तद्रहितानां च सर्वदाऽस्मिन्युगे युगान्तरे च सम्पदापत्काले च हितम् यथाधिकारमुत्तमफलजनकम्, “मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य,” “किरातहूणाङ्घ्रे”त्यादिवाक्येषु तथैव निर्द्धारत् । ननु तर्हि भगवता “योगास्त्रय” इत्यत्र त्रय एव किमित्युक्ताः । पृथगयं कुत उक्त इत्यत आहुः कलावित्यादि । तेषां साधनसापेक्षत्वादेककोटावुक्तः, अयं तन्निरपेक्षोऽनुकल्परूपश्चेत्यतो भिन्नतयोक्तः । एतं भगवदाश्रयमहं जानामीत्याहुर्मतिरिति । तथा चैतद्ग्रन्थं मदाज्ञारूपमनुसन्धायाश्रयं कुर्वतां सर्वथा भगवानाश्रयं ददातीत्याशयः ।

स्वरुचा तिरस्कृतपयोदरुचि यमुनातटे रचितवेणुरवम् ।

व्रजनायकं रुचिररासकरं सततं विभावय मदीयमनः ॥ १ ॥

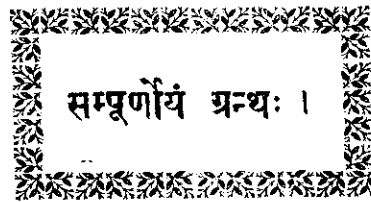
विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिस्तु यथामति ।

कृता तेन प्रसीदन्तु स्वाचार्याः सततं मयि ॥ २ ॥

त्वदीयत्ववशाद्वाङ्मार्ग्याद्यल्लिखितं मयात्र तत् ।

भूयात्स्वाचार्यमोदाय बालधौर्त्यं यथा पितुः ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणैकतानश्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराजविरचिता
विवेकधैर्याश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-नवमं

कृष्णाश्रयस्तोत्रम्

षड्भिष्टीकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीरघुनाथानां विवरणम्
२. श्रीकल्याणरायाणां प्रकाशः
३. त्रिगृहश्रीगोविन्दराजभट्टानां प्रकाशटिप्पणम्
४. श्रीद्वारिकेश्वराणां विवृतिः
५. श्रीनजराजानां विवरणम्
६. केषाञ्चित् विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत-षष्ठ-पीठाधिष्ठित-गोस्वामि श्री १००८ श्री
श्रीनजरत्नलालजी — महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशितम्

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीब्रजरत्नलालजी महाराज (षष्ठपीठाधीश्वर)
मोटु मन्दिर, भागातलाव, सूरत, ३९५००३. भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दः ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखकः गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रकः

स्टूडियो बहार, २३ ए, सेंट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
मुम्बई-४००००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीब्रजरत्नलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ--परिचय

कृष्णाश्रयस्तोत्रका प्रणयन अङ्गलमें श्रीमहाप्रभुने लाहोरके बूला मिश्रके लिए किया था. यह उल्लेख चौरासी वंणवनकी ४६वीं वार्ताके भावप्रकाशमें मिलता है. इसका रचनाकाल वि. सं १५७० कहा जाता है.^१

बूला मिश्रका जन्म सारस्वत ब्राह्मणके घरमें हुआ था. बूलाके पिता पुरोहिताईका काम करते थे - परन्तु और किसी तरह पढ़े-लिखे नहीं थे. बूला जब दस वर्षके हुए तो पिताने बुला कर कहा—“बेटा ! तुम ब्राह्मणकुलमें जनमे हो. कुछ थोड़ा-बहुत शास्त्रोंका अध्ययन करोगे तो सम्मानपूर्ण जीवन जी पाओगे. अन्यथा मेरी तरह अनपढ़ ही रह जाओगे.”

पिताने जिस पण्डितजीके पास अपने पुत्रको विद्योपाजनके लिए भेजा वह पूरा ‘लाभपूजापरायण’ पण्डित था. चेला पढ़ते देखकर बोला-- “अच्छी तरह पढ़ना हो तो पहले पांच-दस रुपया भेंटके रूपमें लाकर मेरी पूजा-भक्ति करो !” (पांच-दस रुपया आजसे पांच सौ वर्ष पूर्व बहुत महंगा था).

बूला मिश्र घबरा गये. भागकर घर आ गये. भोहें तानकर पिताने पूछा— “क्यों लोटकर घर आगये न ? अरे, यहां घरमें पड़े रहे तो ओरतोंका काम चूल्हा फूंकना ही सिर्फ सीख पाओगे. क्यों गुरुजीके घरमें रहनेमें क्या लज्जा आती है ?” बूला बोले— “अरे, यह पण्डितजी तो पढ़ानेसे पहले ही गुरुदक्षिणा मांग रहे हैं ! और यहां तो किसीके भी पास जाऊं, गति यही होगी. सो मैं तो काशी जाऊंगा पढ़ने.” बूलाके पिताजीने ताना कसा— “घरके बाहर निकलनेकी हिम्मत है नहीं और बेटा काशी पढ़ने जायेगा !”

ठेस लग गयी इस बातसे बूलाके मनपर. बूलाने अपने पिताजीके पैर छुए और घरसे बाहर निकल गये. भीख मांगकर पेट भरते हुए किसी तरह काशी पहुंचे. वहां भी भिक्षावृत्तिके अलावा कोई चारा न था पर एक पण्डितजीने पढ़ानेकी दयालुता बूलाको दिखलाई. बूलाके कठोर परिश्रमके बावजूद भी तीन वर्षकी अवधिमें कोई विशेष विद्यार्जन हो नहीं पाया. दोनों ही निराश

१. श्रीनागरदास बांभणिया—लिखित लेख, वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९.

हो गये, अध्यापक भी और विद्यार्थी भी. एक रोज पण्डितजीने साफ-साफ कह ही दिया—“बूला ! तुम्हारे भाग्यमें सरस्वती नहीं है. व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो ?”

बेचारे बूला मिश्र खिन्न हो गये. पण्डितजीकी पाठशालासे निकलकर शहरके बाहर गंगाके तटपर अन्न-जलका त्यागकर बैठ गये. ब्राह्मणोचित महत्वाकांक्षाको लिये हुए एक ब्राह्मणबालक काशीमें तीन वर्षतक रहकर भी विद्यार्जन न कर पाये तो दूसरा मार्ग और क्या हो सकता था? बूलाने सोचा कि या तो इस तपस्यासे सरस्वती प्रसन्न होगी, नहीं तो फिर इसी तरह प्राण-त्याग देना उचित है. तीन दिन बाद सरस्वतीकी वाणी सुनायी दी कि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है. भगवदिच्छा होनेपर-चाण्डाल भी विद्वान् हो सकता है और भगवदिच्छा न होनेपर ब्राह्मण भी मूर्ख ही रह जाते हैं.

“विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति”

“प्राकृताः सकलाः देवाः गणितानन्दकं बृहत्,
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम.”

बूला मिश्रके भीतर विवेक तो जागा परन्तु धैर्य छूट गया. बुलाने सोचा कि यदि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार ही होता हो तो भगवान्की इच्छाको बदलनेके लिए भगवान्के नामपर ही भूखहड़ताल करनी चाहिये ! ऐसा विचारकर बूला “विष्णु-विष्णु-विष्णु” जप करते हुए भूखे प्यासे बैठे रहे. अधीर होकर ही सही पर भगवन्नाम लेनेपर बूला मिश्रको भगवत्साक्षात्कार हुआ और श्रीमहाप्रभुके पास अडैल जानेकी भगवदाज्ञा भी हुई. बूला मिश्र भगवदाज्ञा पाकर अडैल पहुंचे. श्रीमहाप्रभुने इनका स्वागत किया और कहा “बूला ! तुम धन्य हो. तुमने भगवद्दर्शन पाये !” बूला मिश्रने सत्रिनय निवेदन किया—“महाराज ! भगवत्साक्षात्कार आपकी कृपाका फल है. परन्तु भगवद्दर्शन होनेके बावजूद भगवत्स्वरूपानन्दका अनुभव मुझे नहीं हुआ !” श्रीमहाप्रभुने समझाना चाहा—“एकवार भी भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर सांसारिक मोहके बन्धनका भय नहीं रह जाता, जीव मुक्त हो जाता है.” इसपर बूला मिश्रने विनंतो की—“महाराज ! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये—भक्ति चाहिये. अतः कृपाकर आप अपनी शरणमें मुझे लें !”

श्रीमहाप्रभुने प्रसन्न होकर बूला मिश्रको यमुनाजीमें स्नान करनेकी

आज्ञा दी और पश्चात् अष्टाक्षर तथा ब्रह्मसम्बन्ध का ज्ञान दिया. समग्र शास्त्रोंके गुरुतम रहस्यके उपदेश तथा मानसीसेबोपयोगी मनकी सिद्धि के लिए श्रीमहाप्रभुने कृष्णाश्रयस्तोत्रकी रचना की और उसे बूला मिश्रको पढाया.

‘आश्रय’ शब्दके दो अर्थ होते हैं : १) सहारा देनेवाला २) सहारा लेनेकी क्रिया. अतएव विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें जब—“श्रीहरिके आश्रयसे सारे अशक्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं (अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेद्)” कहा तो वहां ‘आश्रय’ का अर्थ शरणागति या सहारा लेनेकी क्रिया है. इसी तरह भागवतके द्वितीयस्कन्धके — “जगत्के उत्पत्ति एवम् प्रलय के कर्ता तथा उपादान रूप परब्रह्मको ‘आश्रय’ कहा जाता है (आमासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दयते)” इस वचनमें ‘आश्रय’ शब्द आधार या सहारा बननेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. ‘आश्रय’ शब्दके इन दोनों अर्थोंको लेकर ही “कृष्ण एव गतिर्मम” में ‘गति’ शब्द प्रयुक्त हुआ है. अर्थात् भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल भी—भगवान् ही मार्ग हैं और गन्तव्य भी—भगवान् श्रीकृष्ण सभी अर्थोंमें हमारे आधार—आश्रय—गति हैं. अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” का अर्थ—कृष्ण ही हमारे आश्रय हैं और कृष्णका ही हमें आश्रय लेना चाहिये—दोनों तरहसे लिया जा सकता है.

इस जगत्में अनेक प्रकारकी जीवात्मायें हैं. कुछ जीवात्माओंमें लौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिए लौकिक साधनोंके आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है. प्रवाही जीवात्माओंका यह प्रमुख स्वभाव होता है. कुछ जीवात्माओंमें वेदादि—शास्त्रीय फलोंकी प्राप्तिके लिए केवल शास्त्रीय साधनोंके ही आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है. मर्यादामार्गके अन्तर्गत कर्ममार्गीय जीवोंमें यह स्वभाव बलवान् होता है. कुछ वैदिक फलोंकी प्राप्तिके लिए वैदिक साधनोंके साथ-साथ भगवान्को भी आश्रयके रूपमें अपनाते हैं. मर्यादामार्गके अन्तर्गत ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय तथा मर्यादाभक्तिमार्गीय साधकोंमें यह स्वभाव पाया जाता है. कुछ जीवात्माओंको भगवान्के अलावा अन्य किसी फलकी कामना होती नहीं है. अतः वे साधनके रूपमें भी केवल हरिका आश्रय स्वीकारते हैं. ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये (दृष्टव्य भागवतार्थ—निबन्ध ५-६/१२). अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” मनोभाव पुष्टिजीवका परम लक्षण है.

भागवतके बारहवें स्कन्धका वर्ण्य-विषय भी आश्रयलीला ही है. भागवतार्थ-निबन्धमें 'आश्रय' शब्दके अनेक अर्थ दिखलाये गये हैं.

यथा-भागवतके द्वितीय स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धतक भगवान्की जिन सर्ग विसर्ग स्थान पोषण उक्ति मन्बन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति रूप लीलाओंका वर्णन किया गया है, उन लीलाओंके कर्ता-आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. ये नवविध लीलायें लक्षण हैं और इनसे लक्षित लक्ष्य-आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. इन नवविध लीलाओंका वर्णन भागवतकारने इसी हेतुसे किया है कि जिन-जिन विभूतिरूपोंको धारण कर सर्गलीलासे लेकर ईशानुकथातक की लीलायें भगवान् करते हैं उन सभी रूपोंके साथ भगवान्का कार्य-कारणरूप शुद्धाद्वैतरूप सम्बन्ध है. अर्थात् एक ही ब्रह्मका नाम-रूपमें विस्तार यह समग्र ब्रह्माण्ड है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म). कार्यरूप सभी लौकिक या अलौकिक विभूतिनामों तथा विभूतिरूपों को धारण करनेवाला कारणरूप परमात्मा एक ही है, ऐसा शुद्धाद्वैत-बुद्धिसे समझना आवश्यक है. हृदयसे स्नेह या आश्रय किन्तु विभूतिनाम अथवा विभूतिरूप का नहीं प्रत्युत मूलरूप श्रीकृष्णके ही नाम-रूपका होना चाहिये (ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं ब्रह्म जगतोतिरिच्यते इति न तत्रासक्तिः कर्तव्या). अतः प्रथमस्कन्धसे लेकर नवम स्कन्धतक वर्णित लीलायें अन्याश्रय छुड़ानेके लिए हैं तथा दशम स्कन्धसे लेकर द्वादश स्कन्धतक की लीलायें कृष्णाश्रयके दृढीकरणार्थ हैं. हमने कह दिया है कि द्वादश स्कन्धका मुख्य वर्ण्य-विषय आश्रयलीला है. भागवतार्थ निबन्धके द्वादशस्कन्धार्थ-प्रकरणमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "कृष्ण एवाश्रयो मतः" यही वाक्य इस कृष्णाश्रयस्तोत्रमें "कृष्ण एव गतिर्मम" के रूपमें रखा गया है.

एवकार इतरव्यावर्तक माना जाता है. श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य सारे विभूतिरूप—लौकिक हों या अलौकिक—जड हों या चेतन—देव दानव मानव पशु पक्षी इत्यादि सभी रूपोंकी भक्तिमार्गीय एवम् प्रपत्तिमार्गीय आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर माना जाता है. ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे शुद्धाद्वैतवादके अनुसार ये सर्वथा अभिन्न ही हैं परन्तु इस अभेदबुद्धिसे ये विभूतिरूप आश्रयणीय नहीं किन्तु केवल ज्ञातव्य हैं अतएव सभी विभूतिरूप एवकारद्वारा व्यावर्तनीय माने जाते हैं. इस "कृष्ण एव गतिर्मम" के एवकारकी ही

व्याख्या श्रीमहाप्रभुने— "अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च, प्रार्थना कार्यमात्रेपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्." इस विवेकधैर्याश्रयकी कारिकामें दी है.

अन्याश्रय-रहित केवल श्रीकृष्णका आश्रय ही उचित है, यह दिखलाने के लिए अन्योके आश्रयकी विफलताका बोध आवश्यक है. तदनुसार इस स्तोत्रके प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकाश्रयकी विफलताका निरूपण किया गया है तथा द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्माश्रयकी विफलताका, तृतीय तीन श्लोकोंमें कृष्णाश्रयकी महत्ताका निरूपण क्रमशः कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तथा भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे किया गया है. अन्तिम दो श्लोकोंमें पृथक्शरण-मार्ग अथवा प्रपत्तिमार्गके उपदेशद्वारा गीताकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी सम्पूर्ण निर्भयताका वरदान दिया है.

एक अन्य रीतिसे प्रारम्भके छह श्लोकोंमें काल देश द्रव्य कर्ता मन्त्र तथा कर्म जो धर्मके आवश्यक छह अंग हैं, उनकी विफलता दिखलाते हुए, द्वादश स्कन्धके वर्ण्य-विषय पञ्चविध आश्रय—कृष्णाश्रय जगदाश्रय वेदाश्रय भक्तिआश्रय तथा भागवताश्रय—के अनुरूप पांच श्लोकोंमें भगवदाश्रयकी महत्ताका निरूपण किया गया है.

एक तृतीय रीतिसे देखनेपर प्रारम्भके नौ श्लोकोंमें नवविध लीलायें गृहीत विभूतिरूपोंका अन्याश्रय छुड़ानेके लिए नौ श्लोकोंमें—"कृष्ण एव गतिर्मम" कहकर इतराश्रयका वारण किया है तथा दसवें श्लोकमें कृष्णाश्रयको सुदृढ किया गया है. ग्यारहवें श्लोकमें इस कृष्णाश्रयस्तोत्रकी फलश्रुति कही गयी है.

इस एक ही स्तोत्रमें वाक्पति श्रीमहाप्रभुने अनेक विवक्षाओंसे अनेकधा कृष्णाश्रयका निरूपण बूला मिश्रको समझाया है.

१) कलियुगके कारण धर्मानुष्ठानमें भी या तो आंतरिक दुराशयकी प्रचुरता ही सर्वत्र दिखलायी देती है, या फिर ईश्वर-भजन-विरोधी उपधर्मों अनोश्वरवादी ज्ञान वैराग्य अहिंसा दया लोकोपकार इत्यादि—के पाषण्डका ही प्रचुर प्रचार दिखलायी देता है. इससे भगवत्प्राप्तिके कर्म ज्ञान और भक्ति मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं. तथापि जिन्हें साधन और फलके रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णका ही आश्रय है उन्हें किसी तरहका भय नहीं रह जाता. अतः इस कलियुगमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं.

२) सारा देश तामसी म्लेच्छ शक्तियोंसे आक्रान्त हो गया है. लोभ-लालच कामुकता-व्यभिचार लूट-खसोट हिंसा-अत्याचार जैसे पापोंके अनैतिक अड्डे ही सर्वत्र चल निकले हैं. स्वधर्म-पालनका जो थोडा-बहुत प्रयास करते भी हैं उन्हें अनेकविध पीडा और क्लेशों से सन्त्रस्त किया जाता है. ऐसी स्थितिमें सज्जनोंका व्यग्र हो जाना स्वाभाविक बात है. ऐसी स्थितिका सामना करनेके लिए केवल श्रीकृष्ण ही हमारे सम्बल हो सकते हैं.

३) सभी पवित्रस्थल मन्दिर आश्रम वनपर्वत सरोवर गंगा आदि तीर्थ, वनलोलुप तथा दुष्कर्म-निरत धर्मध्वजी उपदेशक पण्डा पुजारी पुरोहितों से धिर गये हैं. अतः इन पवित्र स्थलोंका जैसा आधिदैविक प्रभाव प्रकट होना चाहिये वह दिखलायी नहीं देता. परन्तु जिन भक्तोंमें श्रीकृष्णकी लालसा है उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी.

४) कर्ता धर्मका चतुर्थ अंग माना जाता है. वर्तमान युगमें धर्म-भावनासे धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्ता दुर्लभ हो गये हैं. सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित-म्मन्य लोगोंद्वारा राजसी-तामसी प्रकृतिके म्लेच्छोंके अनुसरण और अनुकरण के रूपमें किये जा रहे हैं. और तिसपर भी घन और यश की लोलुपता ही इनका मुख्य हेतु होता है. फिर भी बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका जिन्हें आश्रय है उन्हें ऐसी क्षुद्र लालसाओंसे श्रीकृष्ण ही बचायेंगे.

५) धर्मके पांचवे आवश्यक अंग मन्त्रोंमें भी अब वह प्रभाव नहीं रह गया है. किसी योग्य अधिकारी गुरुके समक्ष प्रणिपात परिप्रश्न और परिचर्या की शास्त्रीय विधिके अनुसार तत्तद् मन्त्रोंके विभिन्न न्यास तात्पर्य और विनियोग के परिज्ञान तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रत एवम् शुद्धि के पालनपूर्वक दीक्षाग्रहण करनेसे मन्त्रोंमें प्रभाव उत्पन्न होता है. इसके विपरीत आजकल अयोग्य-अनधिकारी व्यक्तियोंसे अशास्त्रीय विधिसे न्यासादिके परिज्ञानके बिना तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रतादि शुद्धिके बिना ही मन्त्रग्रहणकी रीति चल पडी है. अतः मन्त्रकी आधिदैविक अर्थशक्ति तिरोहित होगयी है. फलतः सभी मन्त्र प्रभावहीन और निष्फल हो गये हैं. परन्तु श्रीकृष्ण तो मन्त्रशक्तिके अधीन नहीं हैं, प्रत्युत सभी मन्त्रशक्तियां श्रीकृष्णके अधीन हैं. अतः श्रीकृष्णका ही आश्रय लेना चाहिये.

६) धर्मके छठे आवश्यक अंग कर्मका भी स्वरूप भ्रष्ट हो गया है. क्यों कि जगत्में अनेक प्रकारके वाद चल निकले हैं. जो कर्म शास्त्रदृष्ट्या आवश्यक होते हैं उन्हें ये वाद निरर्थक मान लेते हैं. जो कर्म शास्त्रीय दृष्टिसे बहुत आवश्यक नहीं होते उन्हें ये वाद अनिवार्य सिद्ध करते हैं. जो वाद शास्त्रोंका प्रामाण्य मानते हैं वे भी अर्धश्रद्धासे शास्त्रोंके मनःकल्पित अर्थ निकाल लेते हैं. शास्त्रोंके इस तरहके अन्यथा व्याख्यानके कारण भ्रान्त अनुयायी शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान भी अन्यथा रीतिसे करने लग जाते हैं. जैसे अकरणसे कर्मोंका स्वरूपतः नाश होता है वैसे ही अन्यथाकरणसे कर्मोंका फलतः नाश होता है. प्रायः यथाविधि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भी केवल दुनियाको दिखानेके लिए कर्मानुष्ठानका पाषण्ड ही करते हैं. अतएव कर्मोंका प्रभाव ही क्षीण हो गया है. फिर भी अन्याश्रय-दोषरहित होकर श्रीकृष्णमें आश्रयभाव रखना कभी निष्फल नहीं जाता. अतः कृष्ण ही अब केवल आश्रयणीय रह गये हैं.

इस तरह प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकनाश एवम् द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्मनाशके निरूपणके वाद, अब जैसे कि भागवतके बारहवें स्कन्धमें पञ्चविध आश्रयका निरूपण माना गया है, तदनुसार श्रीकृष्णकी आश्रयरूपताका भी पांच ही श्लोकोंमें वर्णन किया गया है. सातवें श्लोकमें कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे, आठवें श्लोकमें ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे, नौमें श्लोकमें भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे तथा दसवें-ग्यारहवें श्लोकमें प्रपत्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं, यह दिखलाया जा रहा है.

७) कृष्ण सर्वोद्धारक हैं अतः सुसाधन निःसाधन एवम् दुष्टसाधन जीवोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ हैं. अजामिलका उपाख्यान भागवतके छठे स्कन्धमें उपलब्ध होता है कि कैसे-कैसे निन्दित कर्मोंमें निरत होनेपर भी भगवदनुग्रहवशात् उसके सारे कर्मदोष बिना नरकयातनाके ही नष्ट हो गये. अतः कर्ममार्गीय दृष्टिसे केवल श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं, अजामिलके प्रसंगमें जैसे भगवान्ने स्वयम्के नामका माहात्म्य प्रकट किया. इसी तरह श्रीकृष्णके ध्यान अर्चन आदिका भी माहात्म्य वहां दिखलाया गया है. मूलतः कृपा ही साधन है. बाकी उद्धारका व्यापार या व्याज तो भगवान् शास्त्रतः विहित अविहित या निषिद्ध कर्मोंको भी बना सकते हैं. श्रीकृष्णका यही तो माहात्म्य है कि वे

काम भय द्वेष सम्बन्ध स्नेह या भक्ति किसी भी भावमूलक कर्मको अपने अनुग्रह-के प्रकट होनेका निमित्त बना सकते हैं. अतः “कृष्ण एव गतिर्मम.”

८) ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे भी आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवम् प्रजापति; अथवा अग्निसे लेकर ब्रह्मा-विष्णु-शिव पर्यन्त तेतीस कोटी देव सभी भगवान्के अंश-कलावतार-रूप हैं तथा भगवान्की सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया या प्रकृति के द्वारा लिये गये भगवद्रूप हैं. अतः वे स्वयम् आविर्भाव-तिरोभावशाली हैं. अक्षरब्रह्म यद्यपि देशतः कालतः तथा स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवम् पुरुषोत्तमसे अविच्छिन्नतया स्थित होता है तथापि अक्षर ब्रह्म भगवान्का ज्ञेयरूप है भजनीय रूप नहीं. अतः अक्षरब्रह्मका गणिता-नन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणिता-नन्दके रूपमें नहीं. अतः उपासनामार्गीय देवोंकी और ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है.

९) भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी पूर्ण विवेक धैर्य या भक्ति आदिके अभावमें भी — मन कितना भी पापासक्त क्यों न हो परन्तु दैन्यके साथ एकबार जीव शरणागत हो जाता है तो सुदुराचारीको भी साधु-पुरुष बना देनेवाली श्रीकृष्णकी भक्तिका लाभ हो ही जाता है.

(१०-११) प्रपत्तिमार्गमें तो स्वयम् प्रभुने — “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच” कहा है. अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ — सर्वसमर्थ तथा भक्तोंके अखिल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण यदि शरणागत जीवोंका उद्धार नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? अतः श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिजीवोंको आश्रित करना चाहते हैं कि इस कृष्णाश्रयस्तोत्रका जो श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करेगा उस पाठकर्ताके श्रीकृष्ण आश्रय बनेंगे. जैसे अखिल ब्रह्माण्डके नाथ होनेपर भी अपने आश्रित ब्रजभवतोके लिए छोटेसे गोकुलके नाथ श्रीकृष्ण बने ही हैं !

बूला मिश्रको हम देख सकते हैं कि इसी कृष्णाश्रयस्तोत्रके कारण न केवल विद्वद्दुर्लभ वाक्सिद्धिकी प्राप्त हुई अपितु मानसी-सेवोपयोगी अलौकिक मन भी सिद्ध हो गया (अलौकिकमनःसिद्धौ शरणं भावयेद् हरिम्). विवेक-

धैर्याश्रय ग्रन्थमें कहे गये विवेक और धैर्य सिद्ध हों या न हों पर ऐहिक-पार-लौकिक सभी विषयोंमें श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी ही होता है. इसी कृष्णाश्रयको दृढ करनेके लिए इस स्तोत्रकी रचना की गयी है.

“कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥

प्रस्तुत संस्करण वि सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उक्त संस्करण गोस्वामिकुलभूषण श्रीरणछोड-लालजी महाराजके ‘श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय’से प्रकाशित हुआ था तथा उसके सम्पादक थे श्रीहरिकृष्णजी शास्त्री. इन दोनों महानुभावोंका हम पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

किञ्चित्प्रास्ताविकम् ।

कृष्णाष्टम्यां कृष्णाश्रयस्तोत्रं षड्विंशत्यवसरे प्रकाशयितुं तत्पणेतृनिःसीमानु-
ग्रहेण पारयामीति महत्सौभाग्यं मे । अतीयाय किल साधोन्दो मुद्रणयन्त्रमारोपि-
तस्यास्य, किन्तु गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजैः साकं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र-काशी-
क्षेत्र-चरणाचडेलप्रभृतिष्वनेकस्थलेषु यात्रानिमित्तं गतं मयेति, तेषां कुमारश्रीवल्लभलाल-
जीमहोदयानां वाराणसीयप्रथमापरीक्षादित्सापि तदन्तर एव जातेति तत्राप्युद्युक्तं, भूयोपि
वाराणसीं प्रति प्रस्थितं तैः सह परीक्षादापनार्थम्, अन्यैश्चाप्येवंविधैर्हेतुभिरैकत्र स्थिति-
मलभमानेन प्रकटयितुमेतत्स्तोत्रमतिक्रान्ता वेला मया । ततश्च बहुभिर्वारं पर्यन्वयोजिषि
हितैषिभिः किमेतत् कुत एतत् कथमेतदित्यादि । किं पुनः प्रतिपद्यतां प्रतिवचनं, यत्रैकस्या
व्यक्तेरधीनं कार्यबाहुल्यमथ च स्थितेरनैयत्यं तत्र भवत्येवैवंविधो विलम्बः । अस्तु ।

ग्रन्थोयं श्रीमदाचार्यचरणप्रणीतषोडशप्रकरणग्रन्थेषु नवर्षी सङ्ख्यामावहति ।
विषयश्चास्य नाम्नैव स्पष्टो यत् कृष्णाश्रयणमन्तरा स्वभावदुष्टजीवानां निस्तारो नास्त्येव
कलौ । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'मुमुक्षुर्वै शर-
णमहं प्रपद्ये' इत्यादिवाक्यपरसहस्रैरिदमेव दृढीक्रियते । 'कलिदावानलेनाद्य साधनं
भस्मतां गत'मित्याद्युक्तिभिः प्रमाणबलं प्रमेयबलमन्तराऽकिञ्चित्करमेवेत्यपि निर्विवादम्,
अत एव 'कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति दैवोद्धारार्थगृहीतावतारै-
र्निबन्ध आङ्गत्तम् । यद्यपि भक्त्यादिमार्गा जनोद्धारार्थं निबन्धादौ सपरिकरं निरू-
पितास्तथापि प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य आश्रयस्यैव च सर्वहि-
तावहत्वं पर्यालोच्य स्तोत्रमिदं व्यरीरचन्नाचार्याः । आश्रयभवने तु महदनुग्रहस्यैव हेतुता
नान्यस्य । अनयैव दशा प्रणीतोयं ग्रन्थ इति प्रबन्धस्यास्यावलोकनेनावज्ञातं
भविष्यति श्रीमदाचार्यपादाम्भोरुहमकरन्दलिहो दैवसर्गस्येत्यलं पल्लवितेन ।

ग्रन्थस्यास्य परिष्करणे पुस्तकप्रदानेन प्रशंसनीयमुपकारमाचरितवतां मे दीक्षा-
गुरूणां गोस्वामिश्रीमदनिरुद्धलालजीमहाराजानां काम्यधनस्यगोस्वामिश्रीवल्लभलाल-
जीमहाराजानां सुगृहीतं नामधेयं प्रत्यहं स्मरामि । तृतीयपीठाधीश्वरश्रीत्रजभूषणजी-
नामध्यापकाः पं. कण्ठमणिशर्माणः, पुरुषोत्तमलालजिमन्दिरस्थदामोदरशास्त्रिणः,
सद्गतभगवदीयाः 'मूलचन्द्र तुलसीदासं तेलीवाला' एतेषामपि सर्वेषां पुस्तकप्रदानतो
मदुपरि महत्युपकृतिः । गोस्वामिश्रीरणछोडलालजीमहाराजा अपि सांप्रदायिक-

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुकुर्वन्तीति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणा-
नेके साम्प्रदायिकाः प्रबन्धा बहिरवतैरुः । षोडशग्रन्थानां सेवाफलादि ग्रन्थाष्टकं नवर्षं
कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रबन्धबलेन लब्धावतारं श्रीमदाचार्यवाक्सुधापिपासूनां
मनोरथपूरकं भवतीति महान् प्रमोदावसरः । अपि चैतादृक्सत्पट्टौ योग्यविधित्सया
परमकरुणया दशवर्षाणि मे सर्वविधसाहाय्यं दत्तवद्भयो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजि-
देशिकवरेभ्यः साङ्गलि कार्तियमावेदयामि ।

अस्मिन् सशोधने दृष्टिदोषतो मुद्राक्षरयोर्जकप्रमादतो वा जातानि स्वलितानि
संशोध्य तास्ता अशुद्धीर्बोधयित्वा अनुगृह्यन्तु दयालवो विद्वांसो मामिति प्रार्थयति—

कृष्णाष्टमी

संवत् १९८३

विद्वज्जनकृपामिलाषि—
हरिकृष्णः शास्त्री,
'शुद्धद्वैतविशारदः' ।

अष्टमपत्रे चरमपङ्क्तितोऽवशिष्टम् ।

उच्यते । सा च स्नेहरूपा । तदुक्तं निबन्धे 'माहात्म्यज्ञाने' त्यस्य व्याख्याने
'रतिः स्नेह' इति । स्नेहस्तु प्रेमैव । न च शाब्दिकोक्तभावाथर्विरोधादसङ्गतमिव प्रति-
भातीति वाच्यं, निरुक्तेरपि प्रमाणत्वात् । इतरथा 'कृषेर्वर्ण' इत्यनुशासनसिद्धस्य कृष्ण-
शब्दस्यानन्दवाचकत्वं गगनकुसुमायमानं स्यादिति भक्तिसरणिकुशलतमाः परिशीलयन्तु ।
अधुना देशादिसाधनानामसाधकत्वमिति । अधुना कलावित्यर्थः । आदिपदात्
कालद्रव्यमन्त्रकर्तृकर्मणां ग्रहणमितरत्स्पष्टम् । उक्तं च तत्त्वार्थदीपे 'षड्विः संपद्यते धर्मस्ते
दुर्लभतराः कलावि'ति । सर्वसाधनरूप इति, षड्विषसाधनरूप इत्यर्थः । सङ्ख्यातात्पर्या-
नुरोधेन सर्वपदस्यात्र सङ्घुचितवृत्तित्वात् । दशलीलेति । 'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं
पोषणमृतयः । मन्वन्तरेशानुकया निरोधो मुक्तिराश्रय' इत्येता दशलीला इत्यर्थः । सर्व-
मेतत् द्वितीयस्कन्धसुबोधिण्यामस्मदायैर्विवेचितं विस्तरभयाल्लक्ष्यमात्रमेवोच्यते न कुत्सम् ।
तत्र तावदशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः

श्रीकृष्णाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडान्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥
इति श्रीमद्भक्तभाचार्यचरणप्रादुर्भावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

१ 'खलधर्मिणि' इतिपाठः । २ 'कृष्ण' इतिपाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्गुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्वारेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।

निजदास्यं स नो देवादव्यादपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । सर्वे कर्मज्ञानोपासनादयस्ते मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरिति मार्गा इष्टप्राप्त्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु । अनेन जीवानां सर्वथैवा- गतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेऽप्यशक्येयं मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव गतिः शरणं, प्राप्त्यर्थे आश्रयणं च । अत्रास्त्वितिपदं व्याख्यानेऽध्याहार्यम् । एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिकत्वं कलौ चेत्यने- नाहुः कलाविति । बहिर्धर्मरूपाभासोन्तर्दोषग्रस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो यस्मिन्कलौ । खलानां दांभिकहेतुकपापण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, क्वचित्खल- धर्मिणीत्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिः- खलश्चासौ धर्मश्चेतिकर्मधारये कृते पश्चान्मत्वर्थीय 'इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'- प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानाद्यतिरोधानेषु कल्पतिरिक्तकालेष्वपि । किञ्च, पाषण्डो वेदबाह्यो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्यजनतायां सत्यां, सर्वप्रकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलितार्थो ज्ञेयः । अत एव 'बृहन्नारदीये'प्युक्तं, 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वत्रापि क्वचिन्नमित्तसप्तमी, क्वचि 'दर्शानं कर्तृत्वं' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

धर्मोत्पत्तौ बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाधमुद्भावयन्तो निष्पत्स्युहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

१ आश्रयो वेति पाठः ।

१

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्माद्यर्थिभिर्वासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छा ह्येया जाता कर्मणा च । नन्वेवं-विधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्माद्याचरणं कुतो नेत्यत आहुः— पापैकेति । कलिना ग्रस्तत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । चकारादनेवं-विधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु बाह्यसाधननिवृत्तिरुक्ता । तर्ह्याभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतो-नेत्यत आहुः— सत्पीडेति । सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृ-शी पीडा नोचिता तादृश्या अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यग्रेषु विसिद्धचित्तेषु कर्त्तव्यतामूढेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्वव्याख्येयम् ॥ २ ॥

ननु गङ्गादिपूर्वाक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन साधनत्वं कुतो नेत्याशङ्क्य वस्तु-सामर्थ्यतिरोधानाच्च तथात्वमिति समाहितपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादावप्यस्ति, तत्र 'पुरुषश्चाधिदैवत'मितिवचनाद्भगवद्भूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेणास्तीति मन्तव्यं, तच्च भगवदिच्छयेदानीं बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवविधेषु गङ्गादितीर्थवर्येषु तीर्थमुख्येषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैरावृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, वयं सर्वज्ञाः के वास्मत्तोधिकवेत्तारो यान् वयं पृच्छाम इत्येवंविधाहङ्कारेण विशेषतो मूढेषु आत्मोद्धारोपायज्ञानशून्येषु, 'लोकेष्वितिपदं पूर्व-स्मादध्याहार्यम् । किञ्च, सत्सु महापुरुषेषु पापं दुष्टाचरणमपकार इति यावत्, तमनुवर्त-यन्त्यनुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अथवा जीविकाद्यर्थं सत्सु सत्पुरुषेषु पापानुवर्तिषु निषिद्धाचरणपरेषु । किंविशिष्टेषु तेषु लाभपूजेति । लाभो द्रव्यादेः पूजा

१ गङ्गाप्रयागेध्विति पाठः । २ साधकत्वमिति पाठः । ३ उच्यते इति पाठः ।

स्वोन्नतिपूर्वकं लोककृतसन्माननं, अर्थः स्वययोजनं, एतन्नितयसिद्धयर्थमेव यत्न उद्यमो येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । हेतुजनगुर्वाद्युपसस्यभावेन विद्योपशमात्पार्थविनियोगादी-नामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु तिराहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एवामेतेनैवंविधेष्वतिरोहितानामप्यकिञ्चित्करत्व-मेव । यद्वा, स्वस्वाश्रमस्था योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यव्रतेषु सत्सु । पुनः किंविशिष्टेषु तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्व्यं येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः कियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कृताकिञ्चिद्वाद्यागमोक्ता ये वादा वाग्जालरूपाः 'यावज्जीवे-त्सुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पाषण्डेषु वेदादिविरुद्धार्थेष्वेव एकः असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्थं सहष्टान्तमाश्रयणमाहुः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणांमिति । शूरीभर्तृर्ब्रह्मबन्धोरजामिलनाम्नो दोषाणां महा-पातकानां नाममात्रेण नाशकोऽस्माकमनुभवे स्थितः, शाब्दानुभवे अन्तःसाक्षिप्रत्यक्षे वा स्थितो विषयीकृत इति यावत् । 'आदि'पदाद्ब्रह्मेन्द्रमभृतयः, यमलोकस्थिता नारकि-णश्च । इदं नृसिंहपुराणादौ प्रसिद्धम् । ज्ञापितं देवजीवेष्वखिलं समग्रं निजमाहात्म्यं येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

१ आचार्योपसस्यभावेनेति पाठः ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्माया तन्निबन्ध-
नोत्पत्तिस्थितिविधया, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव ।
अत एवोक्तं दशमे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति
चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दत्वेनापरिमिता-
नन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयात्पत्वाद्दरेः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वा-
दखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविध-
दुःखसहनं धैर्यपदार्थः । भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्यु-
च्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याश्रय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवाव-
गन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्दर्भरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेत-
द्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्ज-
नेऽसमर्थत्वाद्गलान्या दीनस्य । भगवताप्येतादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ
व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सुदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्रभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम
प्रभुः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र काप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत्
यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य
सम्यगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः
प्रतिपाद्यो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्यभक्त-
समीपेपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव
कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथमिदमतिदुर्लभमेतावन्मात्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः
कारणात् इतिश्रीवल्लभोऽब्रवीत् । इति इममर्थं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः
किपाश्रयम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भग-
वांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमण्वपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

सुखेन श्रीयतां कृष्णः किमाधेश्चिन्तया मुधा ।

आचार्यवाक्मुधासिक्ता माकृद्दुः संशयं जनाः ॥ २ ॥

आचार्यचरणाम्भोजे दृढं विश्वस्य विस्तरात् ।

रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ
कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णांश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यल्लोलालवसंस्पर्शाच्च रोचन्तेऽन्यदाक्षिणः ।

तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भक्त्याहं ताम्निजाचार्यानभिकन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात्स्त्रीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्राधुना देशादिवैदसाधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति, दशलोलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, प्राणानामिवास्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुख्याङ्गत्वात्कालस्य तत्रासाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं प्रार्थयन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तद्वृत्ति सति । 'खलधर्मिणी'तिपाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सतीत्यर्थः । 'कृषिर्भूवाचके'तिवाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यत इति गतिराश्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोस्त्विति शेषः । खलधर्ममाहुः—लोके जने पाषण्डः प्रचुरः सर्वापेक्षयाधिको यस्मिंस्तादृशे सति । अत एव सर्वे मृग्यन्त इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादप्यस्तेषु नष्टप्रायेषु सत्सु, पाषण्डप्रवेशादात्मसुखवाचकस्वर्गपदस्य लोकभ्रमजननाच्चित्तशुद्धयजननात्कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्य, विभूतिपरत्वादुपासनमार्गस्य च मुख्यफलासाधकत्वेन नष्टप्रायत्वम् । अकारान्महादेवादिषु कलिकालानुगुणेषु सत्सु, एवका-

रस्य विशेष्यान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वादंशः कलादिर्वा गतिर्मास्त्वित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेऽपि प्रार्थनं न दोषाय । ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वादुहाद्यासक्तिमत्त्वाल्लौकिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गं त्वदुक्तदुषणानामभावात् । तथाहि—'कलेदोषनिधे'रिति 'कलौ तद्धरिर्कीर्तनादि'ति 'कलिं समाजयन्ती'त्यादिवाक्यैर्बाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात् । 'शृण्वन् शृणन्' 'महार्तायात्तयामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्वागादयः स्तेना' इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्बन्धहेतुत्वाभावात् । 'एवं नृणां क्रियायोगा' इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात् । 'मत्कर्म कुर्वता'मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेऽपि प्रत्यवायाभावात्, 'धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः' 'ते मे न दण्डमर्हन्ती'त्यादिवाक्यैः कदाचित्पातकसंभवेऽपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, 'यानास्थाये'त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेऽपि फलसिद्धेः । 'धर्मः सत्यदयोपेतः' 'धर्मः स्वनुष्ठितः' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं' 'यमादिभिर्योगपथैः' 'श्रेयःसुति'मित्यादिवाक्यैर्यथा जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं मतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत' इतिबृहन्नारदीयवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात् । 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा' 'चतुर्विधाः' 'अकामः' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' 'किमलभ्यं' 'रूपमारोग्यमर्था'नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च' 'नैकात्मता' 'महतां मधुद्वि'दित्यादिवाक्यैः स्वतोऽपि फलरूपत्वात् । अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफलत्वादत्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं 'तत्तार्थदीपे'—'अधुना शधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासंभवादप्यसाध्यस्य भक्तेरानुष्ङ्गकत्वान्न कर्मादितुल्यत्वगन्धोऽपि । ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिक्येपीह सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न 'स्मर्तव्यः' 'स्मृतेः' 'कृष्ण कृष्णे'ति 'न वै जनो जातु' 'कृष्णेति' 'आलोड्ये'त्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि फलसाधकत्वादन्यस्य तदभावादलमुक्तिभिः ॥ १ ॥

१ एवकारो हि त्रिप्रकारकः—अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽन्यतायोगव्यवच्छेदकश्चेति, विशेष्यान्वितः प्रथमो यथा पार्थ एव धनुर्धरः, विशेषणान्वितो द्वितीयो यथा शङ्खः पाण्डुरेव, क्रियान्वितस्तृतीयो यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति । २. कश्चिन्नास्ति ।

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिळिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुभक्तशेषं सुखकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्यक्त्वं चात्रान्यापरि-
भूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति
भाव्यमिति वाच्यम्, 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्येति दुगागमात् । राधाहृदयानन्ददायक-
मिति । राधाहृदयानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नुपपत्तिः
काचित्, इतरथाऽन्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'प्रेमाश्रुत'टी-
कायाम् 'आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दा-
द्भवेव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरान-
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्यो-
चितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णप्रेमा-
स्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा', तस्मान्न भिन्नैति । यत्कृपाट्टिष्ठित इति । स्वीय-
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । भक्त्यर्थसिद्धये निजाचार्यानिभिवन्द इति
सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विग्रहग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्धयर्थं निजाचार्यनमस्कार-
रूपं मङ्गलं करोमीत्येतद्वाक्यार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति
वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा
प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । तच्चार्यदीपे तु 'प्रेमसेवात' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा
'प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थे विशेषणमिति'न्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य
सामान्यन्यायत्वेन विशेषणन्यायस्यैव वलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः
प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमितिसामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शब्दसाधनता-
न्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषणन्यायस्य वलीयस्त्वादत्वेन जिगमिषति असिना
जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेश्चादिरूपसाधनस्य 'तद्वन्नेष्टव्यं तद्विज्ञासितव्यं मन्त-
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तव्यार्थभूतविधेय 'सन्'प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमना-
दावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु
'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु प्रेमत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थ-
कत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयवादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

टिप्पणम् ।

सर्गः । पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्यान्म ।
स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम् । पुष्टानामाचार ऊतिः । तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् ।
तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुक्या । भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः । निष्पपञ्चानां स्वरूप-
लाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति ।
सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः । राजसराजसा, राजस-
सात्त्विका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससात्त्विकाः । एके
निर्गुणा इत्येतैर्देशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । 'किमासनं
ते गरुडासनाये'त्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते
प्राप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्,
'कृत्यव्युदो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं
योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां द्वियते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्'
इति वैयाकरणशिरोमणयः । पाषण्ड इति । वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम् । आत्मसुख-
वाचकेति । 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं
स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखावकत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति ।
लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन पायो-
पहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः । यद्वा, वस्तु-
नस्तदसमसत्ताको विवर्तः । अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः । कारणभेदं
विनैव तद्द्वयतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा । निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्येति ।
निर्वाजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्भयानार्थमङ्गलत्वे-
नोपयुक्त एकः । ध्यानाभावेऽप्यात्मबोधोद्भूतो द्वितीयः । उभावपि प्रामाणिकौ । यस्तु
स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तथान्ये देहेन्द्रियादि-
साधकास्तेऽप्रामाणिकाः । सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम् । कलिकालानुगुणेष्विति । 'द्वाप-
रादौ युगे भूत्वा कलया.मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनाम्बुद्विमुखान् कुरु'
'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेपोत्तरोत्तरे'त्यादिष्वङ्गपुराणाद्युक्तवचनैर्माहदेवादीनां कलि-
कालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके
शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम । ममाग्रे वचो विहवेष्वस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया
इति भावः । 'कलेदोषनिधे'रित्यारभ्या'भवोपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—'कले-
दोषनिधे राजन्नस्ति हेको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' 'कृते
यद्भयान्तो विष्णुं त्रेतायां यज्ञतो मखैः । द्वारे परिचर्यायां कलौ तद्दरिकीर्तनात्' 'कलि

टिप्पणम् ।

सभाजयन्त्यायां गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वैः स्वार्थोपि लभ्यते' शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्व-
 चरणारविन्दयोरारविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
 मद्गार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
 तावन्मोहोङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः' एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
 त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे' मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि ।
 तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य
 हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' एवं विमृश्य
 सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
 स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवाद्' ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समहशो
 भगवत्प्रपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयामिगुप्तान्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' सर्व-
 धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच'
 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्पद्यन्वहितो हि सः'
 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरि-
 वोदितः' 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन्न
 पतेदिह' 'धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्
 प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथामु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम
 एव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः
 पुनः शश्वद्भद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपथैः कामलोभवतो
 मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्वत्तात्माद्वा न शाम्यति' 'श्रेयःसृति भक्तिमुदस्य ते विभो
 क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेश एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुपाव-
 घातिनाम्' 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरि-
 तरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसा' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः
 सुकृतिनोर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अकामः सर्वकामो वा
 मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य
 नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्म-
 नोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिके-
 तने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपमारोग्यमर्थाश्च भोगाश्चैवा-
 नुषङ्गिकान् । ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोक-

टिप्पणम् ।

लीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानां यदधीतवान्' 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्भ्रन्या
 अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहेतुर्की भक्तिमित्यंभूतगुणो हरिः' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति
 केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरु-
 षाणि' 'महतां मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभ्रवोपि फल्गु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति
 भगवत्स्वरूपप्राप्तेरित्यर्थः । तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिर्हंसे' 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्त-
 फलकत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तद्भावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं
 विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः
 सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तमजं नित्यं ब्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण
 कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः । जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्'
 'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः'
 'न वै जनो जातु कथंचनात्रजेन्मुकुन्दसेव्यवदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाङ्गुपगृह्णन्
 पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः' 'आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं
 सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च
 विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्व-
 निर्णये 'स ज्ञानक्रियोभययुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमैव तत्साधनं नवविधा
 भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यवर्याः । तथाच साम्भिकतस्यापि स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि
 कायवाग्निनियोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्व-
 मिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उत्कर्षः । तथाचोक्तं निबन्धे—'कायवाग्निनियोगाभावेपि स्नेहा-
 भावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । कर्ममार्गस्य तु न तथा, साङ्गाद्वैदिककर्मणः फला-
 वश्यंभावनियमादिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

प्रकाशः ।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरव्यवच्छेदपूर्वकमाश्रयमा-
 र्थनमित्याशङ्क्य देशानामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । देशेषु हीनैराक्रान्तेषु सत्सु । ननु म्लेच्छा अपि न्याय-
 वर्तिनश्चेपदा को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति । पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु,
 पापा ये मुख्यास्तन्निलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अङ्गवङ्गा-
 दिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभवः । ननु लोका वणिजादयः समीचीनाश्चेत्यापैः

१. अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सीराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हतीति स्मृतेः ।

प्रकाशः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीडया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्य-
क्षत्वान्न कार्यमुत प्राकृतं कर्म वेति व्याकुला लोका येषु । सद्धर्मस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन
श्रद्धाद्यभावात्तेषु सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न
एषां स्वित्तु स्वयं हरिः । र्यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवोपयिकं स्पृहा हि
न' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे 'पूर्वका-
लैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विश्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गम-
नमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगयेषु च । तीर्थयात्रां
विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकाशः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्याणाम-
साधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवयंषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः
पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरि-
चयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्यपाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु
सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वमसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्य-
ङ्मृत्लाशतेनाप्यय भावदुष्टः । आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्धयतीत्येव वयं
वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डकास्तोये मग्ना दिवानिशं । वसन्तोपि
च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः । शुचि-
टिप्पणम् ।

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्म-
काध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुभिर्'निबन्धे' 'द्वितीयस्य
प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमिति । यादवकोशेषि—'तीर्थं मन्त्राद्यपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावन'
इति । उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतारूपत्वं 'कालिन्दीति समाख्याते'त्यस्य
व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमिति । 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'तिवचनत्रयाणि—

१. कचित्तुलिङ्गपाठः । २. असंभावितमिति पाठः । ३

प्रकाशः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्धर-
न्त्यसुरास्तस्य सुमूढस्याकृतात्मन' इति योगियाङ्गवल्क्यवचोभिः, 'अश्रद्धानः पापात्मा
नास्तिकोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन' इति वायुपुराणवचनाच्च,
'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्वाहिर्मुख्यनास्तिक्यादिदोषानिवार-
कत्वात् । ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधि-
दैविकदेवतारूपतिरोधानाद्दस्तुन एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टा-
न्प्रत्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकृत्यात्, अत एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'तीर्था-
दावपी'ति । अत एव सतां 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदै-
विकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं प्राग्वत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराङ्गम्भमिवा-
पगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णमसाद्युक्तस्य नान्यस्येति
विनिश्चयः' 'भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः-
स्थेन गदाभृते'ति ॥ ३ ॥

प्रकाशः ।

ननु कर्तृसमीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किमाश्रयेऽन्यव्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृणाम-
साधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं
पृच्छन्त्यपि नेति मायावादाद्यभिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टे-
त्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म
लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽतः सङ्गाद्दोषाभ्यां दुष्टत्वान्न तेषां
स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः,
भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥ ४ ॥
पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

१ कर्तृसमीचीनत्वेनेति ख. ग.

प्रकाशः ।

अपरिज्ञाननष्टेऽपि । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सन्तु । वैदिकानां गुरुकुलवासब्रह्म-चर्यशूद्रासन्निध्यनध्यायराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनात्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः 'सर्वे संपूर्णतां याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारार्त्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेणेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेऽपि । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्वो-धितानां च व्यवहारमात्रेण प्राप्ताप्यान्न किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं वास्तीति केषाञ्चिद्वादः, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र' इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात् एवोत्त-रोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं तेनैव फलं न कोऽप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमय्येवेति न देवतामीतिव्यापारः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, शास्त्रेण षोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केषाञ्चिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादवैविशेषेण नष्टेषु सन्तु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वादिनाशः । वस्तुतः 'पुरुष एवेदं सर्वं' 'एतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष उ एव तं साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत उपपत्तेः' 'त एवं त्सास्तर्पयन्त्येनमि'ति 'देवा वै सत्रमासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यसि' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं' मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्यत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वाच्चृत्सि सत्रकरणा-द्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्सायुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्वैकाद-टिप्पणम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिगृह्य शुक्वा व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या स्यात्, ततश्च नित्य-

टिप्पणम् ।

वेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो-शक्योभ्युपगन्तुम्, न चाशुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्यागे देवतामसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्त'मिति पार्थसारथिमिश्राः तत्प्रौढिवादमात्रमेव । तथाहि—'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्तत्रश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यादिति, तदपेशलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषय-त्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य 'तुम् एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'त्यादि-श्रुत्युक्तत्वात् । मुख्यार्थाबाधेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं न तु विद्येकवाक्यतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छाबरभाष्ये सिद्धान्तितं तत्त्वमता-ग्रहमात्रमेव । प्रकृतमनुसरामः । यदपि 'सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोशक्योभ्युपगन्तुमिति, तदप्यविचाररमणीयम् । विश्वादीनामपि प्रत्यक्ष-भोगाभावत्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमभ्रन्ती'तिश्रुतौ 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमभ्रमि प्रयतात्मन' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदिता-न्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते' 'पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति स्कान्दे 'यः श्राद्धकाले हरिशुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रा-नाकल्पकोटि पितरस्तु त्सा' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यत्तु निर्णयसिन्धुः—'एतत्सर्वं निबन्धविरोधान्निर्मूल'मिति, तन्न, श्रीधरस्वामिचृत्सिहपरिचर्या-दिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्द्राघातात् । एतेन 'न चाशुञ्जाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवती-त्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुप-पत्तिः । एतेन तदुक्तकर्ममार्गस्य प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निर्गर्वः । यत्तु मुक्तावल्या-मात्मनिरूपणे 'सुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्यमृषैतीति श्रूयते' इत्यन्तं पञ्चानन-भट्टाचार्या आहुस्तत्पामादिकमेव । तथाहि यदुक्तं 'सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षा-नुपपत्तेरिति, तत्तुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि 'योपीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा । तथाहि अभेद-बोधिका किल 'ब्रह्म वेदं ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीयत्वप्रतिपादन-द्वारा स्तुतिस्तस्याः शक्योर्थोपि त्वोपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति मुख्यार्थाबाधात् । अत एवांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेश-कान्ताभेदेन निमित्तोपचारादि'त्युक्त्वा 'न च यत्परास्तदोपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्प-तिमिश्रैः । न च 'सर्वे एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवन-

मिति तदर्थत् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येवे'ति तदपि न 'एष संप्रसादः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपी'त्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लब्धवर्णप्रतीक्ष्यं दत्तोत्तरत्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्कारिकमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्ग्रहस्तु—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोमूर्त्युरुपास्यमपरोत्तमैः । देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्वन्दनानन्दितात्मना ।

शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

प्रकाशः ।

श्यादिव्रतकरणाच्च । कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय । ननु तेपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःफलत्वालपफलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करजैमिनीगौतमादिप्रवर्तितत्वाच्चेत्यत आहुः—पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति । पाषण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु 'त्वं च रुद्रे'तिसार्द्धेन 'त्वामाराध्यै'ति श्लोकद्वयेन च भगवता महादेवे प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनात्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्यायात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तितवौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । शेषं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

टिप्पणम् ।

'त्वं चे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—

'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । त्वामाराध्य यथा शंभो प्रही-

टिप्पणम् ।

प्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्भिमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेपोचरोत्तरा । 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मं सर्वं प्रतिष्ठित'मितिश्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषवतैवान्यया क्व योगिध्येयो भगवान् क्व द्रष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुते' 'रुहगणैतत्' 'भक्त्या त्वनन्यये' त्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिप्रेत्य भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं ब्रह्मन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः । ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यमुक्तमतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्तादीति सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्गारात् अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तथेन । शेषं प्राग्वत् ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

'रुहगणैतत्पसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा । न वन्दनाञ्चैव जलाग्नि-सूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनामिति शेषः । पक्षान्तरे त्वजामिलेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु परम्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैवोद्गारात् । दोषोपस्थितावित्यारम्य सूचितमित्यन्ते—ननु 'श्रुतिस्मृती मयैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते । आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः प्राप्तत्वादित्यं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्रायश्चित्तादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामिति । अल्पदोषोपस्थितौ तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनाल्पबहिर्मुखतायामपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं यं ऋतुपधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायो-
रादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेणपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाग्न्यादिसायु-
ज्यसिद्धेर्यं त्वक्षरमित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय
इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकपर्यरूपत्वं
वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारप्रभवत्वात् । बृहदक्षरं
गणितानन्दकं 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवती' त्वारभ्य 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स
एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता
टिप्पणम् ।

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्थुपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं
च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'सनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव
सर्वभूतहिते रताः' 'क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहवद्भिरवाप्यते' इत्येतेन तथेत्यर्थः । सैषानन्दस्येति । 'सैषानन्दस्य मीमांसा
भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रदिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा
वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामा-
नन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणा-
मानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते
ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः
कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये
शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये'त्यनेन प्रपाठकेन

प्रकाशः ।

पूर्णानन्दश्च । पूर्णश्चासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एव
गतिर्ममास्त्वित्यर्थः । देवादिसायुज्येपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन 'आब्रह्म-
श्रुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनाल्पानन्दत्वेन स्वर्गव-
दभ्युक्तित्वात् । ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेऽप्यक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् क्षुधितस्यात्य-
ल्पभोजनमभोजनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात् । अज्ञातार्थद्वैतार्थ'क'प्रत्ययेनाव्यक्तत्वं पुरुषो-
त्तमापेक्षयाल्पत्वं च सूचितम् । पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणमुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भाव-
नीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा सान्यसे-
व्ये'ति । ननु 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरु-
द्दहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनांशत्वकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौ-
तिकत्वजन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यात्मगुणत्वेन येदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्द-
रूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमा'वित्यादीना-
मर्थानवगमात् । तथाहि—भगवान् भक्तानामार्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः भुवो भार-
व्ययायेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्यदुकुरुद्दहयोः प्रवि-
ष्टत्वाद्यदुकुरुद्दहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुरुद्दहत्वाभावात् । तत्तत्कार्यकर-
णार्थं व्यूहेषु भगवत्सत्तत्तदंशापेक्षणादनयोरपि सङ्कर्षणांशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् ।
अंशयोरेवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः
परः' । 'विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः पर' इत्यादिकं विरुध्येतात्र चकारश्च व्यर्थः
टिप्पणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । मर्यादापुष्टिस्येति शेषः ।
येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारण-
कारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वैव फलं प्रयच्छति तत्र
भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहितप्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन
व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्येत्यर्थः । हेतोर्निर्व्यापार-
साधारणत्वात् । ननुभयोरपि मुख्यफलप्राप्तिवत्त्वेन को वा विशेषः पुष्टिस्येति चेत्,
साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहुना । 'ताविमावि'त्यारभ्य 'प्रकृतेः परः' इत्य-
न्तानि वचनानि—'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ
यदुकुरुद्दहौ' 'बभौ भूः पक्षसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तस्मिन्
संभवन्तु सुरस्रियः' 'विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्द-
स्वरूपः सर्वबुद्धिहर्ति'ति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाय च भुवः' इत्यत्र

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवत'सत्त्वार्थदीपे' 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णे न चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वादतिरिक्तोवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशभंशं विभक्तिं न त्ववतार इत्यर्थः । 'ताविमौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवाने'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावंशविति मूलार्थे' इति । 'बभावि'त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्बभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च नितरां बभावित्यर्थ इति । अन्ययोक्तवचनविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वादप्राकृतै यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्धयेत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षवाचाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोङ्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवचथाविधदेहस्वीकारात् । नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात् । 'आनन्दाद्देव' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवघनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोभ्या-

टिप्पणम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिबलेनेति । अन्यव्यतिरेकव्याप्तिबलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चापयोजकत्वम्, देहवत् एव कर्तृत्वात्, न ह्यशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम् । वस्तुतस्तु 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेष्वित्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः । न च त्रीहियवत् विकल्पसंभवः प्रमेयापहारनिबन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा दृष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्धेतुनिरूपितव्याप्ताव्यतिव्याप्तिरिति चेत्, अत्र वदामः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं न तु केवलतया । अत एवाग्रे 'गुणानतीत्ये' त्यस्य व्याख्याने 'देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्तानेतांस्त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्ये'त्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाङ्कुर्वन्तु । 'आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'मुदितवक्त्र' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्म-

प्रकाशः ।

सात्' 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'बहूनि सन्ति नामानि' 'त्रयया चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'त्यादिश्रुतिन्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्णं एव देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्वाधमबोधि । 'नित्यं विज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ' इत्यादिना नित्यत्वं, 'एष ह्येवानन्दयाती'तिश्रुतेरानन्दजनकत्वम् । 'कृष्णः प्रीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवक्त्र उपयाती'त्यादिनानन्दवत्त्वं चेति नानुपपन्नं किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकत्रोभयोः सिद्धयसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वमिति चेत् 'स यथा सैन्धवघनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधारत्वदानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्पञ्चवरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्चयते ॥ ८ ॥

टिप्पणम् ।

तन्नो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा' 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः' 'त्रयया चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्' 'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपरार्थावसाने महाभूतेष्वदिभूतं गतेषु । व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः' 'एवं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पश्यन् । रेमे संचारयन्त्रेः सरित्रोधस्तु सातुगः' 'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती गममाधवयोर्नृप' 'सहबलः स्रगवतंसविलासः सातुषु क्षितिभृतो ब्रजदेव्यः । हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्' 'यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते । मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् ब्रजगवां दिनतापमिति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि वशे भवतीति किमिति देव्येनाश्रयः प्रार्थयते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूरकत्वात्सर्वकार्यं काम्यत्वात्कामरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्तवा जीवस्वरूपविचारेणाधुनोच्यते । भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदात्पुण्यम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सन्धेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्रामादिकपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चिद्गुण्येपि वैफल्यदेवताकोपादनिष्ठजननादल्पदत्त्वाच्चेदशस्य विवेकादिकं दत्त्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयित्वाचकत्वादत्राचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, नै, अस्यान्यार्थत्वेनान्याधिकारेण कथनाद्भगवता वेदेषु 'प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोषत्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतत्वपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवाँस्तु तत्कृतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तैकृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्त्यत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

मोक्षप्राप्त्यत्वादिति । स्वरूपलाभप्राप्त्यत्वादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः 'ब्रह्मविदामोति परमि'ति । अस्या अर्थः-अक्षरवित् परं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीति । मोक्षरूपत्वमिति । भक्तिमार्गस्थाय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवत एव तथाचाक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैवेति तद्रूपत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । तथाचोक्तं निबन्धे 'यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं कृष्णः । एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदा इति' ।

१ 'नेति क्वचिन्नास्ति । २ तत्कृता इत्यपि पाठः ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि पर्यादां रक्षेत्तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यधर्मादीनां सिद्धत्वात्तत्तत्त्वापि तत्तत्फलं दद्यात् । कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिमत्' 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तैरपि भक्तानिष्ठनिवारणात्, 'अव्याहृतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्यं सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, पर्यादैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः-सर्वत्रैव देशेषु वर्णेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्य्यादौ किप् 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्राप्ते'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजतः । पर्याद्यापि फलदानेन्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान्पर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो पर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तन्पर्यादाया एव तादृशीत्वान्न क्षतिः । अत एव 'ब्रजस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'मनोरयान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददाती'त्यादि 'तथा न ते मां धव' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्ये'त्यादिवाक्यैः कालयमादयोपि चेद्भगवदीयाभिवर्तन्ते कुतस्तरां पुनरन्ये विघ्नकर्तार इति न किञ्चिद्दूषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगनायासेनोद्धारति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णमहमाश्रयं विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोपहेतुत्वात् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहृतानी'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद्भि-तमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशंसंभवम्' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'अव्याहृतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तम् । रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासित' इति । ताच्छील्य्यादौ किंबिति । 'आकेस्तच्छीलतद्दर्पतत्साधुकारिष्वि'तिस्मरणात् । 'सकृदेवे'त्यारभ्य 'तत्तथा साधयिष्यामी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः-सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्भ्रतं मम' 'ये दारागारपुत्रासपाणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्तानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' 'दर्शयस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम् । ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृष्णो

टिप्पणम् ।

वयस्यैर्ब्रजबालकैः । सहरामो ब्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम् ' तदर्शनाह्लादविधूत-
हृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीकल्पनासनमात्म-
बन्धवे ' राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदनां देवमियः कुलपतिः क्वच किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् '
' तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गाच्चयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता
विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ' ' मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत् । त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः
शेते मृत्युरस्मादपैति ' ' वसति मनसि यस्य सोव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः ।
गतिरथ मम वा तवास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यवलस्य सोन्यलोकः ' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

' दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश ' इति श्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञाप-
यितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्मवदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेण-
तत्स्तोत्रपाठफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति वेति
कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूपकत्वान्नायत् । कृष्णसन्निधौ तन्निमित्तं
वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र ' हेतुहेतुमतोर्लिङ्ग ' इद-
मिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात् । नन्वल्पायासादेतस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेत-
त्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः—श्रीवल्लभ इति । इदमब्रवीत् अवदत् । स्वस्य भगवत्स्व-
रूपाभिज्ञत्वाद्भगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्राप्याशङ्का,
नहि भगवान् सत्यवाक् स्वैवाचमन्ययाकरोति । यत्र प्रसङ्गान्नारदकृतं ' तत्तथा साधयि-
यिष्यामि यद्रीतं तन्महान्मने ' ति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं
तत्र गत्वा नलकूबरमणीग्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य
कृतौ वचने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपायां सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

' देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।

तत्तथा साधयिष्यामि यद्रीतं तन्महात्मनेति ' ॥ ११ ॥

१ श्रुतिपदं क्वचिन्नास्ति । २ स्ववच इति पाठः क्वचित् ।

प्रकाशः ।

श्रीमद्विठ्ठलनाथपादकमले संबन्ध भक्त्या मुदा
कृष्णैकाग्रधियोथ तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भयान्मुदे सद्दियाम् ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलनाथचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचितः
कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

टिप्पणम् ।

दूरीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्गं विशांकटतरं वरसेवकानाम् ।
यत्पन्नरागमणिर्वयविराजमानं तद्रेङ्कटेशमुकुटं प्रकटं रटामः ॥ १ ॥
निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखान्जसरोरुहभास्करम् ।
अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमनोहररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्पणीतस्य टिप्पणम् ॥ ३ ॥

गुरुश्रीबालकृष्णानामात्मजेन सतां मतम् ।

कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपायमानान्तःकरणतिघरो-
पनामकबालकृष्णभट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं
कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तिभगमत् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता-
स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।

अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्
तमहमतिदयालुं बल्लभारुयं नतोस्मि ॥ १ ॥

विरश्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा
चिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलिं विशुः ।

विलोक्य सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः
सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय
किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं ह्याश्रयस्तज्ज्ञानं
वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह—सर्वमार्गेषु चिन्वति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहाया-
श्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं
ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति
नरो नारायणाश्रयः' 'सर्वमाश्रयतो भवे'दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वा-
त्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह—कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाह-
प्रतिबन्धनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततनुवित्तजादिप्रतिपादकशरीरतन्नि-
र्वाहकक्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जीवैस्तदा-

श्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्यसिद्धयभावं निश्चित्य स्वस्मिन् तयात्-
निश्चये सत्यस्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु ।
तथाभवनं तु तदिच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाश्रयैः सर्वथा
भाव्यमेवेति निश्चित्याश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंप्रपन्नानामाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा
'अनन्या' इति 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति भगवद्भक्तं भज्येत । एवं सति सर्वफलरूपस्त्व-
याऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोधिकस्य फलस्याभावात्, प्रत्युत 'दृष्टिकभिये'-
तिन्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः—कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु
कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ
तत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा—'योगमायाद्युपाश्रित' इत्यत्र
रसमार्गोऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाधायकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने
भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ती'
त्यत्र भगवत्सत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधाराद्येवभावे षोडशोपशकभावे च नोभयोर्मध्ये
कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत् उत्कर्षाधायकं, एवं
तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गं सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीन-
त्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमितिभावः । धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव
फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीमतयात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्व
कालस्यातथात्वमाह—सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सत्सु दैवैः
कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोक्त्या तेषां साङ्गानां स्वस्वा-
धिकारानुसारेण फलप्रापकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । कलौ
तत्तन्मार्गं किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणेपि तत्फलाभावं दृष्टान्येषामनुपलब्धिप्रमाणेन
ततो विश्वासापगमाद्ब्रह्मतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादितिभावः । ननु सत्य-
युगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथास्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत
आह खलधर्मिणीति । खलाः सर्वथा बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यनुसन्धानरहिताश्च,
अनुसंधानेपि द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्थान्येषां वा चिकीर्षाबुद्धिजनकत्वेन ।
अत एव 'घ्नन्तं गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादि-
त्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यत
आह पाषण्डप्रचुर इति । येपि लोके सन्मार्गाद्याचरणं कुर्वन्ति महान्तोपि तेपि प्रधान-
मनुसृत्यैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात् । पूर्वमल्पमार्गचर्ये तत्र श्रद्धा-
भावेप्यन्यानुरोधेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्वा-
न्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः पश्चात्पुनः कुर्वन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणो'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्चयार्थः । तथाहि—मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पाषण्डश्च प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःकरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तवास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकलभ्यः पुष्टिपुरुषोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येवकारेणांशकलावतारव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेपि ज्ञेयम् ।

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदत्थात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात्-क्रान्ताः । तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिराक्रमणम् । कुत्रचित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्त्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्त्सन्निहितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्या सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु संजाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकतां यात एवं तद्विपरीतधर्मवतां तज्जातीयानामपि संसर्गात्संयोगपृथक्त्वन्यायेन देशव्यवच्छेदेन क्रियदेशेषु धर्मसाधनताप्यस्त्विति चेत्तत्राह—पापैकनिलयेष्विति । सर्व एव देशाः पापैकनिलया जाताः पापानामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते । यद्वा पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येषि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि वैष्णवा भूत्वा वेदान्दिनां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वैव प्रविष्टान्तु तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तृत्वाभावः सूचितः । ननु तदाक्रा-

न्तेष्वपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वाद्भोक्तृत्वप्रतियोगित्वेन त एव सतां धर्मादिप्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्तत्राह—सत्पीडेति । चित्तस्यैये हि सर्वेषां स्वधर्मानुसन्धानं भवति । सतां चकारात्तदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः । सतां प्रसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्धयभावाद्व्यग्रता । तथासति किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावाद्धर्माभावेपि भक्तिवत्कल्पतरुस्वभावत्वेन सर्वधर्ममार्गीयफलतोप्यधिकफलपापकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थानामतथात्वमुक्त्वा जलादिरूपाणामपि तेषामतथात्वमाह—

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षेष्विति । ननु 'गङ्गागङ्गेती'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा वाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासमं तीर्थम्' 'या वै लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वादतीर्थानपि तीर्थीकुर्वन्ती गङ्गायै गच्छति । एवंविधान्यतथाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमाधिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि—भगवता 'त्वं च रुद्रे'त्यादिवाक्यैर्जगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो मुमूर्षवश्च मुग्धा भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्धयभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावात् शिवेन स्वगणा गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणशस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये' तीर्थानि प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थपरणफलमन एव तत्र मृताःसन्तो ह्यपिन्नाचं ते प्राणुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्यादिषु मुमूर्षूणां मनुष्याणां मारभ्य तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रूयते तथा सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं, तत्तु पूर्वोक्तधर्मवत्कालाभावे न तु तद्वति । यद्वा 'त्वं चे'तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनन्तरं तथाकरणे आज्ञाभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीमपि दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्प्रतमेव सर्वं करोति । किञ्च, तयोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्वेप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यावेशे जाते स्वस्थानमाहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासंपादकत्वेन भगवद्धर्माभिज्ञत्वाच्छिवः

एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपरा-
ङ्मुखम् । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थदिश्वपि
नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि
या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णमसाद्युक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि
सर्वमनवद्यम् । ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थ-
रूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति । जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं
तस्माद्दुष्टसंसर्गे असरात्मकमपि तथैव जातम् । एवं सर्वेषां सर्वसाधनापगमे आश्रय एव
साधीयानिति तमेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादि-
नाशः स्यात्तत्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्धयेदेव
तेषां स्वरूपमाह—परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ कलेरध्यवसायो जातः स
एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः । यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः
स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्राह्मणातिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्व-
धर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातित्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः । एतेन कर्तृणामप्यसाधकत्वमुक्तं
भवति । यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं किमाश्चर्य-
मिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति । अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तद-
भावार्थं विशेषेण मूढत्वम् । तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति । पापा निषिद्धकृतिभि-
स्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तद्विषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम् । ननु तेपि स्वोपजीव्यान् परम-
धर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति । लाभार्थं या पूजा
तस्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी
तु नापेक्षिता । यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तृणां मन्त्रादीना-
मसत्त्वाद्द्व्याणामप्यसाधकत्वमुक्तम् । अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधक-
त्वारपूर्वं कर्तृणामसाधकत्वमुक्त्या पञ्चाद्द्व्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्ग-
च्छते । तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन
स्वस्य परस्य वासुष्मिकं सिद्धयेत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । दृश्यर्थं तेषां तत्करणात्
'भिक्षाशया च शृङ्खन्ति मम नामानि चार्जुन । अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्'

इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्ममतिपादान्दर्भध्वजिवत्कृतं सर्वमकृतप्रायं भवतीत्येवंरूप-
सर्वनाश उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरूपदिष्ट इति तथाह
कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादितान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वथा
शोधकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्वरूपत्वं तत्राह—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषां परितो ज्ञानमङ्गान्युरीकृत्य फलपर्यन्तं स्वरूपनि-
र्धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयत इत्यन-
र्थोपशमं साक्षात्क्रियोगमयोक्षजे' इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणां विषयादिषूपयोगोऽपरि-
ज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरु-
कुलावासब्रह्मचर्यशुद्धाश्रवणानध्यायराहित्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां 'अनिच्छयापि
संस्पृष्टो दृश्येव हि पावक' इतिन्यायेन सम्यक्तात्पर्याज्ञानेप्यध्ययनमात्रेणैव सर्व-
साधकत्वात्कथं नष्टत्वं तत्राह—अव्रतयोगिष्विति । व्रतेष्वयोगो येषां, व्रतानामयोगो
येष्विति वा । 'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ' इतिवचनात्कृतानामपि
तेषामव्रतयोगित्वम् । ननु किमित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च,
'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तरसहस्रेष्वित्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साध-
कत्वं मन्तव्यं, तेन 'प्रक्षालनाद्दि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति'न्यायेन पूर्वमेव तेषाम-
साधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेत्तत्राह—सत्यं, तानि वाक्यानि प्रावाहिकभक्तिपराणि ।
नो चेन्न रोधयति मां योगो न साङ्ग्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं
न दक्षिणाः' 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा
शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्' 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना
श्रुतेने'त्यादिश्रुतिस्मृतयश्च न सङ्गच्छेयुः । भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं धर्माद्यसाध्यत्वं
श्रीयस्त्रामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रयञ्चितमस्तीति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिभक्तौ तु 'न
रोधयति मां योगो न साङ्ग्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता'
'न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च' 'प्रीयतेमलया भक्त्या हरिरन्यद्विदम्बनम्'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवदङ्गी-
कृतानामेव तत्यासिः । तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्यमयोजकानि । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत
न निर्विद्येत यावते'त्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणभावशक्यं

तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरण-
मेकादशीजन्माष्टमीत्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मत्र-
तादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—‘यस्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो’ ‘यत्करोषि
यदश्रासि यज्जुहोषि ददासि यत्’ इति । तेन भगवदीयकृतकर्मणां ‘यस्य स्मृत्ये-
त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गीयाणां तेषां तेभ्यो भेदः
सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकवैयर्थ्यभक्त्यादिरहितानामपि तत्प्राप्तिस्तत्राकामतयापि
कृतानां कर्मत्रतादीनामसाधकत्वं किमाश्रयम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये
मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह
नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमप-
रिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन
गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेऽप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कथं न
कार्यसिद्धिस्तत्राह—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मत्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेष्विति । जैमिनिकणादगौतमादयो हि ऋषयस्तामसास्तैः
श्रुतिस्मृत्यर्थविचारे क्रियमाणे कालसम्बन्धादुद्विक्तस्वभावाः सन्तः कर्मत्रतादिप्रतिपादने
निरन्तरसन्तन्वमानपरस्परप्रतिकूलासक्तकैरुज्झितव्यवसाया जाताः । एवं वस्तुनिर्धार-
भावे तदन्तेवासिपरम्पराया अपि पूर्वापेक्षयाप्यधिकदोषयुक्तत्वेन विविधकुतर्कोपेतैः पर-
स्परविरुद्धैर्नानावादारूपैस्तद्वाक्यैः सर्वाण्येव कर्मत्रतादीनि विशेषेण नष्टानि । फलस्वरू-
पाभ्यां वस्तुनिर्धारभावे तद्रूपेण कृतमकृतप्रायं भवतीति तथा । अत एव भगवतापि
तथैवोक्तं ‘ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमधितिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा
नाविदुषो भवेत्’ इति । तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । ननु साङ्गाग्निहोत्रप्रतिपादकानां
श्रुतिस्मृतीनां विद्यमानत्वेन तदनुसारेण तत्कर्तारोपि दृश्यन्ते कथं तन्नाश इति
चेत्तत्राह—पाषण्डैकेति । परमतारणार्थं धर्मवत्कृत्वा प्रदर्शनं पाषण्डः, प्राकृतनित्यवैकृत-
काम्यस्वरूपसाधनफलादिपरिज्ञानाभावे चित्तादिशुद्धयसाधकत्वात् ‘अग्निहोत्रं गवालम्भं
संन्यासं पलपैतृकम् । देवरात्रं सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जये’दित्यादिवाक्यात्तेषामिदानीं
निषिद्धत्वात्कृता अप्याभासत्वमेव प्राप्नुवन्तीति तत्कृतेरपि पाषण्डार्थमेवैको यः प्रकर्षेण

यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्मत्रतानां पाषण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मसत्राणा-
मप्याश्रय एव साधीयानित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेक्ष्ययोग्यानां ‘गतिर्ममे’त्येवंरूपोक्ति-
मात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेपि सर्वार्थं
भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभवने महानुत्साहो भवति । यथा
स्वनाममाहात्म्यख्यापनार्थं नामोक्तिमात्रेणैवाजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्म-
पक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यख्यापनार्थं तादृगुक्तिमात्रेणैव
भगवौस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क जीवाः क्षुद्रतमाः क वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो
भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तद्गुह्यं तथोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेत्तत्राह—
अनुभवे इति । अत्रास्मच्छब्दोऽर्थाहर्तव्यः । एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् मदनुभवे
स्थित इति निर्णीतार्थोऽहं वदामीत्यज्ञानान्यथाज्ञानप्रतिकूलतर्कैर्नान्यथा शङ्कनीयमिति
भावः । चित्तस्यातथात्वेपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां मदनुभूतो भग-
वानप्यनुभवारूढो भवतीति मदीयैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण । ननु यथा कलौ
श्रुत्यादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा ‘कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्यक्ष्यति
मेदिनीम् । तद्देवं जाह्नवीतोयं तद्देवं ग्राम्यदेवता’ इत्यादिना बाह्यतो भगवत्साभिध्या-
भावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता
भविष्यन्तीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रो-
भागवतादिना साक्षात्परम्परया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि ‘तस्माद्वा एतस्मा-
दात्मनः’ इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकाया श्रुत्या माहात्म्यख्यापनम् ।
प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमित्वात्तेषा-
मेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा ‘जम्भतो ददृशे इदम्’ यथाच
‘गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्’ एवमूहमुख्या सर्वत्र ॥ ७ ॥

ननु ‘आकाशात्पतितं तोयं यथे’त्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भजतामपि सर्व-
मुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्वन्धेनाश्रय एवोच्यते तत्राह—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपा-
तित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनाम-
गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः
सिद्धयेत् । तथापि विराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-
णेन सर्वथा तद्भवत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः—पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते ।
तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्यात्तत्राह—हरिरिति । यद्य'प्यस्यैवानन्दस्या-
न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषा-
मन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिधनेनापगमस्याशक्यत्वादेवम-
पूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधि
भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तद्दार्ढ्यार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमि-
तरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयरक्षायाश्च तदुभयरक्षणानन्तरं च भवद्भिरेवोक्त-
त्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेक धर्मप्रार्थनेऽपि निजेच्छातः करिष्य-
तीत्येवंनिश्चयरूपः । निवृत्त्युपायाकरणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेमल-
क्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मर्यादाभक्तिसाधनानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिसाध्यं
भान्येन सिद्धयत्यन्यसाध्यं तु भक्तेरानुपङ्गिकं फलमेवंरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यत्रा-
श्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्रा-
प्यन्ते 'कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या'इत्युक्तम् । किञ्च, विवेकादिस्थितौ तद्व-
लम्बेनाश्रयाभावेऽपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्धयेत्, धर्मतद्विप-
रीतादिसाधनाभावे तूभयथाप्यनुद्धार्य एव स्यात्तेन धर्मपक्षमवलम्ब्य धर्मादिविपरीतसा-
धनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्धयभावनिश्चये दैन्याविर्भावतामेव शरणागताविवाश्रये
मुख्योधिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आसक्तिः कायेन मनसा
वाचा तदकरणे स्थातुमशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविधौ । एवं सति धर्मादिप्रतियोगि-
त्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य
इत्याह कृष्ण एवेति । नन्वेवं सति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायातीति चेत्तत्राह
'कृष्ण एवे'ति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्दर्मा-

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानु-
त्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्न-
मिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभ-
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वा'देतस्यायमर्थः—विवेकधैर्यभक्त्यादिसहितास्तु
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधैर्यभक्तिमतां चेत्तस्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य
तत्करणे शोकोत्पत्तौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मं तद-
संभवात्तन्मोचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवैतेषामपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतवतां तु
तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारप्राप्त्युत्तद्बलाच्च तस्यागः सुलभ इति
सुष्ठुक्तं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविधानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टभेदाभ्यामुक्त्वा
विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण चाक्लिष्टकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसामर्थ्यादिरूपैः सहितः ।
ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति । सर्वत्र योग्या-
योग्यविचारेणाखिलानामखिलान् वार्थान् करोति करिष्यत्यकार्षीदित्यादिधर्मस्याविना-
शित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः
सर्वसमत्वात्सर्वमुक्त्यनवसरेऽप्रार्थितः कथमुद्दरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये च
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धारणे अप्रार्थितोपि भूकृतप्रयत्नः सर्वदैव वर्तते
किं पुनर्मत्प्रार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायामपि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरूप-
प्रार्थनानन्तरमेव समाधौ तद्भिः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्यास्मानुद्दरिष्यतीत्येवं-
निश्चयो जात एव मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा सर्वं
परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति ।
यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्षते ।

नवभिश्च स्तुतिः पूर्व कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेच्छा च पूर्वा-
वधिः । अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः ।
तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तद्वर्माविष्टान्तः-
करणः अतयाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षायां
कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां व्रजस्थानाभिन्न सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः
परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत्
श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवोस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं
वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्माणां स्वरूपं तद्धर्मनिरता
एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपन्नैः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

व्रजपतिरतिमित्यं यः प्रदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तन्वतः संजगाद ।

स्वजनपरिवृद्धो ध्रुक् संततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वं विद्वलेशः सुकेशः ॥ १ ॥

रुचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशेतिभिम्भम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।

व्रजिनवनकुठारं प्राप्तलोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावयेद्विद्वलेशम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविद्वृत्तिं द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।

आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानद्वारिकेश्वरेण विरचिता

कृष्णाश्रयविद्वृत्तिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्भजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विद्वृतिर्मया ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं
भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-
ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयमुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-
च्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं
शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्वैयर्थ्येण सिद्धयति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि
मां प्रभो' इत्यादिप्रार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं
तवाङ्घ्री'त्यङ्कुरस्तुतौ 'असतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन
प्रतिपादिवम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्गुतमनुगुणं कुर्यात् स्याज्येद्वा
तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवारुचिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-
च्छास्त्रपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-
तादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-
ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादावुक्तोपि दुर्बल इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वाच-
निकां तां साम्प्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य
जीविरासीद्धोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः । निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रया-
दि'तिमङ्गलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न
विरोधः । एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं
चोक्तमिति तेषामप्यमेवाश्रयः । श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव

स्तं
स्म
वि
ता
कर
कृ
पर
श्री
वेदा
एव

देशादिषु साधनरूपश्चतुर्विधपुमर्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा' इति श्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः । अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवायं साधक इति बोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । द्वारिकेश्वरैस्तु 'आभासश्च निरोधश्चे'ति वाक्यलिखनेन 'नच लक्षणलक्षितया यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती'ति वदत्र दशसङ्ख्या-पूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटितः । तथा च 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इति वाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः । मम त्वन्यदपि प्रतिभाति—यथाक्रूरेण प्रसन्न-प्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्ति-मार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्तदौ कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रमिति । अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थयते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण । तत्र गतिशब्दः फले रूढः, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' 'अन्ते या मतिः सा गतिः' 'नान्या भवेद्गतिरिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धेः । समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्वं पाठफलत्वेनोक्तम् । आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, 'सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः' 'भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः । कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्द्विचिवाचकः । तयोरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति तापनीयश्रुतेः, 'पापकर्षणो ह वै'ति च । ब्रह्मवै-वर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्वाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येषु 'कृषिस्तुष्टुव-चनो णश्च सद्भक्तिवाचकः । अश्वापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधाः' 'कृषिश्च परमानन्दे णश्च तदास्यकर्मणि । तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते । भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः । तत्र तृतीयेन 'पापकर्षण' इति तापनीयश्रुतिरुपबृंहिता । गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्याख्यायां च 'कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयत्वत्' इति । बृहद्रौतमीयेषु 'कृषशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सत्तास्वानन्द-योयोगाच्चित्परं ब्रह्म चोच्यते' इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिरुपबृंहिता । अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्ति-निमित्तभूता सत्ता भावपदेनात्मपदेन च व्याख्याता 'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योति-निर्गुणं निर्विकारम् । सत्तामात्रमिति दशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूपं तेन सम्बन्धिदाना-त्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः, तां 'प्रातिप-दिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय' इति वाक्य-पदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्वं विवृतं, द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन

सदानन्दयोरन्तश्चित्तं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतमिति भेदाः । अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणसङ्के गणेषुोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः । आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकरणे स्थितम् । 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति छन्दोगश्रुते- 'र्थतो वाचो निवर्तन्ते' इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यक्त्यर्थं च । तत्रार्थं यथा परशोच्छिदा । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्याद्यरूपत्वस्याभावा-द्वितीयरूपतैव वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या स्वीयत्वेन वरणे यत्साक्षाद्दर्शनं तदेव हेतुः । तथा सति 'नायमात्मा प्रवचनेने'त्यादिपूर्वाद्धे उपलक्ष-णविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च ब्रह्मवैवर्तोपबृंहणेष्वपि सिद्धम् । तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणाय अष्ट-शास्त्रेऽनुकूल्यमार्गाणां कालादीनां सन्निपत्याराचोपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त उक्तरित्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोस्त्विति प्रार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूष शुद्धौ' मृज्यन्ते शोध्यन्त इति । 'मृग अन्वेषणे' मृग्यन्ते तत्तत्कलार्थिभिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेण त एव मार्गाः 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्यया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योस्ति कथनेत्येकादशे भगवतोक्ताः स्वप्राप्त्युपायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्त्रदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिः साधनफलरूपोस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणमित्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुशास्त्रदौर्लभ्यादौ हेतुः—खलध-र्मणि कलौ लोके पाषण्डप्रचुरे सतीति । चोवधारणे । खलोन्तर्दुष्टो धर्मो यस्मिन्नसौ खलधर्मा 'धर्मादनित् केवलादि'त्यनेनानित् । खलधर्मत्वे हेतुलोकानां पाषण्डप्राचुर्यम् । पाषण्ड उपधर्मो जैनदयादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम् । कलावित्यधिकरणे सप्तमी । आधारत्वं चात्राभिव्यापकतया कालिकसम्बन्धेन गौणोपश्लेषिकतया वा । तथाचैतादृशे कलावीदृशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इत्यनेनानादरे वा कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः । तथाचैतादृशे लोके एव-मार्गेषु सत्सु कलिमनादृत्य तद्रथं त्यक्त्वा तथेत्यर्थः । 'कलेदोषनिधे राजन्' 'कलि सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधकत्वभ्रमवारणाय कीर्तनस्यापि यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमिति बोधनाय चात्र कलिलोकयोर्दोषकथनम् ।

‘कृष्ण’पदार्तसं’पदाच्च नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम् । तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयित्-
मिश्रित्य भगवानाश्रयणीय इति भावः । यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु ‘वादवादांस्त्य-
जेत्कर्तुं पक्षं कंच न संश्रयेदि’तिसप्तमस्कन्धीयनारदवाक्यानुसन्धानेन विवक्षित-
मार्गस्यैव दृश्यहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलहे नष्टे । चका-
रोत्र तन्नाशसमुच्चयकः । तथा सति तथेत्यर्थः । एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यानरीतौ
कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्यस्यैव वाग्रिमश्लोकपञ्चकेनषष्ठो बोध्यः ।
एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकतयां-
श्चकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम् । श्रीरघुनाथास्तु ‘खरधर्मिणी’ति
पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेनपत्ययं बहुव्रीहिविमहे
‘क’प्रत्ययापत्तिभियाहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चयकमाहुः, मायातरणे
प्रत्ययतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः । प्रार्थना तु सर्वमते-
प्यन्यार्था ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानाम-
साधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरङ्गत्वात्तत्र च ‘काश्यादिपुर्यां यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये
मथुरैव धन्या । या जन्मभौञ्जीव्रतपुण्ड्राहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि’त्यादिभिर्दे-
शस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य ‘देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि’-
त्यादिभिर्वाच्यैर्मार्गानुकूलतायाश्च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन देशदोषा-
दिकं वदन्त आहुः—म्लेच्छेत्यादि ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावलक्षणं सप्तमी । चोवधारणे । कलावित्यनुषज्यते । देशेषु म्लेच्छै-
र्यवनैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिरत्र तदा-
ज्ञानानुरूपस्थितिकत्वम् । तदाज्ञानरूपस्थितौ को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि । ‘एके
मुख्यान्वकेवलाः’ तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारचौर्यदौर्जन्यादीनामेक-
निलयेषु मुख्यस्थानेषु । ते हि लुब्धाः कामिनो हिंसाश्च, ततस्तत्र व्यभिचारदिकं
कुर्वन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च । तद्वलोकलोका अपि पैशुन्यशाम्भल्यादिना तथा
विदधतीत्येष दोष इत्यर्थः । ननु न सर्वे तादृशा इति नैष दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः—
सत्पीडेत्यादि । सतां स्वधर्मवर्तिनां पीडया मिथ्याभिशापदण्डादिरूपकेशेन व्यग्रा
उद्दिशा लोकाः सम्यञ्चो जना येष्विति । एवं च कलिकृतास्तेषु चत्वारो दोषा उक्ताः ।

तामसप्रभुत्वम्, पापबाहुल्यम्, सत्पीडा, सदुद्देश्येत्येतैरुपद्रवेण सम्यकर्तुमशक्या, सर्व-
मार्गेषु नष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशदोषादिकमुपपाद्य तेषां बाह्यत्वेन जलस्य चान्तःप्रवेशबहिः-
सम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वात्तत्र च ‘सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव
नार्भदम्’ ‘कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी । ये पिवन्ति जलं तासां मनुजा
मनुजेश्वर’ ‘प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेमलाशयाः’ इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गा-
नुकूलत्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादि-
तीर्थवर्षेष्विति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये
दृषितास्तैरेव वेष्टितेषु । अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी । तथाच ‘किंचाहं न भुवं यास्ये
नरा मय्यामृजन्त्यघम् । मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यतामि’तिनवमस्कन्धे भगी-
रथं प्रति गङ्गावाक्यानुष्ठानेन तेष्वपि शक्तिकौण्ड्यदोष इत्यर्थः । ननु ‘साधवो
न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेङ्गसङ्गात्सेष्वास्ते ह्यघभिद्धरि’ति
तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाक्यात्तादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रायिकत्वान्नायं दोष
इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देव-
समूहे विद्यमानं गङ्गादेर्देवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम् ।
तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोधानाच्छक्तिकौण्ड्यता-
दवस्थपमित्यर्थः । यद्वा, तिरोहित आधिदैवस्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो
येष्विति । ‘तत्तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विशुरिति’विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरू-
पिणः । विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परमि’ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्यमु-
क्तिस्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपात्रादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनावदत्र तीर्थादौ
दुष्टैश्चाविश्य प्रतिबन्धन्तस्तिरोहिताधयो भवन्त्यतः शक्तिसद्भावेपि दोषतादवरध्यमतः
कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन ‘तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत् ।
कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय’ इतिनिबन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षादि-
रूपा दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं ‘न ह्यम्यानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन
दर्शनादेव साधव’ इतिवाक्यात्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य ‘प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः

कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तत्र तथा-
त्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्रा'र्हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु पुरु-
षेष्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विज्ञेयतो मूढेषु सत्सु । तथात्वे गमकद्रव्यमाहुः
पापेत्यादि । पापाः पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीवि-
केषु । अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तिस्त्वेत्यदोष इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभे-
त्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते,
तेन तदर्थं यत्नो बाह्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद्वयं विमूढत्वज्ञापकम् । तथाच
मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तर-
ङ्गत्वात्तत्र च 'परिहाय्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो
भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु
नारीषु नानाद्वयजन्मभेषु । दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष'
इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं
वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च
परिज्ञानमित्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरुरूपसत्त्यादिना
विधानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरू-
पस्य श्रावणत्वेपि शुद्धयभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु । क्वचि-
त्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनाद्दोषान्तरमाहुः—अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता बटवोऽशौचा'
इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मेषुक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्म-
परिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

हितार्थदेवेष्विति । तिरोहिताव्रततीयमानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोधिष्ठात्री
देवता तौ येषाम् । 'य एनं शुष्के स्याणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशा-
नी'त्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्तनिर्देशनव्यभिचारेण तदुभयतिरोभावस्य स्फुटत्वाच्च तेषामिदानीं
साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वधर्माणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन
सुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'स्वधर्मस्थो यजन्यङ्गैरनाशीः काम उद्भव । न याति स्वर्गनरकौ
यद्यन्यन्न समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोनयः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमामोति मन्त्रक्ति
च यहच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः 'केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' तथा चैकादशी
होका गर्भवासस्यङ्करी । एकादशीसमं पुण्यं न भूतं न भविष्यतीत्यादिभिः पुराणान्तरी-
यैर्भगवद्वाक्यै'राचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वाक्यैर्धर्मव्रता-
दीनां साधकत्वादिप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः
नानेत्यादि ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फला-
दिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपतो नाशो वेदवाह्यानां वादात् । 'यावज्जीवे-
त्सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् । प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां
जीवो जल्पति जीविका' इत्यादिरूपात् । फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ 'शुक्रेण
मोहिता विद्या दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्टयर्थं दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि'ति
प्राये 'पुरा देवैर्ऋषिगणैः स्वपदच्युतिशङ्कया । सप्तमीवेषजालेन गोपितं चाष्टमीव्रत'मिति
स्कान्देऽप्यत्र च निषेधनिन्दादेवैर्धर्मस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानत्वेपि तदनाहत्य
स्वस्वाग्रहेण वाक्याभासाक्यायाभासांश्च समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः । एवं
स्वधर्माचारयोरपि विपत्तिपत्त्या फलतो नाशो बोध्यः । वादे प्रयोजकमाहुः पाषण्डेति ।
पाषण्डेन दम्भेन एकोन्यःप्रयत्न उद्यमो येषामिति । स च 'वेश्यावेशमसु सीधुगन्धिल-
लनावक्त्रासवामोदितैर्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुद्भिद्रचन्द्रसपाः । सर्वज्ञा इति दीक्षिता
इति चिरात्प्राग्निहोत्रा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्गच्छते'
इतिवद्बोध्यः । अत एव भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न वा
मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं षड्भिर्भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गनाशबोधन-
श्रुत्वेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमा-
हात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः षष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मवन्धुः । आदि-
पदेन गजेन्द्राहल्याद्या, वृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसङ्गे उक्ता नारकिणश्च,
तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन तादृश-
माहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । मत्स्यमाहुः अनुभव इत्यादि । अनु-
भवेऽस्माकं स्थितो विषयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति
प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्वपार्श्वे शब्दे
श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ बोधयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां
विना सर्वे ज्ञापयन्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिब्रह्मवैवर्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गी-
याणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं
साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा-अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशत्-
वा, 'अग्निवमो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्या देवता' इत्यभ्यादयो विष्णवन्ताः । अत्र
विष्णुः कालः, 'स विष्णवाख्योभियज्ञोसौ कालः कलयतां वर' इतिवाक्यात्तदन्ता वा ।
अकारं ब्रह्माणं नाभातुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्य इति प्रणवमात्राधिष्ठातारो
विश्वाद्यो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्सहिताः, सर्वे
प्राकृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'तिश्रुतेस्तदधीनाः । कालस्थ सोम-
कतया गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातृणामभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहदक्षरं गणितान-
नन्दकं, गणितः 'स एको मानुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको
ब्रह्मण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवसङ्ख्यात आनन्दो यत्र, स्वार्थे
कस्तादृशम् । तेन तुरीयकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा
अपि तत्रैव प्रविशन्तीति बोधितम् । हरिः पुरुषोत्तमोऽक्षरात्परतः परः' स उत्तमः पुरुषः ।

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः । पूर्णानन्दः
शतानन्दसङ्ख्याने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवाग्गोचरतामेव प्रतिपाद्य
तदुत्तरानुवाके 'यतो वाचो निर्वर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वाश्च चिमेति
कृतश्चने'तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवाग्गोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाधिक्यस्थानवधित्वस्य
च बोधनात्तथा । तस्मादानन्दे निवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चात्रैव
विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः
साधक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकवैर्थाश्रये
सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तद्युपायं वदन्त आहुः विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छातः सर्वे करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः ।
साधिकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं
धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुहृदः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तदङ्गानि ।
साङ्गे ज्ञानकर्मणी च । तै रहितस्यैतेन यावत्साधनरहित्यं सूचितम् । बाधकसत्तामाहुः
विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गातिशयोपरिहार्यःसङ्ग इति यावत् । एवा-
वता'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इतिवाक्यस्मारणात्तदुत्पत्तौ प्रति-
बन्धकमपि सूचितम् । एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीन-
स्येति । एवं साधकाभावाद्यसद्भावाभ्यां जातया ग्लान्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरनो-
जस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंपकारिकाया ग्लानेर-
सतां दुरापत्वात् सतां मार्यादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु प्रवृत्तेषु तु तादृशग्लानि-
प्रपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया 'सोहं तवाङ्गी'त्यत्रोक्ता गुणस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन सत्त्वा
ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गीतया 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' 'अपि चेत्सुदारा-
चार'इत्यत्र भगवताङ्गता । नच पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिरुक्ता न तु पापकर्मणाम्,
द्वितीये चानन्यमजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतद्दृश्याश्रयेण सिद्धेर्गप-
कमिति शङ्क्यं, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अमयं सर्वभूतेभ्यो ददा-
त्येतद्गतं हरेरितिगाह्वात्, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अमयं सर्व-
भूतेभ्यो ददाम्येतद्गतं ममे'तिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्याच्च भगवत्स्तादृशे व्रते निश्चिते
ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र प्रवृत्तावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वेऽस्यैव द्वारत्वनिश्चयादनन्य-

भाक्त्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या'नित्यममुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामिति' भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेऽप्येतदुक्तरीतिकदैन्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतः परमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विवेकधैर्यं श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित'मजामिलादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'एष हेवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्दर्भतत्साधुकारिष्वि'त्यनेन ताच्छील्ये किप् कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तौ वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्यादध्याहारानाक्रमाच्च प्रथमान्तद्वयमहंपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैन्याभावेऽपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदाढर्येऽपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्धारिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदाढर्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रल्हादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं श्रुत्वेनुपपाठ च । न साधु मनसा मेने स्वपरासद्गृहाश्रयमिति' सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्थनामकमिदमुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति । तथाचैवमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चयदाढर्यगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तोत्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतत्स्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणागतिरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं प्राचां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, मम त्वन्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति । तथाहि-अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः । एवं सति तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेकधैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गा' इत्युक्तम् । अन्यथैकादशे 'योगास्त्रयो मये' त्यत्र 'ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं'त्वथैतपरमं गुह्यमि' त्यत्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादियेषां तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र तत्रानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः, अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यवत्' इति स्वामिपदं तद्दृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः । अतः परं तत्राप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्परूपम् । एतन्मार्गप्रविष्टानामतिजघन्यतमाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यया प्रणाख्या भवति तामनुसन्धायास्योक्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव । किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति । उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु-वर्धते सा ब्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोर्धेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता मेदो वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमिति । 'पिताहमस्य जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणामपि 'वैश्वानराद्वाक्यतेः' 'वस्तुतः कृष्ण एवे'ति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयमस्वारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं च सिद्धयति । किञ्च, सप्तश्लोक्यां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं व्याख्यायते तदापि न दोषः । तथासत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाङ्गुष्णाप्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिमोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु नष्टेषु तदप्रापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपायतया भातेषु । खलोन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो धर्मो यस्मिंस्तादृशे कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके नष्टे हृदयादपयाते । चकारेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पाषण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोपस्तस्याधमस्यान्तिकमि'त्यादिवत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि विभाग्यमान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यध्याहृता प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसाधन-

वैफल्यबोधनेन स्वस्यातिखेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रुदुः सुस्वरं राजन्नि'त्यत्र फलप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमप्येपि बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः—म्लेच्छाक्रान्ते-
त्यादि । म्लाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दाव-
नादिष्वाक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्याथिभावः सः अपः अक्षरको
यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनिलयेषु 'सोयं वसन्तसमयो
विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते । हा इन्त इन्त नवनौरदकोमलाङ्गो
नालोकिकि पुष्पघनुषः प्रथमावतार' इतिवत्तदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोवधारणे । तेन
पूर्वमतयात्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा
तया व्यग्रा लोकाः स्वीयैकान्तमक्ता येषु । एतादृशेष्वसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

अतः पर तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः—गङ्गेत्यादि । इह वृन्दावनादिदेशे
गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गत' इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितस्वात्सादिर्यस्याः सा
गङ्गादिः, यमुनातत्पभृतीनि तीर्थवर्षाणि घटविशेषाश्चन्द्रसरोवरश्रीकृष्णघाटा, 'नद्यस्तदे'
त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतज्जावराहित्येन दुष्टैरेवावृतेषु व्याप्तेषु । किञ्च, तिरोहि-
ताधिदैवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि दैवं 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'ति
कोशादस्मद्भाग्यं, 'त्रैलोक्येकलक्ष्म्येकपदं वपुर्दध'द्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते
चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम' इतिवदधिकतापजनके-
ष्विति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सत्सङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्यादि । निन्दायां सर्वत्र
तापाधिक्यमेव बीजं नतु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्मद्भ्रमो भगवानस्मत्प्रार्थित
एवान्यत्र फलिष्यतीत्येवंरूपेण चिन्मूढेषु स्तब्धेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्त-
रीतिको विरहस्तमनु लक्ष्मीकृत्य वर्तन्त इति तथा । तथाच पूर्वं यद्वश इदानीं तैरपि सह
न मिलतीति । तद्रमकं लाभपूजार्थ्यत्नेषु । लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदर्था पूजा लाभपूजा
तदर्थं यत्न उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये कार्यायन्यार्चिता पुनरिदानीमपि यत्क-
र्वन्ति तेन ज्ञायते न मिलतीति । लीलानां नित्यत्वात्पापेनासक्तिभ्रमवच्छदाविर्भावान्ते-
ष्वप्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरुणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—
अपरीति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दसूनु'रितिप्रस्थानसाम-

यिकविलापस्यङ्गोकोकं, तेन नष्टेष्वसाधकतया तैर्ज्ञतेषु । अत एव अत्रतयोगिषु ज्ञान-
गोचरत्वेपि जपादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः—तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः
अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्याभासङ्गिक-गुरुय-
महिषीमासङ्गिक-समर्पणादिप्रासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोप्यतितापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः—
नानेत्यादि । नानामकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां
कामं वर्षयति, जरासुतादिभिर्भुज्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्राञ्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्था-
दावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितत्संवादादिरूपा वा,
तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्षभगवद्गतादिषु । किञ्च, पाषण्डः कापट्यं,
तेनैको गुरुयः प्रयत्नो बहिर्दृश्यो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेतद्गोपनाय
लोकिकवैदिकविहितपार्यादिककर्मभगवद्गतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तत्तत्कृतिरपीति
तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःमादुरभूततस्तयावस्थयाहुः—अजामिलादीति ।
जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावि'त्यादिश्रुतौ तथा-
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्पपन्नोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न
जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्यत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च ।
तद्गुणसंविज्ञानः । शैद्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृशा ये
दोषा मानादय आज्ञाद्यकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च
स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि
मथुराद्वारकास्थित्यादि तच्छ्रीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यगुत्कर्षः परोक्षमजना-
विस्मरणातिभियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानामप्ये-
तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्ययेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः—प्राकृता
इत्यादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुरञ्जन-
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां
परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सङ्ख्यात आनन्दो येषां
प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति-
मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च हरिः

देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम तथेत्यर्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवल-
परमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्भगवज्ज्ञापितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावस्या तथाहुः—विवेके-
त्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीर-
सेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रहितस्य । विशेषतोत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरहा-
त्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुभूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्य-
मेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं
कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति
सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण !
पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्धयन्तत्वेन व्याख्या-
तमित्यस्माभिरपि तथोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि क्विन्तमेव । शरणस्थानामेतन्मार्ग-
रीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भवदनुभावप्रकटनार्थाज्ञायावतीर्णः विज्ञाप-
यामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तथोद्धार आवश्यकता सूचिता ॥ १० ॥

विज्ञापनां वदन्ति—कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वामि-
नीभावपूरितत्वात् बल्लभो भगवतः प्रिय आचार्यवर्योऽब्रवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्द्-
धानो योऽस्मद्वियोगावस्थां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं कथयेत्तस्य कृष्ण आश्रयो
भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य प्रत्यक्षत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरान-
ध्याहाराच्च, अत्र दुरान्वयोप्यदुष्ट एव । 'विमुञ्चात्पतन्तुं घोरामित्युक्तो विससर्ज ह' ।
'विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतिं प्रिया'मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च
श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव टीका
उपयुज्यन्त इति न कापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।

स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विवृतं तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीश्यामलात्मजश्रीब्रज-
राजविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिवृष्ट्येकविन्दुस्पर्शं रसाद्रिता ।

कृष्णलीलाब्धिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥

तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये मुदा ।

तेनैव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥ २ ॥

पुष्टिमार्गादिलीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।

स्वाश्रयं कुरुते यश्च तमहं कृष्णमाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेषा निरूप्यते मर्यादापुष्टिभेदेन । तत्र मर्यादया य आश्रयः स तु
स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूप-
निरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिषट्साधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं
संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणां आश्रयस्तादृशोत्र निरूप्यते प्रकारसहित
इत्यवगम्यते । तथाहि प्रथमं परमकृपालुः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूपधिकरूपावत्त्वा-
त्पुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवादौ
प्रवृत्तिर्भवति न तु तद्गतिरिक्तधर्मेषु । ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसित-
प्रेमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावाङ्कुराणां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकभा-
वनाया अवश्यसंभवात्तत्र तद्दर्ममाकृत्ये विजातीयसङ्गानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवप्रतिबन्धे
सति तदपेक्षाजनितार्था भगवद्गतिरिक्तस्य तन्निवृत्तेरशक्यत्वाच्छरणगतिरुत्पद्यत इति
श्रीमदाचार्यचरणास्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव प्रमेयमार्ग-
स्तिष्ठति, यतस्तेषु फलत्वासाधकत्वबुद्ध्याऽरुचिरेवेति तस्यागकरणाभावा एवेत्यर्थः ।
अथवा 'णश्च अदर्शने' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येतन्मार्गे

प्रतिबन्धकत्वादितिभावः । ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तन्निष्ठमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः स्वल्पमिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोषत्वमेवेति तत्रष्टत्वात् स्वलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेदोषनिधे राजन्' 'कलिं समाजयन्ती'त्यादिवचनैः कलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वश्रुतेः, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तथोक्तम् । भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि युक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पाषण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । धर्मव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वात्तथोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुचरश्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति । एवं सति तत्तत्काले तत्तद्दर्मानाचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समसं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्भवे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकाराद्गृहेपि तथा । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वात्तत्रत्यानां तद्भावात्तत्सङ्घोस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः—पाषण्डेति । लोके पुष्टिमार्गीये पाषण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पाषण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्धधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिन्सादृशे सति । यथा न कोपि जानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्तभावानामुच्छलितत्वाभावात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम् । शरणं गते कृपया स एव सर्वं करिष्यतीतिभावः ॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्तत्रापि प्रतिबन्धकबाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीढाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्ममार्गीयाश्च । यद्यपि तेऽनिषिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'त्याद्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशैस्तैराक्रान्ताः सर्वे प्रवेशा, अत एव तत्तल्लीलादीनां तिरोभावान्न ते साधका इतिभावः । स्वगृहं तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तावतापि

यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धदेशसंसर्गेण भावनाशे किमु वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम् । किञ्च, न केवलमाक्रान्तिमार्गं किन्तु तद्भ्रमय एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वात्तथोक्तम् । एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः । एवं सति भगवतो मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिच्छश्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षाचनानां सङ्गृहेणासाधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः । ननु तत्रापि केचन निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः सत्पीडेति । निवृत्तिपरत्वेन सद्रूपाणि तत्रत्यानां देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति तन्निष्ठमार्गाणां तन्निष्ठपराणां खेदो जायत इति तद्रूपैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तथा व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोका धर्मशीला येषु । यत्र स्थूलदृष्टीनामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिशूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भावशैथिल्ये किमु वाच्यम् । तादृशानामप्रेपि स्थातुमशक्तेरितिभावः । तथाचोक्तं 'अस्माश्च तत्प्रभृति नान्यसममपि'त्युत्र विवरणे 'यथा व्याघ्राग्ने देहाभिमानी'ति फलप्रकरणे । अतस्तद्भावपोषणे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत एवालोकि कर्मनःसिद्धावि'ति विवैकधैर्याश्रयेत्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते समीचीनास्तै सह सङ्गो न बाधक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामशुद्ध्या पुष्टस्य तेषामपि सङ्गो बाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति ।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्या भक्ताः । अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमिति सिद्धान्तश्रुक्तावल्यां स्फुटीकृतं, तन्निविधत्वमत्रापि ज्ञेयम् । तेन जलरूपाधिभौतिकादिभेदेन प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाहभक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादा भक्तिमार्गीयभक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकादिक्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणाद्गङ्गापद्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया एव ज्ञेयाः । अग्रिमाणामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम् । तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदिर्येषां तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्रूपा एव 'तीर्थभूता' आदिसाधकवचनाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव । कर्ममार्गीयापेक्षयोत्पत्त-

ज्ञापनाय 'वर्ष'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तदोषैरित्यर्थः । तादृशैर्धर्मव्रते-
ष्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः । ननु भगवद्-
धर्मनिष्ठेषु कथं तद्वर्माणामावरकत्वं तत्राहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । तिरोहितमधिदै-
वस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहपार्श्वेषु साक्षा-
त्पुरुषोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विश्वित्तरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैवि-
कभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिमे-
वोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'द्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा
सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधक-
त्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं—सर्वत्र शरणगतौ । एतेन
तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्ठुक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समबुद्धय एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्य-
तीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः
कर्तृणां तन्निरूपयन्ति—अहङ्कारविमूढेष्विति ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस-
म्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभाव-
स्यापि गतत्वाद्दिशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने
सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्ति-
ष्विति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणां फले प्रति-
बन्धकत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापा-
नुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम् । किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव
नेत्यपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्य-
तीति तत्राहुः—लाभपूजार्थयत्नेष्विति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां
तदनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा,
तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नह्यात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानु-
भवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । वहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दा-
नुभवोपि । प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सहे'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां
साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः । तदुक्तं निरोधवर्णने

'सङ्कल्पादपि तत्र हि' 'दर्शनं स्पर्शनं स्पृष्टमि'त्यादिना । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न
तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि प्रेमयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन
नामनिष्ठाः केचन सेवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं 'सङ्गस्तेष्वप्य
ते प्रार्थ्यः' 'सतां प्रसङ्गा'दित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठा-
नामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयन्ति अपरिज्ञानेति ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

यद्यपि 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत'मित्यत्र 'मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानी'-
त्युक्त्या भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदा-
नन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादामार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽप-
रिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु । यादृशः
कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपोर्यस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोऽर्थो न लक्षि-
तस्तत्राहुः—अव्रतयोगिष्विति । व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्पतिविषयकपरमानुरागज-
नितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठात्वं, तदभावतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो
येषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः—
तिरोहितेति । तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु ।
अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवेत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते,
नहि पुष्टिमार्गीयैरिव 'व्रजजनार्तिहन् वीरयोपिताम्' 'सुरतनाथे'त्यादीनि रसात्मकानि
तानि । तेषां मर्यादामार्गानुसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्टयनुसारेणेति न तत्सङ्गस्तस्य
साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषाम-
व्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः—
नानावादेति ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोत्तमास्तथापि तेषां मर्यादाभिश्चत्वात्सर्वकर्मव्रता-
दिषु सर्वं पुष्टिमार्गीयं यावत्प्रथमं कर्म तन्मार्गीया सेवा 'भगवता सहे'त्यादिरूपा व्रतं

लोकवेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावाद्बिन्दुषु सत्सु । नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादा-मार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलसितास्तादृशेषु सत्सु । तेषां मर्यादाभिश्चत्वेन विहितैकदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः । अत एव 'मर्यादाया गुणज्ञास्ते' इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम् । ननु तेषां भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं तदज्ञानं तत्राहुः—पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति । पाषण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्न-स्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वा-त्तत्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम् । अत एव मध्यमफलत्वं सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमित्यनेन । किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाम-क्तिमार्गैकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन । पुष्टिफलं तु केवलं तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरूपधिभावैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सङ्को न साधक इति शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य के पुरुषार्थाः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेवं चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिला-दिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुवमित्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादामार्गीयेभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति । तत्र हरेर्दास्यं धर्म उक्तः । तच्च 'पुरुषभूषण देहि दास्यमित्यत्र स्वरूपात्मकत्वेन निरूपितमिति भग-वतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् । एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टमापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं निरूपयन्ति । तथाहि—अजामिलाद्यः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घन-तास्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पन्न-नन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणयां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्त-प्रकारकभावनायामन्तर्लालासहितसाक्षात्स्वरूपमाकट्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रि-याणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोत्र दोषस्तन्नाशकः । यथाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मियो गुणगान-

लक्षणनामात्मकलीलया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तयोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्धर्मकार्यमुक्तम् । इष्टमार्गि निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्य तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीतिभावः । अनेनेष्टमार्गिरूपं धर्मकार्यमुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारवेदुष्टानामि'त्यारभ्य 'हरिवत्सुखमि'-त्यन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विशेषमाहुः—ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितम-खिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत एव ब्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टि-वाहमर्यादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । भगवति साक्षादन्तःप्रकटे क्ली-लाधर्माणामप्याविर्भावान्नाज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्धर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरि-त्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घनतरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवैक्यरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः—प्राकृता इति ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्तावे 'जडे सदंशः प्रकट इतरावाच्छन्नौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशस्तरोहित' इतिनिरूपितम् । पुष्टिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सेवागुण-गानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तथाचोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्ये'ति । तत्रैव पुनः विवरणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभा-वाद्भवत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दता-स्वत' इति निरोधविवरणेष्युक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठाता-रस्ते सच्चिदानन्दरूपाः सात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः । कला रसात्मकब्रह्मविद्यारूपा तत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमसंरं ब्रह्म, 'क'प्रत्ययेन ततोपि हस्वोतितुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । उभयत्र हेतुः पूर्णानन्दो हरिरिति । यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्तत्सम्ब-न्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्त इति तज्जनितप्रचुरार्तिशान्त्यर्थमन्तस्तत्तदिन्द्रियादिषु तत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तयोक्तम् । एवं सत्यसारात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य समस्तसङ्घनतः साक्षात्सात्मकली-लारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इतिभावः । तदेव 'श्रीमद्भो-

कुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसमि'त्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवार्थरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्धये शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलावण्यसाक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकृतम् । पुष्टिपार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यकत्वाद्यागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् । एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षुरागादित्रपानाशान्ताः सप्तावस्थाः संपन्नाः । अस्मिच्छ्लोके उन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते । तथाहि-विवेकः, धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य । विवेकराहित्ये विकलत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तच्चोन्मादावस्थायां भवतीति सा निरूपिता । धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावप्रचुरार्तिजनितमस्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं तत्राहुः-भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वमन्तःप्रकटये साक्षाद्भक्तिरूपमुखारविन्दसुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं स्थितमिदानीं प्रलापावस्थायां फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्याद्यकरणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम् । तत्रापि यत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलप्रतिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये ' भगवान् फलरूपत्वात् 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्य'मित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकरणे प्रचुरार्त्या मूर्च्छामापतति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्जाग्रदवस्थायां स्वरूपस्थितौ सङ्गाभावेन स्यात्प्रशक्तं गुणावलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले प्रतिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं ' ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य वाधका ' इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयत्वीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् । तत्र गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलाप्रवेशप्रलापः स्वरूपस्थितौ गुणगानमिति निरूपितम् । अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते 'रुहदुः सुस्वरं' 'तन्वः प्राणमिवागत'मित्यादिनाग्रिमा सा सूचितेति सर्वमुपपन्नम् । एतादृशस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमा-

नन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम् । तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशवस्थाभिः पूर्णविप्रयोगानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ तस्यालौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय बहिः स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्यसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥

सर्वे यावदलौकिकैर्धैर्यवीर्यादिगुणानां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्सहितः सन् तं प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'रित्यत्र 'भगव'त्पदेन स्वतन्त्रलिखने । ननु प्रभोः सर्वे संभवति परं तादृशेन प्रश्रुणा सह साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति । 'पुष्टि कार्याने'तिवाक्याच्चाहं तं भक्तं साक्षाद्रसात्मकस्वचरणारविन्दमकरन्दरजसाऽलौकिकदेहादिसम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाजे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहप्राणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्मकालौकिकवयोगुणादिरूपानलौकिकैर्धैर्यगुणादिसामर्थ्यरूपान् करोतीति तथोक्तमत एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले । एतत्सर्वं 'यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम' इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने'त्यादि । एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम् । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तम् । ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेपि तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शरणस्यसमुद्धारमिति । अत्र शरणपदं सर्वात्मभावपरम् । अलौकिकसृष्टिः सर्वैतादृग्भाववत्येवेति शरणस्यस्य-सर्वात्मभावस्थस्य-पूर्वोक्तभक्ततत्तलीलानन्दसमुद्रमग्नस्य-तत उद्धारं करोतीति शेषः । अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतै तिष्ठेत् । एतत्सर्वं 'यत एतद्विद्विच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम् । यद्वा, लीलानुभवदशायामपि तत्प्रभावादेव दैन्यभाव उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्येतिपदम् । अथवा, अतःपरं सर्वशेन शरणस्या जाता इति वा ज्ञापनार्थं शरणे स्थित्यर्थे उक्तः । तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता । किञ्च, एवं पूर्णस्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमद्ब्रह्मवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो निरूपित इति ज्ञापनायोद्दारे सम्यक्त्वमुक्तम् । एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यनन्तरं

तस्य स्वस्मिन् सासात्पुरुषोचमाभिन्नत्वज्ञानं भवतीति मुक्तिलीला निरूपिता । तत आश्रयलीलां निरूपयन्ति कृष्णामिति । तं पुनः केवलशुद्धभावात्मकत्वेन सङ्घातस्य स्वरूपत्वाधारत्वेन स्वस्वरूपात्मकं केवलानुभवान्(?)बालकभावरूपं कृष्णं करोतीत्याश्रय-लीला निरूपिता । कृष्णमित्यत्रापि करोतीतिक्रिया योज्या । अत एव 'ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं प्रत्यापत्तिरित्युक्तं 'बर्हापीडे'तिश्लोकविवरणे । एवं सति निरो-धलीलानन्तरं 'मुक्तिर्हित्वान्ययारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' । 'मुक्तानामाश्रयः कृष्णः' इति स्कन्धद्वयार्थरूपं मुक्त्याश्रयलीलाद्वयं निरूपितं पदद्वयेन । एतावदेवेप्सिततममितिपद-द्वयस्य कर्मत्वेन निरूपणम् । पूर्वं सर्वसमर्थत्वेन स्वतन्त्रकर्ता प्रभुरिति प्रथमान्तपदं दत्तम् । अग्रे स्वेप्सितत्वेन पदद्वयं द्वितीयान्तमुक्तं, तेन तादृशः प्रभुरेव स्वेप्सितं करोतीतिक्रिया-ध्याहारेण कर्तृकर्मक्रियान्वयसम्बन्धोत्र ज्ञेयः । एवं ग्रन्थार्योपि सम्यग्योजितो भवतीति सर्वमवदातम् । अतःपरं दशविधलीलानां पूर्णत्वादाश्रयाय सदा कृत इति कृष्ण एवे-त्यग्रेणोक्तम् । अत्र कृष्णावतारलीलानां नित्यफलावधित्वमुद्देशेन लक्षितमिति स्वरूपा-त्मकत्वेपि लीलानां नित्यत्वज्ञापनाय न कण्ठोक्त उपसंहारः कृत इतिभावः । एवं साधनफलस्वरूपविवेकेनाश्रयं निरूप्य तस्य लोभनिष्ठसुखैकफलत्वेन तस्याश्च भगवन्नोभ्यैकभोग्यत्वाददेयतमत्वेन प्रभोर्निवेदनीयमिति तदग्रे कृत्वा निवेदयन्त आहुः विज्ञापयाम्यहमिति । किञ्चिदितिशेषः । किं तदित्याकाङ्क्षायामाहुः इदमिति । यदग्रे कृतं तद्विनये मे प्रत्यक्षतोद्भूत्या निर्दिष्टम् । किं ते तदपीति तत्राहुः स्तोत्र-मिति । तर्हि समीचीनं कृतं प्रीतोहं किमियद्विज्ञापयत इति चेत्तत्राह कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रयो यस्मिन्निति तत्स्वरूपनिवेदनं कृतम् । एतेनाश्रये कृते आश्रितपक्षपातस्य त्यक्तुमशक्यत्वाच्चभिर्बन्धेनादेयतमपि पराकाष्ठापन्नं वस्तु तस्मै देयं भवतीति स्वकीया-नामार्तिघ्नं भवति अतिविनयेन विज्ञापनमेवोचितमिति श्रीमदाचार्याणां हृदयमिति ज्ञापितम् । अत एव एवं विज्ञाप्य तत्पाठफलं निरूपयन्ति य इति । कृष्णस्य भावात्म-कस्य सन्निधौ सति पुष्टिमार्गीयस्योद्भूतभावाङ्कुरस्य भावरूपत्वेनान्तस्तत्सन्निध्यं भव-तीति तयोक्तम् । तत्साभिध्याय वा पठेचस्यैवाश्रयो भवेदिति । य इति मदतिरिक्तोन्योपि स्वीकृत इत्यर्थः । इदं त्वत्किाकृष्णमत्यौदार्यं चरित आचार्याणाम् । नन्वेवं विज्ञापनेपि भगवता तन्मोरीकृतं चेत्तदा कथं फलसिद्धिस्तत्राहुः श्रीवल्लभोत्रवीदिति । इतीति पूर्वोक्तं विज्ञापनं श्रीवल्लभः सासाद्गोपीशोऽत्रवीत् अङ्गीकृत्याज्ञप्तवानित्यर्थः । अथवा श्रीवल्लभः स्वयमेव श्रीरूपाणां स्वामिनीनां बल्लभः परमवात्सल्यास्पदीभूतः । अत एव

१ केवलानन्दानुभवत्वात्मकमिति युक्तं स्यात् ।

वाः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये । अतिप्रियाय गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्वल्लभत्वेन प्रभोरपि परमप्रेमास्पदीभूत इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवतेति ज्ञापितम् । अत एव यतोङ्गीकृतमिति हेतोरत्रवी-दित्याह, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्वल्लभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न पुनस्तदुक्तिः कण्ठोक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमव-दातम् ॥ १०-११ ॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।
निरुपधिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोद्भूतं नः ॥ १ ॥
व्रतवतो महती किल ते कृपा मदपराधगणा अपि तादृशाः ।
उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥ २ ॥
अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।
श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥
प्रणतालोकसंजातकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।
संतापं हरति श्रीमद्विद्वल्लेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-प्रन्यास्तर्गता-वशमी

चतुःश्लोकी

सप्तभिष्टीकाभिः समलंकृता

- | | |
|----------------------|--------------------------|
| १. श्रीवज्रराजानाम् | ५. श्रीकृष्णरायभट्टानाम् |
| २. श्रीवल्लभानाम् | ६. श्रीनाथभट्टानाम् |
| ३. केषाञ्चित् | ७. श्रीद्वारकेशानाम् |
| ४. श्रीमथुरानाथानाम् | |

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुवरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायणां टिप्पणी
२. श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-नित्यलीला-

स्थित-गोस्वामि-श्री १००८ श्रीगोकुलनाथ-महाराज-

श्रीत्येतेषां-स्मृती-प्रकाशिता

वि. सं. २०३६

श्रीवल्लभाख्याः ५०३

प्रकाशक :

श्रीगोकुलनाथजी महाराजस्थापित मोटा मन्दिर ट्रस्ट,
बड़ा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई, ४००००२. भारत.

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी इयाम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग, चोपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामी १००८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यशरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

चतुःश्लोकीका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५८० या ८२ में कभी किया था ऐसी किंवदन्ती मिलती है. यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवद्गीतेके लिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु चौरासी वेष्णवोंकी वार्ताके अनुसार राना व्यास और भगवानदास सांचोरा ने श्रीमहाप्रभुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था.

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप एवम् स्थान होता ही है. यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बीजभाव, रचि, संग या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप तत्तन्मार्गीय जीवोंमें पुरुषार्थ-सम्बन्धी धारणायें भिन्न-भिन्न पायी जाती हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंकी धर्मार्थकाममोक्ष-सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतुःश्लोकीमें किया गया है.

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पड़ जाता है तो विफलता, निराशा, कुप्टा, क्षोभ एवम् आत्मवाती भावनाओं की ओर ही वह अग्रसर हो जाता है. इस जगतमें सभी तरहके जीव हैं और सभीको सभी तरहके संग भी मिल जाते हैं. इन आकस्मिक संगोंके कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वभाविक अहन्ता-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है.

गोधराके राना व्यासकी भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी संगति मिली थी. उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राना व्यासको लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोंकी यात्रा करते रहनेमें ही होना चाहिये. अतः अपने माता-पिताको कुछ कहे-सुने बिना एक रात ये घरसे निकल भागे. इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया. प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता-पिताके देहान्तके बाद इन्हें पांच दस हजार रुपये और उत्तराधिकारमें मिले फलतः इन्हें धनाभिमान भी हो गया ! कुल मिला कर ये अपने-आपको पहुंचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये. शनैः-शनैः अपने गांवके लोग तो इन्हें गंवार ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंसे टकरा लेनेकी लालसा इनके दिलमें जगी और एक दिन ये काशी पहुंच गये. वहां जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा ही हुआ, जिन-जिन पण्डितोंसे ये टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होना पड़ा !

इससे ये अत्यधिक लज्जित होकर गंगामें कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे। यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हें संकोचका अनुभव हो रहा था सो गंगातटपर बैठे रात्रीके एकान्त और अन्धकार को प्रतीक्षा कर रहे थे! तभी श्रीमहा-प्रभुका भी वहां पधारना हुआ। संयोगवश किसी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गंगामें डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होती है। इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड़-झगड़कर डूबनेवालेकी सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है। दोनभावसे किन्तु सन्यास लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गंगामें प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नहीं होती।

ये बातें सीधी जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौड़कर श्रीमहाप्रभुके चरणों में आकर गिर पड़े। अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे। श्रीमहाप्रभुने गंगास्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी। तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हें चतुःश्लोकीका उपदेश भी दिया था। ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए। श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंकी इनके द्वारा हस्त-लिखित प्रतियां अद्यापि उपलब्ध होती हैं।

इस चतुःश्लोकीके अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वत्ताके अहंकारसे मुक्त हुए। साथ ही साथ इस अहंकारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भी क्षुद्र भावनाओंपर काबू पा सके। ये एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये।

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निरुपाधिक होती है। स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवके हृदयमें भक्तिका रूप धारण कर लेता है। भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोंपर निर्भर नहीं होता। वह तो निहंतुक ही प्रकट होता है। जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान् होता है उस जीवमें वह प्रेम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपमें अंकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओंमें 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है। भगवदनुग्रहको ही अतः दिशाभेदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है। अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवके हृदयसे परावृत्त होकर पुनः भगवान्की दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं। निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टिकी वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशमें समा नहीं सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिकी सरिताके रूपमें बहने लग जाती है! उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहांसे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे! !

अतः जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयोजन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिसे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई

प्रयोजन ही। केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है (अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्...स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्तत्रैकतयादन्यत्रापि भासते। उष्णस्पर्शवत्. यथा यथा भगवन्नैकतयं तथा तथा स्नेहातिशयः. सुबो. १-१५-१६)।

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्या-दामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोंकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें चिरस्थायी नहीं हो सकती। ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम या मोक्ष का स्वरूप अन्यमार्गीय पुरुषार्थोंसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है। श्रीमहाप्रभुने इस चतुःश्लोकीमें पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोंका विलक्षण रूप हमें समझाया है। चतुःश्लोकी ग्रन्थके ये चारों श्लोक भागवतकी वृत्रासुरचतुःश्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं। वृत्रासुरचतुःश्लोकीके भी चार श्लोकोंमें इन्हीं पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोंका स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। प्रारम्भके तीन श्लोकोंपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है। इस अन्तिम श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक संग्रहश्लोक दिया है—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मार्थो हरिरेव हि ।

कामो हरिर्दिदृक्षेव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥

अर्थ : श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है। पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव श्रीहरि हैं। श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है।

इसी सूत्रका भाष्य वृत्रासुरचतुःश्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीमें भी हम पाते हैं।

पुष्टिमार्गमें भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है। रसमीमांसामें रति-स्नेहके संयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये हैं। अतः भक्तिमार्गमें भगवान्की अनुभूति जब संयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनुभूति मानी जाती है। अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते हैं। रस द्विदलात्मक है अतः संयोग और वियोग दोनोंमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाये तो फलावस्था मानी जाती है। तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक है; और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है। क्योंकि धर्ममें—ब्रजाधिपके भजनमें केवल संयोगका अनुभव होता है तथा काममें—हरिदर्शनकामनामें केवल वियोगका अनुभव होता है। जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है, अतः मोक्ष—भगवद्भजनमें संयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति जब निरन्तर या क्रमशः होने लग जाये तो भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूर्णतापर पहुँच जाती है। पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है।

पुष्टिभक्तका धर्म

पुष्टिमार्गमें ब्रजाधिप ही भजनीय हैं. क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमानन्द रूप हैं. अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा परब्रह्म परमात्मा व्यापिवैकुण्ठनायक भगवान् जब अपनी पूर्णताको लिये हुए ब्रजमें अपनी नित्यलीला प्रकट करते हैं तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है. जीव चाहे सुसाधन हों या निःसाधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके निःश्रेयस्के लिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं. यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है. जीवोंके साधनबलकी परवाह किये बिना अपने स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द के बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है.

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके अंशी होनेके कारण सहज स्वामी हैं. शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणसे आध्यात्मिक रूपमें सभी जीवात्मायें अंश होनेके कारण श्रीकृष्णकी सहज दास हैं. परन्तु लीलार्थ किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपमें इस भूतलपर और आधिदैविक रूपमें व्यापिवैकुण्ठमें भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं. ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये. यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धों द्वारा स्थापित हो सकता है. यथा सेवक, पुत्र, माता-पिता, सखा, या प्रियतमा आदि रूपमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगत्में या आधिदैविक नित्य लीलामें, तो भगवान्का वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती हैं. अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है !

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तविशेष ही उनके दर्शन कर पाता है. अपने दोनों प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथों के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवैकुण्ठ अथवा ब्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते हैं. अतएव भक्तके भावोंके अनुरूप स्वयम्को ढाल पानेकी कसौटीपर ब्रजलीलाविहारी ब्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए पूर्णतम परमानन्द-स्वरूप सिद्ध होते हैं, मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द-स्वरूप होनेपर भी. अतएव ब्रजभक्तोंके लिए एवम् ब्रजभवतोकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टि-फलके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं — "अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मकः"

ब्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावसे करना चाहिये ? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं—'सर्वभावसे.' "त्वमेव सर्वं मम देवदेव !" — मेरे माता-पिता बन्धु-मित्र पुत्र धन-विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये. केवल मधुरभावसे भी भजन किया जा सकता है.

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र, सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोंके आलम्बन (विभाव) बनते हैं तो तदनु रूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं. श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते हैं वह ब्राह्म रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनों ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं. लौकिक आधिभौतिक या मायिक नहीं. भक्तोंके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं. भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् रसभोक्ता हैं तथा रसभावके रूपमें भगवान्को भोग्य भी माना जाता है. कभी-कभी भक्तपरवश होकर भगवान् आलम्बनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते हैं. इसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहा जाता है. भोक्तृभाव 'पुम्भाव' कहलाता है और भोग्यभाव 'स्त्रीभाव'. भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ पुम्भाव' कहते हैं. उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है. अध्ययन-अध्यापनकी दुर्लभ तन्मयतामें गुरुका गूढ़ विद्यार्थिभाव कभी प्रकट होता है इसी तरह विद्यार्थीका गूढ़ गुरुभाव भी ! इन गूढ़ भावोंका प्राकट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके—स्वामि-सेवक, पुत्र-माता-पिता, सखा-सखा या प्रिया-प्रियतम—सम्बन्धोंमें. भक्त और भगवान् में इन गूढ़ भावोंको प्रकट करनेके मनोरथसे भी भगवान् भजनीय हैं.

जिन भक्तोंमें ऐसा गूढ़भाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोंके लिए भगवान्ने स्वयम्में ऐसे गूढ़भाव प्रकट किये ऐसे भक्तोंके प्रति दैन्यभाव रखते हुए भजन करना चाहिये— "अहं हरेस्तव पादकमूलदासानुदासो भवितास्मि". हमारे हृदयमें जबतक कोई एक निश्चित भाव स्थिर नहीं हो जाता तबतक विविध भावोंकी भावना करने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है. प्रारम्भमें अतएव भगवत्सेवा ब्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर — ब्रजभक्तोंको अपना गुरु मानकर करनी चाहिये. साधनावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाके माध्यमसे ब्रजभक्तोंके भावोंतक पहुंचानी पड़ेगी. किसी निश्चित दिशामें बहती एक नदीके समान भावना होती है, जो भावके रूपमें सागर बन जाती है. सागर बहता नहीं केवल लहराता है ! अतः ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यज्ञान-जनित दैन्य और आत्मा-अंश तथा परमात्मा-अंशों के सहज निरुपाधिक स्नेह के साथ प्रारम्भमें कृष्णसेवा करनी चाहिये. सेवाके इस प्रकारकी ही भावदीक्षा ब्रह्मसम्बन्धके समय दी जाती है. आत्मनिवेदनके समय अहन्ता और ममता से जुड़े सभी पदार्थों और सम्बन्धोंको हमें भगवान्को समर्पित करना होता है. इस सर्वसमर्पणके भावमें भी भगवद्-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. यों 'सर्वभावेन' में सभी भाव विवक्षित हैं.

किसी कालविशेषमें एक कर्मकाण्डकी तरह भजनका अनुष्ठान हमें नहीं करना है. एक जीवनप्रणालीके रूपमें सर्वदा-निरन्तर अर्थात् किसी कालके नियमके बिना

भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये. भगवद्-भक्तकी सभी क्रियायें— सोने-जगने कमाने— खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी—उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अंग ही बन जाती हैं.

“पुष्टिभक्तके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है” यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है. क्योंकि किसी आदेशकी अवहेलनाके कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता ! श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे हैं किन्तु भगवान्के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं. पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है. जैसे कोई शिशु अपनी मांके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई प्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बेचैन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खड़ी फसल बरसात न पड़नेके कारण सूख जाये ! ऐसे ही जिस पुष्टिजीवसे जिस समय या जिस जन्ममें कृष्णसेवा नहीं निभ पाती वह समय और जीवन उसका व्यर्थ चला जाता है. उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है ! पुष्टिजीवसे ब्रजाधिपकी सेवा न निभना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है. इस अर्थमें ब्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोंका प्रथम एवम् चरम सनातन धर्म है—उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य !

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि सभी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यही कर्तव्य है—यही धर्म है. किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका ही नहीं सकता.

कृष्णसेवाके सिवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वाभाविक धर्म नहीं होते, किन्तु औपाधिक-आकस्मिक धर्म ही होते हैं. अविद्याके बन्धनके कारण आरोपित अहन्ता-ममताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं. उदाहरणतया स्त्री-पुरुष ब्राह्मण-शूद्र या गृहस्थ-सन्यासी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रम के अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते हैं. मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ या मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ या मैं संन्यासी हूँ इत्यादि रूपोंमें हमारी आरोपित अहन्ताके कारण तत्तद् देहोचित वर्णोचित या आश्रमोचित कर्तव्य हमारे लिए धर्म बन जाते हैं. इसी तरह माता-पिता और सन्तति, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के ममताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तद् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है.

हम देख सकते हैं कि अहन्ता-ममताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमान-मूलक हैं. जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है. अतएव अन्य सारे कर्तव्य देश-काल-द्रव्य-मन्त्र-कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा

रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है. पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए धर्मरूप स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है. भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है. अतएव भक्तरत्न वृत्रासुर कहता है—

हरि! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ. मोक्षमें तो ज्ञानसे त्रिविध दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हरते हो तो ही दूर होने चाहिये. लौकिक अहम्के बन्धनोंसे मुक्त होनेवाले ज्ञानियोंका 'सोहम्'वाला अहम् मुझे नहीं सुहाता है. मेरे भीतर 'दासोहम्' का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नहीं ऐसा कुछ कर दो. यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होऊँ तो मुझे आपके दासोका दास बनाओ. मेरा मन, मेरे प्राणनाथ ! तुम्हारे गुणोंको गुनता रहे—मेरी वाणी तेरे गुणोंको गाती रहे—मेरी काया सर्वदा तेरी सेवा करती रहे. ऐसी आशिष मुझे दो.

पुष्टिभक्तका अर्थ

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही हैं. श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वधर्म भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये (एवं सदा स्म कर्तव्यम्). इस कृष्णसेवाके लिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके आधिभौतिक व्यापारमें उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपार्जनके लिए अन्याश्रयवाली आधिदैविक भृतकवृत्तिमें ही उलझनेकी आवश्यकता है. भगवान् तो अन्याश्रय अथवा प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना भक्तिके हितमें अपेक्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षेमका और स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वयमेव करेंगे. एतदर्थ उन्हें किसी लौकिक-पारलौकिक साधनोंकी या अर्थोंकी अपेक्षा नहीं है. भगवान् भावात्मक हैं अतः छोला और छप्पनभोग, जो भी भावसे निवेदित किया जाये, समान रुचिसे स्वयमेव अंगीकार करेंगे. अतः लौकिक अर्थ धन-सम्पत्तिपर यह भगवत्सेवा निर्भर नहीं है.

श्रुतिमें कहा गया है— “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्” अर्थ : यह परमात्मा प्रवचन मेघा या बहुश्रुतासे प्राप्त नहीं होता किन्तु अपनी प्राप्तिके लिए यह जिस जीवात्माको चुन लेता है उसे ही मिलता है— उसके ही समक्ष यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है. अतः इस परमात्मस्वरूप अर्थका उपार्जन हमारे साधन या व्यापार से शक्य नहीं है. जिस जीवात्माका वरण वह सर्वसमर्थ परमात्मा करता है उस जीवात्माके साधनोंकी वह परवाह नहीं करता. भगवत्सेवाके अधिकारी वे ही जीव होते हैं, जिनका भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनाव करते हैं. जिन्हें भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनते हैं उनके समक्ष अपने भोग्य-स्वरूप— मूढ़ स्त्रीभावको प्रकट करते हैं. जिन जीवोंके लिए भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेकी ठान लेते हैं वे ही जीव भगवान्के लिए अपने-आपको समर्पित कर पाते हैं ! इस परस्परके समर्पणके बाद जीवात्मा और परमात्मा

के बीच कोई परदा रह नहीं जाता. अतः पुष्टिप्रभुका गूढ स्त्रीभाव एवम् पुष्टि-जीवका गूढ पुम्भाव प्रकट हो जाता है.

व्रतचर्याके प्रकरणमें ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवान्ने वरदान दिया था. वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थी. भगवान्ने उनके चीर हर लिये! यह चीरहरण भगवान्में प्रकट हुए गूढ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुनः जो चीर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ पुम्भावका वितरण था. कुमारिकायें श्रीकृष्ण के लिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकि श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हें व्रत कर लिया था—चुन लिया था. चीरहरण तो केवल प्रकट पुम्भाव और स्त्रीभावों का विनिमय मात्र था! इसके बाद जो कुमारिकाओंमें भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था; और न छ वरसकी कुमारिकाओंके देह, जिनमें न तो तारुण्य और न किसी वैसे लावण्य की ही सम्भावना हो सकती थी, का कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है. ऋषि-मुनियोंके तप एवम् व्रत का भंग तो कामदेव कर सकते हैं, परन्तु इन छह वरसकी कुमारिकाओंमें श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उसे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामादपि कमनीय रूपका ही था. प्रमेय-प्रकरणमें श्रुतिरूपा गोपिकाओंके श्रीकृष्णके प्रति निरूपाधिक स्नेहको शृंगारोपाधिक गूढ पुम्भावके रूपमें इसी शृंगाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था. निरूपाधिक निराकार स्नेहको शृंगाररसके स्थायिभावके आकारमें वेणुकूजनकी छेनीसे गढ़ा था! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“केवलं शृंगारार्थमेव कूजनम्” (सुबोधिनी-वेणुगीत).

श्रीकृष्णके बारेमें किसी भी प्रकारका स्नेह—दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्य-भावात्मक—स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोंके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यसे ही सम्भव होता है.

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते हैं तब जीवमें दास्यभाव जगता है. श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमें वात्सल्य उभरता है. श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बेचारा कंस भयभीत हो जाता है. श्रीकृष्णकी क्रीड़ाकी इच्छासे किसी सखाको खोजनेपर हमारे भीतर सख्यभाव पनपता है. श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामना ही हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमकी अंकुरित करती है. वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अंगड़ाई लेने लगता है. उस आत्मारामके भक्तकाम बननेपर भक्तोंमें अलौकिक भगवत्काम प्रकट होता है. वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी मां यशोदाकी गोदमें गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है. हां, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टि-भक्तकी सेवाके बिना रह न सके इतना असमर्थ भी बन जाता है! वह काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष किसीके भी अधीन नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है. हम परतन्त्र हैं

परन्तु वह स्वतन्त्र-परतन्त्र है. अतएव कहता है—“अहं भक्तपराधीन ह्यस्वतन्त्र इव”, अर्थात् हम ‘अस्वतन्त्र एव’ हैं पर अज्ञानवश अपने-आपको ‘स्वतन्त्र इव’ मान लेते हैं. वह ‘स्वतन्त्र एव’ है अतएव कृपावश ‘अस्वतन्त्र इव’ बन जाता है!

वह सर्वसमर्थ सर्वभोक्ता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है—सम्यक् अर्थ है. अर्थ, किन्तु, भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा. अन्यथा भावात्मक अर्थके भोंडे प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है—चुर जाता है. अतः ‘अर्थ’ कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वसमर्थ’ कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है! पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चिन्त रहना चाहिये. अन्यथा बुद्धि या हृदय के द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है.

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ-प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोक्ताके पदको छोड़कर हमारे हृदयके स्थायी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उच्यत है. अतः लोकार्थिताके भावोंका हृदयमेंसे इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से बुहारना पड़ेगा. अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी! इन प्रतीक्षाकी घड़ियोंमें बाहर खड़े पुष्टिप्रभुके बारेमें हमारे मनोरथ जो गांवमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रसाभास हो जायेगा! क्योंकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एक ही दिशा है—“प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्.” वृत्र तो असुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिमय करनेका मनोरथ नहीं करता—

न तो मुझे लौकिक सात्त्विक अर्थ स्वर्गका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुझे लौकिक राजस अर्थ सारी पृथ्वीके धनका स्वामी ही बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लोकोंका आधिपत्य ही. न मुझे वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगसिद्धियोंकी ही कोई कामना है और न वैदिक सात्त्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपुनर्भव—मोक्षकी ही कामना है. मेरे सर्वार्थरूप केवल हरि हैं—उनके अलावा और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये! (प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्).

पुष्टिभक्तका काम

श्रीकृष्ण-दर्शन-कामना ही पुष्टिभक्तका काम पुरुषार्थ है. नेत्रोंसे श्रीकृष्णके केवल दर्शनमात्र करनेके सीमित अर्थमें दर्शनाभिलाषा नहीं लेनी चाहिये. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि पुष्टिभक्तकी कामना नेत्रोंसे केवल भगवान्के दर्शन कर लेनेसे पूरी नहीं हो जाती—वह तो सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की अनुभूति चाहता है. अतः नेत्रोंसे साक्षात्कार होना ही फल नहीं है (दृष्टेपि भगवति यावत्सर्वेन्द्रियैः साक्षात्त्रानुभूयते न तावत्स्वास्थ्यमिति न साक्षात्कारमात्रं फलम्. टिप्पणी १०।२०।२९). अतएव आगे निरोधलक्षण ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि संसारावेशमे दूषित इन्द्रियोंका हित

इसीमें निहित है कि भूमा-परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हें जोड़ दिया जाये. दर्शन-स्पर्शन-श्रवण-किर्तन-ध्यान-आदि क्रियाओंसे आन्तर-बाह्य सभी इन्द्रियोंको भगवदभिमुख बनाना चाहिये. जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यमें विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये.

श्रुतिमें जीवको—“काममय एवायं पुरुषः” कहा गया है. यह काम कौनसा है? सभी जीव चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हों, मर्यादामार्गीय हों, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोंसे परमानन्दकी कामना है. “न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति.” नेत्रोंसे, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचासे या कर्णोंसे हम खोज रहे हैं परमानन्द-रूप श्रीकृष्णको ही—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दों को नहीं.

इस परमानन्दकी खोजयात्रामें शीघ्रतया उसे प्राप्त करनेके लिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है. अपनी बुद्धिको अपना सारथी बना लेती है और मनकी लगामसे बंधे हुए इन्द्रियोंके घोड़ोंको सरपट दौड़ाती है. ये इन्द्रियोंके घोड़े लेकिन बड़े ही उद्धत हैं—दौड़ते-दौड़ते ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते हैं; और...बेचारे जीवको लौकिक विषयोंकी वासनाके गर्तमें गिरा देते हैं! शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनेसे गिरा कि टूट जाता है—नष्ट हो जाता है!

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका खेल है. मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मोड़पर जो जीव अपने रथकी दिशा बदल नहीं पाते उनका तो विषय-वासनाके गर्तमें विनिपात निश्चित ही होता है. ऐसे जीवोंको ‘प्रवाहिजीव’ कहा जाता है. मर्यादामार्ग की ओर इस परमानन्दकी खोजमें रथोंको मोड़नेवाले मर्यादिक जीवोंपर इन दुर्घटनाओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ जाता है. वे मनोनिग्रह—मनकी लगाम खींच—करके रथको कथञ्चित् रोक देना चाहते हैं. कभी रथसे उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी कामना करने लग जाते हैं. कभी स्वर्गादि लोक या आत्मसुख के पडावोंपर ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते हैं. कभी असीम एवम् दिशाहीन अद्यवतोपासनाकी बहु—जन्म जन्मान्तोंतक पूरी न होनेवाली अधिक क्लिष्ट यात्रापर निकल पड़ते हैं. कुल मिलाकर इन दुर्दान्त घोड़ोंके वेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का सामञ्जस्य बिठा नहीं पाते, पस्तहिम्मत होकर पैदल चलना अधिक पसन्द करते हैं (ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा, संघातस्य विलीनत्वात्, भक्तानां तु विशेषतः सर्वेन्द्रियैस्तथा-चान्तःकरणराम्भनापि हि ब्रह्मभावात्....विशिष्यते). अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम्. यत्संस्कारयोग्यं तज्ज्ञानेन नश्यति यदयोग्यं तत्परित्यागेन. अतएव स्मार्तैः संस्काराशक्तैः परित्याग एव बोध्यते” (सुबो.) अर्थ: ज्ञान और वैराग्य से सारे ताप दूर हो जाते हैं, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णको भलीभांति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोंको (ब्रह्मसम्बन्ध) संस्कारसे शुद्ध कर

पायेंगे. अन्यथा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारसे शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये. यही कारण है कि स्मार्त लोग संस्कार द्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं. व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है.

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभांति जानना आवश्यक होता है. पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नहीं पाते तो सुधारनेका प्रश्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है.

एक परमात्माकी आत्मक्रीडाकी ही अनेक नामरूपोंमें अभिव्यक्ति यह समग्र जगत है. हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं. मूल अंशके व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानजन्य अहन्ता-ममताके वशीभूत हो कर कोई क्षुद्र प्रयोजन घड़ लेते हैं, तभीसे सारी मुसोबतें खड़ी होने लगती हैं. इन्द्रियोंके तेज दौड़नेवाले घोड़ोंके रथमें तेजीसे भागते हुए हम दिशा भूल जाते हैं. अतएव शरणागति हमारी अहन्ताका शुद्धिसंस्कार है और ब्रह्मसम्बन्ध हमारी ममताका शुद्धिसंस्कार बनता है. अहन्ता-ममताके शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है. ऊबड़खाबड़ विषयवासनाके प्रदेशमें रथ दौड़ानेके वजाय हम पुष्टिके ऋजुमार्गपर पुनः आरूढ़ हो जाते हैं. विषयोंके मेवनेमें परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनेमें तो सब कुछ मिल जाता है! श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये—प्रेमसम्बलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा. अतएव उपनिषद्में परमात्माको—“सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम्” कहा गया है.

श्रीगोकुलाधीशको सर्वार्थना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंसे उन्हें चाहनेकी पहली शर्त है. यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्हें आंखोंसे भी देखा जा सकता है, कानोंसे सुना जा सकता, हाथोंसे पकड़ा जा सकता है और चरणोंसे दौड़कर परमात्माके निकट पहुंचा भी जा सकता है. आवश्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की!

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं:-

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ।

आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ॥

अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।

तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ॥

तदन्तिकगतिनित्यमेवं तद्भावनं सदा ।

इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा ॥

यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्षिणो फलं भवेत् ।

एवं मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि ॥ (वेणुगीतसुबो.)

“गिरधर देखे ही सुख होय ! नयनवन्तको यही परमफल, यही विधि मोय त्रिलोय !” अतएव श्रीमहाप्रभु श्रीगोकुलाधीशके वियोगके तीव्रतापमें हृदयमें-मनमें प्रकट होती भगवान्की स्वरूपानुभूति तथा लीलानुभूति को ‘परमफल’ कहते हैं. क्योंकि एकबार हृदयमें भगवान् विराज जाते हैं तो देर-सबेर सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूतिकी कामना भी जग ही जाती है. इस कामनाके जगते ही अन्य लौकिक-वैदिक विषयोंकी कामनाओंका आकर्षण निःशेष हो जायेगा. भगवान् स्वयम् कहते हैं—“न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते, भजिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते” (भाग.) अर्थः जिनकी बुद्धि भगवान्में लग गयी हो उनका काम कामार्थ नहीं रह जाता, जैसे भूजे या उबाले हुए धान बीज नहीं बन सकते.

सभी इन्द्रियोंसे होनेवाली इस भगवदनुभूतिकी वेणुगीत और भ्रमरगीत की सुबोधिनीमें ‘सर्वात्मभाव’ यमुनाष्टकमें ‘तनुनवत्व’ और सेवाफलमें ‘अलौकिक सामर्थ्य’ कहा गया है. यही निरोधकी फलावस्था है, जिसे यहां चतुःश्लोकीमें ‘मोक्ष’ कहा जायेगा. परन्तु इस सर्वेन्द्रियों द्वारा भगवदनुभूतिसे जीव सम्पन्न हो उससे पहले सर्वेन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिकी कामना—पुष्टिमार्गीय कामका जगना आवश्यक है. यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया समझ लेना चाहिये. अतएव वृत्र कहता है—

हे अरविन्दाक्ष ! मेरा हृदय तुम्हारे दर्शन चाहता है. जब मेरा मन तुम्हारे दर्शन चाहता है तो सभी इन्द्रियोंके द्वारोंसे वह तुम्हें अन्दर पधराना चाहता है. जैसे पक्षीके पंख बिनाके बच्चे अपनी माताकी प्रतीक्षा, चुगेके लिए करते हैं—जैसे गायका बछड़ा गायके थनसे दूधकी कामना करना है. सम्भवतः चूगा या दूध और कहींसे मिल जाये तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं, पर मेरा मन तो परदेश गये प्रियतमकी विरहिणी प्रेमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानमें—मनोरथोंमें जुड़ा हुआ केवल तुम्हें ही देखना चाहता है !

पुष्टिभक्तका मोक्ष

सर्वात्मना श्रीकृष्णका वन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है. सर्वात्मना श्रीकृष्णके वन-नेका मतलब है—प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमें दृढ़ आसक्ति. भक्तको कृष्णानुभूतिकी व्यसन हो जाना. निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो संयोगमें बाह्यालम्बनसे सभी इन्द्रियोंसे कृष्णका अनुभव हो, अन्यथा वियोगमें आसक्ति-भ्रमन्यायसे पूर्वानुभूत श्रीकृष्णके स्वरूप एवम् लीलाका रोमन्ध-जुगाली इतनी तीव्र-तर हो जाये कि अन्तःस्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन, उद्दीपन तथा सञ्चारी भावके रूप) लेने लग जाये !

संयोगमें भजन-धर्म और वियोगमें स्मरण-स्मर-काम निरन्तर चलता रहे तो भक्तको मुक्त हो गया समझ लेना चाहिये. यह अनुभूति यदि इस भूतलपर होने लग जाये तो उसे जीवन्मुक्ति समझनी चाहिये. इसे ही ‘तनुनवत्व’ या ‘अलौकिक सामर्थ्य’

भी कहा गया है. नित्यलीला-व्यापिवंकुण्ठमें यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये. इसे ही ‘नवतनुत्व’ या ‘सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु’ कहा गया है. संक्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्रके रूपमें चल पड़ना पुष्टिभक्तका पुष्टिभक्तमें मोक्ष माना जाता है. क्योंकि पुष्टि-भक्तका अर्थ—ब्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेसे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं—स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप वही है. अतः वियोग और संयोग दोनोंमें वह अनुभूत हो सकता है. यही श्रीगोकुलाधीशका स्मरण और भजन है.

श्रीमहाप्रभु कहते हैं—“ज्ञान तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठमेवं चेद् रोधनं स्थिरं, पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिञ्च सततं चक्रवत् परिवर्तते” (भाग. निवन्ध) अर्थः भगवान्के वियोगमें भगवान्के गुणोंका गान ज्ञानरूप है; और संयोगमें—प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ है. यह होनेपर जीव भगवान्में निरुद्ध हो जाता है. व्रजकी स्त्रियों और पुरुषों को रातमें और दिनमें इन्हीं ज्ञान और भक्ति का निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था. उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था !

पुष्टिभक्ति अपने-आपमें मार्ग भी है और गन्तव्य भी—साधन भी है और फल भी. अतएव संयोग-वियोगमें भजन-स्मरणके चढ़ाव-उतारोंमें निरन्तर चलते रहना यहां मुक्ति है. पुष्टिभक्तके मार्गपर चलकर अन्यत्र कहीं पहुंचना नहीं है—केवल निरन्तर इसी सुहावने मार्गपर टहलते रहना है—चरंवेति ! चरंवेति !! चरंवेति !!!

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सहयात्रियोंका साथ मांगता है कि कभी वह अकेले चलते हुए अन्य मार्गपर भटक न जाये—

हे नाथ ! मुझे सर्वदा तुम्हारे भक्तोंका ही संग-साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे. कभी संसारासक्त व्यक्तियोंका सख्य मुझमें न पनपने पाये ! यदि यह देह-पुत्र-स्त्री-गृहादि विषयमें मेरी आसक्ति भी हो तो तेरी सेवामें उनकी उपयोगिता भर के लिए ही और किसी हेतुसे नहीं ! मैं समप्रतासे तेरा हो जाऊं और तू समप्रतासे मेरा . . .

वि. सं. १९७९ में श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीका प्रकाशन हुआ था. वृत्रा-सुरचतुःश्लोकीका प्रकाशन वि. सं. १९७८ में हुआ था. प्रस्तुत संस्करण उन्हींका ऑफ सेट प्रॉसेसमें पुनर्मुद्रित रूप है. ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजके ‘श्रीजीवनेशाचार्य-पुष्टि-सिद्धान्त-कार्यालय’ से प्रकाशित हुए थे. इनके संयुक्त-सम्पादक थे श्रीचीमन ह. शास्त्री तथा श्रीहरिकृष्ण वीरजी शास्त्री. इन सभी महा-नुभावोंका हम इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

વિનતિ.

અમોએ આ ચતુઃશ્લોકીના સંશોધનમાં પ્રભુદત યાવદ્બુદ્ધિબલોદય આપાસ કર્યો છે. તથાપિ અશુદ્ધિ દષ્ટિગોચર થાય તો તે છવકૃતિ માની સુધારી લેશો.

ઉપકાર દર્શન.

અમને આ સંસ્થામાં જે પુસ્તક પ્રદાન કરે છે એમનો ઉપકાર કષ્ટોમાં માનવો અશક્ય છે. સમપ્રદાયમાં વિદ્યાનુરાગની વૃદ્ધિ થયાતું એ સૂચન છે. જે સમપ્રદાયમાં સાહિત્યનો પ્રાણ સ્થાયો નથી તે સંપ્રદાય દરેકના પ્રાણમાં સંચાર કરે છે, એ ન્યાય હવે આપણા સામપ્રદાયિકા સમજવા લાગ્યા છે.

અમોને શ્રીજીવનેશાચાર્ય પુસ્તકાલય ઉપરાંત શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ, શ્રીમજરતલાલજી મહારાજ, તથા શ્રીદ્વારકેશલાલજી મહારાજ, તથા કેટારથ શ્રીછોટામથુરેશજી તથા શ્રીનાથદ્વાર વિદ્યાવિભાગ. પંડિત બલભદ્રશર્મા તથા પંડિત રમાનાથ શાસ્ત્રીજી તથા શાસ્ત્રીજી મગનલાલભાઈ તથા રા. તેજીવાલા મૂલચન્દ્રભાઈ, યુજ્જરાતી પ્રેક્ષના માલિક મણિલાલભાઈ તથા પરિષદ સાહિત્ય-માથી રા. યાજ્ઞલાલભાઈ તેમજ જુનાગઢ વિગેરે સ્થલેથી જે જે પુસ્તકો વારંવાર આપવામાં આવે છે તેમનો ઉપકાર અતુલ્ય છે. પ્રભુ આ પ્રણાલી સદા રાખે, જેમાં ઉભયને ફલ છે.

ચીવનશાસ્ત્રી

‘સાહિત્યભૂષણ’ ‘શુદ્ધાદૈતરત્ન’

હરિકૃષ્ણ શાસ્ત્રી

‘શુદ્ધાદૈતવિશારદ’

શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।

ચતુઃશ્લોકી ।

શ્રીમદાચાર્યપ્રકટિતા ।

સર્વદા સર્વભાવેન ભજનીયો વ્રજાધિપઃ ।

સ્વસ્યાયમેવ ધર્મો હિ નાન્યઃ ક્વાપિ કદાચન ॥ ૧ ॥

एवं सदा स्मं कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तैतो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ૨ ॥

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किर्मपरं ब्रूहि लौकिकैर्वૈદિકૈરપિ ॥ ૩ ॥

अंतः सर्वात्मना शश्वङ्गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ૪ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यविरचिता चतुઃશ્લોકી સમ્પૂર્ણા ।

૧ સત્તામિતિ સતીતિ ચ પાઠઃ । ૨ સ્વકર્તવ્યમિતિ પાઠઃ । ૩ તેનેતિ પાઠઃ ।

૪ અપૈરૈત્યપિ પાઠઃ । ૫ તત્ત્વમિતિ પાઠઃ ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्रजराजचरणविरचितविवृतियुता ।

श्रीमद्रासरसामृताब्धिविलसद्रोपीशपादाम्बुज-
द्वन्द्वस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः ॥
स्फूर्जद्रोपकदम्बिनीविलसितमेमाख्यवर्त्मकारो
भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृच्छ्रीविट्टलो बाल्लभिः ॥१॥

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाश्र-
तुभिः श्लोकैस्तदेव तज्ज्ञापनार्थं विट्टव्रन्ति सर्वदा सर्वभावेनेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वदा ब्रजाधिपो भजनीय इति सम्बन्धः ।
सर्वैरिति शेषः । स्वस्यायमेव धर्मोन्यो न । कापि कुत्रचित् । कदाचन कस्मिन्नपि
काले इत्यर्थः । हीति युक्तश्रायमर्थः । सहजदासत्वेन जीवस्य यतोयमेवार्थः श्रुत्या प्रतिपा-
द्यते । अत एवास्मत्संशुचरणैर्निजनिर्गमप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्म इति
निरणायि । सर्वदेतिपदेन नात्र कालादिनियम इति ज्ञापितम् । धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे
कालादिनियम उक्तस्तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन क्षयिष्णुत्वमेव । अत्र
तदभावाय सर्वदेत्युक्तं भवति । किञ्च, सर्वदेतिपदेन क्षणमात्रमप्यन्यधर्मकरणेऽनन्यत्व-
भङ्गप्रसङ्ग इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्वनिरूपणात् । यथा पतिव्रताग्नाः
क्षणमप्यन्यत्र मनश्चालनेन व्रतभङ्गस्तथात्रापि ज्ञापनाय सर्वदेत्युक्तपितिभावः । सर्व-

१ विद्वन्मण्डने—तथा चाणुपरिमाणस्यैव जीवस्य पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सकाशात्निर्गतस्य ब्रह्मणा
स्वसेवार्थमेव निजैश्वर्यस्य निर्विषयस्वरिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्यात एव सहजहरिदासस्य तदंशत्वेन ब्रह्म-
रूपस्य च निजनिर्गमप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मः । तेन चातिसंतुष्टः स्वयं प्रकटीभूय निज-
गुणांस्तस्मै दत्त्वा स्वस्मिन्प्रवेशयति स्वरूपानन्दाद्युभावार्थमित्यादि निरूपितम् ।

भावेनेति । सर्वो भगवति यो भावस्तेन तथा । पतिपुत्रादिभावेनापि तथेत्यर्थः । एतदे-
वोक्तमाचार्यैरेव 'तादृशी भावनां कुर्यादित्यादि । यद्वा, सर्वभावपदेन स्त्रीभाव उच्यते ।
सर्वपदस्यैकस्मिन्धर्मं तत्रैव शक्तेः । अत एव ब्रजमण्डनाभिरुक्तं, 'सन्त्यज्य सर्वविषयां-
स्तव पादमूलमिति । तत्रैकस्मिन्सर्वपदाशक्तेरिति भावः । यद्वा, सर्वो भगवति यो भावः
स्त्रीभाव इति यावत् । भगवति स एव भावः प्रयोजक इति श्रीमत्स्वामिनीकृतस्व-
शृङ्गारादिप्रकारयुक्ते भगवति यो भावः स तथा । अत एवास्पत्प्रभुचरणैरुक्तं
'यद्यपि युवतिवेष' इत्यारभ्य 'पुंसामपि युवतीभाव उद्गेल' इत्यन्तं पद्यद्वयेन । अत
एवास्पत्प्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यैश्चोक्तं 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव ही'ति,
'स्त्रीभावो गृह' इत्यादि च । ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वादेतद्व्योधनमनुपपन्नमाभा-
तीति चेत्? सर्वेषां तद्योग्यत्वं ब्रह्मणा बृहद्भावेन स्त्रियो वा पुरुषा वापि
भर्तृभावेन केशवमित्यादिनोक्तम् । यद्वा, सर्वशब्देन प्रभुरेवात्रोच्यते, यतः सर्वशब्दस्य
तत्रैव शक्तिः तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र भावेन दासीभावेन प्रभुषु तत्सन्देशादिकथन-
पूर्वकसर्वसामग्रीसम्पादनेनेतिभावहृदयम् । ब्रजाधिपपदेन पूर्णपुरुषोत्तमत्वं ज्ञाप्यते ।
यथा कृपया तेषु स्वीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिंश्च तदाधिपत्यं प्रकटीकृत्य रमते, तथैव
सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यतीति ब्रजाधिपनाम्ना चोच्यते । तेषु स्वाधिपत्यं
तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनितवामकरशिखरिवरधारणप्रोद्युत्वाहोऽसितहृदयेन श्री-
गोकुलनाथेनैवोक्तं 'मन्त्रार्थं मत्परिग्रह'मित्यादिना । एवं भगवतः स्वस्याधिपत्यं हृदि
कृत्वा भजनीय इति भावः । स्वस्य तदंशत्वेनाद्यमेव धर्मो नान्य इत्यर्थः । अत एव
स्मर्यते 'यो यदंशः स तं भजे'दित्यादि । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्यान्वयधर्मकरणे वाचकत्व-
मेव स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीदेवकीभाग्योदयाचलभूपणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं 'स्वधर्मं
निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह' इति । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्याऽन्यत्र तदभावः स्वतः सिद्ध एव,
यथापि नान्य इति यदुक्तं तद्धर्मशास्त्रादिष्वन्यत्र स्वधर्मपदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्ते-
नान्यत्वात् विचारणीयमिति भावः । यतस्ते बहिर्मुखा देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति, न
भगवद्भर्ममिति । धर्मशास्त्रस्य तैदुद्देशेनैव प्रवृत्तेस्तैदन्निरूपणं युक्तमेव । अत एव युधिष्ठि-
र 'को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मत' इति पृष्ठो भीष्मः प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या
सेयनं च परमधर्मत्वेनोक्तवान् । नैवयं कर्तव्य एव तत्कथं सर्वथा निषिध्यते । उच्यते ।
अन्यस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वमायाति, परमन्यसृष्टिवद्यदि भक्तानां देहो भौतिको
भवेत्, भगवद्भक्तानां तु भगवत्पादपद्मरेणुसम्पादितदेहत्वाच्चद्भजनकरणमेव स्वधर्मो नान्य
धर्मो सर्वमवदातम् । अत एव श्रीवराहैरुक्तं, 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'-

१ शृङ्गाररसमण्डनं दशमोऽङ्कात् । २ देहोद्देशेन । ३ भगवद्भक्तानिरूपणम् । ४ ननु स्मार्ता एव ते
नि पाठः ।

त्यादि । सा सृष्टिर्भगवता स्वसेवार्थमेवोत्पादितेति तत्सेवनमेव धर्म इति भावः । तत्र
देशादिसाधनस्योक्तत्वाद्भर्माभास एव न तु धर्मोपि, स्वतो दुर्बलत्वादन्यसापेक्षणमप्येत
एव । अत्र तदैभावमाहुः क्वापीति । अस्य धर्मिमार्गत्वात्प्रबलत्वेन कुत्रापि करोतु न देशा-
दिनियमो, यतो देशाधाधिदैविकसम्पादनं भगवतैव । अत एवोक्तं श्रीभागवते 'तीर्थी-
कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्येन गदाभृते'ति । तेन अन्यः कापि न । अयं तु धर्मिरूपत्वा-
दतिप्रबलत्वादतिरोहितत्वात्कापि भवत्विति भावः । धर्मिधर्मयोरभेदाद्भर्माधिकारिति भावः ।
कदाचन कस्मिन्नपि कालेऽन्यधर्मः स्वधर्मो नेत्यर्थः । भक्तानां धर्मरूपोपि भगवानेव ।
तस्माद्भर्मादिषु मनोगमनेषु तत आकृष्य भगवत एव धर्मरूपतां ज्ञात्वा सर्वात्मभावेन
भगवानेव भजनीय इति भावः । किञ्च, धर्मणैवेष्टिसिद्धिः; यतो निगमे तथैव प्रतिपाद्यते ।
'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना पापस्यैवेष्टिप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन श्रवणात् । तत्र साङ्गवि-
धिना कृतेन धर्मेण पापनिवृत्तिस्ततः पुनस्तत्करणेन फलप्राप्तिः । सा चातिदूरतरा, यतः
साङ्गकरणं न सम्भवति । अतः स्मर्यते, 'यस्य स्मृत्येत्यारभ्य 'न्यूनं सम्पूर्णतां याती'-
त्यन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता । अन्यथा विधिशेषत्वं भवत्येव । अत्र विधेरेवा-
भावेन भजनस्यैव भावात्मकत्वेन फलस्यैव धर्मोक्त्या भजनानन्द एव फलाप्तिरिति भावः ।
अत एव यदुकुलामृताब्धिमुधादीधितिनाऽगादि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तौस्तथैव भजा-
म्यह'मित्यादिना । विधिहीनानां धर्मादीनामसाधकत्वं योगियाद्भवत्कवेन स्मर्यते 'विधि-
हीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्दन्त्यसुरास्तस्य समूहस्याकृतात्मन' इति ।
किञ्च, भक्तानां भगवानेवेष्टस्तत्प्राप्तिश्च नान्यधर्मैर्भवति, विना तत्सेवनम् । तस्मात्तद्वि-
योगतापे सति तत्प्राप्त्यर्थं च यद्भगवत्सेवनं तद्धर्मरूपमेवेति भावः । अत एव शुक्वागम-
ताब्धौ 'भक्त्या सज्जातया भक्त्या' 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' 'प्रीयतेऽम-
लया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'श्रद्धयात्मा भियः सताम्'
'प्रतिष्ठया सार्वभौम'मित्यारभ्य, 'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' इत्यन्तेनैव
वाक्यसहस्रैर्भक्तीतरसाधनासाध्यत्वं निश्चीयते भगवतः । तत्रैव पुनर्भगवता सर्वधर्मा-
न्निरूपयता श्रीमदुद्धवं प्रत्युक्तं 'सर्वेषां मनुपासन'मित्यारभ्य, 'इति मां यः स्वधर्मेण
भजन्नित्यमनन्यभाक्' इत्यन्तेनानन्यभजनस्यैव स्वधर्मत्वम् । तस्माद्भर्माकाङ्क्षायां
भगवदीयानां धर्मरूपो भगवानेव भजनीय इति भावः । किञ्च, अन्यधर्माणामधिकारि-
परत्वमुक्तं, प्रभुचरणैः स्वभजनस्य च सर्वेषामधिकारित्वम् । तेन सर्वपापशोधकनिर्मल-
वस्तुनो नाधिकारादिकमपेक्षितम् । तस्माद्भर्मपदस्य भगवद्भजन एव शक्तिः । तथा च
तेजवत्स्वन्यत्रापि दृश्यते । अतिरोहिताधिदैविकगङ्गासालाने पापनिवर्तकत्वं, अग्रेषु दाह-
करणेऽविचारस्तथान्यधर्मादिषु धर्मत्वं चेत्स्यात्तदेष्टरूपभगवत्प्राप्तिरपि स्यादेव, सर्वेषां च

१ स्मार्ता धर्मः । २ दुर्बलत्वादेव । ३ तदभावाधर्ममिति । ४ धर्मेणैष्टिसिद्धौ ।

तत्करणेऽधिकारोऽपि स्यात्परं तदभावे तत्र धर्मपदप्रयोगो गौण एवेति भावः । हीति युक्तश्रायमर्थः, सर्वात्मकस्य भगवत एव सेवनमात्मधर्म इति । यद्वा, हीति युक्तश्रायमर्थः, यदन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम् । यतो भगवताऽप्युक्तं ' भक्त्या त्वनन्यया ग्राह्यः ' ' अनन्याश्चिन्तयन्तो मा'मित्यादिनेति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्म इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो नत्वन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयमिति भावः ॥ १ ॥

एवं धर्मरूपमुक्त्वा अर्थस्वरूपमाहुः एवमिति ।

एवं सदा रम कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

सदा एवं कर्तव्यं यथाग्रे निरूप्यते । तदेवाहुः प्रभुरिति । प्रभुः स्वामी भक्तानाम् । सर्वरूपश्चासौ सम्पत्तिरूपश्च यतः, तस्मात्स्वयमेव करिष्यति ततः कारणाच्छिन्ततां निश्चिन्तस्य भावं व्रजेदित्यर्थः । एवमेव कर्तव्यमिति । स्मेति प्रसिद्धिरुक्ता । अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति । प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयं कर्तव्यं रक्षणादिकं प्रभुरेव करिष्यति । एवं सदा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थस्य रक्षार्थं स्वयं यतः क्रियते तस्य जडत्वादत्र प्रभोरेव तदुक्त्या यो गोप्योऽस्तं प्रभुरेव भावादिरूपं गोप्यं करिष्यतीति स्वयं निश्चिन्तो भवेदिति भावः । अत एवाचार्यैर्नवरत्ने उक्तं, ' चिन्ता कापी'त्यादि । यथार्थस्य सम्पत्तौ कृत एव निश्चिन्तता भवेत्तथात्र तं भावमर्थरूपं बहिर्मुखादिचोरेभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायतीति सिद्धवत्कारेण निश्चिन्ततां व्रजेदित्युक्तम् । यथार्थस्य गोपनं सर्वेभ्यः क्रियते तथास्यापि भावस्यातिगोप्यत्वान्नोक्तं, परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेनोक्तमिति भावः ।

यद्वा, प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति, सदैवं ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थेनैव सर्वसापत्त्यादिकं भवति तथात्र प्रभुः स्वभोगयोग्यदेहयौवनादिसामग्रीसम्पादनं कर्तव्यत्वेनोच्यते तत्स्वयमेव करिष्यति । यतः सर्वपदेन भक्तानां सर्वेषां सम्पत्तयः स एवेति सदैवं तथा भवेदिति भावः । अयमेवार्थो रसाब्धिसुधाकरश्रीमत्प्रभुचरणै रससर्वस्वे निर्णीतः । ' विनैव समयक्रमं सखि तदा यदासीदतिस्फुटं नवलयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम् । तद्भङ्गगुणो न तद्गतकृतोऽन्यदीयोपि वा विचित्ररसभावितप्रियकटाक्षगोयं परम् ' ' वय एव यदीदृशं तदीयं किमु वाच्यं सखि विग्रहाद्यशेषम् । रसरूपमितीन्दिरादुराणं रसमापुर्णदुदारतो रसाब्धेरित्यादिना । तेनार्थस्याधिदैवत्त्वायास्तस्या यदुराणं तदर्थसाध्यं तु भवत्येव, भगवता च स्वीयेषु तत्संपाद्यते । तस्माद्भगवानेवास्माकमर्थरूपोऽस्ति, स एव सर्वं करिष्यतीति ज्ञात्वा,

एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन सदा भजनं कर्तव्यम् । ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थस्तथैव करिष्यतीति भावः । ननु तथाकरणं व्रजवरकुमारिकास्वेव संभवति, तासां योग्यत्वादन्वेषामयोग्यत्वात्कथमेवं बोधनमिति चेत्? सत्यं, तदयोग्यत्वं जीवानां, तथापि सर्वात्मभावेन तथा चेद्भजेत्तदा भगवदनुग्रहेण तथा भवेत्तदा भगवानपि कुर्यादेवेति भावः । अत एव पुष्टिसरसिजमार्तण्डायितचरणाचार्यैरेव भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृतं 'तदुरापत्वेपि तदाशया तद्भजनमेव कार्य'मित्युक्तम् । तदप्राप्तिश्चेत्स्यात्तदा 'तदाशये'ति नोक्तं स्यात् । तथा च श्रीगोपीजनप्रेमकुमुदवन्द्युश्रीविट्ठलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्वे चालेखि, 'सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति तदा भगवानप्यङ्गीकरोत्येवे'ति । 'यद्भान्नो'त्यस्मिन्पद्येपि 'यस्मिन्महानुग्रहस्तस्मिन्पनिवन्निवनीत्वमचिरात्कर्त्ता प्रियः प्रायश' इति । तस्मात्तदनुग्रहेण तथा भवतीति भावः । अत एव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्युक्तम् । यद्वा, स्वयं कर्तव्यं भजनादिकं व्रजसुन्दरीषु समर्थो हि प्रभुः करिष्यत्येवास्मदर्शनार्थम् । सदा एवं निश्चिन्ततां व्रजेत् तत्प्रकारकभगवद्दलादर्शनार्थं चिन्ता न कार्या । प्रभुः स्वत एव करिष्यतीति भावः । स्मेति प्रसिद्धिः । यतः प्रभुगैवोक्तं 'अहं भक्तपराधीन' इति । तदधीनत्वेन तन्मनाभिलषितकरणं स्वत एव सिद्धम् । हीति निश्चयेन युक्तश्रायमर्थः । यतो भगवदर्थं 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिवच्ये त्यजन्ति तेषां मनोरथपूरणं च भगवता कर्तव्यमेव । अत एव भगवतैवोक्तं 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्विभर्म्यहम्' इत्यनेन । भरणकरणोक्त्या यथा तेषां स्वलीलादर्शनं भवति तथैव कृत्वा स्वलीलायामेव स्वरूपात्मिकायां स्वस्मिन्नेव स्थापयामीति भावः । अर्थेनैव स्वमनोरथाभिलाषो भवति, अन्यथा तु जलतरङ्गवदुद्धूतदीनमनोरथापूर्तिरेव सदा, तथात्र श्रीमत्प्रभुचरणसेवनेनैव भक्तमनोरथपूर्तिरिति भक्तानामर्थरूपोपि भगवानेव सेव्य इति भावः । यथार्थं विना लौकिकरमणादिकं भोगश्च न सिध्यति तथात्रार्थाधिदैविकलक्ष्मीप्रवेशं विना भगवद्रमणभोगौ च न सम्भवतः । सा सम्पत्तिरपि स्वस्मिन् स्वत एव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्रभुस्तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिस्तेन च तौ संभवेताम् । भगवदाज्ञयैव भगवदेकशरणायास्तस्याः प्राप्तिरिति भगवानेवार्थरूपः । अत एव श्रीगोकुलनाथवाग्धिपतिश्रीमत्पाणेश्वरैः फलप्रकरणे 'सर्वत्र तासु सा भगवदाज्ञया निविष्टे'ति । अस्यार्थस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्सर्वसमर्थ इतिपदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतमित्यलं लेखनेन । तच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तानां हृदि प्रभुमुखेन्दूदयेन स्वत एव भावाब्धिवीचिप्रचारो भविष्यतीति भावः ॥२॥

एवमर्थस्वरूपमुक्त्वा कामस्वरूपं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीशोति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

श्रीगोकुलाधीशः सर्वात्मना यदि हृदि धृतस्ततो लौकिकैः लोक-सम्बन्धिसुखैः वैदिकैरपि वेदोक्तकर्मजन्यैः स्वर्गादिसुखैरपि किमपरमस्ति ? न किमपीत्यर्थः । त्वं ब्रूहि । स्वं मानसमेव साक्षीकृत्योच्यते । यदीतिपदेन कस्यचिदेव परमभाग्यवतः कृतपुण्यपुञ्जस्याग्रिकुमारीणामिव भावो भवतीति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते । गोकुलाधीशनाम्ना भगवतस्तदधीनत्वं ज्ञाप्यते । अत एव स्वःस्वामित्वाभिमानिभिरपीन्द्रादिभिर्भगवान् तत्पतित्वेनाभिषिक्तो, भगवन्मनोनुवृत्तिज्ञानेन । एतदेवोक्तं 'इति गोकुलोत्पत्तिं गोविन्दमभिषिच्य स' इति । गोकुलोत्पत्त्या गोप्यो, गोपा, गावश्चोच्यन्त इति भावः । तेन तासामधीशोतिरसिकः प्रेमरसज्ञश्च । अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमः कथं गोपीनां पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुत्वमङ्गीकुर्यात् । तासां केवलं प्रेम्णैवाङ्गीकारात्स चेदृदि तद्योग्य-स्वरूपभावेन धृतस्तदा तथैवाङ्गीकुर्यादेवेति गोकुलाधीशनाम्ना द्योत्यते । सर्वात्मना सर्वथा सर्वभावेन कामभावेनेति यावत् । अत्र सर्वात्मपदं कामपरमेव । यथा ब्रजभाग्य-रूपाणां सर्वात्मभावः कामभावात्मक एव, अत एवोक्तं 'गोप्यः कामा'दिति । तथा-स्मिन्नाचार्यप्रकटितपुष्टिमार्गे ताह्वमाप्तिरेवोच्यते । स एव भाव उपदिश्यते । ता एव च गुरव इत्याचार्यैरेवोक्तं संन्यासप्रकरणे 'गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तदि'ति । तेन सर्वात्मना कामभावेनेति भावः । अस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्स्पष्टतया नोक्तम् । एवं प्रकारेण चेदृदि स्वयं धृतः । स्वधारणोक्त्या बलात्कारेणैव 'मैवं विभोऽर्हती'त्यादिरीत्येति भावः । तथा चेदृदस्तदा लौकिकैः पतिभिः वैदिकैः स्वर्गादिभिः, पुत्रादिभिर्वाऽपरं किं ? न किमपीत्यर्थः । अत एव लौकिकवैदिकत्यागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीब्रज-नाथप्राणवल्लभाभिरेवोक्तं 'सन्त्यज्य सर्वविषयास्तवे'ति, 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' इत्यादिभिस्त्यागमुक्त्वा पश्चाद्भजनार्थमुक्तं 'तन्नो निधेही'त्यारभ्य 'तप्तस्तनेषु च शिरस्तु च किङ्करीणा'मित्यादिना । भगवतापि तथैवाङ्गीकाराज्जायते चास्यैव भावस्य प्राबल्यम् । तस्मादपरं न किमपीति भावः । त्वया चेज्जायते वा किमप्यपरं तदा ब्रूहि । यद्वा, गोपदमिन्द्रियवाचकं, तेनेन्द्रियकुलस्य प्रभुः सर्वात्मना पूर्वोक्तकामभावेन हृदि मनसि सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि यदि धृतस्ततो लौकिकैः पतिभिः किं ? न किमपीत्यर्थः । अत्रायं भावः । यदि भगवान् धृतस्तदा सर्वाणीन्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति, तदैव च जन्मेन्द्रियसाफल्यम् । तदेवोक्तं ब्रजवरवर्णीयाभि'रक्षणवतां फल'मित्यप्ये । श्रीमदुद्धवैश्च 'किं ब्रह्मजन्मभि'रिति तासां भावदर्शनेनान्यजन्मवैफल्यमुक्तम् । तस्मादेवं 'यदि प्रभुर्धृतस्त-दाऽपरं लौकिकैः पतिभिः किं भविष्यति न किमपीति भावः । वैदिकैरिति पति-विशेषणम् । वेदोक्तैरपि लौकिकैः किमिति । अयमर्थः । वेदे पतिभजनेन मोक्षः स्यादित्युक्तं, तच्च संप्राप्तदेहेन्द्रियाणामसम्बद्धतरम् । अत एवोक्तमाचार्यैः 'इदमेवेन्द्रिय-वतां फलं मोक्षोपि नान्यथा । यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्षणाः फलं भवेत् । एवं

मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि' । तस्मात्तैः किं ब्रूहि ? पूर्वपक्षिणं प्रत्युच्यते-अपरमपि किं तैरिति जानासि चेत्तदा ब्रूहि । ननु भगवदप्राप्तिसमये लौकिकेष्वेव संबन्धात्कामस्य च बलिष्ठत्वात्कदाचित्तेषु मनश्चलति तदा तत्कृतमप्यकृतं भवति ततो वेदानुसारेणैव करणमुचिततरमिति चेत् । न । भगवन्निवेशितमनसां सर्वथान्यत्र कामो न संभवत्येवेति श्रीब्रजकुमारिकाकामपूरणपारिजातचरणेन श्रीनन्दकुमारेणोक्तं 'न मथ्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' इति । यद्वा, लौकिकैरपि हृद्यादिगुणैरपि, सर्वात्मना कामभावेन वा वैदिकैर्वेदेन्द्रिद्युत्खालङ्करणमुखचन्द्राभिरुक्तधर्मैः 'चूतप्र-वालवर्हस्तबकोत्पलाब्जे'त्यादिभिर्गदि श्रीगोकुलाधीशो धृतस्ततोऽपरं किं, न किमपीति भावः । एवं सर्वप्रकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्य इति भावः ॥ ३ ॥

कामस्वरूपमुक्त्वा मोक्षस्वरूपमाहुः ततः सर्वात्मनेति ।

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

ततः कामभावात्मकभक्त्यनन्तरम्, पुनः सर्वात्मना सर्वात्मभावेन, शश्वत्-निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं तथैव भजनमपि न त्याज्यमिति मे मम मदीया मतिरित्यर्थः । अत्रायमाशयः । कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्सम्बन्धस्व-भावमर्यादाजनिततुल्यत्वप्रमदात्त्वमदेनान्यथाभावे सति मानादिना दोषभावेन तद्वा-च्युतिः स्यात् । ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यमिति भावः । शश्वदितिपदेन क्षण-मप्यन्यथाकरणे सर्वथाऽसुरप्रवेशः स्यादिति ज्ञाप्यते । गोकुलेश्वरनाम्ना यथा तेषां सर्व-भावप्रपत्त्या सन्तुष्ट्यातुर्यादिरहितेष्वपि स्वामित्वमङ्गीकृतवान्, तथात्रापि तत्रापि करिष्य-तीति ध्वन्यते । पादेषु दृन्द्रकथनेन श्रीस्वामिनीपादसाहित्यं ज्ञाप्यते । स्मरणपदेन स्मरणं चेतसो धर्म इति चित्ते भगवद्विप्रयोगसमये स्मरणमिति भावः । अन्यथा तद्विप्रयोगस्या-तितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्यादिति भावः । भजनं सेवा, सापि निरन्तरं तथैवेति भावः । चकारेण भजनं चित्तपूर्वकमेव कर्तव्यमिति भावः । अपिशब्देन भगवान् भजतु वा मा भजतु, स्वस्य भजनीय एवेति भावः । अत एव श्रीगोकुलाधीशरतिमार्गाब्जमार्ते-ण्डायितपादपद्मैः श्रीवेद्वलनानादि, 'मारणे वरणे वापि दासीनां नामभ्रुर्गतिरिति । अयमेवार्थः स्वयं न त्याज्यमिति स्वकरणकात्यागोक्त्या ज्ञाप्यते इति भावः । मे मति-रिति स्वमतिकथनेन स्वानुभवः प्रदर्शितः । भक्तिमार्गे भक्तिरेव परमपुरुषार्थः । मोक्षाद-प्यधिकत्वं भक्तेः सिद्धमेव । तस्मात्पुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनस्यैवेति भजनमेव निरू-पितम् । भक्तेर्मोक्षाधिकत्वं तु श्रीभागवते बहुधैवोक्तम् । तथा हि 'सालोक्यसार्ष्टिसा-

पाप्यसारूप्येत्यारभ्य 'विना मत्सेवनं जना' इत्यन्तः 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ-
दर्शिन' इति च । 'वीक्ष्यालकावृते'त्यारभ्य 'भवाम दास्य' इत्यन्तेन पद्येन च । तेन
भजनं सेवा मोक्षाधिका सैव कर्त्तव्येति भावः । मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वकरणका-
त्यागोक्त्या पूर्वोक्तधर्मादित्रयकरणेन भगवान् स्वश्रेष्ठ भवतीति ज्ञाप्यत इति भावः । एवं
मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वमतित्वकथनेन स्वीयानामेव कर्त्तव्यमिति भावो ज्ञापितः ॥ ४ ॥

इति श्रीगोकुलाधीशवागधीशमुख्युतम् ।

स्वमार्गधर्मार्थकाममोक्षाणां रूपमद्भुतम् ॥ १ ॥

तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति ।

तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयतां कृपयन्तु वै ॥ २ ॥

यत्पदाब्जमरन्दालिभावस्तुच्छीकरोति वै ।

मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्महं प्रसीदतु ॥ ३ ॥

श्रीविद्वलपदाभोजरेणुसङ्काङ्क्षिणा मया ।

स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकी निर्णीतेयं यथामति ॥ ४ ॥

इति श्रीब्रजवधूप्राणेशपादपद्मात्मकपुष्टिमार्गचकोरनेत्रानन्दश्रीवल्ल-

भाचार्योक्तचतुःश्लोकीविवृतिर्भावरसदीपिका

श्रीदयामलतनुजब्रजराजकृता

सम्पूर्णतामगात् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीवल्लभप्रकटितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्ब्रह्मभनाथचरणसरोरुहरेणुभ्यो नमो नमः ।

श्रीकृष्णाऽऽस्याचार्यवर्याङ्घ्रिपद्मरेणुन्नत्वा भक्तितो यद्वचोर्याः ।

दुर्विज्ञेया यत्प्रसादं विनातस्तद्वाक्यार्थं तत्प्रसादाद्विवरे ॥ १ ॥

लोके पदार्थाश्चत्वारो धर्मार्थस्मरमुक्तयः ।

स्मृत्युक्तसाधनैर्लभ्याः पूजामार्गानुसारतः ॥ २ ॥

तत्र प्रतिज्ञा नो मुक्तिर्विना ब्राह्मणदेहतः ।

भूतशुद्ध्या विनिर्वाहः साङ्गोपाङ्गः स्वमन्त्रतः ॥ ३ ॥

चेत्तदाप्यक्षरप्राप्तिरूपा मुक्तिर्भवेत् क्वचित् ।

अतो निःसाधनानां यदृथा जन्म तदा भवेत् ॥ ४ ॥

तदर्थं श्रीहरिः साक्षात्स्वास्यवह्निं स्ववावपतिम् ।

चकार प्रकटं लोके श्रीवल्लभमिलातले ॥ ५ ॥

तैरेव श्रीमदाचार्यैः पुष्टिमार्गानुगामिनाम् ।

स्वसिद्धान्तावबोधार्था चतुःश्लोकी निरूपिता ॥ ६ ॥

यस्याः पूर्वपदार्थेभ्यः पृथग्धर्मादितुर्यकम् ।

सत्वरं बुध्यते तस्या विवृतिः क्रियते मया ॥ ७ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वमार्गीयपुरुषार्थचतुष्टयज्ञापनार्थं स्वसिद्धान्तचतुः-
श्लोकीं निरूपयितुकामास्तत्र प्रथमं स्वधर्माचरणरूपं प्रथमं पुरुषार्थमनुष्ठान्तसाहुः
सर्वदा सर्वभावेनेत्यादि ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

ब्रजाधिपः पूर्णपुरुषोत्तमः सच्चिदानन्दो भजनीयः सेवनीय इत्यर्थः । पुष्टि-
मार्गीयैरित्यध्याहार्यम् । तदेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः श्रीभागवतदशमस्कन्धे जन्मप्रक-

रणविवरणे 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले । अतो वयं सुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत एव ही'त्युक्तेर्निःसाधनानां कृते भगवतः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः सिद्धः । स एव निःसाधनैर्जीवैर्वेदेषु सृष्टयुत्पन्नैः सेव्य इति भावः । अथ स तैः कथं सेवनीय इत्याहुः सर्वभावेनेति । सर्वदेहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिभिः कृतो यो भावः सर्वात्मभावस्तेन सेव्यः । एतदुक्तं भवति । देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणस्त्रीपुत्रधनगृहादिकं सर्वं भगवत एव न ममेत्येवंभूतो यो भावः स संसारनिवर्तकः, तस्मिन् सति जीवे निश्चिन्तता भवति । एवं सति युक्त एव भगवन्मयो भवति । तदुक्तं भक्तिवर्द्धिन्यां 'गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद्भ्रमसंन कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' । तेन सर्वात्मभावोद्यमेव दैवजीवस्य मुख्यो धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' । नन्वेवमपि सर्वथा धर्मान्तरवदेककालीनो वैकदेशीयो धर्मो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः नान्यः कापि कदाचनेति । अन्योस्मदुपदिष्टधर्मात्पुष्टिमार्गीयाद्विरुद्धः पूजामार्गीयो यो धर्मः स न वैष्णवानां कार्यसाधकः, किन्तु बाधकः विभूतिपर्यवसायित्वात् । कश्चिन्देशकालयोरपि धर्मविपर्यासौ दृष्टा तत्राप्ययमेव धर्म आत्मीय इति मन्तव्यम् । कदाचनेतिशब्देन कालान्तरेप्यस्य धर्मस्य त्यागो न विधेय इति भावः । सर्वदेति सर्वकालं निरन्तरं भजनीय इत्यर्थः ॥१॥

एवं प्रथमपुरुषार्थं पुरुषोत्तमसेवनरूपं पुष्टिमार्गानुसारिधर्मं निरूप्यातः परं द्वितीयपुरुषार्थमर्थरूपं निरूपयन्तीत्याहुरेवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवममुना प्रकारेण स्वधर्माचरणरूपे प्रथमपुरुषार्थं सम्यक्तया निर्णीते तदनन्तरं विश्वासयुक्तहृदयेन स्वनुष्ठिते च सति, कालानवच्छेदेन स्मर्तव्यः । वैष्णवैरिति शेषः । हाति निश्चितम् । सतां वैष्णवानामैहिकं पारलौकिकं च सर्वकार्यं स्वयमेव विनैव प्रार्थनेन करिष्यति, सर्वथा सम्पादयिष्यति स्म । कुतः स प्रभुरिति । यतोसौ सर्वसमर्थः स्वतन्त्रश्च । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हरिरेव । अतो वैष्णवानां चिन्ताकरणं व्यर्थमेवेति भावः । उक्तं च 'भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः । योसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्ष्यत' इति । अतोत्र भगवद्भक्तस्तेन भगवदीयानामैहिकामुष्मिकमनोरथानां भगवतः स्वयमेव कर्तव्यरूपेण हेतुना निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः । यथाक्तं दशमस्कन्धे 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' इति ॥ २ ॥

एवं भगवत्प्रमेयबलं वैष्णवानां समस्तकार्यसाधकमर्थरूपं द्वितीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

हे मनुज यदि स्वहृद्यन्तःकरणे सर्वात्मना सर्वात्मभावेन श्रीगोकुलाधीशः प्रभुः स्थापितस्तदा ततः श्रीगोकुलाधीशात्पूर्णपुरुषोत्तमादपरमन्यत्सर्वस्मादत्युत्कृष्टं भक्तानां सर्वकामपूरकं वस्तु किमप्यस्ति तर्हि ब्रूहि कथय । लौकिकैर्लौकिकसाधनसिद्धियुक्तैर्वचनैस्तथा वैदिकैर्वैदिकयागादिसाधकवचनैर्निर्द्धारितफलं मुक्तिसाधकं मुमुक्षुणां कामपूरकमपीदमेवेति भावः । उक्तं च श्रीमदाचार्यचरणैरन्तःकरणप्रबोधे 'अन्तःकरणमद्वाक्यं सावधानतया शृणु । कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्' । किञ्च । 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवे'ति । अर्थाद्भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदीयानां भगवत्स्वरूपसेवनमुपदिष्टं प्राचीनैर्भगवदीयैरानुवाचैर्मुनिभिः । यदि स एव हृदये स्थापितो निविष्टस्तदा तस्य वैष्णवस्य सेवाफलं किमपरमन्यदृष्टिप्राप्तव्यं, न किमपरमन्यदपीति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥ एवं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं चतुर्थं मुक्तिरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अतः परं श्रीगोकुलेश्वरस्य स्वहृदि स्थापनानन्तरं मुक्तिसाधनं निर्दिशन्त आहुः श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् । इतीति समाप्तौ । यथा औषधसेवनात्सुखीभूतस्यापि पुनरौषधसेवनं पुनर्व्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्वदत्रापि भगवत्प्राप्तौ सत्यामपि पाञ्चभौतिकदेहभूतो जीवस्यासुरादिसङ्गादासुरावेशसम्भावनायां तदनुत्पादकं साधनं कर्तव्यमेव वैष्णवेनेत्यर्थः । अतोत्रेदमौषधवत्सर्वथा न त्याज्यं भगवतः स्मरणं तथा भजनं चेत्यर्थः । स्मरणं त्वन्तःकरणमलापहारकं जीवस्य । भजनं भगवत्सेवारूपं शरीराङ्गीकारज्ञापनार्थम् । यद्यपि शरीरत्यागानन्तरमन्यशरीरं प्राप्य भजनानन्दप्राप्तिरूपं मुक्तिफलं भविष्यति परन्तु तदपि फलमनेन देहेन भगवत्सेवाकरणादुत्पन्नमस्ति तेनास्यैव रक्षार्थं निरूपितम् । भगवता दैवजीवोद्धारार्थं स्ववागीशरूपः प्रकटीकृतस्तेनोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्मै मतिरिति । भगवदीयेषु स्वकृपाख्यापनार्थमिति दिक् ॥४॥

इति श्रीकृष्णवागीशसिद्धान्तस्य प्रकाशिका ।

चतुःश्लोकी प्रसादेन तस्यैव विवृता मया ॥ १ ॥

इति श्रीमत्पल्लवचरणैकतानश्रीबल्लभधिरचितः

चतुःश्लोकीप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।

विवृतिसमेता ।

नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनस्वेन्दवे ।

धर्मार्थकाममोक्षार्थं सेव्याय स्वजनैः सदा ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे शरणागतिं निरूप्य शरणागतानां स्वमार्गीयप्रमाणादीन् धर्मादींशोपदेष्टुं पूर्वं धर्मं निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदा सर्वस्मिन्काले । एतेन निरोधलक्षणोच्यमाना सर्वेन्द्रियैः सेवा सूचिता । फलरूपा मानसी वा, अन्यथा कालापरिच्छेदनासम्भवात् । सर्वभावेनेति । सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया प्रवृत्तिः सर्वभावः । 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विवेष्टास्तदात्मिका' इतिश्लोकोक्तवत् । 'तस्मात्सर्वात्मना नित्य'मिति नवरत्नवाक्याच्च । यद्वा, पतिपुत्रादिभावेन । ब्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वापिनः अधिपः । अत एवावश्यं सेवनीयः । स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य अयं मुख्यो धर्मः । अन्ये त्वेतदङ्गभूता इत्येवकारः । धर्म इति 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इतिकारिकोक्तो विध्युक्तः । विधिस्तु नारदीये 'प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेत् । यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः' । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे 'स्त्रियाः स्वपतिभजनवदित्यादि । हीति युक्तोयमर्थः । अन्यो देवतान्तरभजनरूपो धर्मः, कापि कस्मिन्नपि देशे, कदाचन कस्मिन्नपि काले न भवति । एवकारस्तु अयोगव्यवच्छेदकः । अग्रिमे 'ब्रूही'तिपदादत्र हे अन्तःकरण हे भक्त इति वाऽध्याहार्यम् ॥ १ ॥ एवं ब्रजाधिपतिभजनरूपं 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इतिवाक्योक्तं धर्मं सप्रमाणं निरूप्य प्रमेयमर्थरूपं भगवन्तं निरूपयन्ति एवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

देवतान्तरभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवद्भजनं कुर्वतां पुसां, स्मेति प्रसिद्धौ । यत्कर्तव्यमर्थादिसम्पादनं तत्सर्वं प्रभुः स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वैः कर्तव्यम् । शेषं पूर्ववत् । भगवतः स्वयमेव कर्तव्यत्वे प्रकारबोधनायाहुः प्रभुरिति । प्रकर्षेण

भवति, स्वयमेव भक्ताभिलषितवस्तरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्बृहयोर्ऋष्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । अत एव 'यद्यद्विये'तिवाक्यम् । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवान्भक्ताभिलषितरूपमुच्चावचत्वं कथं भजत इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वेषुषावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो भावो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिश्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवच्चात् । हि युक्तोयमर्थः । तेन भगवतः सर्वसमर्थत्वेन निश्चिन्ततां ब्रजेत्प्राप्नुयात् । विधौ लिङ् ॥ २ ॥ एव'मर्थो हरिरेव हि' 'प्रमेयं हरिरेवैक'..... प्रमेयं हरिं निरूप्य सकामं साधनदशां प्राप्तं हरिं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभत्वमुक्तम् । अत एव दिदक्षा । श्रीयुक्तो गोकुलाधीशः । 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठित' इतिवाक्यात्ताभिर्युक्तः कामरूपः हृदि धृतः, हृच्छयः कृतः । तत्रापि सर्वात्मना सर्वेन्द्रियैः 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिनिबन्धवाक्यात् । यद्वा, श्रीभिर्गोपिकाभिर्युक्त इत्युक्त्या साधनं निरूपितम् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च त'दितिवाक्यात् । ततः साधनसहितकामरूपहरेर्हृदि धारणादपरमुत्कृष्टं स्वस्तिपरं किं स्यात् । एतादृशं किमपि न । अस्ति चेद्ब्रूहि । लौकिकैरित्युद्यमादिभिः । वैदिकैरिति यज्ञादिभिः साधनैरपि ॥ ३ ॥ एवं हरेर्दिदक्षारूपं कामं साधनं निरूप्य फलं मोक्षं निरूपयन्त्यत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्रोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यत्साधनं नास्ति, अतः सर्वात्मना देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः गवां कुलस्य 'कुल संस्त्याने बन्धुषु वे'ति धात्वर्थात्समूहस्य, गोबन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य, पादयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं तनुजवित्तजमानसप्रकारैः परिचरणं न त्याज्यं, अन्यत्यागपूर्वकं सादरं सर्वथा विधेयम् । चकारः अयोगव्यवच्छेदकः, अनुक्तश्रवणकीर्तनसमुच्चारकश्च । अपिः संभावनायाम् । त्यागसम्भावनेव नास्ति । इति एवंप्रकारिका मम मतिः । मन्मतेः पर्यवसानमत्रैव । इदमेव फलम् । मोक्षश्चायम् । 'मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवमि'तिवाक्यात् । 'ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यमि'ति वृत्रासुरोक्तेश्चेति दिक् ॥४॥

एवं श्रीवल्लभाचार्या धर्मार्थच्छाऽऽमृताभिजान् ।

लोके प्रदर्शयामासुः प्रमाणादींश्च यद्यशः ॥ १ ॥

इति विवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।

श्रीहरिवागीशो विजयनेतराम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाधीशपादाब्जयुगलं मया ।

क्रियते तच्चतुःश्लोकीव्याख्यानं विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ श्रीपुरुषोत्तमप्रमुखारविन्दाधिदैविकानन्दमयाग्निस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकारुणिकाः स्वान्तःकरणोपदेशद्वारा स्वसमीपस्थान्तरङ्गभक्तोपदेशव्याजेन वाखिल-स्वकीयनिरूपधिदुःस्वप्रहरणेच्छया स्वप्रकटितभक्तिमार्गे श्रीकृष्ण एव धर्मादिचतुष्टयपुरुषार्थरूप इति तानुपदेष्टुं शिक्षितुं च तावच्छ्लोकैरेवैतद्धर्मादीनुपदिशन्तस्तत्रापि 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ती'त्यादिश्रुतिभिर्मर्यादायामपि तत्परमोत्कर्षत्वं यत्र, तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गतत्परमो-त्कर्षत्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायमतमपि सूचयन्तो, भजनरूपे धर्मे क्रियमाण एव तद-र्थादित्रितयं सेत्स्यतीति न तदर्थं पृथगायासः कार्य इति पार्यादिकतच्चतुष्टयतो भक्ति-मार्गीयतच्चतुष्टये वैलक्षण्यमतिसौख्यमिति च ध्वनयन्तस्तच्चतुष्टु च सर्वत्र प्रथमं धर्म एवो-द्दिष्ट इत्यत्रापि तावदादौ तमेव दृढयन्तो निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सावधानतया श्रवणार्थमाभिमुखीकरणेन हे अन्तःकरण! हे भक्त! इति वा सम्बोध्य सर्वदा सर्वस्मिन्काले सर्वभावेन ब्रजाधिपो भजनीय इत्यन्वयः । भग-वदीयेन त्वयेति शेषः । उपदेश्योदेशाश्रवणतस्तथासम्बोधनं वक्तव्यमन्ययोत्तरे 'ब्रूही'ति पदं न सङ्कटेत । आसुरप्रवेशाभावाय सर्वदेति कालापरिच्छेद उक्तः । सर्वभावः सर्वेषां भावः पतिपुत्रधनादि सर्वं प्रसुरेवेति । अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिस्तामसप्रकरणी-यफलप्रकरणे 'अस्त्वेवमेतदि'त्यत्र तथैव गीतं 'प्रेष्टो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति । एतदर्थस्तु 'तत्कस्यचित्प्रियो देह' इत्यारभ्य 'भगवत्सेवैवोचिते'त्यन्तं तद्वाक्याशयेन प्रभु-

चरणैस्तथैव निरणायीति तत एव विभावनीयः । यद्वा, सर्वेषु पदार्थेषु भावो भगवत्स-म्बन्धित्वभावनं, तेनेत्यर्थः । अत एव वृत्रासुरेणापि तथा प्रार्थितं 'त्वन्माययात्मात्मज-दारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयादि'ति । अथवा सर्वभावः सर्वात्मभावः, तेन तथेत्यर्थः । आत्मपदमन्तरेण कथनं तु 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' 'परोक्षं च मम प्रिय-मि'तिव्याहारतः परोक्षकथनाभिप्रायेण । स्वरूपं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया निरूपधिभगवत्प्रवृत्तिः । विशेषतो जिज्ञासायां तु विवेचितोस्मत्प्रभुचरणैरुभाष्यतृती-याध्यायतृतीयचरण इति सुधीभिस्तत एव परिभावनीयः । तदधिकरणरूपास्तु ब्रजे रासमण्डलमण्डना एवेति न तद्वावाधिष्ठानान्वेषणप्रयासः । सर्वभावेनेत्यत्र हि करणे तृतीया, तद्धि व्यापारवत्कारणं, व्यापारस्तु 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' । तथा च सर्वात्मभावजन्यफलं भजनानन्दानुभवस्वरूपं, तच्च रसात्मकप्रभुस्वरूपात्मकमेव । 'रसो वै स' इतिश्रुतेः । मध्ये रमणमवान्तरव्यापारः । अत एवोक्तं फलप्रकरणारम्भे तथैव प्रभुचरणोक्तिरुभयत्र । 'पञ्चधा रमणं मतं' 'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' । 'हरिप्रियास्वि-ति शेष' इति । अत एतद्रमणस्य तज्जनकत्वम् । एवं चोक्तप्रकारेण भजने फलाभाव-शङ्का निराकृता । करणं तु फलवन्न तु फलात्मकं, तेनास्य साधनत्वं न तु फलरूपत्व-मिति पूर्वपक्षिमनःकलिलतां ब्रजाधिपपदेन निरस्यन्ति । ब्रजस्य 'अह्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेणे'तिवाक्याग्निःसाधनस्याधिपः प्रभू राजवन्नियामकः, 'अनन्यगोकुलस्वा-मिफलदाता फलात्मक'श्चात एव 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुल' इति श्री-मदाचार्यचरणोक्तिरपि । स एव भजनीयः सेव्यो नान्यस्तदंशः कलादिवैत्यर्थः । एवञ्च सतीदं भजनं फलरूपं साधनरूपं च । यथा चाखण्डभूमण्डलाखण्डलस्य हि हेममणि-माणिक्यमयरुचिरपात्राणि, कोशविशेषे सङ्गाह्याणि व्यवहार्याणि च तान्येव । यतस्तस्यैव सर्वाधिकैश्वर्यत्वात् । तेषामपि तत्तज्जातीयेभ्यस्तथात्वात्पात्राणि । न हि ततोपि जीवमात्र-नियामकोऽपरोऽस्ति येन सोपि नियम्यः स्यात् । अतो भक्तिमार्गे सकलसाधनमूर्धन्यमेव साधनं सकलफलमूर्धन्यमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् । किञ्च, प्रामाण्यापेक्षया-माप्तवाक्यं शब्द एव प्रमाणम् । आप्तत्वं तु यथाभूतार्थोपदेशकर्तृत्वम् । प्रकृते ताड्डमहा-नुभावाः श्रीमदाचार्यचरणा एवेति नेतरप्रमाणाकाङ्क्षा । युक्तं चैतत् । न हि साक्षात्पुरु-षोत्तमप्रमुखारविन्दाधिष्ठातृरूपानन्दमयाग्निस्वरूपादितरः कश्चन तथाभवितुमर्हतीत्यलं वि-शेषजल्पनेन । अत एवा'चार्यं मां विजानीयादि'ति भगवदुक्तिरपि । वस्तुतः पुरुषोत्त-मा एव श्रीमदाचार्याः, तत्त्वं च कस्यचिद्भक्तविशेषस्य तद्भक्त्युद्रेकदशायामेवानुभूतं भवति, अनुभूतं चासकृत्चाट्टैः । अत एव बल्लभाष्टके 'अनुभवनिगमाद्युक्तमानै'रित्यत्र श्रीगोकुलनाथचरणैर्विविच्य तेषु तथात्वं निरणायि । एवञ्च तादृगाचार्यवचनानि श्रुतिरू-पाण्येव । 'निःशसितमस्य वेदा' इतिश्रुत्या भगवन्निश्वासरूपस्य तस्योक्तहेतोस्तत्रैव संभ-

वान्न तच्छङ्कागन्ध इति दिक् । प्रस्तुतं वदामः । व्रजपदं तन्निष्ठपदार्थमात्रोपलक्षकमिति तत्रत्याः सर्वे एव भूमियमुनापुलिनाद्रिनिकुञ्जगह्वरवृक्षलतापक्षिगोगोपालगोपीजनमृगादयो लक्षिताः । अत एव 'धन्येयमद्य धरणी'त्यादि भगवता गीतम् । किञ्चात्र भजनीय इति विधिस्तत्राप्यपूर्वनियमविधी तु न सम्भवतस्तत्तल्लक्षणाभावात् । तथा हि नहीश्वरभजनमप्राप्तं, न वा तद्भजनं पाक्षिकमिति नोभगलक्षणावसरः । अतःस्तत्र चान्यत्र च प्राप्तं इतिलक्षणः परिसंख्याविधिरेवायं पारिशेष्यमिति सिद्धम् । एवं च तदकरणेऽपराधरूपप्रत्यवायोपि सूचितः । यथा मर्यादायां तदकरणे प्रत्यवायस्तन्मार्गीयफलाभावश्च, तथात्रापि पुष्टिमार्गीयाचार्यनिदेशोलङ्घनेऽपराध एतन्मार्गीयफलाभावश्चेतिभावः । ननु यत्र रागतः प्रवृत्तिस्तत्रैव स, अत एव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तार्किका इति चेत्, न । तथालक्षणस्यानुपलब्धेर्विनिगमकाभावाच्च । यद्वा, मास्त्वयं प्रमाणवृत्तान्तः, प्रमेयपद्धतौ विधेरनियामकत्वात् । वस्तुतस्तु आवश्यकार्थेऽनीय 'आवश्यकार्थमर्णयोः' 'कृत्याश्चेत्यनुशासनात् । तेन सदानन्दरूपत्वाच्छ्रीगोकुलाधिपतिरवश्यमेव भजनीय इति भावः । अपरञ्च, व्रजधातोर्गमनार्थकत्वेन व्रजतीति व्रज इतिव्युत्पत्त्या पचाद्यच् । भगवतस्तस्याधिपत्येन सोपि व्यापिवैकुण्ठात्मक इत्यमूचि । तेन भक्तहृदयप्रदेशादौ भगवदाविर्भावयोग्यतायां तदिच्छया ततः पूर्वमेव तदाविर्भाव इत्युक्तं भवति । अन्यथा तस्य तदधिष्ठानता न स्यात् । न वा भगवतः साधारणवद्यत्र कुत्रचित्तन्तरेणाविर्भावः । इतरथा निखिलजीवनियामकस्यानन्दरूपफलात्मकस्य त्रैलोक्यस्याधिपतेस्तदाधिपत्यमात्रकथनेन को वा तदुत्कर्षः स्यात्, प्रत्युतापकर्षाधायकश्च भवेत् । न चेन्द्रादिलोकवत्स्योत्कर्षः कुत्रचित्पुराणादौ प्रख्यातो येन तदधिपतित्वेन तादृस्यापि तादृङ्माहात्म्यं, यतस्तथात्वं वदेयुः । कदाचित्तादृशश्रवणमपि भूलोक एव न स्वर्गादिषु, क्वचित्कृत्यतेऽपि न तादृशः, सोपि तत्तादृशलीलादर्शनानन्तरमेव, न तद्वार्क । तादृगपि न सर्वजनावच्छेदेन किन्तु केषाञ्चिदेव भूरिभाग्यभाजां तथात्वं भासते, सोपि भगवतः सकाशादेतस्यैव, नापि ततो भगवतः । किं बहुना तादृशस्यापि प्रादुर्भावोपि माहात्म्याच्छादक एव । अत एव क्वचित्सुराणामपि तन्नावबोधः । अत एव श्रीभागवते पुराणान्तरीयप्रसिद्धाध्यायत्रयकथा । तत्रैव श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे पुरन्दरगर्वश्च । सोपि तत्र तज्जन्मादिभ्रमहेतुक एव नान्यथा । नन्वेवं चेत्तर्हि तत्रैव स एव तेषामेव कथं स्तुत्यो जात इति चेत्, सत्यम् । परं सा स्तुतिः पूर्वं तन्माहात्म्यज्ञानत एव । यतस्तत्स्वरूपज्ञानं, तत्रापि गर्भे एव ज्ञानादेव तादृक्तन्माहात्म्यावबोधनं, ब्रह्मणो भगवद्वतरणसम्बन्धिनिखिलवृत्तान्तावबोधात् । अत एव जन्मप्रकरणीयप्रथमाध्याये राजप्रश्नाभिनन्दनानन्तरं 'भूमिर्दत्तपव्याजे'त्यादिना श्रीशुकैस्तत्र तज्ज्ञानं निरूपितम् । न चैवं वत्सचारणचरित्रे तस्य तद्भरणमशक्यवचनं स्यात्तन्मोहासम्भवादिहासम्भवादिति वाच्यं, सर्वमेतदस्मत्प्रभुचरणैस्तामसप्रकरणीयप्रमाणप्रकरण-

चरमाध्यायसमाप्त्यनन्तरमेव 'कथामात्रं हरेर्वाच्य'मित्यादिना समाहितं । श्रीविट्ठलचरणैरपि तदर्थविवरणे विविच्य निरणायीति नात्रानुग्रहे विस्तरभीतित इति नात्र पूर्वपक्षावसरः । अतो व्यापिवैकुण्ठात्मको व्रज इति व्रजाधिपतत्पदेन ध्वनितम् । अत एवाथर्वणे कृष्णोपनिषदि 'वैकुण्ठं गोकुलवनं तापसास्तत्र ते द्रुमाः' । तैत्तिरीयश्रुतावपि 'ते ते धामान्युष्मसि गमध्वे गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरेः' । 'विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुरातत'मिति । एतदर्थः प्रपञ्चितः श्रीविट्ठलवरैर्विद्वदाभरण इति नास्माभिरत्र विस्तरणीयस्तथापि तदध्ययनमाधुनिकानां सर्वेषां दुर्घटमिति तत एव तमेवार्थमल्पतोऽनुब्रूमः । तथा हि हे भगवन् ते तव ते तानि 'सुपुतिङ्गुप्रहलिङ्गनराणा'मित्यनुशासनाद्विद्वद्यत्ययः । धामानि क्रीडास्थानानि । गमध्वे प्राप्तुं । उष्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिसुद्धाटयति श्रुतिः । यत्र श्रीगोकुले भूरिशृङ्गा दीर्घशृङ्गा गावो वसन्तीति शेषः । अथवाऽऽरण्यग्राम्यपशूपलक्षणार्थम् । भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा स्वरुपभृतयो मृगा गावश्च तथा । कीदृशाः ? अयासः शुभाः शोभावहाः शोभाधायका इति यावत् । तस्येति शेषः । अत्र स्थाने भूमौ । तथापि स्वस्य तादृग्भागाभावाद्गुणोचरो न भवतीति खेदेनाहेत्याह श्रुतिः । तल्लोकवेदप्रसिद्धम् । उरुगायस्योरुकीर्तंभगवतो, विष्णोर्व्यापकस्य । अत एव भूरेर्वहुरूपस्य, रासोत्सवादौ तथा प्राकट्यात् । तच्छ्रीगोकुलं परमं पदं, स्थानं वैकुण्ठं पदं, तस्मादप्यधिकं परमं पदं, प्रकृतिप्रियत्वेनापि परमं तादृशं पदमवभाति प्रकाशते । अत्र स्वयं नित्या श्रुतिः 'अवभाती'ति वदन्ती स्वभानविषयस्य श्रीगोकुलस्यापि नित्यत्वमेव ब्रूते । अन्येषामनवभानपक्षेपि वर्तमानप्रयोगतो विषयस्यापि तत्त्वमेवायातीति भावः । एतदनन्तरमेव च 'विष्णोः कर्माणि'ति पठ्यते । तथा पूर्वस्मिन्मन्त्रे 'यत्र भूरिशृङ्गा अयासस्तत्तस्य परमं पद'मित्युक्त्वा, तत्र तदनन्तरं कृतानि विष्णोः कर्माणि यशोदास्तनपानपूतनासुपयःपानरिङ्गणादीनि पश्यत, यूयमिति शेषः । यतः कर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि, सान्निध्याद्विष्णुरेव पस्पशे स्पृष्टवान् । अयं भावः । तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीष्वाविर्भूय तासु सर्वा लीलां कृतवानिति । 'स्पश बाधनस्पर्शयो'रिति धातोर्लिटि रूपम् । यद्वा, अयं धातुरुभयाथेकस्तेन व्रतानि लोकमर्यादाव्रतानि पातिव्रत्यादीनि बबाधे । अयमप्यर्थः । वेदमर्यादात्याजकानां कर्मणां सदोषत्वशङ्कापरिहाराय 'यत' इत्यव्ययप्रयोगः । तथा चैतत्कर्मणामविकृतत्वमुक्तम् । किञ्च, स्वव्रतानि आत्मारामत्वपूर्णकामत्वादिनियमरूपाणि वबाधे । अस्मिन्नर्थे नञ्प्रश्लेषेऽव्रतानि स्पृष्टवानित्यप्यर्थो युज्यते तदा, तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्यतत्युपदेशः । अत्र कश्चनार्थविशेषस्तत्रैवोपपादित इति तत एव परिभाषनीयो, विस्तरभयतो नात्र

वितन्यते । इन्द्रस्य युज्यो योज्योनुकूलः सखा । अयमाशयः । प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते
 अथवाहकासाधारणवर्षेणन्द्रेण तद्गोहे कृतेपि सर्वसमर्थोपित देतुकतन्मदमेव दूरीकृतवान्,
 न तु तं तदधिकारं वेति तथा । तदनन्तरमिन्द्राभिषेकगोविन्दनामधारणादिभिस्तत्समान-
 यमस्तथा । एवं निरूप्य तत्पूर्वोक्तं विष्णोः लीलास्थानं परमं पदं सूरयो विद्वांसः, तत्त्वं
 च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपविचित्रम् । तत्र परब्रह्मबोधस्तु भक्त्यैवेति सिद्धान्तः, 'भक्त्या
 मामभिजानाति' 'भक्त्याहमेकया ब्राह्म' इत्यादिवाक्यैः सूरयो भक्ता एव । नन्वत्राह
 तदुरुगायस्ये'ति 'सूरयः सदा पश्यन्ती'तिवाक्यैकवाक्यतायां भूमौ तत्परमं पदं भक्ता
 एव सदा पश्यन्तीत्यर्थोऽवसीयते, एवञ्च काननकालिन्दीतत्पुलिनगिरिवरगह्वराद्यात्मकत्वे-
 नोद्भूतरूपवन्महच्च । तदेव हि द्रव्यं यच्चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सति उद्भूतरूपवदिति तर्कोक्तिः ।
 तच्चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणजनगोचरमित्या-
 शङ्कायां दृष्टान्तमाह-दिवीव चक्षुराततम् । दिवि स्वर्गे यथा आ समन्तात् तत् व्याप्तं
 'यन्न दुःखेन संभिन्न'मितिवाक्यात्सुखैकसाधनतद्रूपं तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षुः
 पश्यति नान्येषाम्, तथैतल्लीलामध्यवर्तिनामेव तद्दृश्यमित्यर्थः । शाखान्तरेपि, 'ता वां
 वास्तून्युष्मसि गमध्वै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं
 पदमवभाति भूरि' । अर्थस्तु, ता तानि, वां युवयोः कृष्णरामयोः गोपीमाधवयोः,
 वास्तूनि अनेकविधकुञ्जादीन्येव वस्तूनि, गमध्वै प्राप्तुं 'तुमर्थे से स' इत्यनुशासना-
 देतत् साधु । वृष्णः कामान् वर्षतीति वृषा, तस्य । गोपिकासु कामवर्षकस्य । भूरि बहुरूपं,
 पदविशेषणम् । अग्रिमार्थस्तुक्त एव । परमपदा'दधिकं तत्रानुप्रविष्टमितिन्यायो ध्वनितः
 अन्यथा तत्पदमित्येव श्रुतिर्वदेत् । एवञ्च, लक्ष्मीतुल्यतायामपि यथा भक्तेषु तत् उत्कृष्टत्वं
 'गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रितिवाक्यात् । अत एव 'स्वानन्दानुभवार्थ'मि-
 त्यस्य विवरणे श्रीविट्ठलवरै'स्तथा च स्वपदस्य स्वामिनीवाचकस्येत्यादि व्याख्यानं
 कृतम् । तथा च प्रसिद्धतदपेक्षया प्रभो रतिप्रीतिसाधकत्वेनानिर्वचनीयच्छविविधाय-
 कत्वेन च तस्य तथात्वमितिभावः । 'न स्त्रियो ब्रजसुन्दर्य' इत्यादि तत्रत्यबृहद्दामनपुरा-
 णीयकथाप्युक्तार्थेऽनुसन्धेयेत्यलं विस्तरेण । प्रस्तुतमनुसरामः । एतादृशस्याधिपो भज-
 नीयः सैव्य इत्यर्थः । सेवा हि सेवकस्यैव धर्मः । 'भज' धातोः स एवार्थो निरूढः ।
 तथा चाशेषजीवानां सहजदासत्वमसूचि । तदकरणे तद्दण्डयोग्याश्च त इत्यपि । उक्तमेवो-
 द्घात्यन्ति स्वस्येति । स्वस्य भगवदीयस्यायमेव भजनाख्य एव धर्मो न तु मार्या-
 दिकः स इतिभावः । एवकारस्तु पुरुषोत्तमभजनधर्मातिरिक्तधर्ममात्रव्यवच्छेदकः ।
 अथवा स्वस्यैवायं धर्मो नेतरेषाम् । तेन भगवदीयव्यतिरिक्ता निवारिताः । ततो गोप-
 नमप्यसूचि । अत एव 'न बुद्धिभेदं जनयेत्', 'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि
 कारये'त्यादि भगवद्भाषितम् । एतदर्थमेव शङ्करप्रभृतीनामुद्भवः । यद्वा, अयं धर्म एव

भगवदीयस्य सर्वपुरुषार्थसाधकस्तत एव सजातीयार्थादित्रितयसिद्धेः । अथवाऽयं धर्म
 एव स्वस्य तथा, न ज्ञानादयः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'तिवाक्यतः । हिशब्दः कैमुति-
 कन्यायेन युक्तार्थं ध्वनयति । भगवता गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं
 ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति स्वधर्मातिरिक्तसर्वधर्म-
 परित्यागपूर्वकं निजशरणमुपदिष्टं, तत्फलं च पापमोचनमुक्तं, न स्वरूपसम्बन्धादिकम-
 तोऽयमुक्तमार्गो मार्यादिक एव स इत्येवं निश्चीयते । इतरथा स्वयमपि पापमोचनमेव
 फलत्वेन नोक्तं स्यात् । एवञ्च यत्र निखिलधर्मतो मर्यादामार्गीयोपि शरणमार्गः साधी-
 योस्तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गीयप्रकारेण सेवाकरणं, तत्रापि श्रीपुरुषोत्तममुखाविन्द-
 विरचितपद्धत्या, सुतरां तदात्मजनिर्मितरीत्या, सेव्योपि श्रीकृष्णः सदानन्दः फला-
 त्मकस्तत्राप्युक्तभावेन भजनं सर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं सर्वोत्कृष्टपरमफलं स्वरूपानन्दात्मक-
 मिति किं वाच्यमिति । अतः सर्वात्मनाऽयं निराकुर्वन्ति नान्यः कापि कदाचनेति ।
 अन्यः प्रेरणादिलक्षणो धर्मो न भगवदीयो भवतीत्यर्थः । मार्यादिकत्वाद्भगवदीयैर्न
 कार्ये इति भावः । कापीति देशाश्रमापरिच्छेद उक्तः । कदाचनेति कालापरिच्छेदश्च ।
 उक्तप्रकारेण दासैस्तद्दास्यमेव विधेयमितिभावः । अत एव 'भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म'
 इति तन्मार्गमर्मज्ञैर्दास्यमेव धर्मत्वेनोक्तम् । अत एव वृत्रासुरेणापि दृष्टपुष्टिफलेन 'अहं
 हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूय' इति प्रभुं प्रति तदेव प्रार्थितं नेतरत् ।
 प्रभुसाक्षात्कारे साक्षात्तप्रार्थनमनुचितं भक्तस्येति परम्परया तत्प्रार्थनम् । एतेन स्वस्य
 दीनभावो दर्शितः । प्रभुसन्तोषाधायको यतस्तादृग्भाव एवात एव 'भक्तानां दैन्य-
 मेवैकं हरितोषणसाधनमिति भाषितं प्रभुचरणैः ॥ १ ॥

एवं श्रीपुरुषोत्तमस्य भक्तिमार्गीयप्रथमपुरुषार्थरूपत्वं सोपपत्तिकं निरूप्य तस्यै-
 वार्थरूपत्वं प्रतिपादयन्ति एवमिति ।

एवं सति स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

एवं सति उक्तप्रकारेण भजनरूपे धर्मे क्रियमाणे सति । स्वकर्तव्यं स्वामिकार्यं
 यत्तत्स्वयमेव स्वाम्येव करिष्यति न तु तदंशवतारादि । अतः प्रभोः स्वातन्त्र्यमप्य-
 सूचि । न जीववत्केवलं पारतन्त्र्यमेव । 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिवाक्यैः कालादि-
 नियामकस्य प्रभोस्तत्केवलं स्वभक्तमाहात्म्यावबोधनायैव नान्यथा । अत एव 'ह्रस्वतन्त्र
 इव द्विजे'ति तद्वाक्ये इवशब्दः । अस्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्र एवेति ध्वनयतैव भगवता तयो-
 क्तमित्यवसीयते । भक्तवात्सल्यतोपि क्वचित्तथा, अत एव दामोदरलीलापि । 'यस्य च भावेन
 भावलक्षण'मित्यनुशासनात्सतीति सप्तमी । ततः स्नेहेनावच्छेदतो दास्यकरणेऽयमभिचा-

रि नित्यं स्वामिकर्तव्यमिति च ध्वनितम् । नपुंसकलिङ्गोक्त्या स्वयमित्यव्ययोक्तेश्च प्रभुक्ते-
र्वास्तवत्वमानन्ददायकत्वमविकारित्वं च । अन्यथैवं कृते कृत्येति वा ब्रूयुः । स्वकृतीरिति
च । ननु श्रीमदस्मदाचार्यवर्यचरणसरसिजरजोभूषणभूषितैस्सेवकैर्वाङ्मधुद्रवास्वादित-
स्वान्तैस्तद्विश्वासेन तत एव 'किमलभ्य'मित्यादिवाक्यार्थानुसन्धानतः प्रार्थनमन्तरेण
भजनोपयोगिनिखिलपदार्थसम्पत्त्या तादृग्भावेन स्वभाग्यसौभाग्यसञ्चयमिव तद्भजनं
कर्तव्यमेव, परन्वाधुनिकानां तत्स्वरूपानभिज्ञतया तदनुभवाभावाच्च जीवधर्मत्वेन कदा-
चिद्विश्वासेनोत्कृष्टसेवासाधनरूपतनुजवित्तजसेवासिद्ध्यर्थमर्थापेक्षायां तत्र प्रयत्ने कृते
कदाचिद्बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च स्याताम्, 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात्प्रभुकृतप्रति-
बन्धोपि सम्भवेत् । न च सेवार्थं यत्ने क्रियमाणे न भगवत्कृतप्रतिबन्धः, अत एव
'त्रैवर्गिके'तिपदम्; आयासमात्रविघातहेतुत्वे 'त्रैवर्गिके'तिपदं न वदेत्; अतो भज-
नार्थं यत्ने कृतेपि न दोषः; मर्यादाप्रवाहसंबलितानामेव बाहिर्मुख्यादिभावो, न पुष्टाव-
ङ्गीकृतानामिति वाच्यं, नवरत्ने 'कापी'तिपदव्याख्यानेऽस्मत्प्रभुचरणैरेवैतदुत्तरितत्वात् ।
अपरञ्च, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः सर्वकरणसमर्थोपि स्वसेवार्थमप्यर्थयत्नसापेक्षश्चेत्तसेवा-
यामेव को विशेषोऽन्यसेवैव कुतो न कार्या, यत्नायासस्य तुल्यत्वात् । तस्याक्लिष्टकर्मत्वं
च भज्येत । बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च कथञ्चिदपि दुर्निवारौ स्याताम् । स्वामिकृत-
प्रतिबन्धस्याप्यतिबलिष्ठत्वतः स्वकृतोपि प्रयत्नोपि व्यर्थः स्यात् । वस्तुतस्तु अस्मि-
न्फलमार्गीयभक्तिमार्गे सेवैव धर्म इति राद्धान्तः । अत एवात्रैव ग्रन्थेऽस्मत्प्रभुभाषण-
सुधाधारा, 'स्वस्यायमेव धर्मो ही'ति । इतोऽपि स न कार्य एवेत्युक्तं भवति । 'योगक्षेमं
ब्रह्मम्यह'मितिवाक्यं च व्याकुप्येत । 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेनास्तु वा मार्यादिक
एव स तथा'प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानिः' । अत्रायमभिमन्थिः, परमकारुण्यैक-
सिन्धुः श्रीगोकुलजनैकजीवनः स्वाश्रितस्य स्वल्पमप्यायासमसहमान एव सर्वकरण-
समर्थस्तत्प्रयत्नमन्यथाकरोति स्वस्मिन्विश्वासदाढ्याय नान्यथा । तथा च यत्र मर्यादा-
प्रवाहसंबलितानामपि भक्तानां यत्नकेशासहिष्णुः करुणाकोमलो हरिस्तत्र पुष्टावे-
वाङ्गीकृतस्य यत्किञ्चिदपि तदसहिष्णुः श्रीमद्गोकुलजनलोचनचकोरचन्द्र इति किं वाच्य-
मत एव 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकतने' इति वचनमृतं च । 'भगवदर्थोपि
सा न कार्य'त्युक्तं नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैरत एव । किञ्च, ब्रजरत्नानामपि निजनाथनिदे-
शतोपि न निजब्रजगृहगमनमपि । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका तत्रेतेषां बाहिर्मुख्यादौ का वार्ता ।
अत एव तामसप्रकरणेयफलप्रकरणे 'यद्यम्बुजाक्षे'तिश्लोके ब्रजरत्नैर्निरुक्तं यत्प्र-
भृति त्वत्पादतलमस्पाक्ष्म तत्प्रभृति वधमञ्जसा अन्यसमसं स्थातुं न पारयामः । विवृतं
चैतदस्मत्प्रभुचरणैर्यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नो-
ती'ति । एवं च सर्वयोक्तदोषसम्भवभयतो न प्रयत्नं कुर्यात् । अकृते तस्मिन्सेवासाधनानुपल-

विस्तदनुपलब्धौ भजनोच्छेदस्तदुच्छेदे स्वधर्मात्यन्ताभावादुक्तोपदेशे घटकुटीप्रभात-
दृष्टान्तो दृष्ट इति निजजनस्वान्तभ्रान्तिमपनयन्तः प्रवदन्ति-स्वयमेवेति । स्वयं प्रभु-
रेव सर्वं करिष्यति । स्वाश्रितजनयत्नमन्तरेणापि भजनोपेक्षितसकलपदार्थान्संपाद-
यिष्यतीत्यर्थः । सेवकैः सेवोपयोगिसमस्तपदार्थार्थित्वेनेतरतोऽर्थार्थिनेन मनो व्याकुलं
न विधेयम् । अत्रायमाशयः, आश्रयान्तररहितः स्वाश्रितजनो यदि भजनानुकूल-
निखिलन्यासपुरस्सरं तदनुकूलसकलवस्तुविकारतो निजभजनमेव सर्वतोऽधिकं
फलरूपं स्वसर्वस्वं ज्ञात्वा विदधाति तदा सर्वात्मरूपः फलात्मा सर्वकरणसमर्थः
कालादिनियामको भगवान्पूर्णाङ्गो हरिः परमकृपालुर्यतो यत्किञ्चिदपि स्वकी-
यपरिश्रमासहमान एव स्वसेवासाधकमेव तदपेक्षितसमस्तसामग्रीरूपं कुतो न विद-
ध्यात् । अन्यथा 'योगक्षेमं ब्रह्मम्यह'मितितद्व्यतिशानं न वदेदेव प्रभुरकुतोभयः । अपा-
प्तस्य प्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेम इति तयोरर्थः । यद्वा, स्वयमेव स्वत-
एव सर्वं करिष्यति प्रार्थनानपेक्षः । एतेन सेवकैर्न प्रभुः प्रार्थनीय इतिभावः ।
अत एव 'निजेच्छातः करिष्यती'ति नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैर्गीतं, 'प्रार्थिते वा ततः किं
स्या'दिति विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे च । यद्वा, स्वयमेवेत्यादि पूर्ववत्, न कस्यचित्प्रे-
णया देवतान्तरद्वारा वा । कालादिदेवतान्तरभेदकोऽपि हरिरेवेति भावः । अस्मिन्नर्थेऽत्रा-
योगव्यवच्छेदक एवकारः । अथवा सेवकप्रार्थनस्य दोषावहत्वात्तत्प्रार्थनमन्तरेणैव ततः
पूर्वमेव तदभिलषितं कुर्वन् तत्प्रार्थनावासनां समीक्षते । अन्यथा 'यस्त आशिष आशास्ते
न स भृत्यः स वै वणिक्', 'आशासानो न वै भृत्य' इत्यादिवाक्यैस्तत्सेवकत्वहानौ स्वस्वा-
मित्त्वभावस्तत्र दुर्लभ इतिभावः । एतेन प्रभोः परमभक्तपरमहितकारित्वं समसूचि ।
अत एव 'योगक्षेमं ब्रह्मम्यह'मितिवाक्यम् । यद्वा, स्वयं करिष्यत्येवेति क्रियया सहान्वये-
नात्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारस्तेन प्रभुविश्वासेनैव सेवकैः स्थेयमतोऽस्मिन्मार्गे तद-
भाव एव परमबाधकः । अत एव विश्वासतदभावयोर्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्या'विति तयोरनु-
सन्धानं तत्रैवोक्तम् । ननु सर्वसमर्थोपि प्रभुः सर्वथा साधनसम्पत्तिमन्तरेण तादृक्फलदाने
कथं समर्थो भवेत्, भवेद्वा यथाकथञ्चित्सम्पत्तावेव । अत एव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'
इतिवाक्ये प्रपत्तिरेव तत्सम्पत्तिरिति चेत्, सत्यम् । परं तत्रेदमवधेयम्-यस्य येन प्रकारेण
प्रपत्तिस्तस्मै तत्प्रकारेण प्रयच्छतीति प्रभुः 'तांस्तथैव भजाम्यह'मितिवाक्यत एवमेव ।
एवञ्च, यत्र मर्यादापारगोक्तरीत्या प्रपत्तिस्तत्र तद्रीत्यैव फलदानं प्रावाहिकेभ्यः प्रावाहिक-
रीत्या पुष्टौ तद्रीत्या तथेति विवेकः । इतरथा 'यथा तथे'तिपदे न वदेत् । ये जना मां
प्रपद्यन्ते तानेवाहं भजामि हीत्युक्तेपि चारितार्थ्यं स्यात् । उक्तार्थं यथाशब्द इत्यत्र
'प्रकारवचने यालि'तिपाणिन्यनुशासनं जागरूकमेवेति नानुपपत्तिः काचित्, तथाश-
ब्दार्थोप्यनेनैव व्याख्यातः । तथा चात्र भजनोपदेशः पुष्टिपद्धत्यनुसारेणेति तथैव फल-

दानमिति दिक् । इत्थं च मर्यादायां साधनापेक्षो भगवान्यथासाधनं फलं ददातीति पुष्टौ तन्निरपेक्ष इति निगर्वः । अत एव श्रीमद्भागवते श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे 'गोपा-येत्स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित' इति श्रीमद्गोकुलनाथोक्तिः । अन्यथा ब्रजजन-स्वरूपानन्ददानं च सुतरामशक्यवचनं स्यात् । न च तत्रैव पूर्वोक्त एव प्रस्तावे पूर्वाद्धेन 'तस्मान्मच्छरण'मित्यादिनोक्तमेव वक्ति चेच्छरणगमनादिकं तत्साधनमप्यस्तीति वाच्यं, 'निस्साधनफलात्माय'मिति प्रभुवाक्यविरोधापत्तेः । यदि ग्रहिलतया तद्वाच्यं तथापि प्रभुणैव तत्सम्पादितं न तु तैरपि किञ्चित्कृतम् । किञ्च, कदाचित्केषाञ्चित्सम्भवेपि तत्रत्योपरिभागस्थशुकमयूरमृगादीनां सुतरां तदसम्भवः । वस्तुतो नास्त्येव तेषामपि तद्वन्धसम्भवोपि, प्रत्युत विपरीतं च तत् । अत एव श्रीमद्गोकुलस्वामिना महता यत्ने-नापीन्द्रबलिभागो निवारितः । अत एवा'न्यापृत'मितिवाक्यं च । न च जन्मान्तरीयं तदस्तीति चेत्, न । तथाकल्पने मानाभावात् । न चैतत्फलान्यथानुपपत्तिरेव तदिति चेन्न । उक्तोक्त्युच्छेदापत्तिः । ननु क्वचित्तादृशुक्तिरपि स्यादिति चेत्, न । 'अस्ति चेदुपलभ्येते'तिन्यायो व्याकुप्येत्, प्रत्युत भगवतैव सर्वं सम्पादितमित्युक्तिर्लभ्येतेपि । अत एव 'प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि'रितिवाक्यमिति चेत्, समः समाधिः, 'अहो अमीषां किमकारि शोभन'मितिवाक्यात् । अत्र ह्रूमः । यद्यप्येतद्वचनमपि कोटिद्वयावबो-धमवगाहते तथाप्युत्तरदले यथोपोद्बलक'मन्वापृतं', 'निःसाधनफलात्माय'मितिवाक्यं न तथा पूर्वदल इत्यनेनापि भगवत्कृतिरेव निरणायि, न ब्रजवासिनामतो मर्यादायां तत्सा-धनैरेव फलं यतस्तद्रक्षकोपि प्रभुरेव । पुष्टौ तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वं कर्तुं समर्थ इति कृतं वाचां विलासैः । इदानीमुक्तार्थमेवोद्धाटयन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः प्रभुरिति । प्रभुः सर्वनियामकः । 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मितिवाक्यतः । अत एव समर्थ इति हेतुगर्भं विशेषणम् । सर्वेभ्यः कालादिभ्योपि समर्थः । कालसाध्यपदार्थ-स्यापि स्वयमेव साधकः । यद्वा, सर्वेष्वश्रमेषु देशेषु बाहोस्विद्वर्णेषु तथा कालत्रितयेषु वर्णाश्रमादिषु तथा । देशादिषट्साधनानपेक्षः । यद्वा, सर्वस्मिन्साधनविषये तथा । तत्तत्सा-धननिरपेक्षः । यद्वा, सर्वैः कालादिभिः कृत्वा समर्थः सर्वकरणक्षमः । कालादयोपि तदधीना एवेति तत्साध्यपदार्थस्यापि प्रभोरिच्छामात्रेण त एव साधका न तु विघ्नक-र्तारः । अथवा सर्वेषु दैवजीवेषु साधनसम्पत्तिं साधयितुं तथा । स्वस्मिन्नेव ज्ञानादेः सिद्धत्वात् । यद्वा, असाधनमपि साधनं कर्तुं समर्थः, अद्भुतकर्मत्वात् । अत एव तच्चा-र्थदीपे 'असाधनमपि साधनं करोती'त्यस्मत्प्रभुचरणोक्तिः । हिशब्दोपि समर्थमनु-मोदते । तथा हि यत्र मर्यादापार्गीयसाधनाभाववत्पापात्यन्तासक्ताजामिलादिभ्यः स्वांश-कलाद्यवतारः परम्परासम्बद्धेपि नामवर्णाज्ञानेन कथनेनापि परमस्नेहभरतः केवल-स्वपुत्रनाममात्रजल्पनेन स्वसम्बन्धगन्धसम्भावनाऽभावेपि तन्नामवर्णमाहात्म्यावबोधार्थं

तादृक्फलदानं तत्र साक्षात्फलात्मकश्रीपुरुषोत्तमस्यैव पुष्टिपार्गीयस्वमुखारविन्दरूपाचार्यो-पदेशपूर्वकतदुक्तप्रकारेण भजने स्वयमेव किं किं न विधास्यतीति निखिलमनिर्वचनीयम् । य एतादृक् प्रभुः समर्थः, तेन प्रभुणा कृत्वा तेन कारणेन वा हेतुना वा भक्तो भगवति स्निग्धः निश्चिन्ततां निराकुलतां ब्रजेत्याप्नुयात् । अत्रायं भावः । पूर्वं श्रीमदाचार्यो-पदेशमात्रेण तद्विश्वासोद्रेकेण भजनपश्चात्तस्मिन्स्तदुद्रेकेण स्निग्धः सन् तथा स्यादित्यर्थः । इदं भजनमेव सर्वस्वमिति ज्ञात्वा यदि भजनमेव कुर्वन्प्रभुं क्षणमात्रमपि न त्यजेत्तदा स तथात्वं प्राप्नुयादिति भावः । तथा चैतन्मार्गीयो द्वितीयपुरुषार्योपि सोपपत्तिको निरूपितः । तथैवाभिहितं भक्तिरससारपरिशीलनशीलै'रथो हरिरेव ही'ति ॥ २ ॥

एवं मर्यादिकौ तौ निराकृतौ तथा कृतेऽप्यर्थे सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमित्यतः कामस्यापि तत्र तदुत्कर्षत्वमाशङ्क्य तदपि प्रभुस्वरूपापेक्षया सुतरामेवाप्रयोजकमिति तृतीयमपि तं तमेव निरूपयन्तस्तत्परिहर्तुमुपक्रमन्ते यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः *किमपरैर्ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि चेद्गोकुलाधीशो यशोदोत्सङ्गलालितोऽनन्यगोकुलस्वामी । श्रीपदोक्त्या तादृगन्तरङ्गभक्तसहितः । यद्वा, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र ही'तिवाक्यतः श्रीयुक्तं यद्गो-कुलं, तस्य तथा । पूर्वोक्तवाक्यतः सर्वोत्कृष्टशोभायुक्तं यत्तत्तस्य तथा । तादृशोपि सर्वा-त्मनोक्तभावेन धृतः भवता त्वया वेति शेषः । धृत इतिपदात्कायवाङ्मानसैस्तदेक-परता ध्वनिता । विशेषतश्चेतस्तत्प्रवणता यतः स प्रभुस्तत्सम्बन्धेव । अतः फलप्रकरणे-ऽस्मत्प्रभुचरणैर्गतिं 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्त' इति । आश्रयान्तरं परित्यज्य केवल-तदेकनिष्ठो जात इति यावत् । तदा ततः पूर्वोक्तफलात्मकप्रभोः सकाशादपरैस्तुच्छै-लौकिकैर्वैदिकैरपि किं ? न किमपीत्यर्थः । अयमर्थः । लौकिकैर्लौकिकैः परमोत्कर्षप्रापकै-स्तामसराजससात्त्विकैः । बहुवचनं त्रिविधत्वसूचनाय । वैदिकैस्त्रिविधगुणरूपैर्ब्रह्मलोक-योगसिद्धिमोक्षैः । बहुवचनं पूर्वोक्ताभिप्रायेण । चतुर्विधमोक्षज्ञानादिसूचनायापिशब्दः । उभयविधैस्तैर्ज्ञानादिभिश्च कृत्वा किं ? न किमपीत्यर्थः । अपरमिति पाठे उक्तैस्तैः कृत्वा-ऽपरमुत्कृष्टं वस्तु किमप्यस्ति । न किमपीत्यर्थः । यद्वा, अपरैर्देवतान्तैः किं ? सर्वेषां तद्भिन्नतिरूपत्वात् । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुचरणैस्तत्त्वदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तुच्यते' । 'कृष्णात्परं नास्ति दैव'मित्यन्तःकरणप्रबोधे च । अत्रायमभिसन्धिः । रसातलादिषु भूम्यपेक्षयाप्यानन्दाधिक्यं, तदपि वामनावतारेणैवोद्धृतमतः प्रभोरनपायिन्याः श्रियः सकाशादपि तदप्रयोजकम् । एवं सर्वभूमीश्वरत्वं लोके यशस्करं, तच्च यज्ञदानादिसापे-

* 'अपरं'मित्यपि पाठश्रीकाकारैर्विदितः ।

क्षमत् औपाधिकं सावधि च । न च राज्यमन्ते परलोकोपकारि, 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'-
मितिवाक्यात् । अतो भगवदनवद्यशसस्सकाशात्तत्तथा । एवमेवेन्द्राधिपत्यमपि परि-
णामापायि । भगवदखण्डितैश्वर्यात्तत्तथा । एवं लौकिकत्रिविधमपि निराकृत्य वैदिक-
मपि निराकुर्वन्ति । अपरिपक्वयोगिनो हि स्वयोगबलेनाभिलषितपदार्थानाविर्भाव्य तद-
नुभवं कुर्वन्तस्तस्मादपि भ्रष्टाः सन्तो दुःखिता एव पुनर्जन्मार्हन्तीति भगवज्ज्ञानापेक्षया
तदज्ञानमपि तथा । भगवज्ज्ञानस्य नित्यत्वात् । ब्रह्मणो रजोवतारत्वात्तल्लोकोऽपि
राजसः, तत्र हि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इतिवाक्यात्तत्साहित्येन पारतन्त्र्यतो भोगफलयोः
सिद्धिरिति स्वपराक्रमातिक्रमः । भगवद्वीर्यापेक्षातस्तौ तथा । 'तमेव विदित्वाति-
मृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यादिश्रुत्या ज्ञानतो मोक्षस्तच्च 'सत्त्वात्सञ्जायते
ज्ञानमि'तिवाक्यतस्तज्जन्यं तदपि सात्त्विकमेव भवितुमर्हतीति तत्साध्यो मोक्षोपि तथा ।
सोऽपि गणितानन्दात्मकोऽतः पूर्णानन्दप्रभवेक्षया सोऽप्यन्तं स्वल्पतर इति तथेति
वैदिकमपि तत्तथाकृतम् । किञ्च, मार्यादिकवैराग्यमपि प्रभोर्भक्तातिरिक्ते रागाभावा-
ल्लोकोत्तरवैराग्यतः पूर्ववदिति भगवद्धर्मरूपतत्त्वङ्गुणत । षड्विधास्तेऽकिञ्चित्करा
यत्र तत्र किं वाच्यमन्तरङ्गधर्मरूपतद्गुणतस्तथात्वमिति कैमुतिकन्यायोपि ध्वनितः ।
किञ्च, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्युक्तेर्भगवदानन्द-
लेशस्तदतिरिक्तसकलार्थेषु निर्णीतः । तर्हि विषयानन्दनिमित्तमात्रपुत्रार्थादिरूपं तदान-
नन्दाभासरूपं वस्तुतो दुःखात्मकमेव तत्तथे'त्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानि-
रितिन्यायमपि सूचयन्तः स्वान्तरङ्गस्वाश्रितमभिमुखं विधाय प्राजोचन-ब्रूहि
त्वमेव वद । अत्र ब्रूहिपदतोऽस्मदाचार्यवर्थकृपाप्राचुर्यतस्तत्कालावच्छेदेन तस्य स्वरू-
पानन्दानुभव इत्यध्यवसीयते । इतरथा ब्रूहीतिप्रश्नः कथमपि न सङ्घटेतैवेति पूर्वमेवावो-
चाम । न च तादृग्भाग्यशालिनस्तस्य तादृगाचार्यचरणकृपाकटाक्षपक्षपाततस्तादृक्तदनु-
भवो दुर्घटस्तस्य तादृङ्मुखारविन्दरूपत्वात्तद्रसपूर्णत्वाच्च । अत एवास्मत्प्रभुचरणै'स्तत्सा-
रभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति सर्वोत्तमे तादृगस्मत्स्वामिनाम गीतम् । एवञ्च भक्तो-
पदेशपक्ष एव साधीयान्नान्तःकरणोपदेशपक्षैः । फलप्रकरणे 'ब्रूहि किं करवाणि व'
इतिवत् । अन्यथा स्वमनोवबोधे यथा 'किं स्यादिति विचारये'ति तत्प्रत्यवदंस्तथात्रापि
तत्पदमेव वदेयुः, यतो विचारो ह्यन्तःकरणधर्म एव, परं तादृग्वेषणीय एवेति घडी-
तिपदं भाषितमस्मत्सौभाग्यसुभगभूषणैः श्रीमदाचार्यचरणैरिति दिक् । अत्रायं निगूढा-
शयः । पूर्वं देवभजनमेव दुर्लभं, तत्रापि देवाधिदेवस्यातिदुर्लभम् । क योगिध्येयो
भगवान्ब्रह्मादिदुर्लभो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः, क सकल-

१ उपदेशज इत्यपि पाठः

दोषात्मको दुःखैकसदनरूप आनन्दशून्यो जीवः । अत एव सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यन्य-
थाकृतौ श्रीविठ्ठलवरोक्तिसुधासारो 'ब्रह्मस्तुत्यादिदुरापचरणरेणुरीश्वरः काहं तुच्छो
जीव' इति । ततोपि गोकुलेशस्य यशोदोत्सङ्गलालितस्य श्रीगोकुलैकस्वामिनः पुरु-
षोत्तमस्य श्रीनन्दात्मजस्यात एव 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एवे'त्यस्मत्प्रभुवाक्पीयूषं, तत्रापि
श्रीगोकुलेशस्य परमसौन्दर्यसुन्दरस्य सुतरां ततोऽप्युक्तभावेन ततस्तरां तत्तथा । अत
एव श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते तदेव कदाचित्परमसौन्दर्यं प्रकटं
करिष्यामीतीच्छया प्रादुर्भूतं सच्छ्रीकृष्ण' इति श्रीमदाचार्यमधुरं वचः । 'भक्तिमार्गे
फलं कृष्णस्तदास्वादस्सुदुर्लभ' इति च । इति च प्रस्तुतासंभावनायां, कदाचित्कस्य-
चिद्देवजीवस्य देहस्य च प्रचुरतरभाग्योदयेन 'यमेवैष ऋणते तेन लभ्य' इति श्रुतितः
स्वमुखारविन्दनिष्ठसुधासाररूपाचार्यचरणपारकरुणया तदनुग्रहतस्तदुरीकारेण तादृग्भ-
जनतस्तदुद्रेकदशायां श्रीनन्दराजकुमारसुकुमारनिजचरणकुवलययुगलतरलतरलितपरा-
गसंवलितमनोमधुलिह एव तल्लेह्यमिति निगर्वः । एतेनैतादृग्भजनाधिकारी चैतत्कालाव-
च्छेदेन दुर्लभ इति सूचितम् । तथा चैतन्निरूपणेनैतन्मार्गीयदिदृक्षालक्षणवृत्ती-
यपुरुषार्थोपि निरूपितोऽप्यभूत् । न हि तादृग्वस्वरूपानन्दानुभवोत्तरं कस्यचिदपि लोको-
त्तरपरमानन्दरूपस्य पुनर्दिदृक्षाऽसंभवः, प्रत्युत क्षणमपि तद्दर्शनमन्तरेण स्वरूपानन्द-
सुधापानपरैस्ततोऽन्यत्र स्थातुमशक्यं, किं पुनर्वाच्यं दिदृक्षामृते तथात्वं तथेति । अत्रोदा-
हरणानि ब्रजजनरत्नान्येवानुसन्धेयानि । अत एव फलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'त्यादि
तैरेव गीतम् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभव'दितिवाक्यतस्तासां तद्वियोगका-
लीनं क्षणमपि सोढुं तावत्परिमाणकमिति पूर्वोक्तमखिलं कर्मनीयम् ॥ ३ ॥
एवं तृतीयं तं निरूप्य तुर्यं तथा निरूपयन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्रोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अत्रायमाशयः । ब्रजजनवृन्दवाञ्छाकल्पतरुशीलः श्रीगोकुलाधिपतिरदेयस्वस्व-
रूपानन्ददानक्षमोपि प्रभु'र्मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रितिवाक्यतः पुष्टिश्रुतिरूपभक्त-
वाङ्मोगोचरातीतपरमानन्ददायको यतः, अतः कारणाद्वेतोर्वा सर्वात्मनोक्त-
भावेन शश्वन्नैरन्तर्येण गोकुलेश्वरपादयोरनन्यगोकुलस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य भक्ति-
रूपचरणसरसिजयोः स्मरणं भजनं सेवनं, स्मरणं नामानुभवजनकसंस्कारावबोधरूप-
मिति तु तार्किकाः । भगवन्मते त्वनुभवजन्यमेव स्मरणमिति राद्धान्तः । एतत्स्फुटीकृतं
'सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी'त्यत्र सुबोधिन्याशयविशदीकरणे भगवद्गृहाशयज्ञैरित्यलं बहुना ।
चकारात्तद्रजोभिलषणमपि न त्याज्यम् । भक्तैरिति शेषः । यत्र वक्षःस्थलस्थिताया

अपि श्रियो यदभिलाषा, तत्रेतेषां तथात्वे किं वाच्यम् । साक्षाच्छ्रीगोकुलाधिपतिभजनो-
पयोगिभगवदीयदेहसम्पादकत्वात्तस्येति भावः । अत एव तस्मिन्कमलरजसो दुर्लभत्वं
सूचितं फलप्रकरणे तदभिज्ञैः 'श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्रकमे' इति । तयोस्तथात्वोक्त्या दीन-
भावत्वेनैव ते कार्ये इत्यसूचि । यथा भगवतो ब्रह्मत्वमानन्दरूपत्वं च तथा तयोरपीति च ।
अत एव समासोक्तिरपि । अन्यथा गोकुलेशस्येत्येवोक्तं स्यात् । अत एवा'नन्दं
ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'आनन्दमयोभ्यासा'दिति श्रुतिस्मृतिवा-
दरायणाधिकरणानुशासनैर्भगवतो देहेन्द्रियादि निखिलमानन्दमात्रं, न तु लौकिकश-
रीरवत्कश्चन भेदोऽपीत्येव निरणायि । द्विवचनोक्तयोभयत्र समदृष्ट्या तत्करणे
सूचितं न तु वामदक्षिणयोस्तारतम्यमपि लौकिकयोरिव तयोः परिभावनियमिति
भावः । अनेनापि मर्यादातो भगवन्मार्गोत्कर्षो महानेव ध्वनितः । ननु स्मरणभजने
स्वरूपानन्दानुभवानन्तरमेव सम्भवेतां न तु तदवागिति चेदत्रैतत्तात्पर्यमवधेयं प्रज्ञावि-
शेषभावनाचतुरैः । उपक्रमोपसंहारयोः केवलं प्रभुमात्रोद्देशतोन्तरङ्गभक्तसहितस्य तथा-
त्वेनोक्तप्रकारेण भजस्तदुत्कर्षदशायां परमकरुणाकरः प्रभुः प्रसन्नः सन्मदीयं परमसौ-
न्दर्यं पश्यत्वितिच्छया मध्ये भजनानन्दानुभवं तस्य कारयतीत्यध्यवसीयत इति तदनु-
भवस्यापि सिद्धत्वेनोक्तोभयमपि युक्तमेवेति न पूर्वपक्षिपक्षपातावसर इति । किञ्च,
स्मरणं मनोधर्मः, भजनं मानसं कार्यात्मकं च । अत एव 'चेतस्तत्प्रवर्णं सेवा मानसी सा
परा मते'ति मुक्तावलध्याम् । सैव प्रेमलक्षणा भक्तिः स्वतन्त्रैव, अत एव 'भक्त्या सञ्जातया
भक्तये'त्युक्तिः । शाण्डिल्यैरप्येतदेवासूचि 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति । मानसं च तत्त्व-
भ्रानुग्रहैकसाध्यं न तु ततोऽन्यसाधनसाध्यं, तत्त्वं तु स्वरूपानन्दानुभवभावात्मकमत
एव 'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते' इति श्रीवैश्वानरचरणैः । न च
'भावनये'ति तृतीयान्तेनैव साधनमतः 'साधनं नान्यदिष्यते' इति साधनान्तरनिषेधः,
इतरथा साधनमितिपदं न वदेयुरेवेति चेत्, सत्यं, तथापि तस्यापि हेतोरवश्यवाच्यत्वेन
तदनुग्रह एव तादृग्वाच्यः । तथा तदनुग्रह एव तदास्तां, कृतं तयेति चेदिष्टापत्तिरत
एवास्मत्प्रभुचरणैर्गीतं 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गं नियामक इति स्थितिः' । इतिस्थितिर्नाम
भक्तिमार्गीया मर्यादा । तेन भक्तिमार्गे साधनरूपः फलरूपश्च पुरुषोत्तम एव, न तु
मार्गान्तरवत्तयोर्भेद इति निरूपितम् । किञ्च, स्मरणं मनोधर्मस्तेन मनसा स्मरणपूर्वकं
भजनं कार्यं, न तु बाह्यतः कार्यात्मकमात्रं तदित्यर्थः । एतेन वाचनिकमपि तन्नामसङ्गी-
र्तनादिरूपमात्रितं, यतो वाचः पूर्वरूपं हि मनः, 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती'-
त्यादिश्रुतेः । अवशिष्टावसरे तत्कथाश्रवणादिकं च तथेत्यपि समुचितमत एव 'तत्कथा-
श्रवणादौ वै'त्यपि भाषितम् । 'सेवायां वा कथायां वा यस्मासक्तिर्दृष्टा भवे'दित्यस्मदा-

चार्यचरणवचनरचना भक्तिवर्धिन्याम् । ननु 'यमेवैष दृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेस्तद्दरणै-
वोक्तभावेन तस्मिन्स्मरणादिसम्भवेऽयमुपदेशप्रयासः प्रयास एवेति कस्यचिद्बहिर्मुख-
मौख्यं परिहरन्तः स्वमतिं प्रमाणयन्ति इति मे मतिरिति । मे मत्सम्बन्धिनी मदीया,
मतिः बुद्धिरिति एवरूपा उक्तप्रकारे व्यवसायात्मिकेत्यर्थः । अत्रायमभिसन्धिः । यद्यपि
पूर्वोक्तमुक्तश्रुत्यादिना तदनुग्रहसाध्यं, तथापि स्वस्य तादृग्भगवन्मुखारविन्दरूपाधिष्ठा-
तृत्वात्तदभिज्ञतया मे मतिरित्युक्तिर्भगवदुक्तिरेव । तथा चोक्तप्रकारेण तत्करणेऽनुग्रहं
करिष्यत्येव परमदयालुः श्रीमन्नन्द्राजकुमारः श्रीगोकुलजनलोचनचातकचेतोहरनवनीर-
दसुन्दरो, यतो यथा श्रीगोकुल उल्लखलबन्धनप्रस्तावे प्रसङ्गतो नारदोक्तमपि निजोक्तमे-
वेति तदवस्थातोपि तत्साधनमन्तरेणापि स्वप्रयत्नेन तदुक्तमात्रेण महदायासेन स्वयमेव
तत्र गत्वा मलकूबरमणिप्रीवयोस्तरुपयोरन्तरगत्योत्खलतत्सङ्घट्टनेन तौ भूमौ पातयै-
स्ततो निस्तृतलब्धस्मृतदिव्यशरीरयोस्तयोस्तादृक्स्तवननमनप्रदक्षिणादीनङ्गीकुर्वन्नुद्धृ-
वानत एव 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति श्रीकृष्णचन्द्रोक्तिः । एवञ्च
स्वमुखारविन्दोक्तप्रखिलं स्वोक्तमेव कुतो न कुर्यादिति मद्दिश्यासेन पूर्वोक्तमदुक्तकरणेन
भगवदीयैर्निश्चिततया स्थेयमिति भावः । यद्वा, मे मतिरिति भेदबोधकषष्ठ्या स्वमतेः
स्वातन्त्र्यमसूचि । अत एवासमासोक्तिरपि । अन्यथा मन्मतिरित्येव वदेयुः । तेनाय-
माशयः । भारते भीष्मयुद्धे पार्थरथार्थं श्रीमद्यदुकुलजलधिसुधाकरः स्वप्रतिज्ञातामप्यन्ना-
यरूपां स्वोक्तिं वितथीकृत्य तत्पार्थनाभावेपि स्वत एव तत्स्यन्दनकगिरिशिखरतः
सत्वरमुत्तरंश्चपलजलद इव चक्रपाणिस्तेन सह युद्धार्थं प्रष्टुस्तत्प्रतिज्ञामेवापालयत् । यत्र
मर्यादायामपि तद्वत्कृतप्रतिज्ञानिर्वाहकरणं तत्र पुष्टौ निजाज्ञया प्रकटीभूतसाक्षात्स्व-
स्यैव मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपस्य वस्तुतः स्वस्यैव तस्य तत्साधनसम्पत्तौ सत्यां स्वयमेव
स्वस्यैवाभिलषितसम्पादनेन स्वोक्तमेव तदुक्तं कथं न करिष्यतीतिभावः । स्वानभिल-
षितमपि वा पूर्वोक्तहेतोर्भेदोक्तमिति करिष्यत्येव । एतेन स्वस्य धर्मिमार्गाभिमानप्रौढत्वम-
पि ध्वनितम् । अत एव सिद्धवत्कारेणास्मत्प्रभुचरणानां तादृग्व्याहार इत्यलं शङ्कान्वेषणा-
विलासैः । एतेन तदीयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ पुष्टिमार्गीयचरमपुरुषार्थोपि सिद्ध इत्युक्तं
भवति । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्बुव'मित्युक्तलक्षणो मोक्षस्तदभिज्ञैरेव भाषित
इति संक्षेपः ॥ ४ ॥

यद्यप्यनुचितमेतन्मत्त्वोचितं रचितमेतदस्माभिः ।

सन्तुं तमपि प्रभवो मन्तुं मे बल्लभप्रभवः ॥ १ ॥

मया नामानुसारेण महानेवानयः कृतः ।

यत्कृतचतुःश्लोकीव्याख्याने विष्टता मतिः ॥ २ ॥

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।

कृपालवस्त एवैतदागःक्षन्तुं ममेदृशः ।

प्रभवो विद्वलाधीशा मदीयोयमिति स्वतः ॥ ३ ॥

रमणी रुचिरा टीका भूयान्मधुरभाषिणी ।

करसम्बन्धमात्रेण विद्वदानन्ददायिनी ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणशरणैकधनिना श्रीविद्वलपदकमलप-

रागपरिमल्लुब्धमधुना निर्मिता

चतुःश्लोकीव्याख्या वृत्ता

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीकृष्णरायभट्टविरचितसर्वार्थबोधिकाव्याख्यासमेता ।

श्रीमद्ब्रह्मपादाब्जयुगलं विगलन्मधु ।

नमाम्यहं सदानन्दरूपं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ १ ॥

श्रीविद्वलपदद्वन्द्वं नत्वा मधुसुपूरितम् ।

कुर्वेहं श्रीमदाचार्यकृपापूरितवाङ्मनाः ॥ २ ॥

तत्कृतायाश्चतुःश्लोक्या व्याख्यां सर्वार्थबोधिकाम् ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां सकलनिरतिशयसाधनसाध्यफलप्राप्त्यर्थं शुद्ध-
पुष्टिमार्गीयातिरिक्तसाधनासाध्यफलं चात्र ज्ञापयितुं सकलवेदवेदान्तप्रतिपाद्यशुद्धपुष्टि-
मार्गीयभक्तिस्वरूपं तत्साधनं तत्सेव्यस्वरूपं च वक्तुं स्वसिद्धान्तोक्तसुबोधिन्यणुभाष्या-
दिरहस्यं सङ्क्षेपतश्चतुःश्लोक्या आहुः—सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति न कालनियमोत्र । सर्वकाले निरन्तरम् । नो चेद्भजनाभावे ह्यासुरावेशः
स्यादित्यर्थः । सर्वभावेन ब्रजाधिपो भजनीयः । यादृशो भावो भगवता सम्पा-
द्यते, कोपि भावः । भावो मनोवृत्तिः । यथा नन्दयशोदादीनां वात्सल्यभावः । तथा-
भावेन भजनीयः । अथवा, सख्यभावेन । यद्वा, मुख्यस्वामिनीनामिवासाधारणस्नेह-
भावेन । तत्र साधनदशायां यावद्भगवति कोपि भावो नोत्पद्यते तावद्भजने क्रियमाणे
राजसेवकवर्द्धयोपि रक्षणीयोपराधाभावार्थम् । नियमस्तु पतिव्रताया इव सर्वथैव भग-
वद्भजने रक्षणीयः । यथा पतिव्रतायाः पतिभजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणं, तथा भग-
वद्भजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणमेवेति । यद्वा, सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वप्रकारेणा-
त्मनः स्वस्य जीवस्य भावो मनोवृत्तिर्भगवति । यद्वा, सर्वेषु स्थावरजङ्गमेषु आत्मनो

भगवतो भावनाभावः । तेन तदुक्तं 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम' इतिवाक्यात् । भजनीयः सेवनीयः । सेवा कर्त्तव्या । सेवा च स्वामिनो मनोनुकूला स्ववृत्तिः, तस्या ज्ञानं तु शास्त्रद्वारेति विवेकधर्मपूर्वकं काय-वाङ्मनोभिर्भगवदाश्रयपूर्वकं चित्तोद्देशप्रतिबन्धभोगादिकं विहाय सेवनं कर्त्तव्यम् । यद्वा, 'श्रवणं कीर्त्सनं' मितिवाक्याच्छ्रवणादिरूपा नवधा भक्तिः प्रेमरूपा कार्या । सेव्यस्वरूपमाहुः—ब्रजाधिप इति । ब्रजस्य निस्साधनस्याधिपः स्वामी नियामकः प्रभुः फलात्मा भक्तानां त्रिविधदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतः साकारो व्यापक आनन्दमात्रकरपादमुखो-दरादिरूपः पूर्णः परब्रह्म 'रसो वै स' इतिश्रुत्या रसात्मा युगलस्वरूपः । सर्वात्मभावेन विरहाकुलितहृदयेन 'यच्च दुःखं यशोदाया' इत्यादिभावनया पूर्वोक्तवात्सल्यादिभावाविष्टेन सेव्यः । ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मं सर्वं प्रतिष्ठित'मित्यादिश्रुतिभिर्'न कर्मणा न प्रज-या धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु'रित्यादिना त्यागेनैवामृतत्वप्राप्तेरुक्तत्वात्कथं भजनमेवो-पदिश्यत इत्यपेक्षायामाहुः—स्वस्यायमेवेति । स्वस्य जीवस्यात्मनोयमेव भगवद्भजनमेव धर्मः । हीति निश्चये । जीवात्मनो भगवदंशत्वादंशिनः सेवा युक्तैव । तस्मादस्यैव मुख्यधर्मत्वम् । अन्ये धर्मास्तु दैहिकाः । तस्मादन्येषां गौणत्वम् । अत एव 'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे'रित्यस्य व्याख्याने 'अस्वधर्म'मिति पदच्छेदं कृत्वा भगवच्चरणारविन्द-भजनमभिहितम् । तदेव स्वधर्म इति द्योतितम् । अत एव धर्मादिभिर्यद्भवति तद्भजने-नैव भविष्यतीति दैहिकधर्माणां गौणत्वं द्योतितम् । अत एव भगवद्वाक्यं 'यत्कर्मभि-र्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि', 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽस्ये'ति । 'यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः । व्याख्यास्वाध्याय-संन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपी'तीतरसाधनाप्राप्यत्वं स्वस्योक्तम् । धर्मादिप्राप्यं तु भक्ते-रानुषङ्गिकफलत्वमुक्तम् । नान्य इति । कापि कुत्रापि कदाचिदप्यन्यो धर्मो नास्ति । अन्यच्च, यं भगवान्स्वीयत्वेनानुगृह्णाति 'यमेवैष वृणुत' इतिश्रुते'र्भक्त्या त्वनन्यये'त्यादिवा-क्यैश्च भजनमेव स्वधर्मः । किञ्च, 'त्रैवर्गिके'तिवाक्येन यस्मिन् महाननुग्रहस्तस्मिन्लौकिकां-शत्याजनार्थं त्रिवर्गविघातं स्वयमेव भगवान्करोति । मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षितो 'दीयमानमि'तिवाक्यात् । तथा च भक्तिमार्गे कः पुरुषार्थ इत्यपेक्षायां 'हरेर्दास्यं धर्मोयं हरिरेव हि । कामो हरेर्दिहसैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मिति श्रीमदस्मत्प्रभुचरणै'रहं हरे तव पादैकमूलदासानुदास' इत्यस्य व्याख्यायां निरूपितमिति जीवमात्रस्य भगवद्भ-जनमेव स्वधर्मः ॥ १ ॥

ननु सर्वेषां भगवद्भजनमेव स्वधर्मश्चेत्तर्हि सर्वे भगवद्भजनमेव किमिति न कुर्व-न्तीत्यपेक्षायामाहुः—एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवमनेन प्रकारेण स्त्रियः स्वपतिभजनवत्सदा निरन्तरं दैवजीवैः सद्भिर्य-त्कर्त्तव्यं तदस्माभिरुक्तम् । दैवजीवानां सतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धी कर्त्तव्यो यो भगव-द्भजनरूपो धर्मः सोस्माभिरुक्तः । स्म इति प्रसिद्धिः । दैवजीवानामेवायं धर्मो, नत्वासुर-जीवानाम् । आसुरावेशिनां तु व्यभिचारिणीनामिवान्यधर्मेष्वपि प्रवृत्तिः । दैवजीवानां तु गृहाश्रमिणां श्रौतस्मार्त्तादिकर्मानुष्ठाने वेदरूपभगवदाज्ञया देवतान्तरयजने क्रियमाणे भगवदङ्गत्वेन तद्विभूतित्वेन यागकरणस्योक्तत्वाज्ञानन्यत्वमङ्ग इति । तथा च 'अन-न्याश्चिन्तयन्तो मामि'तिवाक्याद्योगक्षेमनिर्वाहकत्वं भगवत एवेति यद्दर्मादिभिरैहिका-द्युष्मिकफलादिकं तदनायासेन भगवान्स्वयमेव करिष्यति सम्पादयिष्यति । कुत इत्यपेक्षायामाहुः—प्रभुरिति । सर्वेषां ब्रह्मेन्द्ररुद्रादीनामपि प्रभुः स्वामी नियामकः सर्व-सामर्थ्यविशिष्टः । सर्वैर्मिलित्वा यत्कर्त्तव्यं तत्स्वयमेव कर्त्तुं समर्थः । हीति प्रसिद्धिः, क्षीरोदमथने मन्दरानयने । तेन सर्वप्रकारेण देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माद्याग्रहं परित्यज्य चतुर्विधपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति भगवदाश्रयेण भगवद्भजनमेव कुर्वाणो निश्चिन्ततां व्रजेत् । तेन दैवजीवैर्भगवदाश्रितैः कदापि कापि चिन्ता न कार्या । चिन्ताया आसु-रधर्मत्वात् । सर्वे भगवानेव करिष्यतीति भावः ॥ २ ॥

ननु लौकिकवैदिकधर्माद्याश्रयपरित्यागेन भगवद्भजने क्रियमाणे कदाचिद्भगवा-नप्येतन्मनोरथं न कुर्यात्तदा किं भविष्यतीत्यपेक्षायामाहुः—यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि कदाचिच्छ्रीगोकुलस्यानन्यशरणस्यानन्यगतिकस्य 'तरमान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रह'मित्येवं भगवता श्रीनन्दनन्दनेनाङ्गीकृतस्य निस्साधनस्याधीशोधि-पतिः स्वामी रक्षकः फलात्मा पालकश्च, सर्वात्मना कायवाङ्मनसा सर्वात्मभावेन वा हृदये घृतो धारितः । येषां भगवन्तं विहाय दारागारसुतधनादिकं किमपि प्रियं नास्त्येव सर्वस्वरूपेण भगवानेव येषामस्ति, भगवदर्थमेव यैः सर्वं त्यक्तं, येषां प्राणादयोपि भगवदर्थमेव प्रिया नात्मार्यम् । यदीतिपदादेतादृश्यवस्था दुर्लभेति सूचितम् । भगव-द्वरणातिरिक्तसाधनासाध्येति भावः । गोकुलाधीश इतिपदेन यथा श्रीगोकुले भक्त-वश्यत्वेन भगवता स्थीयते तथैतस्यापि वशे भूत्वा भगवान् वर्त्तत इति द्योतितम् । अत एव 'एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता । स्वशोनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे', 'नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह-

ति । नन्वेवं भगवति हृदि विद्यमाने गृहस्थानां धनाद्यभावाल्लौकिकवैदिककार्यादेः कथं निर्वाह इत्यपेक्षायामाहुः—तत इति । यदा श्रीभगवानेव सर्वसामर्थ्यविशिष्टो हृदये स्थितस्तदा लौकिकैर्बन्धवहारादिकर्मभिर्वैदिकैराश्रमवर्णादिविहितैः कर्मभिर्यागदानादिभिश्चैतस्य किं फलमन्यत् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः । सर्वस्यैव ब्रह्मलोकपर्यन्तस्यापि फलस्याब्रह्म-
भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोर्जुने'तिवाक्यान्नश्वरत्वमेवेति न किञ्चिदित्यर्थः । ततस्तस्मा-
दपरं किं फलमिति त्वमेव ब्रूयतो येषां सर्वभावेन भगवानेव हृदि स्थितस्तेषामैहिकं पारलौकिकं सर्वं भगवानेव करोति 'तेषामहं समुद्भूतं'तिवाक्यात् । 'अहं त्वा सर्वपा-
पेभ्यो मोक्षयिष्यामी'ति वाक्याच्च ॥ ३ ॥

ननु तर्हि जीवैः सदा किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाहुः—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्रोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतः कर्मयोगज्ञानादिसाध्यं फलं तद्वक्तेरानुषङ्गिकमतः सर्वात्मना सर्वप्रकारेण शश्वन्निरन्तरं गोकुलेश्वरस्य निस्साधनफलात्मनो भक्तवश्यस्य परब्रह्मणो रसात्मकस्य भगवतः पादयोश्चरणारविन्दयोः स्मरणं भजनं चकाराच्छ्रवणं कीर्तनं कदापि न त्याज्यम् । स्नेहाभावेपि मनोर्धर्मत्वात्स्मरणस्य मुख्यतया स्मरणमेवोक्तम् । अत एव 'तस्माद्भारत सर्वात्मे'त्यस्य व्याख्याने श्रवणकीर्तनस्मरणानामेवोक्तौ कथं नवधा भक्तिर्नोक्तेति स्वयमेवाशङ्क्य समाहितम् । पादमेवनादारभ्यात्मनिवेदनपर्यन्तानां षण्णां प्रेमोत्तरभावित्वान्मुख्यतया श्रवणकीर्तनस्मरणमेवाभिहितम् । तस्मादर्हनिशं स्मरणं कर्तव्यं लीलाविशिष्टस्य । रासादिलीला अपि सर्वाश्रितनीया भावाविष्टतया । तथैव भजनं सेवनं कर्तव्यं, कदापि न त्याज्यम् । 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'तिवाक्ये मानस्या एव फलरूप-
त्वमुक्तम् । अत एव सेवालक्षणं चेतसो भगवत्प्रवणत्वम् । भगवत्प्रवणचित्तसिद्धयर्थं तनु-
वित्तजाकरणम् । तेन सेवाकरणेन संसारदुःखनिवृत्तिपूर्वकब्रह्मज्ञानावाप्तिरवान्तरफलम् । परमफलं तु यथाधिकारतो भगवदनुग्रहेण नित्यलीलाप्राप्तिरेवेति मे मम मतिरिति ।

श्रीमदाचार्यकृपया व्याख्या सर्वार्थबोधिका ।

मया कृता चतुःश्लोक्याः कृष्णरायाभिधेन हि ॥ १ ॥

तुष्यतां तेन भगवाञ्छ्रीमदाचार्यवल्लभः ।

दासे निस्साधने दीने कृष्णराये दयानिधिः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्वल्लभदेवविरचितायाश्चतुःश्लोक्याः कृष्णरायभट्टविरचिता
सर्वार्थबोधिका व्याख्या

सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

मठेशश्रीनाथभट्टकृतटीकया संवल्लिता

श्रीवल्लभाभिधानौमि तान् स्वशास्त्रार्थतो मुदा ।

उपदिष्टा चतुःश्लोकी स्वीयेभ्यो यैः समासतः ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्त्रीयजनानां सुग्रहार्थं समासतः स्वात्मधर्ममनु-
शिक्षयन्तश्चतुःश्लोक्या सर्वशास्त्रार्थं निरूपयन्ति सर्वदा सर्वभावेन भजनीय इति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

परमेश्वरो देवः सेव्य इति सर्वशास्त्रार्थः । स च केषाश्चिन्मते निराकारः, केषा-
श्चिन्मते साकार उपास्यः । तत्र निराकारस्तु नोपपद्यत एव । तथा हि, किमाकारो देह
आत्मा वेति विचारणीयम् । तत्र देहस्तु पाञ्चभौतिकः प्राकृतः स नोपपद्यत एव, 'देहे-
न्द्रियासुहीनाना'मितिवाक्यात्तदीयानां पार्षदानां यत्र तथात्वं तत्र तन्मूलस्वामिनः
परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य तथात्वे किमु वाच्यमिति कैमुतिकन्यायः । अत एव आत्मैव
परः स तथाभूतो दिव्यः स्वीकार्यः । न च दिव्यपदवाच्यो देह एव तत्राकारः
स्वीकार्य इति वाच्यं, देहदेहिविभागाभावात् । 'स यथा सैन्धवधन आभ्यन्तरो बाह्यः
कृत्स्नो रसाधन, एवं वाऽरेऽयमात्मे' त्यादिश्रुतिभिरप्राकृतत्वाच्च । दिव्यपदेन दिवि भवो
दिव्य इतिव्युत्पत्त्याग्रहश्चेत्तदा देवानामिव तथादेहस्य प्राकृतत्वापत्तिः, देवेष्वपपञ्चीकृत-
तत्त्वस्यैव दिव्यपदवाच्यत्वस्वीकारात् । यत्तु 'जन्म कर्म च मे दिव्यमि'त्युक्तं तदप्यप्राकृ-
तत्वाभिप्रायेण, दिव्यपदस्य रूढार्थकत्वस्वीकारात् । अत एव 'देहेन्द्रियासुहीनानामि'त्यत्र
तन्निषेधः । न च तत्र सामान्योक्त्या निषेध एव देहादेरापद्यत इति वाच्यम्, पुनस्तत्क-
थनात्, 'वैकुण्ठपुरवासिनां पश्यतां कुर्वतां गानमि'त्यनुपदमेव तथाकारत्वेन निरूपणात्,
तेन प्राकृताकारस्य निषेधस्तत्र पर्यवस्यति, न त्वप्राकृताकारस्य । प्राकृतभौतिकादिका-
कारत्वं न तथा भगवतीतिबोध्यम् । अत एवोक्तं 'साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारग'इति

स्वाचार्येणाम सर्वोत्तमे । तत्रैकशब्दो मुख्यार्थवाची । साकारत्वमुक्त्वा यद्ब्रह्मत्वं निरूपितं, तद्यथा ब्रह्म केवलं सच्चिदानन्दमयं तथा तत्करचरणादीनामपि केवलसच्चिदानन्दमयत्वं ज्ञापितम् । साकारत्वकथनेन पुष्टिमार्गीयफलस्य तत्स्वरूपस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वं, फलानुभवप्रकार उक्तः । नन्विदवधि सर्वशास्त्रार्थविचारकैरपि परब्रह्मणः साकारत्वनिरूपणात् कथमाचार्याणामेव साकारत्वनिरूपकत्वमिति चेत्, उच्यते । ब्रह्मणोऽत्यलौकिकत्वाच्चक्षुरादीनां लौकिकप्रमाणत्वान्न चक्षुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि, किन्तु स्वच्छया संभवतीति श्रुतीनामलौकिकप्रमाणत्वेन श्रुतय एव परब्रह्मणि प्रमाणमिति तत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्म । तास्तु 'स ईक्षाञ्चक्रे' 'तस्मादेकाकी न रमते' 'स द्वितीयमैच्छत्' 'स हैतावानासे' इति साकारमेव निरूपयन्ति । गीता च 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽसि शिरोमुखमि'त्यादि साकारत्वमेव वदति । ननु निराकारवादिभिरपि निराकारप्रतिपादने 'अस्थूलमनष्वहस्वमदीर्घमि'त्यादिश्रुतय एव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियन्ते कथं न निराकारत्वमिति चेत्, उच्यते । निराकारत्वप्रतिपादका अपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारवत् प्राकृताकारत्वमेव प्रतिषेधन्ति, नत्वानन्दमात्रकरपादमुखोदराद्याकारम् । यदि सर्वथा निराकारत्वमेव शुभं मत्तं स्यात्तदा निराकारत्वमुक्त्यापि अग्रे 'स ईक्षाञ्चक्रे' इत्यादिना साकारं न प्रतिपादयेयुः । अत एव व्याससूत्रमपि 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः, प्रकृतमेतावत्त्वं प्राकृतं साकारत्वं, तन्निषेधति निराकारश्रुतिः, न त्वानन्दैकाकारत्वं, तत्र हेतुः 'ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः ततोऽग्रे । पुनरपि 'स ईक्षाञ्चक्रे' 'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण' इत्यादि साकारत्वमेव वदतीति निराकारवादिनां यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेपि सर्वशास्त्रीयोपनिषज्ज्ञानाभावात्तासु च प्रकारभेदतो ब्रह्मनिरूपणात्, तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वकविषयव्यवस्थया यत्सिध्यति तादृशं ब्रह्म मन्तव्यम् । निराकारवादिनां सर्वशास्त्रीयोपनिषत्तात्पर्यज्ञानाभावात्स्वबुध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारं कल्पयित्वा निराकारत्वकथनमिति न तदुक्तं प्रमाणम् । स्वाचार्यैस्तु सर्वशास्त्रीयोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेणावगमात्तत्र च साकारस्यैव निरूपणात् सर्वमवगार्यैव साकारत्वमुक्तमिति सिद्धं साकारत्वम् ।

स च साकारः परमेश्वरः को वा भजनीयः, शिवो विष्णुर्वा व्यूहात्मा वा नारायणो ब्रह्माण्डविग्रहो विश्वरूपादिवेत्याकाङ्क्षायामाहुः ब्रजाधिप इति । अनेन सर्वतो व्यावृत्त्यावतारदशापन्नेष्वपि भगवदंशेषु स्वरूपेषु भजनीयः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमो ब्रजाधिप एवोक्तः । 'कचित्पाण्डित्यमि'तिश्लोके निर्णीतत्वात् । सोपि नोपास्यः किन्तु भजनीयो, 'भज' सेवायामिति धातोः । उपासनायाः कर्मान्तर्गतत्वेन मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविध्यधीनत्वं भजनीयस्यायातीति विभूतिरूपं व्यावर्त्यते । भजनञ्च सेवा, सैव भक्तिपदशक्यार्थः । 'धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः स्नेह'

इति निबन्धोक्तेः । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इतिभक्तिसूत्रात् । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुहृदः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति नारदपञ्चरात्रोक्तेश्च । ज्ञानपूर्वकत्वे विहितस्नेहो भक्तिपदवाच्यः, अन्यथा त्वविहितः स्नेह इत्यन्यत्र विस्तरः । सा सेवा तनुवित्तजा कायिक्येव केवला संभूतेति मानसीत्वमपि लक्षणे निवेश्यते । 'प्रत्ययार्थः स्नेह' इत्यान्तरो धर्म उक्तः । तथैतदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्त्ववर्णं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा' इति । तथा च देहेन्द्रियमाणान्तःकरणैर्निवेदितात्मभिः संसेव्य इत्यभिप्रायतः सर्वभावेनेत्युक्तम् । सर्वो यो भावो देहेन्द्रियादीनां यथाहं तत्तद्विनियोगात्मकस्तेन सेव्यः । सर्वात्मभावेनेति केचित् । सोऽप्यत्र पुष्टिमार्गीय एव । सर्वोपि आत्मनो भावो, न तु सर्वत्रात्मत्वभावनं, तस्य मर्यादापार्गीयत्वादिति विवेचनीयम् । किञ्च, स सर्वदा भजनीयः, न तु कदाचित् कर्ममार्ग इव, नैमित्तिकदेववद्वा ।

ननु वेदादिप्रमाणग्रन्थेषु तु तदुपासनं विहितमभिहितं न त्वेतदित्यप्यविहितमेव भजनमिति चेन्न, सर्वतः पृथक्त्वेनैतत्प्रमातो व्यवस्थापितत्वात् । 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'तिभगवद्वाक्ये भजनविध्युपपादितत्वाच्च । 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इत्यादिना । अत एवात्राप्यावश्यकत्वार्थकतयानुशिष्टानां तैव्यत्त्वानियंत्प्रत्ययानां मध्ये अनीयप्रत्यय उपात्तः । तथा विध्यर्थकश्च । न चैवं विध्यधीनत्वमसङ्गः । मर्यादातो व्यतिरेकात् पुष्टिमार्गीयत्वाच्च । अत एवोक्तमेकादशस्कन्धे भागवते भगवद्धर्मनिरूपणमसङ्गे 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन्न पतेदिहे'त्यादि । अयमेव धर्मः ॥ १ ॥

इति मठेशश्रीनाथभट्टकृता चतुःश्लोक्याः प्रथमश्लोकटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीदारिकेशविरचितव्याख्यायुता ।

श्रीगोवर्धनधराय नमः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्विहृलेशांश्च सद्विरुन् ।
स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे सपरिकरस्याश्रयस्य निरूपितत्वादा-
श्रितान् स्वमार्गीयप्रमाणप्रमेयसाधनफलानि निर्देष्टुं तद्बोधकधर्मार्थिकाममोक्षांश्रोपदेष्टुं
पूर्वश्लोके धर्मं प्रमाणं च निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति सर्वस्मिन्काले । सर्वभावेनेति पतिपुत्रादिभावेन । तदुक्तं 'प्रेष्ठो भवां-
स्तनुभृतां किल वन्धुरात्मे'ति, 'सर्वेषामात्मजो हात्मा पिता माता स ईश्वर' इति,
'येपां च त्वं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवतश्च' । ब्रजाधिपः । ब्रजस्य
निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः स्वामी । कर्तव्यं निर्दिशन्ति भजनीय इति । काय-
वाङ्मनोभिरवश्यं सेवनीयः । यद्वा, सर्वेषामिन्द्रियाणां भावेन 'तन्मनस्कास्तदाला-
पास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः' इतिरीतिकेन, निरोधलक्षणे वक्ष्यमाणरीतिकेन वा सेव्यः ।
स्वस्येति 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'तिवाक्यात्, 'को नु राजन्नि'तिवाक्याच्च स्वस्यात्मनो
जीवमात्रस्य । स्वस्य कृष्णाश्रितजीवस्यायमेव धर्मः । तदेव भक्तिर्ह्ये 'स्त्रियाः स्वपति-
भजनव'दिति । अकर्तव्यं निषेधयन्ति.....

ण काले श्रौतकर्तव्यस्य । 'वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः । तथैव
विधिवत्कार्यः' बालबोधे 'स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वाजगुण्यमन्यथा' । अत एव सर्वोत्तमेऽपि
'कर्ममार्गप्रवर्तकः' 'यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः'; 'यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ते'त्यादि-
नामानि । तथाकृतिश्च परम्परया दृश्यते । न चैवं 'सर्वदा'पदबाधः शङ्क्यः, भक्तिमार्गे
साधनफलयोरैक्येन तेषामपि सेवा मध्यपातिनीति न बाधः ॥ १ ॥

एवं 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय'इत्यनेन प्रमाणं निरूप्य 'धर्मो ही'त्यनेन
धर्मं च निरूप्य प्रमेयमर्थं च निरूपयन्ति एवं सतामिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

उक्तप्रकारेण भजताम् । स्मेति प्रसिद्धिः । भगवद्गीतासु 'अनन्याश्चिन्तयन्तो
मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मितिभगवद्वा-
क्यात् । एकादशस्कन्धे च 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण
श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसे'तिभगवद्वाक्यात् । कर्तव्यं
सेवोपयुक्तपदार्यसम्पादनं स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमितिपाठे स्वस्य जीवस्य
भगवतो वा यद्यत्कर्तव्यं तत्तद्दरिः स्वयमेव अविहृत एव अप्रार्थित एव करिष्यति, न
त्वन्यद्वारा । नापि कल्पवृक्षादिवत् । स हि प्रार्थित एव करोति । अत एव दशमस्कन्धे
'ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान्बालचेष्टितैः' । सर्वोत्तमेऽपि 'स्वदासार्थकृताशेषसाधन'
इति । मार्यादिकभक्तेषु तृसिंहमहत्तरादिषु तथाकृतमपि श्रूयते । ननु भगवान् केन
प्रकारेण करोतीत्याशङ्क्यामाह प्रभुरिति । प्रकर्षेण भवतीति । भगवदीयाभिल-
षितशय्यासिंहासनादिरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्युहयोर्कृष्यादिवाहना-
दिसर्वरूपो भूत्वा विवेक्ष ! तदुक्तं 'उभयोरविशद्रेहमुभाभ्यां तदलक्षित' इति ।
यथा च षोडशसहस्रनायिकाविवाहे श्रीवसुदेवादिवीरयात्रिकसर्ववस्तुरूपो भूत्वा
सर्वत्र विवाहं कृतवान् । तदुक्तं 'अयो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः । अयोपयेमे
भगवोस्तावद्रूपधरोऽव्यय' इति । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवानुच्चावचभावं कथं भजते
इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वं कर्तुं समर्थः । अथवा । सर्वेषूच्चावचभावेषु सम-
स्तुल्योऽर्थो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति'श्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवत्त्वात् । तथा
चोक्तमष्टमस्कन्धे 'उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः । नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वादि-
यो गुणैः' । हि युक्तोऽयमर्थः । एतेन सिद्धमाहुः तेनेति । भगवतैव संपादितेना-
र्थेन निश्चिन्ततां भगवदेकतानतां ब्रजेत् । निश्चिन्तो भूत्वा सेवां कुर्यात् । अत एव
भक्तिवर्द्धिन्यां 'अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' । नवरत्नप्रकाशेऽपि
'भगवदर्थोपि सा न कार्या' । विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्राप्तं सेवेत निर्ममः' । गदाधर-
दासीनां तथाकृतिश्च श्रूयते । एवं प्रभुपदेनार्थं सर्वसमर्थपदेन प्रमेयं च निरूप्य 'भक्ति-
योगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्थक' इत्युपक्रम्य, 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै
वणिक् । आज्ञासातो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यतः स्वाम्य-
मिच्छन्त्यो राति चाशिष'इत्युक्तत्वात् ॥ २ ॥

एवं तु भगवतार्थसंपादने कृते भक्तिमार्गान्तरायः, स्वयं कृते सेवाऽनिर्वाह इति
प्राप्ते; भक्तिमार्गीयं साधनं निरूपयन्तो हरेर्दिदृष्टारूपं कामं निरूपयन्ति यदि श्रीगो-
कुलाधीश इति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभतोच्यते । अत एव दिदृक्षा । श्रिया युक्तो गोकुलाधीश, एतेन कामसम्पत्तिर्निरूपिता । 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठित' इतिवाक्यात् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरुवः साधनं च तदि'तिवाक्यात् साधनसंपत्तिर्निरूपिता । तयोः स्वस्मिन्समावेशमाहुः धृतः सर्वात्मना हृदि । 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिवाक्यात् । अत्राऽऽत्मपदं इन्द्रियपरम् । सर्वपदं एकादशपरम् । सर्वेन्द्रियैः कामसाधनसंयुक्तो गोकुलाधीशो हृदि धृतो हृदये कृतस्तदा लौकिकफलस्य स्वाधीनपतित्वस्य वैदिकफलस्य चित्तशुद्धेश्च 'हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत' इतिवचनादाप्तत्वेन लौकिकैरुद्यमनादिभिः वैदिकैर्यज्ञादिभिरपि किं ? नास्ति परमुत्कृष्टं, यस्मादेतादृशमत्युत्कृष्टमस्ति चेद्ब्रूहि ॥ ३ ॥

एवं श्रीपदेन कामं साधनं च निरूप्य भगवदीयत्वरूपं मोक्षं स्मरणसेवारूपं फलं निरूपयन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यसाधनं नास्ति, अतः परं सर्वात्मना देहेन्द्रियभाषणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गवां कुलस्य, गवां बन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य पादयोर्भगवदीयदेहसंपादकयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं, चकारेण श्रवणं कीर्तनं च, न त्याज्यम् । सादरं सर्वथा विधेयम् । अपिः संभावनायाम् । त्यागसंभावनैव नास्ति । एवं भगवदीयत्वरूपमोक्षं सेवारूपफलं चेति । स्वयं स्वाभिप्रायाप्येन ग्रन्थं समापयन्ति-इति मे मतिरिति । मे श्रीकृष्णवल्लभस्य इति एवं प्रकारिका मतिः ॥ ४ ॥

एवं भगवदीयानां धर्मार्थेच्छामृतमदा ।

व्याख्यातेयं चतुःश्लोकी प्रमाणादिप्रदर्शिका ॥ १ ॥

तेन श्रीवल्लभाचार्याः स्वदासे मयि वंशजे ।

प्रसीदन्तु स्वकृपया सान्वयाः सहसेवकाः ॥ २ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीमथुरानाथात्मजद्वारिकेशविरचिता

चतुःश्लोकीव्याख्यान्वयबोधिनी

समाप्ता ।

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुचरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायणां टिप्पणी
२. श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

પ્રસ્તાવના

૦૦૦૦૦૦૦

શ્રીમહાચાર્યચરણે ષોડશગ્રન્થ-ચતુઃશ્લોકીથી પુરુષાર્થચતુષ્ટયનું સ્વરૂપ દર્શાવ્યું. પ્રમાણમૂર્ધન્ય શ્રીમદ્ ભાગવતમાં શ્રીકૃષ્ણચંદ્રની દશવિધ લીલાનું નિરૂપણ કરતાં ષષ્ટસ્કન્ધ પોષણલીલાનું ગાન કરે છે, આ પુષ્ટિનિરૂપક ષષ્ટસ્કન્ધ ઉપર સ્વકૃત વિવરણ નહિ હોવાથી આ ચતુઃશ્લોકી ઉપર આચાર્યચરણે સ્વવિવૃત્તિ કરી ષષ્ટસ્કન્ધના સારરૂપ પોષણલીલાનું અને પુરુષાર્થચતુષ્ટયનું સ્વરૂપ દર્શાવ્યું. આ ચતુઃશ્લોકીના ચાર શ્લોકો પૈકી પ્રથમ ત્રણ ઉપર શ્રીપ્રભુચરણનું વિવરણ છે, અને ચતુર્થ શ્લોક ઉપર શ્રીઆચાર્યચરણનું વિવરણ છે પરંતુ ચારે શ્લોકનું વિવરણ શ્રીપ્રભુચરણે સ્વનામથી જ પ્રકટ કર્યું છે.

સામ્પ્રદાયિકગ્રન્થોદ્ધારણ્યપ્રયત્નાત્મા શ્રીચરણોડલાલજી મહારાજે પોરબંદરમાં નિજ-પિતૃચરણસરણનુસાર વૈષ્ણવોને સાંજરે નિર્વામત રીતે આ વૃત્રચતુઃશ્લોકી ટીકાસહિત ઉપદેશી. તેના શ્રવણથી ઉત્સુક વૈષ્ણવોએ મુદ્રણ કરાવાની વિનંતિ કરતાં આપે તેને યાવતપ્રાપ્ય ટીકા સહિત મુદ્રણ કરવાની આજ્ઞા કરી. અને તે “શ્રી ભવનાચાર્ય પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત-કાર્યાલય” તરફથી અમે છપાવી પ્રકટ કરીએ છીએ. આ વિવરણ ગ્રન્થ ઉપર શ્રીહરિરાયજી, શ્રીવલ્લભજી, શ્રીપુરુષોત્તમજી, આ ત્રણ આચાર્યોની ટીકા ઉપલબ્ધ છે. આ ત્રણમાં શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકા પુષ્ટિભક્તિસુધામાં પ્રકટી છે. અને તેના અનુવાદ પણ શ્રીછગનલાલ શાસ્ત્રીજીએ પ્રકટ કર્યાનું સંભળાય છે. પરંતુ શ્રીહરિરાયજી અને શ્રીવલ્લભજીની ટીકા મુદ્રિત થઈ નથી. શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકાનો અનુવાદ તો જાણે યથાકર્થચિત્ કોઈને પ્રાપ્ય છે, તેથી અત્રે શ્રીહરિરાયજીની ટીકાનો અનુવાદ મુક્યો છે. મુદ્રણની શુદ્ધતા અને ભાષાન્તરની સરલતા માટે અમારાથી બનતો પ્રયત્ન અને પુરતું ધ્યાન આપ્યું છે છતાં ભવગતદોષથી અથવા પ્રેસના અનવધાનથી અશુદ્ધિ દૃષ્ટિપથમાં આવે તો તેની ક્ષમા પ્રાર્થવિ છીએ. શુદ્ધ-મુદ્રણ માટે નીચે પ્રમાણે ટીકાઓની પ્રતિઓ મેળવી હતી. અને તે ટીકાની પ્રતો અર્પનારનો પરમ ઉપકાર સર્વથા સર્વદા અવિસ્મરણીય છે અને તેવી જ રીતે “શ્રીભવનાચાર્યપુષ્ટિસિદ્ધાન્તકાર્યાલય” તરફથી ઉત્તરોત્તર પ્રકટ થતાં પુસ્તકો માટે પુસ્તક પ્રદાનથી સાહાય્ય કરી ઉપકૃત કરશે. એવી આશા રાખીએ છીએ.

ભાષાન્તરની સરલતા માટે કૃષ્ણહાસ અને વલ્લભહાસનો સંવાદ યોજ્યો છે. જેમાં પ્રશ્નકર્તા કૃષ્ણહાસ છે અને સિદ્ધાન્ત કહેનાર વલ્લભહાસ છે.

નીચે પ્રમાણે પ્રતિઓથી આ પુસ્તકની શુદ્ધિ કરી છે.

(૧) ચતુઃશ્લોકી ઉપર શ્રીગુસાંધજીની ટીકા:—

(૨) આ ટીકાની બે પ્રતિઓ શ્રીભવનાચાર્યજીના સરસ્વતી ભંડારમાંથી ઉપલબ્ધ થઈ હતી.

પ્રસ્તાવના

- (૨) બૃહન્મંદિરાધીશ્વર શ્રીગોકુલનાથચરણોએ પણ આ ટીકાની બે પ્રતિનું દાન કર્યું હતું.
 (૧) મોહમયીસ્થ શ્રીલાલબાવાના મંદિરના મહારાજશ્રી શ્રીરણુછોડલાલજીના સંગ્રહમાંથી આ ટીકાની એક પ્રતિ મળી હતી.
 (૧) પુષ્ટિભક્તિસુધામાં પ્રકટ થયેલી ટીકાનો પણ એક પ્રતિ તરીકે ઉપયોગ કર્યો હતો.

(૨) શ્રીપુરુષોત્તમજીનો પ્રકાશ:—

- (૧) નિત્યલીલાસ્થ ગોસ્વામી શ્રીજીવનાચર્યશ્રીના સંગ્રહમાંથી એક પ્રતિ ઉપલબ્ધ થઈ હતી.
 (૨) પુષ્ટિભક્તિસુધામાં પ્રકટ થયેલ બીજી પ્રતિ તરીકે હતી.

(૩) શ્રીહરિરાયજીની ટિપ્પણી:—

- (૧) એક પ્રતિ ગોસ્વામી શ્રીજીવનાચર્યશ્રીના સંગ્રહમાંથી પ્રાપ્ત થઈ હતી.
 (૨) બીજી ગોસ્વામી શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજશ્રીએ સ્વસંગ્રહમાંથી આપી હતી.
 (૩) ગોસ્વામી શ્રીરણુછોડલાલજી મહારાજશ્રીના સંગ્રહમાંની હતી.

(૪) શ્રીવલ્લભજીની ટિપ્પણી:—

- (૧) ગોસ્વામિ શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજશ્રીના સંગ્રહમાંથી.
 (૨) મોહમયીસ્થ શ્રીદાઉજી મંદિરવાલા શ્રીદ્વારકેશલાલમહારાજશ્રીના સંગ્રહમાંથી.

આ પ્રમાણે શ્રીગુણોત્તમજીની ટીકા છ પ્રતિઓથી શ્રીપુરુષોત્તમજીનો પ્રકાશ બે પ્રતિઓથી શ્રીહરિરાયજીની ટિપ્પણી ત્રણ પ્રતિઓથી શ્રીવલ્લભજીની ટિપ્પણી બે પ્રતિઓથી શુદ્ધ કરી છે.

શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ પાસે જ્યારે અમો પુસ્તકો લેવા માટે ગયા ત્યારે “શ્રીજીવનાલાલજી મહારાજ સાથે તો અમારે પરસ્પર પુસ્તકપ્રદાનનો વ્યવહાર જ છે.” આવા ઉત્તમ વ્યવહારનું સ્મરણ કરાવી સહુર્ષ બે ગ્રંથસુદ્રણમાં ગ્રંથપ્રદાનથી સહાય આપવાનું આપે સ્વીકાર્યું એ આપનો વિદ્યાનુરાગ અમને ઉપકાર મનાવે છે.

સગવડધર્મપરાયણ મગનલાલ શાસ્ત્રીજીએ તેમજ શુદ્ધાદ્વૈતભૂષણ પંડિત શ્રીરમાનાથ શાસ્ત્રીજી તથા પંડિત શ્રીબલુનંદજીએ પણ અમોને સમયોચિત સૂચના કરી ઉપકૃત કર્યો છે.

આ સ્વરૂપ પ્રયાસ અમો શ્રીજીનેશાચાર્યના ચરણકમલમાં સવિનય અર્પણી છીએ.

શાસ્ત્રી ચીમનલાલ હરિશંકર
સાહિત્યભૂષણ શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન.

શાસ્ત્રી હરિકૃષ્ણ વિરજભાઈ
શુદ્ધાદ્વૈતવિશારદ.

॥ શ્રીનવનીતમિયો જયતિ ॥

॥ શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ॥

॥ શ્રીગોપીજનવલ્લભાય નમઃ ॥

॥ શ્રીમદાચાર્યચરણકમલેભ્યો નમઃ ॥

મહાનુભાવશ્રીહરિરાયચરણાનાં શ્રીવલ્લભાનાંચ ટિપ્પણીભ્યાં સમલક્ષ્ણ, શ્રીગુણોત્તમ-
ચરણવિરચિતપ્રકાશેન વિશદીકૃતા, શ્રીમદ્વિકૃલેશપ્રમુચરણવિરચિત

॥ શ્રીવૃત્રાસુરચતુઃશ્લોકીવિવૃત્તિઃ ॥

નનુ પુરુષાર્થાશ્રત્વારસ્ત્ર ત્રિવર્ગવિદ્યાતં ભગવાનેવ કરોતિ મોક્ષસ્તુ ભક્તાનામેવ
નાપેક્ષિત ઇતિ ભક્તિમાર્ગે ન કોપિ પુરુષાર્થઃ સિદ્ધયતીત્યાશક્ક્ય ભક્તિમાર્ગીયં તચ્ચતુષ્ટયં
ભિન્નમેવેત્યાહ-ચતુર્થિઃ,

પૂર્વમિન્દ્રં પ્રતિ પ્રાહ તતો ભક્ત્યાગ્રતો હરિમ્ ।
 દૃષ્ટ્વા તત્ પ્રાર્થયામાસ પુષ્ટિદૃષ્ટફલા યતઃ ॥ ૧ ॥
 આઘે તુ પુષ્ટિપાર્ગીયો ધર્મઃ સ્મરણકીર્તને ।
 સેવા ચેતિ ત્રયં તેન પ્રાર્થિતઃ સ નિરૂપ્યતે ॥ ૨ ॥
 આત્મનશ્ચાધિકારિત્વમુત્તમં દીનભાવતઃ ।
 પ્રાર્થનીયતયા તસ્ય સાધનં ચ કૃપોચ્યતે ॥ ૩ ॥

ધર્મ પ્રાર્થયન્ પ્રથમમધિકારિત્વં સ્વસ્ય નિરૂપયતિ, અહમિતિ,

અહં હરે તવ પાદૈકમૂલદાસાનુદાસો ભવિતાસ્મિ ભૂયઃ ।
 મનઃ સ્મરેતાસુપતેર્ણુનાનાં ગૃણીત વાક્ કર્મ કરોતુ કાયઃ ॥ ૧ ॥

હે હરે, અહં તવ પાદૈકમૂલદાસાનુદાસો ભવિતાસ્મિ ભવિષ્યામીત્યર્થઃ ।
 નનુ સર્વસ્યાપિ દુઃખાત્યન્તાભાવોપેક્ષિતઃ સ ચ મોક્ષં ત્રિના ન ભવતીતિ કિં દાસ્યેનેત્યત
 આહ-હરે ઇતિ, અત્રાયં ભાવઃ, દાસ્યે હિ ત્વમેવ દાસાનાં ત્રિવિધમપિ દુઃખમપનયસિ,
 મોક્ષે તુ જ્ઞાનં, તચ્ચ તવ ધર્મસ્તેન ધર્માપેક્ષયા ધર્મ્યાશ્રયણમેવ યુક્તં, કિંચ મોક્ષે દુઃખનિવૃત્તા-
 વપિ પ્રમુકૃપયા મમ દુઃખં ગતમતોહં સુખેન વર્તે ઇતિ ભાવસ્તુ દુર્લભ એવ, મેદાભાવાત્,

दास्ये तु न तयेत्याशयेनास्मच्छब्देन भेदमुपपादयति—अहमिति । ननु दास्यं कथं सेत्स्यतीत्यत आह—तवेति त्वदीयोहमित्यर्थः तेनाक्योः सेव्यसेवकभावः सहज इति सूचितम्, अन्यथा त्रिवर्गविधातमसुरत्वेऽपि सति कथं कुर्याः, ततो मोक्षे चानधिकार उक्तः, एवं चेत् कथं दास्यं न करोषीत्यत आह—भवितेति, जीवस्य त्वदीयत्वेऽपि देहस्यासुरत्वेनायोग्यत्वाद्देहान्तरे दासो भविष्यामीत्यर्थः, अतस्त्वदनुग्रहेणैव तथा भवितेत्यत्र विश्वासमाह—अस्मीति । साक्षात्प्रभुदास्ये हि स्वस्य दीनभावो गच्छतीति परम्परादासत्वमुक्तं, यद्वा, प्रभुदास्ये हि स्वस्य सर्वोत्तमत्वाभिमानेन भक्तान्तरे अपराधसम्भवात् प्रभुदास्यादपि भ्रंशो भवेत्तच्चानुभूतं चित्रकेतुदशायाम्, अतः परम्परादासत्वेन दैन्यमेवोचितमिति भावः ।

अथवा तवेत्यादिपदसमुदायेन मोक्षादिक्रमेण वक्ष्यमाणपुरुषार्थचतुष्टयेऽप्यधिकाररूपं चतुर्विधं दास्यमुच्यते, तत्र पुष्टिमार्गे मोक्षो हि भजनानन्दानुभवः, स च देहेन्द्रियप्रमाणान्तःकरणशुक्तानामेव, 'अक्षैष्यतां फलमिदं न परं विदाम' इत्यत्र श्रुतिप्रतिपादितः, तत्र चाधिकाररूपं प्रभुदास्यं 'भवौम दास्यः' 'पुरुषैर्भूषण देहि दास्य'मिति श्रुतिवाक्यादतस्तवेति पदान्मोक्षाधिकाररूपं प्रभुदास्यमुक्तमतस्तवेत्यसमासः, अन्यथा त्वत्पादेति वदेत्, तव पादावेवैकं मूलं येषां ते तथा, अर्थाद्भ्रजस्थितभक्ता एव, 'तेङ्घ्रिमूलं प्राप्ता' इति तेषावोक्तेः, तेन कामाधिकाररूपं तदासत्वमुक्तमन्यथा कामासिद्धेः, अत एवोक्तमाचार्यचरणैः 'तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथे'ति । अनुपदेन तदासदासत्वमर्थाधिकाररूपमुक्तम्, ततस्तव दासत्वं धर्माधिकाररूपमुक्तम् ।

ननु सत्सङ्गाभावेऽप्येवम्भावस्तव कथं जात इत्यत आह—भूय इति, पूर्वमहं चित्रकेतुर्दास एव स्थितोऽतः पुनरपि तथा वितेति भावः । एवं स्वस्याधिकारचतुष्टयं प्रतिपाद्यतरतमभावादादौ धर्मं प्रार्थयते मनः स्मरेतेति । असुपतेरिति गुणानामिति च कर्मणि षष्ठी, तथा च मनः असुपतिं स्मरेत् चिन्तयेत्, स्मरणस्यात्मसुखैकसाधनत्वादात्मनेपदम् । वाक् तस्यैव गुणान् गृणीत कीर्तयेत्, कीर्तनस्यापि मुख्यः स्वार्थ एव परार्थस्त्वानुषङ्गिक इत्यात्मनेपदम् । कायस्तस्यैव कर्म सेवां करोतु, सेवा तु यथा प्रभोः सुखं भवति तथा क्रियते, न तु तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वमतः परस्मैपदम् । स्मरणकीर्तनयोः श्रवणाधीनत्वेनान्यकथनसापेक्षत्वाद्विधिरुक्तः । सेवायां स्नेह एव नियामकः, स च प्रभुकृपैकसाध्य इति तत्राशीर्निरूपिता ॥ १ ॥

(१) भा० १०, २१, ७. (२) भा० १०, २९, ३९. (३) भा० १०, २९, ३८. (४) भा० १०, २९, ३८. (५) भा० ६, १०, २६, १.

एवं मनोवाक्यभेदेन त्रिविधमपि धर्मं सम्प्रार्थ्यार्थं निरूपयति—न नाकपृष्ठमिति । न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरह्य काङ्क्षे ॥२॥

लौकिको वैदिकश्चार्थस्त्रिविधः प्राकृतैर्गुणैः ।

क्रमेण ते भगवतो गुणैः षड्निराकृताः ॥ १ ॥

स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं सात्त्विकादि तु लौकिकम् ।

मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयश्चेति वैदिकम् ॥ २ ॥

प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तच्च लौकिकम् ।

निवृत्तिधर्मसाध्यत्वाद्दिशेषाद्द्वैदिकं परम् ॥ ३ ॥

प्रत्येकमेव ते चार्था न तु सम्भूय कुत्रचित् ।

भगवत्यखिलात्मत्वाद्भवन्त्येव तथा हि ते ॥ ४ ॥

अतोऽर्थो भगवानेव पुष्टिमार्गेऽप्यन्यतः ।

सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथात्र विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आदौ लौकिकसात्त्विकमर्थं निराकरोति—न नाकपृष्ठमिति, नाकः स्वर्गस्तस्य पृष्ठं राजासनम्, इन्द्रासनमितियावत्, तच्च नश्यति कालान्तरे, अतस्त्वद्यखण्डितैश्वर्यस्य विद्यमानत्वात्तत्र काङ्क्षे नेच्छामीत्यर्थः । वैदिकराजसमर्थं निराकरोति—न पारमेष्ठ्यमिति, परमेष्ठी ब्रह्मा, रजोवतारत्वात्तत्स्थानं राजसम्, तत्र च 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति वाक्यात्पारतन्त्र्येण फलसिद्ध्या स्ववीर्यदानिरेव, त्वयि चाखण्डितवीर्यस्य विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे । लौकिकराजसमर्थं निराकरोति—न सार्वभौममिति, सर्वभूमेरीश्वरत्वे हि सर्वत्र लोके यज्ञो भवति, तच्च दानादिसापेक्षत्वादौपाधिकं सावधिकं च 'तद्वायसं तीर्थ'मिति वचनात्स्वरूपतोऽपि दुष्टं 'राज्यान्ते नरकं भुव'मिति वचनादवसानतोऽपि तथा, त्वयि चानवद्ययज्ञसो विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे । लौकिकतामसमर्थं निराकरोति—न रसाधिपत्यमिति, रसेत्युपलक्षणं तेनापोलोकाः सर्वे निरूपिताः, तत्र च भूम्यपेक्षया मुखभोगोधिकः स च श्रिया भवति, सा च त्वया बलेरपहृता दत्ता च, त्वयि चानपायिन्याः श्रियो नित्यं विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे । वैदिकतामसमर्थं निराकरोति—न योगसिद्धीरिति, अपक्योगिनो हि सिद्धिबलेनापेक्षितविषयान् संसृज्य भोगं कुर्वन्ति तेन योगादपि अष्टा भवन्तीति तेषां ज्ञानं भ्रान्तमेव, त्वयि च नित्याखण्डितज्ञानस्य विद्यमानत्वा-

(१) भा. स्कं. १-५-१० ।

ता अपि न काङ्क्षे । वैदिकसात्त्विकमर्थं निराकरोति—अपुनर्भवं वेति, 'सत्त्वात् स-
ञ्जायते ज्ञान'मितिवचनाज्ज्ञानस्य सात्त्विकत्वेन तत्साध्यमोक्षस्यापि तथात्वमुच्यते,
स च गणितानन्दत्वेन त्वदानन्दांश एव न तु त्वम्, तत्रापि सेव्यसेवकभावेन नान्योन्यं
सापेक्षता भेदाभावादतस्तस्यार्थत्वाभावायापुनर्भवपदम्, जन्माभावातिरिक्तविशेषाभा-
वात्, त्वं तु पूर्णानन्दो भक्तसापेक्षश्चेति 'मैदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनाग-
पी'ति वाक्यादतो भक्तातिरिक्तरागाभावेन त्वय्यखण्डितवैराग्यस्य विद्यमानत्वात्तमपि
न काङ्क्षे । मर्यादायां मोक्षस्तुरीयपुरुषार्थः स च पुष्टौ हेयत्वेनार्थमध्ये गणित इत्यनादरयो-
तनार्थं वेत्युक्तम्, यत्र मोक्षस्याप्यनादरस्तत्रान्येषां किं वाच्यामिति च । तर्हि कोर्येस्तवापेक्षित
इत्यत आह—समञ्जसेति, हे समञ्जस पूर्णत्वात्सकलार्थरूप, अतस्त्वा त्वां विरह्य
पृथक्कृत्योक्तार्थानहं न काङ्क्षे, किन्तु त्वामेव सर्वार्थरूपत्वादर्थत्वेन काङ्क्षे निरन्तरमिच्छा-
मीत्यर्थः । यद्वा उक्तार्थान्पृथक्कृत्य त्वामेव चार्थत्वेन काङ्क्षे ॥ २ ॥

एवमर्थं निरूप्य कामं निरूपयति—अजातपक्षाइवेति ।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युत्पितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदक्षते त्वाम् ॥ ३ ॥

पुष्टिमार्गे हरे रूपदिदक्षा मनसोस्य हि ।

कामो निरूप्यते तत्र दृष्टान्तात्रितयं यथा ॥ १ ॥

द्वितयं लौकिकं प्रोक्तमेकं शास्त्रीयमुत्तमम् ।

लौकिकस्त्रिगुणीभूय दृष्टान्तः स्यादलौकिके ॥ २ ॥

अन्यथैकतरेणापि सिद्धेयं त्रितयेन किम् ।

क्षुद्रूपो लौकिकः कामो रसरतीत्या तु शास्त्रतः ॥ ३ ॥

प्रभोस्तु रसरूपत्वात्स्वस्यैकत्वेन चोत्तमः ।

अयमेव हि दृष्टान्तस्तेनान्ते चैकतोदिता ॥ ४ ॥

हे अरविन्द ? मनुस्त्वां दिदक्षत इति सम्बन्धः । नेत्रयोरम्बुजत्वेन तादिदक्षया
मनसो मधुपत्वं बोधितम् तथा चारविन्दे विकसिते मधुपस्य कामः सिद्धयति नान्ययेति तथा दृष्टिं
मयि संपादयेति प्रार्थितम्, दिदक्षादेतुभूतं स्वरूपसौन्दर्यं च संबोधनेन ध्वनितम् । मनसः
स्वतन्त्रत्वायास्मच्छब्दप्रयोगाभावः । किञ्च, दिदक्षा दृशो धर्मः, स च मनसो निरूप्यते, तेन
सर्वेन्द्रियाणामपि मनःसंनिकर्षात्पूर्णः कामो निरूपितः, अन्यथा भजनानन्दानुभवो न स्यात्

(१) गीता अ. १४, १७ । (२) भा. ९-५-६८ । * अधुषितमित्यपि पाठः ।

तस्य सर्वेन्द्रियैकवेद्यत्वात् । प्रभोः पूर्णकामत्वेन क्रियाफलस्यात्मगामित्वायात्मनेपदम् ।
मनसश्चञ्चलत्वान्मधुपत्वंबोधनेन च कामान्तरं संभवतीति तदभावाय दृष्टान्तमाह—खगा
इवेति, यथा पक्षिणः कदा किमान्नीय दास्यतीति मातरं द्रष्टुमिच्छन्ति, खगानां नियतभक्ष्या-
भावादनियतस्य च क्षुधार्ततयःसिद्धत्वात्तदत्र नोक्तम्, तदपि न सर्वदा किन्तु कियत्काल-
पर्यन्तमेवेत्याह—अजातपक्षा इति, पक्षोदयानन्तरं न तथेति तावदेव दृष्टान्ततेत्यर्थः ।
तथाचात्र क्षुद्रुपाधिकृतत्वमनियतविषयत्वमनियतकालत्वं चेति दूषणत्रयं संभाव्य द्वितीयं
दृष्टान्तमाह—स्तन्यं यथेति । वत्सतरा अतिवालवत्सस्ते यथा कदा स्तन्यं प्राप्स्याम इति
तादिच्छन्ति तथेत्यर्थः । तेषां स्तन्यमात्रैककामत्वात्तदत्र तदेव प्रोक्तम्, मातुरभावे तद्दूषणा
परस्या अपि स्तन्यं पिबन्तीति तदनुक्तिः । अत्रापि नियतविषयत्वेपि वत्सतरपदादनियत-
कालत्वं क्षुद्रुपाधिकृतत्वं चेतिदूषणद्वयं संभाव्य तृतीयं दृष्टान्तमाह—प्रियं प्रियेवेति, प्रिय-
पदादुभयत्र निरुपाधिकस्नेहो निरूपितः, स्नेहस्य तथात्वं नदभिज्ञेनोक्तं 'आविर्भावदिने न
येन गणितो हेतुस्तनीयानपी'ति, तेनोपाधिदूषणमत्र परिहृतम्, व्युत्पिनमिति प्रवासि-
नमित्यर्थः, तेन गमनक्षणमारभ्यागमनावधि दिदक्षया एकरसत्वादनियतकालत्वं चापा-
स्तम् । विषण्णेतिपदादनियतविषयत्वं च, अन्यथा विषादासम्भवान्, एवं दोषत्रया-
भावादयमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयेन स्वस्यैकत्वादत्राप्येकत्रचनमुक्तमन्यथा पूर्ववदत्रापि
बहुवचनं वदेत्, बहुषु तथात्वस्यासंभवात्, अत एवान्ते च निरूपणं कृतम्, पूर्वोक्तद्वय-
मेकदेशाभिप्रायेणेति तत्कथनमपि नानुपपन्नम् । किञ्च, प्रिया हि विप्रयोगे केवलं विषादमात्रं
न करोति किन्तु, प्रिये विविधरसभावानन्तःप्रकटयति, प्रकारान्तरेण जीवनमेव न स्यात्,
जाते च जीवने प्रियत्वं तु बाधितं स्यात् । स्वस्य पुरुषत्वेन स्त्रीदृष्टान्तान्यथानुपपत्त्या च
तज्जातीयरसभाव उक्तः, अतो रसस्यातिगोप्यत्वाद्यं भावः प्रियापदेनाभिव्यज्यते,
विषादस्य तु बहिरप्यनुभूयमानत्वादन्यज्ञानविषयत्वाच्च तथाविशेषणम्, एवमनेकरसभाव-
विशिष्टं विषण्णं च मनत्वां दिदक्षते, न तु दर्शनमात्रमिच्छति, तत्तु पूर्वमर्थत्वेन काङ्क्षित-
त्वादत्रानुपपन्नं विशेषाभावात्, अन्यच्च, अस्मच्छब्दप्रयोगो हि देहाध्यासकृतो भवति
साम्प्रतं तु रसानुभवयोग्यदेहाभावाद्दृशरीरस्य च तत्प्रतिबन्धकत्वादध्याभाभावान्मन
एवोक्तं न तु ममेति । दृष्टान्ते च तदध्यासस्य दृढत्वात्प्रियेति निरूपितं न तु मनः, अन्यथा
प्रियेवाहं दिदक्षे इति दृष्टान्तसाधर्म्यं वक्तव्ये मनो दिदक्षत इति न वदेत्, अतो रसमार्गीयः
कामो रसदृष्ट्यैव पूरणीय इति तथा सम्बोधनेन प्रार्थितम् ॥ ३ ॥

१ तिष्ठेति गणुस्तके पाठः । * अज्ञानविषयत्वादपीति पाठः ।

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति-ममोत्तमेति,
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
तन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोयं हरिरेव हि ।

कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गे* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्ब्रह्मसंहिताप्रसङ्गचरणकमलरेणुभ्यो नमः ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीब्रह्मभाचार्यपदः स्वीयसर्वार्थसम्पदः ॥

प्रणमामि तदुक्तार्थबोधनाय मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीब्रह्मभाचार्यचरणाः पुष्टिमार्गे धर्मार्थकामानां पूर्वपद्येषु स्पष्टत्वमवगम्यमानत्वान्मोक्षमात्रस्य सन्दिग्धत्वादतिविलक्षणत्वाच्च तन्निरूपयन्ति-पुष्टिमार्ग इति, पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रहः स च फलदानेच्छा, सापि द्विधा, केवला विशिष्टा च, तत्र केवला निःप्रकारा, साधनं प्रकारस्तद्रहिता, विशिष्टा ससाधना सैव फलप्राप्त्युपायतया मार्ग इत्यर्थः । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थः ।

अथ श्रीपुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दशदिगन्तविजयि-श्रीपुरुषोत्तमपाद-प्रणीतः ।

श्रीकृष्णाय नमः

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणैस्तत्कृपाबलात् ।

तदीयां पुष्टिमार्गीयमोक्षोक्तिं विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणाः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां पुष्टेर्मार्गत्वस्य विवृतत्वेन तत्र पुमर्थानामवश्यवक्तव्यत्वात् पुष्टेः षष्ठस्कन्धार्थत्वेन तत्र सपरिकरायास्तस्या निरूपितत्वात् तत्रत्यैर्वाक्यैरेव तान्विवरिषवः पूर्ववाक्येषु धर्मार्थकामानां स्पष्टत्वान्तुरीयस्य चास्पष्टत्वात्तन्निरूपणं प्रतिजानते-पुष्टिमार्गे मोक्षो निरूप्यत इति,† “पोषणं तदनुग्रह” इति लक्षणवाक्यात्पुष्टिरनुग्रहः, स च धर्मान्तरमिति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम्, स एव फलसाधनत्वान्मार्गः । तत्र मोक्षो (भा० २, १०, ६.) “मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिर्”तिवाक्योक्तलक्षणकमन्यथारूपत्याग-पूर्वकं स्वरूपेणावस्थानम् । निरूप्यते इतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यत इत्यर्थः ।

१. इयं चतुर्थश्लोकविवृतिः श्रीमदाचार्यचरणानामेवेति तद्विकारयेणावगम्यते दृश्यते चैतत्प्रमापकः पेङ्गुश्लेषो ग पुस्तके । * पुष्टिमार्गीय इत्यपि पाठः । † भा. २, १०, ४.

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्व्वासक्तिस्तदन्येषु सङ्गश्च, तस्य सहेतुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह-ममोत्तमेति ।

टिप्पणी—[२] अतः परं पुष्टिमार्गे बन्धमोक्षाभ्यां वैलक्षण्यं निरूपयन्ति तत्र स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिमर्यादायां बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहघनादिषु आसक्तिः सर्वात्मना तन्निष्ठमनोवृत्तिः, तदन्येष्व्वासक्तिविषयान्येषूदासीनेषु सङ्गश्च तस्य बन्धस्य सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थः । पुष्टौ तद्विपरीत्यमाहुः-पुष्टिस्त्विति, पुष्टिः पुष्टिमार्गस्ताभ्यां बन्धमोक्षाभ्यां विपरीता, पुष्टिमार्गे बन्धो हि पुत्रादिष्वासक्तिविषयेषु भगवदीयत्वेनानासक्तिरुदासीनेषु भक्तेष्वसङ्गश्च, तदभावो मोक्षः । भगवदीयेषु पुत्रादिष्वासक्तिर्भगवद्रक्तसख्यं च मोक्ष इति विपरीत्यमित्यर्थः ।

प्रकाशः—[२] ननु “प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुरि”ति (भा० ३, २५, २०.) “स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदञ्जगदि”त्यादिवाक्यैर्बन्धस्य स्पष्टत्वेन तदभावरूपमोक्षस्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यत्वावधारणार्थं प्रयास इति शङ्कायामाहुः-तत्रेत्यादि, मोक्षस्येतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतियोगिनोऽवश्यवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेयतया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः संसारकारणभूत उक्तविधः, तस्य सहेतुकस्य “तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादि”त्यादिगीतावाक्यात्तद्वैतवो गुणास्तरसहितस्य बन्धस्याभावो श्वासिर्भोक्षः । पुष्टिः पुष्टिसरणीः, तद्विपरीता विरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र संसारास्पदेषु प्रसङ्गासक्तौ मोक्षस्तदभावश्च बन्ध इत्यर्थः । तत्र मोक्षस्तु अत्र स्फुटिव्यति, बन्धस्तु तृतीयस्कन्धनवमाध्याये ब्रह्मस्तुतौ “अन्धापृतार्त्तकरणा” इत्यस्य सुबोधिन्यां व्युत्पादितः । ये पूर्वजन्मनि ब्रह्मारमभावचिन्तनपरास्तेभ्यः स्वोक्तनिवृत्तिमार्गकरणाद्भगवान्प्रसन्नो भूत्वा सत्यादिलोकेष्विह वा किञ्चित्प्रसादं प्रयच्छति तदा नेदमस्माकमपेक्षितमिति ततो विमुखाः ब्रह्मात्मभावचिन्तनेनैव “प्राप्तदेहावसानाश्चे”तिश्लोकोक्तरीत्येहैव सञ्चरन्तीति स्वमुक्त्वाभिमानेन भगवदत्तप्रसादागृहणां ऋषीणामप्येवं भाव इति ।

श्रीकृष्णाय नमः

अथ श्रीमद्ब्रह्मनामियं टिप्पणी ।

ममोत्तमेतिश्लोकविवरणे तत्रेति मोक्षविषये इत्यर्थः, स्थिताविति मर्यादामार्ग इत्यर्थः । पुष्टिमोक्षमेदमोक्षकतया प्राकृतनिरूपणस्यावश्यकत्वात् । तद्विपरीतेति, स्वरूपतः साधनतः फलतश्चेत्यर्थः । स्वरूपं कृपया निःसाधनाङ्गीकारः, साधनं गृहस्थितिपूर्वकं भजनम्, फलं साक्षाद्भजनानन्दानुभवः । अत एव फलप्रकरणे प्रमाणनिष्ठात्यागेन तदनुभवः, नो चेत् द्विजदारवत्तन्निश्रया गृहगमनमेव स्यात् । तत्र व्यवस्थयेति, पुष्टिमार्गे व्यवस्थयेत्यर्थः ।

१ गीता १४, ६.

मोक्षो हि द्विविधः, पुष्टिमर्यादाया पुष्टिपुष्ट्या च। † (मर्यादायां ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ च ज्ञानेन भक्त्या वा मुक्तिः) भगवत्पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां व्यवस्था, प्रत्यक्षेपि भगवति

टिप्पणी—[३] अथ पुष्टेः शुद्धमिश्रभेदेन द्विविधया मोक्षैक्यस्य बाधितत्वाद्यवस्थया तद्ग्रहणमाहुः—तत्रेति, पुष्टिमार्गे व्यवस्थयैकेन पद्येनाद्धाभ्यां मार्गभेदेन मोक्षद्वयमाहेत्यर्थः। ममोत्तमेति मोक्षो हि द्विविध इति, कर्मभिः संसारचक्रे भ्रमणेन भगवदीयत्वप्रकारेण पुत्राद्या सक्त्या, चोत्तमश्लोकजनसख्यं मोक्ष इति द्विविध इत्यर्थः। उपायद्वैविध्यमाहुः—पुष्टिमर्यादयेति, पुष्टिमर्यादा ह्यनुग्रहे साधनसाहित्यम्। पुष्टिपुष्टिश्च तत्र तद्वाहित्यमिति भेदः।

[४] ननु प्रकारभेदेपि तत्सख्यस्यैकरूपतायां कथं व्यवस्थया द्वैविध्यमित्याशङ्क्याहुः—भगवत्पारोक्ष्येति, पुष्टिमर्यादामोक्षरूपसख्ये भगवत्पारोक्ष्यं शास्त्रार्थतया गुणगानकर्तृशुकादिसख्ये तथात्वस्य स्पष्टत्वात्। अत एव * “मथुराया व्रजज्ञता” इत्यादिषु परोक्षेणैव कथनम्। पुष्टिपुष्टौ तु गुणगानविषयलीलाविशिष्टप्रभोरपारोक्ष्यम्, ‡ “नन्दसूनुस्य”मित्यादिषु तथाक्ते-स्त्वन्माययेत्याभिमुख्योक्तेश्च स्पष्ट एव व्यवस्थया भेद इत्यर्थः।

प्रकाशः—[३] ननु मार्गैक्ये साधनस्य समानतया वैजात्याभावात्कले कथं भेद इत्यत आहुः—तत्रेत्यादि, तथा च मार्गे भवान्तरभेदान्मोक्षभेद इत्यर्थः।

[४] ननु किंनिबन्धनो भेदः, कथं च मोक्षभेद इत्यत आहुः—मोक्षे हीत्यादि। वेदोक्ताः कर्मज्ञानभक्तयो मर्यादेति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थितम्, तेष्वत्र प्रकरणवशाद्विहितज्ञानभक्ती ग्राह्य, योगोपासनादिग्रहणे त्रयो वा, तथा च तथा ताभ्यां तैर्वा मिश्रितोऽनुग्रहः पुष्टिमर्यादा, तथैकः। अनुग्रहान्तरेण मिश्रितोऽनुग्रहः पुष्टिपुष्टिस्तयेतर इति भेदनिबन्धकमुक्तम्। स्वरूप-भेदकमाहुः—भगवदित्यादि, तथा चाद्यया भगवतः परोक्षानुभवः, इतरया च प्रत्यक्षानुभवः, इति ताभ्यां कृत्वा भक्तरूपावस्थितिरूपमोक्षस्यापि स्वरूपभेद इत्यर्थः।

[५] एवं श्लोकार्थं सङ्गृह्य पूर्वस्य गुणभावं स्पष्टयितुं पूर्वोद्धृत्यपदानि विवृण्वन्तः पूर्वश्लो-केषु हरेसमञ्जसारविन्दाक्षपदैः संबोधनेन भगवत्प्रत्यक्षतायाः स्पष्टत्वाद्वापि संबुद्धिः संभाव्यते, तथा सति हे उत्तमश्लोकः? उक्तविधस्य मम जनेषु सख्यं न भूयादिति जननादिधर्मवत्सख्या-भावप्रार्थनं श्लोकार्थो भवति, स वाऽपुनर्भवपर्यन्तमनाकाङ्क्षतो मनसा भगवन्तं दिदृक्षतश्च प्रतिबन्धकनिरासस्य प्रागेव जातत्वात्तादृशां सख्याभावे स्यादेव निरस्त इति न युज्यतेऽतः समासमाहृत्यान्य एवार्थो वक्तुमुचित इत्याशयेनाहुः—प्रत्यक्षेपीत्यादि, अप्रत्यक्षवादिनापि सम्बो-

श्रीवल्लभटि०—ननु एकस्मिन्नेव मार्गे कथं व्यवस्थाभेदः? तत्राहुः—भगवत्पारोक्ष्येति, पुष्टिमर्या-दास्थाः परस्परं गुणसमाजनेनान्तःप्रकट्यैव भगवता पूर्णतां मन्वानाः लोकोपकारिणः शुकादय इवात्मारामा रमन्ते। शुद्धपुष्टिमार्गायास्तु साक्षाद्बहिःसंबन्धमन्तरा नैतावतैव पूर्णतां मन्वत इति एतत्कृतो व्यवस्थाभेदः। अत एव फलप्रकरणे भगवद्भावसम्पत्त्या गुणगानेन च न तापशान्तिः, पश्चादाविर्भूते एव तस्मिन्स्तच्छान्तिः।

ननु पुष्टिमर्यादास्थाः कदाचित्प्रत्यक्षे भगवति प्रमाणनिष्ठां परित्यज्य तमेव यद्गीयुस्तदा कथं

† इयं पङ्क्तिर्नहि कैश्चिदपि टीकाकारैर्व्याख्याता तथा “घ” “च” पुस्तकयोरपि नोपलभ्यते।

* भा० १०, ६, ३१ ‡ भा. १०, ३५ ४.

शास्त्रार्थत्वाय उत्तमश्लोकजनेष्विति समासः। भक्तसंवलित एव भगवांस्तद्वारा फलं द-

टिप्पणी—[५] नन्वस्ति भगवान् शास्त्रार्थः “वेदैश्च सर्वै”रितिस्मृतेः “तं त्वौ-पनिषदं पुरुषमिति”श्रुतेः “सर्ववेदान्तप्रत्ययमि”ति न्यायाच्चातस्तत्प्राप्त्यर्थं तज्ज्ञानार्थं च तथाप्रतिपादकभक्तसख्यापेक्षा इति तदुपायापेक्षा। तत्र परोक्षे भगवति गुणगाने भक्तवाक्यत्र-तिपाद्यतया तदपेक्षा। प्रत्यक्षे वचसां गौणतया न शास्त्रार्थता, साक्षादनुभूयमानत्वादिति तदुत्तरं तदुपायरूपभक्ता नापेक्षन्त इति तदा किमिति तत्सख्यप्रार्थनमित्याशङ्क्याहुः—प्रत्यक्षेपीति।

उत्तमश्लोकजनेष्वितिसमासेनैकार्थताबोधकेन प्रमोर्षकानां च परस्परं सापेक्षता सूचिता। तथा च भक्तानां प्रभुसंवलितत्वमेव तत्सापेक्षत्वं, प्रमोक्ष तद्वारैव फलदातृत्वमिति सापेक्षत्वात्प्र-त्यक्षेपि प्रमो भक्तापेक्षास्तत्रात्र भक्तप्रतिपाद्यतारूपशास्त्रार्थत्वव्याहतिरित्यर्थः। एतेन प्रभुस्वरू-पमनुभूयमानमपि भक्तनिरूपितमेव विदितं भवतीति भावः।

प्रकाशः—

धनानुरोधेन बौद्धसन्निधानस्य “*अहं समाधाय मनो यथाह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्द” इतिवाक्यात्पूर्वसर्वस्मरणस्य चावश्यंवाच्यत्वात्तत्सैकान्तभक्तत्वमवश्यं वाच्यम्, तथा तादृशस्या-सुत्यागावसरे मीष्ममुक्ताविव भगवदनुकम्पा, तथा दर्शनदानं चावश्यं मन्तव्यम्, तथा सति कानुपपत्तिः प्रत्यक्षे? तस्मादुक्तं प्रत्यक्ष इति। एवं यद्यपि भगवान्प्रत्यक्ष इति मम त्वदीयेषु जने-ष्विति वक्तव्यम्, तथापि यदेवमुक्तं तेन उत्तमैर्यथार्थशास्त्रार्थविभिः श्लोक्यते कीर्त्यते इत्युत्त-मश्लोकः। उत्तमा परापरविद्यामोचरा वा श्लोका कीर्तिर्यस्य स तथा। तस्य ये जनाः, “न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते, विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः”इति पाष्ठा-त्तादृशजन्मयुक्तास्तेष्विति यः समासः स शास्त्रार्थत्वाय, भगवतः शास्त्रार्थरूपत्वं ज्ञापयितुमित्यर्थः। अत्र “क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन” इत्यनेन तुमुनः प्रयोगे चतुर्थी। फलेभ्यो यातीतिवत्।

ननु शास्त्रार्थत्वमुत्तमश्लोकपदीयसमासेनैव प्राप्यते, न तु पञ्चमसमासेन। तथा च तादृ-शत्वेन सम्बोध्य प्रतिबन्धकभावप्रार्थनं सत्सङ्गादौ पर्यवसास्यतीति कथं सम्पूर्णस्य तयार्थ इत्यत आहुः—भक्तेत्यादि। तथा च वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातमि”त्यत्रैव तादृशसत्सङ्गे

श्रीवल्लभटि०—सन्देहस्तत्राहुः—प्रत्यक्षेपीत्यादि। कदाचित्तथात्वेपि तेषां शास्त्रार्थत्वमेव। गुणसमाजनरूपेण शास्त्रेणैवार्थः पुरुषार्थो येषां ते तथा। तन्नावस्तत्त्वं तदर्थमित्यर्थः। समाख्यातव्यमाहुः—उत्तमेति। उत्तमैः शुकादिभिः शास्त्रद्वारा श्लोक्यत एव न तु पुष्टित्यैरिव बहिरनुभूयते। तत्सम्बन्धिनो जनाः। यद्योत्तमानां भगवत्तत्र श्लोकितुश्लोक्यभाव एव सम्बन्धो न त्वन्योपि बाह्यस्तथा तेषु समासेन पदैकत्ववत्तदर्थैकत्वमपि ज्ञापितमिति तद्वदेव त इत्यर्थः। तादृग्जनेषु सख्यप्रार्थनया तत्समानशील्यसनत्व-विद्धौ मुक्ता सिद्धेति सख्यस्य मोक्षरूपत्वं सिद्धमिति स एव प्रार्थ्यते।

ननु भगवत्सख्यमेव कुतो न प्रार्थ्यते तत्राहुः—भक्तसंवलित इति। तादृग्जनसख्यद्वारा वैकु-ण्ठादौ लक्ष्यादिमकसंवलित एव फलरूपः स भवतीत्येकम्।

१ गीता १५, १५। २ प्रत्यक्षोत्तरम्। ३ प्रत्यक्षोपायरूपाः * भा० ६, ११, २१।

दातीति पौरुषसभाजनञ्च (“ येन्योन्यतो भागवता ” इति तृतीयस्कन्धे दर्शनकारणं पौरुषसभाजनमुक्तं) फलम् । भक्तेषु दास्यपर्यन्तस्य साधनत्वात्सख्यं मार्ययते ।

टिप्पणी—[६] ननु प्रकटे प्रभौ फलरूपे तत्सख्यं कोपयुज्यते तस्य तु गुणगानसाधनत्वादतः कथं शास्त्रार्थत्वप्रत्यय इत्यत आहुः—पौरुषसभाजनञ्च फलमिति । उभयत्रापि पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोः पौरुषसभाजनं लीलाभिनन्दनं विषेजलाप्ययेत्यादिरूपं तदेव फलं, स्वरूपस्य तु गुणगानावसरमात्रप्राकट्यस्य तद्रूपस्य तदनुभवाधीनानुभवस्य तच्छेषत्वमिति तस्यैव फलतया प्राकट्येपि तद्भक्तसख्योपयोगेन शास्त्रार्थत्वसिद्धिरिति भावः ।

[७] ननु भक्तानामीदृशत्वे तेषु दास्यमप्रार्थयित्वा साम्यसम्पादकं सख्यं कथं प्रार्थितवानित्याशङ्क्याहुः—भक्तेष्विति । भक्तेषु “ मैत्रक्तपूजाभ्यधिके ”त्यादिना श्रवणमारभ्य दास्यपर्यन्तस्य सर्वस्य सख्यरूपफलसाधनत्वात्फलप्रकरणत्वात् फलरूपं सख्यमेव प्रार्थयत इत्यर्थः ।

प्रकाशः—

तेष्वाविष्टो भगवांस्तद्द्वारा फलतीति पदत्रयसमासमहिम्ना लभ्यते, तदभावे तु केवलेन सम्बोधनेनोदासीनतया सत्सङ्गाक्षेपात्प्रार्थनमसङ्गतं स्यादतः पदत्रयसमास एवादरणीय इत्यर्थः ।

[६] ननु तादृशसत्सङ्गेपि शास्त्रार्थरूपस्य परोक्षेण प्रकाशात्तत्र चानुभवामीति प्रत्ययाभावात्कथं फलतीत्युच्यत इत्यत आहुः—पौरुषेत्यादि । “ नैकौत्पतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजनन्ते मम पौरुषाणी—” त्यत्र श्रीकपिलदेवैर्वैद्वगवदीयानां परस्परसक्तिपूर्वकं भगवत्पौरुषसमानरूपं जीवतां साधनमुक्तं, तदपि “ प्रायेण मुनयो राजभिष्टता विधिषेधतः, नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुक्रधने हरेः ” “ वैरिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलाया, गृहीतचेता राजर्षे आरुह्यानं यदधीतवान् ” “ तैदहं तेभिधास्यामि ” “ निवृत्ततैरूपगीयमानाद्भवौषधास्त्रोत्रमनोभिरि—” त्यादिषु गुणातीतानां स्वरूपावस्थितानां रतिविषयत्वेन च कथनात्फलम् । तथा च तद्दानेन फलतीत्यर्थः । यद्वा चः समुच्चये । तथा च यथा काव्यश्रवणे वर्णनीयस्य परोक्षज्ञानेऽपि विगलितवेद्यान्तर आनन्दो लौकिकानां, तथात्र स्वानन्दवद्गुणांश्च सभाजन्यत्वं स तथेत्यर्थः ।

[७] नन्वेतादृशं फलं श्रवणेपि भवति यथा परीक्षितः, तस्यापि “ नानुत्प्ये जुषन्पुष्पद्रवो हरिकथाभृतम् ” “ येन येनावतारेणे ”त्यादीनां गुणसभाजनवाक्यानां दर्शनात् । तत्र च वक्तुरपेक्षया हीनभावस्य स्फुटत्वात् सङ्गममात्रमेव तदर्थं प्रार्थ्यं, सख्ये को विशेष इत्यत आहुः—भक्तेष्वित्यादि । इमानि वाक्यानि सभाजनप्रयोजकानि न तु सभाजनरूपाणि । स्वरूपादि-श्रीवल्लभटि०—इह तादृशैः सह गुणसभाजने देहधर्मनिर्यापणपूर्वकं ब्रह्मानन्दादप्यधिकविलक्षणरसानुभवो भवतीत्यपरं फलम्, तदप्युक्तं पौरुषसभाजनञ्च फलमिति । तेन तत्सख्ये फलद्वयमिति तत्प्रार्थनेत्यर्थः । भगवत्सख्ये तु स एवैकं फलमिति कदाचिदनुभवत् (गीता. अ. ११-७-४१) “ यथावहासार्थमसकृतोसी ”ति वाक्येनापराधसंभवोपीति न तत्प्रार्थनेति भावः ।

१ भा. १०, ३१, ३. २ भा. ११, १९, २१. ३ भा. ३, २०, ३४. ४ भा. २, १, ७. ५ भा. २, १, ९ । ६ भा. २, १, १० । ७ भा. १०, १, ४. ८ भा. ११, ३. २. १९ भा. १०, ७, १.

सर्वथा स्वतन्त्रत्वाय स्वनिष्ठभक्तविषयकीर्तनम् । गुणसभाजने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं,

टिप्पणी—[८] ननु तन्निरूपितसख्यमप्रार्थ्यं मम उत्तमश्लोकजनेष्विति षष्ठीसप्तमीभ्यां निष्ठताविषयताबोधिकाभ्यां कथं स्वनिष्ठतद्विषयकसख्यप्रार्थनमित्यत आहुः—सर्वथा स्वतन्त्रत्वायेति । सख्यस्य भक्तिमार्गीयमोक्षतया स्वातन्त्र्यमुचितं, तत् स्वनिरूपितत्वे तन्निरूपितत्वे नौ तस्य व्याहन्येत । अतः स्वनिष्ठभक्तविषयसख्यकीर्तनमित्यर्थः । ऐतैनैतन्मार्गीयमोक्षस्यासाधनसाध्यत्वमुक्तं भवति ।

[९] ननु पौरुषसभाजनं हि फलं तदस्वातन्त्र्ये न भवति, तथा सति श्रवणमेव भवेत्सभाजनमिति फलप्रतिबन्धकतया न सख्यं मोक्षः । सभाजनविशिष्टस्यैव तस्य तथात्वादित्यत आहुः—गुणसभाजन इति । गुणानां सभाजने अभिनन्दने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं स्वस्यापि प्रकाशः—

ज्ञानपूर्वकतदनुवादस्य सभाजनत्वात् । “ कलिं सभाजन्यन्तार्या गुणाज्ञाः सारभागिनः ” इत्यादौ तथा दर्शनात् । परीक्षित्वाक्यानां गुणादिज्ञानार्थत्वात् । अतस्तादृशभावस्य वक्तृप्रोत्सक्तत्वेन साधनत्वम् । तत्र दास्यपर्यन्तानां तुल्यं, सख्यस्य तु तदीयस्वरूपमानसजनकत्वमिति विशेषात्तद्व्यर्थनमित्यर्थः ।

[८] नन्वभयं विशोकत्वमपारतन्त्र्यं च मोक्षलक्षणं “ अभयं वै जनक प्राप्तोसि ” “ स्मर्तव्यश्चेच्छताभयं, ” “ तरति शोकमात्मवित् ” “ तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतमि ” त्यादिवाक्यात् । प्रकृते तु “ निवृत्ता विधिषेधत ” इत्यनेन “ एष ह वा व तपतीति ” श्रुत्यर्थस्फुरणात्तेषां भयाभावशोकाभावयोः सत्त्वेपि सख्यस्य ससम्बन्धकत्वेन पारतन्त्र्यान्न मोक्षत्वमित्यत आहुः—सर्वथेत्यादि । तथा च दयाप्रश्रयादिवत् ससंबन्धकत्वेपि स्वधर्मत्वेन तेषु विद्यमानः सख्यरूपो धर्मो मत्सम्बन्धोप्यस्त्रित्याशयेनात्र स्वनिष्ठस्य भक्तविषयस्य सख्यस्य कीर्तनं धृत्तद्रवत्ववन्नैमित्तिकत्वेपि तस्य विद्यमानतया सर्वथा स्वातन्त्र्यं ज्ञापयितुं, तेन न मोक्षत्वहानिरित्यर्थः ।

[९] ननु सख्यस्य स्वतन्त्रत्वेपि स्वस्य सख्येन श्रोतृत्वे वक्तृपारतन्त्र्यान्मुक्तत्वहानिस्तेषां जनत्वेनोपान्त्यादिभावविकारदशापत्तौ प्रतियोग्यभावेन सख्यस्याप्यभावे देशकालपरिच्छेदात् सख्यस्य मुक्तिवहानिरित्यत आहुः—गुणेत्यादि । तथा च बहूनां युगपद्वक्तृत्वात्सम्बन्धः

श्रीवल्लभटि०—ननु स्वाधीनत्वात्तादृशमेव कार्यं तेन गुणसभाजनमपि सेत्स्यतीति किं सख्यप्रार्थनयेत्यत आहुः—सर्वथेति । तदास्यै लोकतः स्वातन्त्र्येपि दास्यव्यासङ्गेन तत्सभाजने सर्वथा तत्र स्यादिति तदर्थं स्वस्मिन् विद्यमानस्य लोकविषयसख्यधर्मस्य भक्तविषयकं कथनमित्यर्थः ।

ननु गुणसभाजको महान् “ मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महासुन ” इति वाक्यादेक एव भवति । तत्सभाजनञ्च तदधीनमवतः स्वातन्त्र्यमसंभावितं तदपि तत्सख्ये सति भवति तादृशेन तदप्यसंभावितमिति किं तत्प्रार्थनयेत्यत आहुः—गुणसभाजने स्वस्यापीत्यादिना । जनेषु इति बहुवचनतात्पर्यं, न हि तादृश एक एव किन्तु

१ वा इति पश्चान्तरे सख्यस्य भक्तनिरूपितत्वे सति स्वातन्त्र्यं व्याहन्येत. २ सङ्गत्व, ३ भगवत्प्रार्थनेन ।

मुक्तेरपरिच्छेदार्थं बहुवचनम् । जनत्वादेव स्वातन्त्र्येण न दोषसंबन्धः । संसारस्य चक्रत्वादेव परिभ्रमणविषयोपार्जनकेशाभावः ।

टिप्पणी—

तत्कर्तृतया मुख्यत्वार्थं, मुक्तेः सख्यरूपाया अपरिच्छेदार्थं निरवधित्वाय, उक्तमश्लोकजने-
ष्विति बहुवचनमित्यर्थः । बहूनां सत्त्वे सत्रयाग इव न कस्यापि स्वातन्त्र्यमस्वातन्त्र्यं
च । तथा च तन्मण्डलमध्यपाते स्वस्यापि स्वातन्त्र्यमिति भावः ।

[१०] ननु तेषु दैन्यमेवोचितं न स्वातन्त्र्यं, तथा सति स्वतन्त्रेषु स्वातन्त्र्यस्येश्वर इव
दोषजनकत्वादित्याशङ्क्याहुः—जनत्वादेवेति । तेषु जनास्तादिच्छया जननादिधर्मयुक्ताः
प्रबन्धीना अस्वतन्त्रा इति तेषु गुणसमाजनार्थं स्वातन्त्र्ये न दोषसंबन्ध इत्यर्थः ।

[११] ननु भगवद्भक्त्यु सख्यं मोक्षस्ते च दुर्लभा इति क्व तत्संबन्धसंभावना इत्यत
आहुः—संसारस्येति । संसारस्य अहंताममतात्मकस्य चक्ररूपतया तत्र स्थितौ नैकत्र तिष्ठति
परं भ्रमति, यतोहंताममते प्रतिक्षणं नूतने भवतोऽतः परिभ्रमणं विषयो यस्य तद्रक्तसख्यस्य
तस्योपार्जनविषयकः केशाभाव इत्यर्थः । चक्रस्थितस्यानायासेन तत्प्राप्तेः ।

प्रकाशः—

बाहुदुत्वेन तेषां श्रोतृत्वस्फोरणात्स्वस्य वक्तृत्वे स्वातन्त्र्यसिद्धया प्रतियोगिबाहुल्येनैकप्रतियो-
गितरोत्रानेपि वैशेषिकप्रतिपक्षसमायवत्सख्यस्याप्यपरिच्छेदसिद्धया च न स्वस्य मुक्तत्वहा-
निर्न वा सख्यस्य मुक्तत्वहानिरित्यर्थः ।

[१०] ननु स्वस्य वक्तृत्वेन स्वातन्त्र्ये भक्तावज्ञादोषः सम्बन्धेतेत्यत आहुः—जनत्वा-
दित्यादि । तेषां शास्त्रार्थज्ञातृभक्तत्वेपि जननादिधर्मयोगेनास्वतन्त्रत्वबोधनात्तत्र स्वातन्त्र्येण
दोषो न सम्बन्धते । यथा ज्ञानिषु सनन्दनस्य, तथेत्यर्थः ।

[११] ननु मोक्षे दुःखासम्भेदस्य सुखावच्छेदकत्वात्प्रकृतमोक्षसुखस्य श्रोतृसापे-
क्षत्वात्तादृशश्रोतृप्राप्तेर्विचयनसापेक्षत्वात्पौरुषस्य ज्ञानविषयत्वे सभाजनसिद्धेर्ज्ञानस्य च श्रवणेन
जायमानस्य वक्त्रधीनत्वाद्भक्तृप्राप्तेरपि विचयनसापेक्षत्वाच्च प्रयासापत्त्या दुःखसम्भेदेन तादृशस्य
कथं मोक्षत्वमित्यत आहुः—संसारस्येत्यादि । चक्रे भ्राम्यन् हि तं तं देशं शीघ्रमुपयाति सदृशवि-
सदृशौ संयुनक्ति वियुनक्ति चेति न तत्र तत्सम्पादनप्रयासः । तथा च परिभ्रमणश्च विषयोपार्जनं
च ताभ्यां यः केशस्तदभावोत्र संसारस्य चक्रत्वकथनेन सूचित इति दुःखसम्भेदाभावाच्च
तत्सख्यस्य मोक्षत्वहानिरित्यर्थः ।

श्रीवल्लभटि०—

बहव इति न ततः स्वातन्त्र्यमसंभावितमिति स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थमित्यनेनैकं तात्पर्यम् । तत्सख्या-
धीनं तदिति तत्सख्यमपि नासंभावितमिति मुक्तेरपरिच्छेदार्थमित्यनेनापरम् । तदर्थं बहुवचनम् ।
अन्यथा तेषु बहुत्वं न खदेदित्यर्थः । तेन यथा ते तत्समाजनेऽन्यापेशारहिततास्तथा तत्सख्येन तद्रतभूयो-
धर्मवत्त्वेनाहमपि स्यामित्याशयः । मुक्तेरिति सख्यरूपमुक्तेरित्यर्थः ।

जनत्वादिति । तेषामपि जननधर्मवत्त्वेन तत्साम्ये स्वातन्त्र्येण न तत्संबन्धः । स्वस्मादधिकधर्म-
वत्त्व एव तत्संबन्धादित्यर्थः । संसारित्यत्र । परिभ्रमणेन सख्यविषयतादृजनोपार्जनकेशाभाव इत्यर्थः ।

केशसाधनपदेन कृपया साधनसंपत्तिश्च सूचिता । योग्यायोग्यदेहानां
बहुधाजातत्वादिदानीं तदभावार्थं प्रार्थना । केशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वे-
नायुक्तत्वात्कर्मपदम् । आवश्यकत्वाय स्वपदम् । निरवधित्वाय बहुवचनम् ।

टिप्पणी—[१२] ननु तथापि भगवद्भक्तसख्ये किं साधनं, न हि ते संसारपरिभ्रमणमा-
त्रेण मिलन्ति तत्सङ्गस्य भवापवर्गसाधनत्वात् “भवापवर्गो भ्रमत्” इति वाक्यादित्याशङ्क्याहुः—
केशसाधनेति । केशसाधनपदेन परिभ्रमणपदेन कृपया सतां तत्सख्यसाधनसंपत्तिः सिद्धिः
सूचितेत्यर्थः । ते हि कर्मभिर्भ्रमणमवलोक्य सहजकरुणाः कृपालवो भवन्ति । सैव च साधन-
मिति तथेत्यर्थः । एतेन भक्तिमार्गीयस्य सांशस्यापि निःसाधनत्वं द्योतितं, न हि तदीयोःशः
कोपि साधनैः सिद्धयति ।

नन्वेवं सति कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याहुः—योग्यायोग्येति । संसारचक्रभ्रमणेन योग्यायोग्य-
देहा बहवो जाता इतीदानीं केशेन स्वधर्ममविचार्यापि तदभावार्थं प्रार्थना, न फलार्थमित्यर्थः ।

[१३] ननु कथं भक्तिमार्गीयस्य वृत्रस्य सख्योपयोगिचक्रभ्रमणहेतुत्वेन कर्म युज्यते
इत्यत आहुः—केश इति । स हि भक्तिमार्गीय एवेति भ्रमणरूपे केशे हेतुत्वेन स्वामिनो नाम-
ग्रहणमयुक्तमिति हेतुत्वेन कर्मोक्तवानित्यर्थः । ननु तानि कर्माणि त्यक्तव्यानि भ्रमणसाधनत्वा-
दित्यत आहुः—आवश्यकत्वायेति । स्वकृतत्वेनावश्यंभोक्तव्यतया कर्माणि न त्यक्तुं शक्यन्त
इति भावः । ननु किं बलं कर्मणां स्वसाध्यत्वादित्यत आहुः—निरवधित्वायेति । बहुवचनेन
कर्मणां निरवधित्वमुक्तं, नैहि कश्चिदिति वाक्यात् ।

प्रकाशः—[१२] ननु तथापि संसारपदेन केशसाधनतापि स्फुटतीति कथं दुःखासम्भेद
इत्यतस्तत्तात्पर्यमाहुः—केशसाधनेत्यादि । तथा च तेन पदेन भगवन्तं प्रति तथा सा सूचितेति
तदर्थं तत्पदप्रयोगो न केशबोधनार्थेति न दुःखसम्भेद इत्यर्थः ।

नन्विदं सूचनं प्रार्थनाफलकं तथा सति कथं केशाभाव इत्यत आहुः—योग्येत्यादि । तथा
चेतः परं भगवद्भययाऽन्तिमदेहभावनादितः प्रागेव केशो, न त्वेतदुत्तरमपीति न दुःखसम्भेद इत्यर्थः ।

[१३] ननु कार्यमात्रं प्रति भगवदिच्छायाः कारणत्वेन केशेपि तस्या एव तथात्वादीदृश-
भक्तस्य तत्स्फुटैरेवोचितत्वात् कथं तदनुक्तिरित्यत आहुः—केश इत्यादि, बहुवचनमित्यन्तम् ।
आवश्यकत्वायेति । तत्फलभोग्यावश्यकत्वाय । तथा च तन्नोचितं, किन्तु कर्मपदमेवो-
चितम् । तथेदृशकेशे प्रार्थनाप्युचितेत्यर्थः ।

ननु “जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकापकर्मभिः, उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां
गतिं भ्रमन्ति” त्यत्र त्रयाणां भ्रमणकारणत्वसिद्धेः कथं कर्ममात्रस्यैव कारणत्वेन कथनमित्यत
श्रीवल्लभटि०—

केशेति । केशसाधनं संसारस्तत्पदेनेत्यर्थः । तत्र पतितस्य चेत्तादृजनसंबन्धरूपसाधननिष्पत्तिः, सा तथैवेत्यर्थः

१ भा. १०, ११, १४. २ सदजकृपालत्वेन । ३ भक्तिमार्गीयस्य भगवति अप्रार्थनात्कृपात् ।
४ गीता १, ९.

चक्रपरिभ्रमणे दण्डस्येव मुख्योपयोगे नृतीया । अस्या मुक्तेर्गौणत्वाय नात्र प्रार्थनापद-
प्रयोगः । तथा च तादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमयादीयां मोक्ष इत्युक्तम् ।

टिप्पणी—ननु संसारचक्रभ्रमणे साधनान्तराणामविद्याकामादीनां सत्त्वात्कर्म कर्मभावं
तत्साधनत्वेनोक्तमित्यत आहुः—चक्रपरिभ्रमण इति । सर्वेषां निमित्तकारणत्वेपि कारणता
भोगविषयत्वेन मुख्योपयुक्तानां कर्मणामेव । घटे दण्डस्येवेति ज्ञापनाय तृतीयेत्यर्थः ।

[१४] नन्वर्थतः प्रार्थनासिद्धावपि तद्वाचिपदप्रयोगाभावतात्पर्यमाहुः—अस्या इति ।
अस्याः पुष्टिमर्यादासुक्तेर्द्वितीयापेक्षया गौणत्वज्ञापनायात्र प्रार्थनापदानुक्तिः । निर्गलितार्थमाहुः—
तथा चेति । एतादृशं पूर्वोक्तधर्मविशिष्टं चक्रभ्रमणादिकेशप्राप्यं भगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादायां
मोक्ष इत्युक्तम् ।

प्रकाशः—

आहुः—चक्रेत्यादि । कर्माभावे ताभ्यां तथाभ्रमणाभावस्यानुभवसाक्षिकत्वाद्भ्रमणे मुख्योपयोगः
कर्मणामेवावस्तेषामेव तथात्वं बोधितमित्यर्थः ।

[१४] ननु भवत्वेवं तथापि सख्यं प्रार्थयत इति यदुक्तं तदसङ्गतम् । प्रार्थनावाचक-
पदस्यात्रानुपलम्भादतो व्याख्यातं सर्वमेव सन्दिग्धमित्यत आहुः—अस्या इत्यादि । तथा च
तदप्रयोगमात्रेणोक्तार्थे न सन्देहमित्यर्थः । सिद्धमाहुः—तथा चे त्यादि । पुष्टिप्रवाहमर्यादायां
“तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशय ” इति जीवमेदं पूर्वोक्तहेतुभिर्निगमयित्वा
भगवद्गुणसेवार्थं तत्सृष्टिः, तेषां स्वरूपादिभिर्भगवन्नुल्लेखं, सेवासिद्धयर्थमीषत्तारतम्यं चोक्त्वा तेषां
शुद्धमिभ्रमेदेन द्वैविध्यं प्रतिज्ञाय मर्यादामिश्राणां गुणज्ञत्वं लक्षणमुक्तं, तच्च भगवद्गुणसेवार्थं सृष्ट्ये
सति स्वरूपादिभिर्भगवन्नुल्लेखे सति सेवार्थमीषत्तारतम्यवच्छेदे सति भगवद्गुणज्ञत्वं मर्यादामिश्र-
पुष्टजीवत्वमिति फलति । तथा “ वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि
सहजं ततोऽन्यत्र विपर्यय ” इत्यन्यथारूपज्ञापनपूर्वकं सामान्यलक्षणं त्रयाणां तत्रोक्तम् । तन्मूले
“ नैकात्मतां मे ” “ प्रायेण मुनयः ” “ परिनिष्ठितोपी ” त्येतेषु “ तत्रोभवद्भगवान् व्यासपुत्रः ”
“ तं शृष्टवर्ष ” “ द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः । अंशांशेनावतीर्योर्व्यां संप्राप परमं
पदं ” “ तं स्कन्द इत्याचक्षते ” सुहृत्तमदिदक्षितभङ्गे “ गोविन्दैश्चुजगुप्तायां द्वारावत्यां
कुरुद्रह । अवात्सीभारदोभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालस ” इत्यादिभिः शुक्लसनत्कुमारनारदेषु स्कु-
टम्, तथा “ कायेन तु फलं पुष्टावि ” ति पुष्टिफलस्य स्वरूपसाध्यत्वं तत्रोक्तम् । तदत्र “ वैयासकिः
स भगवानि ” त्यनेनोक्तम् । तेन लौकिकत्ववैदिकत्वरूपा इत्यर्थः । अत्रापि पूर्वोक्तपरीक्षिते, उत्तर-
कक्षा सनत्कुमारादिषु ज्ञेया । छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसंवादे सर्वात्मभावविवरकतया तस्मिंस्तथा-
त्वस्य शक्यवचनत्वाच्छ्रुतिगीतार्थनिर्णयस्य भजनार्थतायाः सुबोधिभ्यां निर्णयित्वाचेति । अयं
मोक्षः प्रायस्त्वीयाश्रमाणां हंसपरमहंसानामेवेति भाति । उदाहरणस्य तेष्वेवोपलम्भादिति दिक् ।

श्रीबलभट्टि—अस्या इति । शुद्धपुष्टिमुक्त्यपेक्षया गौणत्वादित्यर्थः ।

१ भा. १, १९, २६ । २ भा. १, १९, २६ । ३ भा. ११, २०, १ ।

द्वितीयमाह—स्वन्माययेति । समासादेव भिन्नतया न मायामोहनम् ।

टिप्पणी—[१५] पुष्टिपुष्टिमोक्षं वक्तुं सजातीयत्वबोधनायाभासमाहुः—द्वितीयमाहेति ।
द्वितीयं भक्तिमार्गीयं मोक्षमाहेत्यर्थः । तस्य मर्यादाप्राप्यकेवलपुष्टिप्राप्तिप्राप्त्यत्वात् तत्सजाती-
यत्वसिद्धिरित्यर्थः । त्वन्माययेति । संसारचक्रे भ्रमतो भगवदिच्छया कुटुम्बासक्तस्य न किन्तु,
त्वन्मायया तदासक्तस्य मे भूयादिति संबन्धः । पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाहुः—समासादेवेति । त्वन्मा-
ययेतिसमासेन तस्याः स्वरूपसंबन्धित्वमुच्यते । सा च स्वरूपसंबन्धैव तदर्थं मोहयति न तु पृथ-
ग्भावेन लीलार्थमेव तस्याः प्राकट्यादत् एव तदुपक्रमे तस्या आज्ञापनम् । वैष्णवी व्यतनो-
न्मायामित्यादिष्वपि सैवोक्ता । सा च भगवान् यत्र प्रकटीभूय लीलाः करोति तत्रैवोपयुज्यते,
तदभावे लीलाऽसंभवात् । एवं सति पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य प्रकटलीलाविशिष्टप्रमुखस्वरूपान्तररमणरूप-
त्वात् तदुपयोगित्वेन गृहादिष्वास्त्यपेक्षणात् त्वन्माययेत्युक्तम् । पूर्वत्र तु पारोक्ष्येण साक्षाल्ली-
लाऽसंभवान्नासक्तेरुपयोगः । माया तु तत्रापि भगवदीया परं न स्वरूपसंबन्धिनी, “ मयै माये—”
तिव्यत्यासेन कथनात् तरणोक्तेश्च । अत एवात्रोक्तं न भिन्नतया प्रमुपग्रभावेन मायामोहन-
मिति, किन्तु प्रसुरेव तथा मोहयतीत्यर्थः ।

[१५] प्रकाशः—अतः परं पुष्टिपुष्टिमोक्षं विवरितुमाहुः—द्वितीयमित्यादि । ननु
“ प्रसङ्गपरं पाक्षमात्मनः कवयो विदुः । स एव सायुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतं ” “ त एते
सौधवः साध्वि ” “ सत्सङ्गेन हि दैतेया ” इत्यादिवाक्यैः सत्सङ्गस्य मोक्षद्वारत्वात् पूर्वोक्तवा-
क्येषु गुणगानस्य फलत्वसाधनाच्च पुष्टिमर्यादामोक्षरूपत्वं तत्सख्यस्थोचितम् । तच्च पूर्वोक्तं भूयादि-
त्यदूरान्वयाङ्गीकारेण सिद्धम् ।

अतः परमुत्तरार्द्धे देहाद्यासक्तिबोधकं स्वविशेषणमवशिष्यते, निषेधो नाथपदञ्च । तथा
सति देहाद्यासक्तिनिषेधः प्रार्थनीयत्वेन फलिष्यतीत्यासक्तिरूपो मोक्षः कथमत्र कथं वा देहाद्यास-
क्तिमोक्षत्वमित्याकाङ्क्षायां भगवद्परोक्षज्ञानेन पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य पूर्व व्यवस्थापितत्वाद्वा तादृशत्वेन
तस्या मोक्षत्वं वक्तुं देहाद्यासक्तिजनकमोहने विशेषमाहुः—समासादित्यादि । मायाशक्तिर्हि
मोहने अधिकृता । तत्र यदि “ माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति ” श्रुत्या मायाविद्ययोरभेद
आदित्ये तदापि “ सर्वज्ञानिन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् । महामोहञ्च मोहञ्च तमश्चाज्ञान-
वृत्तय ” इति “ तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातम ” इति द्वादशविंशत्याध्यायवाक्ययोः
पूर्वक्रमभेदेनाविद्याभेदस्य तृतीयस्कन्धसुबोधिभ्यां विंशत्याध्याये भगवत्कर्तृकत्वकथनपूर्वकं व्युत्पा-

१ गच्छ देवि जज्ञं भवे इति । २ भा. १०, ८, ४३ । ३ गीता ७, १४. मम माया कुरत्येति
गीतावाक्ये मन्मायेति पदं मोक्षं तत्र मायाया मोहरूपत्वात् तस्यास्तरणशुचितम् न तु ली-
कारूपमायायास्तरणम् । ४ भा. ३, २९, २४. । ५ भा. ११, १२, ३. । ६ भा. ३,
१२, २. । ७ भा. ३, २०, १८. ।

पूर्वस्मादेतस्य विशेषस्त्वत्पदेनोक्तः । आभिमुख्यञ्च । त्वदिच्छया प्राप्तस्यात्मात्मजादिषु सख्यं पुष्टिपुष्टिमोक्षः ।

टिप्पणी—[१६] ननु को विशेषो मोहस्यैकजातीयविषयत्वादित्याशङ्क्याहुः—पूर्वस्मादिति । पूर्वस्मात् मोहादेतस्य पुष्टिपुष्टिमोक्षाय मोहस्य विशेष आदरणीयत्वं मोक्षाङ्गत्वा-दिरूपस्त्वत्पदेन प्रकारतया तत्संबन्धसूत्रकेनोक्त इत्यर्थः । यद्वा, नन्वेतस्मिन्नपि मोक्षे मायामो-हस्य तुल्यत्वात्को विशेष इत्यत आहुः—पूर्वस्मादिति । एतस्य पूर्वस्मात् मोक्षाद्विशेषस्त्वत्पदे-नोक्तः । एतत्संबन्धमायाया अपि सदा स्वरूपसाहित्यादिति भावः । किञ्चात्र मोक्षे विशेषः प्रकारान्तरेणाप्युपपादनीय इत्याहुः—आभिमुख्यं चेति । एतत्प्रार्थनावसरेपि यत्र वृत्रस्य प्रमु-प्राकट्यम्, अन्यथा त्वत्पदं न प्रयुज्यन्त्यात् । तत्र तदनुभवे तस्य का वार्तेति भावः ।

प्रकाशः—

दनात्पूर्वापेक्षयोत्तमत्वस्य च ततोपि देहाहङ्कारो भगवत्सेवौपयिकत्वादुत्कृष्ट इति पञ्चमपर्वव्याख्या-नेन सूचनाद्भगवद्भैमुख्येन महाभोगेच्छारूपस्य तत्प्रथमपर्वण इन्द्रे वर्तमानस्य मखभङ्गशुतरुहरण-लीलोपयोगिताया, भोगेच्छारूपस्य द्वितीयस्योत्पत्तेनादौ, अज्ञानस्य तृतीयस्य “सैद्यो नष्ट-स्मृतिरि”त्यादौ, मोहस्य चतुर्थस्य कालियदमनादौ, महामोहस्य पञ्चमस्य सेवौपयिकतायाः सर्वत्र स्फुटत्वाच्च तदुत्तमतायाः स्फुटत्वेन प्रकारभेदो मोहने । यदि च “विद्याविद्ये मम तन् विद्वद्युद्धव शरीरिणां । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मितं” इतिवाक्ये कार्यकारणभावोक्त्या भेद आद्रियते तदाप्यविद्याकृतं मोहनं संसाराय, मायाकृतं तु भगवल्लीलार्थं, तदपि “वैष्णवी व्यत-नोन्मायां प्रजास्त्रेहमयीं प्रभुरि”त्यादौ स्फुटम् । प्रकृते च तदभिप्रेतमतस्तव माया त्वन्मायेति साक्षात्सम्बन्धबोधकात् त्वदविनाभूता माया त्वन्मायेति वा तथाभूतात्समासादेव भिन्नतया भगवत्सम्बन्धराहित्येन केवलं संसारार्थतयेति यावत् । तथा न मायामोहनमित्यर्थः ।

[१६] ननु शक्तेः शक्तिमदविनाभावस्य साक्षात्सम्बन्धस्य च सर्वजनीनत्वात् सर्वतन्त्रसिद्ध-त्वाच्च सर्वदेव तथास्त्वेन प्रागपि वैष्णव इति पूर्वजन्मीनस्यापि देहपुत्राद्यासक्तिरूपमोहस्य तथात्वेन तस्य च बन्धकताया मूले पुत्रशोकशापादिकथया स्फुटत्वेन प्रकृते ततः को विशेषो ? येन मोक्षत्वमि-त्यत आहुः—पूर्वत्यादि । अविनाभावस्यानुक्तसिद्धत्वेन तद्वोधकपदोक्तिप्रयोजनाभावेपि या तदुक्तिः सेदानीं प्रार्थ्यमानस्य मोहस्य तच्चिकीर्षितलीलार्थत्वं बोधयतीत्येष पूर्वस्माज्जन्मनो विशेष इत्यर्थः ।

ननु भवतु लीलार्थत्वं तथापि मायामोहो भगवदज्ञानस्य “ये संवसन्तो न विदु-र्हरिं मीना इवोडुपमि”त्यादिषु सिद्धत्वात् परोक्षज्ञानमपि चेदूरे कुतस्तर्हि प्रत्यक्षसंभावेनेति पूर्वोक्तत्रयवस्था तु भव्येतैवेत्यत आहुः—आभिमुख्यं चेति, तद्धि भगवतो नाभिमुख्ये, प्रकृते

श्रीबलभट्टि०—पूर्वस्मादित्यत्र । पूर्वत्र माया भिन्ना, तस्याश्च परित्यागः । अत्र तु स्वरूपाभिन्ना सेति न तत्परित्यागः; प्रत्युत स्वरूपविषयकांसक्तिजनकत्वेन फलसाधकत्वाद्गुण एव, अतो विशेषस्तेनेत्यर्थः । आभिमुख्यञ्चेति । प्रत्यक्ष एव त्वत्पदव्यवहार इति तत्प्रार्थनायामेव भगवदाभिमुख्यमितीदमपि विशेषहेतुरित्यर्थः ।

१ स्वत्पदेन मायाया उत्कृष्टतासूत्रकेनेति स्पष्टोऽर्थः । २ भा. १०, ८, ४४.

त्वत्सेवौपयिकत्वेन चित्तस्य तेष्वसक्तिं नाथपदेन प्रार्थयते । तेषां नाथत्वे तथा भवतीत्यर्थः । चक्र एव परिभ्रमतः सख्यं न भगवदिच्छया हिरण्यकशिपुप्रभृतिष्विव कुड-म्बासक्तस्य, सर्वथानन्यत्वभङ्गप्रसङ्गात् ।

टिप्पणी—[१७] ननु त्वन्माययेति को विशेषो ? यथाकथञ्चिदपि पुत्रादेर्भगवदीयत्वेन तदासत्त्या तत्सख्यस्य मोक्षत्वादित्याशङ्क्याहुः—चक्र एवेति । चक्र एव परिभ्रमतस्तत्सख्यं भवतु, अनन्यत्वाक्षतेः पुष्टिमर्यादाभोरूपत्वाच्च, न तु भगवदिच्छया स्वावतारकारणीभूतया, हिरण्यकशिपुप्रभृतिषु यथा दैवगत्या प्रह्लादे पुत्रतया आसक्तिः सख्यञ्च पुत्रवात्सल्यरूपं, अ-न्यथा न शिक्षां दापयेत्, तथा कुटुम्बासक्तस्य मे न भूयात्किन्तु त्वन्माययेत्यर्थः । सोपि पुरा भक्त एव शापेनासुरो जात इति सामान्येन प्रार्थनां तज्जातीयां मन्येत प्रभुरितिभिया निषेधप्रार्थ-नमिति भावः ।

ननु तथापि भगवद्भक्तासक्तेस्तत्सख्यस्य विद्यमानत्वात् को दोष इति चेत्त्राहुः—सर्वथेति । भगवन्मायामन्तरा केवलं भगवदीयपुत्राद्यासक्तावप्यनन्यत्वभङ्गस्तेतदंशे तत्संबन्धात्सूतः । न हि अनन्याः कदाचिदपि तदसंबद्धं किञ्चिदपि स्मरन्ति । दृष्टं च हिरण्यकशिपौ प्रह्लादासत्त्या शिवभ-जनमतोऽन्यथा सर्वथैवानन्यताभङ्ग एव । तस्मात् त्वन्माययैव तथासक्तस्य सख्यं भूयादितिभावः ।

प्रकाशः—

प्रत्यक्षं भगवन्त्वं प्रति युष्मत्पदोक्त्याभिमुख्यं सूच्यते, तेन यथा “वैष्णवी व्यतनोदि”त्यादौ मोहनं तथाभिप्रेतं, तच्च प्रत्यक्ष इति न व्यवस्थाभङ्गलेशोपीत्यर्थः ।

[१७] उक्तं विशेषं निगमयितुं पूर्वं जातयोः सख्यासक्तयोः स्वरूपं परिच्छिन्दन्तः प्रथमं सख्यं परिच्छिन्दन्ति—चक्र एवेत्यादि । पूर्वं नारदाङ्गिरसोर्मर्यादापुष्टभक्तयोर्दत्तसख्यं तत्सर्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमत एव । अत एव “ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददावहमि”त्यन्तान्यङ्कि-रोवाक्यानि, अप्रेम्बिकाशापो वृत्रदेहाप्तिश्च न भगवदिच्छया परीक्षित इव न कर्मबन्धत्या-जिकया तयेति, पौर्वत्रिकसख्यस्वरूपं परिच्छिन्नम् । तेन एतादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादायां मोक्ष इत्यत्रापि कर्मबन्धत्याजिकया भगवदिच्छयेति विशेषणीयमिति बोधितम् । अतः परमासक्तिं परिच्छिन्दन्ति—हिरण्येत्यादि । अत्र सख्यपदरहितां पूर्वकक्षिकामनुषज्यासक्तिपदं चाप्याहृत्य योजनीयम् । तथा च तत्प्रभृतिष्विव स्वस्यापीतः पूर्वं वृत्रदेहे चित्रकेतुदेहे च शापप्रयोजकशिवो-पहासादिना तथात्वादासक्तिरपीतः प्राक्तना चक्रे परिभ्रमत एव । न तु कर्मत्याजकपूर्वोक्तमो-हसंपादकभगवदिच्छयेत्यर्थः । तेनैवं प्राक्तनोभयस्वरूपनिष्कर्षेण प्रार्थ्यमानयोर्विशेषो निगन्तव्य इति भावः ।

श्रीबलभट्टि०—चक्र एवेत्यत्र । यद्यपि हिरण्यकशिपुप्रभृतिषु भगवदिच्छया शापेन लोके जातेषु तत्कुटुम्बिनां सख्यमुत्तमश्लोकजनसख्यम्, तथापि तत्र मोक्षरूपम् । कुटुम्बित्वेनोपाधिप्रयुक्तत्वात् । भग-वदीयत्वप्रयुक्तमेव तत्तथा, सर्वथाऽनन्यत्वसाधकत्वात् । तथा च तत्रैव परिभ्रमतस्तद्भूयादित्यर्थः । तदिच्छां विना तज्जनानां जन्माभावात्कुटुम्बित्वेन सख्याभाव इति भगवदिच्छयेत्युक्तम् ।

१ पुत्रायासक्त्यर्थे सति । २ भगवत्संबन्धात्सूतः । भा. ६, १६, २० ।

कृतार्थत्वं तु नाथपदप्रयोगादेव सूचितम् । तदन्ते च प्रार्थना, * “ भगवदीय-
त्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था ” इतिसिद्धान्तात् ।

टिप्पणी—[१८] नन्वयं प्रकारस्तु लीलासृष्टिस्थेष्वेव, वृत्रस्य तु कथमेवंकथना-
धिकार इत्यत आहुः—कृतार्थत्वं त्विति । स हि तद्देवावहृद्यागत्यैव कृतार्थः पूर्णसर्वार्थः । न ह्येत-
दतिरिक्तमन्यस्य किञ्चित्फलं भवति । रसानुभवस्तु तेषामेव । अन्यः कामयमानोप्ययोग्यः पंतेद-
तस्तद्भावस्फुरणेन भगवदीयत्वसिद्ध्या कृतार्थ एव । अन्यथा नाथपदं न प्रयुञ्ज्यात् । न हि केचि-
दप्यभगवदीया भगवन्तं नाथत्वेन संबोधयन्ति, तदनधिकारात् । अनधिकारकृतस्य दोषावहत्वाच्च ।
प्रकृते तत्कथनाधिकारसिद्धौ सिद्धं तथोत्वमिति भावः ।

[१९] नन्वेवं सति फलान्तरानभिलाषिणः प्रार्थना न घटत इत्याशङ्क्याहुः—तदन्ते
चेति । नाथपदप्रयोगान्तेपि या सख्यप्रार्थना सा भक्तिसिद्धान्तबोधनाय । तत्र हि भगवदीयत्व-
मेव परमपुरुषार्थः । “ भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था ” इतिवाक्यात् । स च तत्सख्ये-
नैव भवतीति ज्ञापनाय तथाप्रार्थनमिति भावः ।

प्रकाशः—[१८] नन्वस्त्वेवं तथाप्यग्रे प्रार्थितं सेत्स्यतीत्यत्र किं गमकमत आहुः—
कृतार्थेत्यादि । पूर्वसन्दर्भे भक्तत्वस्य स्फुटत्वाद्वात्र च नाथपदप्रयोगेण दैन्यार्विभावबोधना—“ उ-
क्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनमि ” इति सर्वत्र दर्शनेन भगवतोपादिति तत्प्रयोगादेव
तत्सिद्धिः सूचितेत्यर्थः ।

[१९] नन्वत्रासक्तिरूपैव कृतार्थेत्यत्र किं गमकमत आहुः—तदन्त इत्यादि । इदं वाक्यं
पञ्चमस्कन्धीयषष्ठे ऋषभचरितसमाप्तावस्ति, तत्र च पूर्वगद्ये चरित्रश्रवणश्रावणयोः फलं भक्तिरिति
“ भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ” इत्यनेनोक्ता । तदग्रिमे
“ यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारतापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापय-
न्तस्तथैव परया निर्दृष्ट्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रि-
यन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था ” इति वर्तते । तत्र संसारावस्थावस्थितानां कवित्वेन
भगवद्गुणगातृणां भक्तिजन्यसुखेन भगवद्भक्तपरमोक्षानादरपूर्वकं भगवदीयत्वधर्मणः सर्वतः सम्य-
क्प्राप्तसर्वपुरुषार्थत्वमुक्तम् । तावता “ सालोक्यैयसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं
न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ” “ स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत ”

श्रीबलभट्टि०—ननु सर्वसाधनापेक्षारहितेन कृतार्थेन पुष्टिमोक्षः प्रार्थ्य इति तत्राहुः—कृतार्थत्वं-
त्विति । सर्वसाधनैस्त्वं चेन्नाथस्तदा न किञ्चित्कर्तव्यमिति त्वत्पदेन तत्सूचितमित्यर्थः । तदन्ते चेति कृतार्थ-
त्वान्ते । पुष्टिमोक्षप्रार्थनेत्यर्थः । पुष्टिमोक्षस्वरूपमाहुर्भगवदीयत्वेनैवेत्यनेन ।

* भा० ६-६-१७. १ अयोग्यमिच्छन्पुरुषः पतत्येव न संशयः । २ लीलासृष्टिस्थत्वम् । ३ भा. ३,
२९, २३+१४. ।

धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं माया क्रमाद्देहाद्यध्यासं करोति । तत्र
देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा । पुत्रापेक्षया अन्यार्थस्योत्कृष्टस्याभावादर्थसिद्धिः ।

टिप्पणी—[२०] नन्विदमद्भुतमिवाभाति यन्मोक्षे मायातत्कार्यसंबन्धसाहित्यमित्या-
शङ्क्य मोक्षेऽद्भुतत्वसाधनाय वैलक्षण्यं निरूपयितुमाहुः—धर्मार्थेति । अत्रायमाशयः मर्यादामार्गी-
यमोक्षे हि तन्मात्रानुभवो न धर्मार्थकामानां प्रत्युत विरुद्धत्वं च । प्रकृते तत्साहित्याविरुद्धत्वा-
दिवोधनायात्मात्मजदारगेहेष्वास्तकचित्तस्येत्युक्तम् । यतो माया क्रमात् देहेन्द्रियादिक्रमाद्दे-
हाद्यध्यासं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं करोति । तत्रैकेनैव देहाध्यासेन धर्मार्थकाममोक्षान्तात्सा-
धयति । एवमिन्द्रियाद्यध्यासेनेति क्रमो ज्ञेयः ।

[२१] तत्र देहाध्यासं विवृण्वन्ति तत्रेति । तत्रैतेष्वध्यासेषु देहाध्यासे धर्मसिद्धिः
प्रसिद्धा, तदध्यासवतामेव तत्राधिकारात् । अर्थसिद्धिरपि देहाध्यासेन यतः पुत्ररूपस्योत्कृष्ट-

प्रकाशः—

इति च स्मारितम् । तेन तादृशपरमभक्तियुजां संसारस्य मुक्त्याधिक्यं तत्र स्फुटति, तदत्रापि स्ववि-
शेषणनाथपदप्रयोगाभ्यां स्फुटतोति तदन्ते तादृशसिद्धान्तं हृदि कृत्वा प्रार्थनैव तादृशासक्तिरू-
पकृतार्थत्वगमिकेत्यर्थः । सिद्धान्तादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी ।

[२०] ननु भवत्वेवं तथापि त्रिवर्गस्य गृहाश्रमे संसिद्धेमोक्षस्येतेषु संसिद्धेः प्रकृते च
दारात्मजपदाभ्यां गृहाश्रमबोधनात् तस्मिन्नितरेतरविरुद्धचतुर्वर्गानुभवसिद्धिर्न बुद्धिमधिरोहती-
त्याकाङ्क्षायां तदनुभवप्रकारमाहुः—धर्मेत्यादि । मायेति पूर्वोक्ता । करोतीति पुष्टिपुष्टिमत्तानां
करोति ।

[२१] तत्रेति । तेष्वध्यासेषु । प्रसिद्धेति । ब्राह्मणत्वाद्यभिमानाभावे वासन्तिकाधाना-
दिकरणायोगात्तदुपदेशशास्त्रादरतत्करणाभ्यां प्रसिद्धा । पुत्रेत्यादि । पुत्रे प्राणाधिकप्रियत्वमा-
नात्तत्र ममत्तारूपस्तत्साकल्यवैकल्ये स्वसाकल्यवैकल्यमानाश्लेषे देहप्राणवियोगाच्च तदाद्यर्थेऽहन्ता-
रूपो वा प्राणाध्यासस्तस्मिन् सति तदुपार्जनप्रयत्नात् प्राणाध्यासेर्थसिद्धिः । प्रसिद्धेत्यध्याहारेण

श्रीबलभट्टि०—भगवदीयत्वेन सर्वार्थपरिसमाप्तौ प्रकारमाहुः—धर्मार्थकामेति । माया यथा
सर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं जीवस्य देहाद्यध्यासं करोति, तं विना तदसंभवात्, तथा लिलौपयिकी माया पुष्ट्य-
ङ्गीकृतस्य भगवदीयत्वेन तमुत्पादयति न तु लोकवदित्याशयः । तेन तत्राद्यध्यासेष्वपि तदीयत्वेनैव रागो
न त्वन्यथापीति सिद्धम् । तत्रेति चतुर्विधाध्यासेष्वित्यर्थः । प्रसिद्धा लोक इति शेषः । तथात्र तदध्यासेन
भगवद्वात्सल्यसिद्धिरित्यर्थः । लोके यथेन्द्रियाध्यासेनार्थसिद्धिस्तथात्र भगवत्सेवोपयिकत्वेन पुत्रादिना तत्सिद्धिः ।
मूले अर्थनिरूपण आत्मजपदं यदुक्तं तदाशयमाहुः—पुत्रापेक्षयैत्यनेन । पुत्राभावे अन्यार्थस्याप्यप्रयोजक-

स्त्रिया कामसिद्धिः प्रसिद्धा । * 'भक्तानां गृह एव विशिष्यते' इति न्यायान्मोक्षः ।

टिप्पणी—

स्यार्थस्य तदध्यासेनैव सिद्धेः । कामसिद्धिरपि स्त्रीसापेक्षा देहाध्यासमूलैव । गृहासक्तिरपि तन्मूलैव ।

[२२] चतुर्विधस्यापि मोक्षरूपत्वमाहुः—भक्तानामिति । भगवन्मायया लीलोपयोगि-
पदार्थत्वेन तत्रासक्त्या तन्निरोधेन ब्रह्मभावापेक्षया गृहमेव भक्तानां विशिष्टं, यतो ब्रह्मभावेऽखि-
लपुरुषार्थाननुभव इन्द्रियादिवैफल्यं च । अतोऽलौकिकदेहप्राप्त्या प्रभुप्राकट्येनाखिलपुरुषार्थरूप-
लीलायास्तद्वक्तसाहित्येनान्तररमणात्मकोटुभवो मोक्ष इति सिद्धम् ।

प्रकाशः—

योज्यम् । तेष्वेव ममतारूपोऽध्यासो वा । मूले पुत्रपदमर्थमात्रोपलक्षकमित्याशयेनैवमुक्तम् ।
स्त्रियेत्यादि । अत्र इन्द्रियाध्यासः स्त्रियामेव, ममतादि वा तेन कामसिद्धिस्तथेत्यर्थः ।

[२२] भक्तानामित्यादि । + “ ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखममा । सङ्घातस्य
विलीनत्वाद्भक्तानां तु विशेषतः ” “ सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि । ब्रह्म-
भावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ” इति निबन्धकारिकाभ्यां, † “ पश्यन्ति ते मे
रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि । रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं
स्पृहणीयां वदन्ति ” तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविल्यासहासेभित्तवाममूर्तैः । हृतात्मनो हृतमाणौश्च
भक्तिरनिच्छतो मे गतिपर्णी प्रयुङ्क्ते ” इति श्रीकपिलदेववाक्यद्वयार्थः सङ्गृहीतः, तदुक्तन्याया-
न्मोक्षानिच्छापूर्वकभगवदेकतानतारूपान्मोक्षस्तत्रिकीर्तितलीलोपयुक्तगृहासक्तिपूर्वकभगवदानन्दा-
नुभवरूपो मोक्षः । गोपिकादितुल्यानां प्रसिद्ध इति योजना । तथा च दृष्टन्वात्परस्परविरोधो
व्रजभक्तादीनामिवेत्ययं प्रकार इत्यर्थः ।

श्रीबलभट्टि०—

त्वात्, तेन तत्सिद्धिरित्यर्थः । उत्कृष्टत्वन्तु भगवदर्थसंपादितार्थरक्षकत्वेन मुख्यतया सेवोपयिक्तत्वेन
वंशजननद्वारा परम्परया सेवानिर्वाहकत्वेनैकविंशतिपुरुषोद्धारकत्वेन च । लोके पुत्रत्वार्थत्वेन प्रसिद्धय-
भावात् सा नोक्ता ।

स्त्रियेति । तथा यथा विषयार्थं कामसिद्धिः प्रसिद्धा तद्वदत्रापि सेवायामुभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावात्
भगवदीयपुत्रोत्पत्त्यैव तत्सिद्धिरित्यर्थः । भक्तानामिति । यथा तेषां भजनोपयोगित्वेन विविधलीलारसानु-
भावकत्वेन श्रुत्यस्थितितुल्यमोक्षापेक्षया गृहमेव विशिष्यते तन्न्यायेनैतस्यापि पुष्टिमार्गीयत्वात्तन्मार्गीयभ-
क्तभावभावनया भजने तथैव परमानन्दानुभवे स ततो विशिष्यते । अयमेव “ सोऽश्रुते सर्वान् कामान्
सहे ” इत्यत्र मुख्यतया निरूपितः पुष्टिमार्गीयो मोक्षो, न तु कैवल्यम् ।

* निबन्धशास्त्रार्थप्रकरणे का० ५१. † निबन्ध शा. ५३+५४. ‡ भा. ३, २०, ३५+३६

चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वान्मोक्षप्रकरणत्वाच्चित्तपदप्रयोगः । क्रीडाप्रतिबन्धकत्वा-
त्प्रकृते विरोधाच्च निषेधप्रार्थना ।

टिप्पणी—[२३] ननु कथमस्य तदधिकत्वेपि मोक्षरूपत्वं, चित्तासक्तेः संसाररूपत्वा-
दित्याशङ्क्याहुः—चित्तस्येति । चतुर्विधेऽन्तःकरणे चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्तस्य च मोक्षदातृ-
त्वात्तद्वाचित्तपदप्रयोगेण मोक्षरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः । किञ्च, प्रकरणमपि मोक्षस्येतिज्ञापनायापि
चित्तपदप्रयोग इत्याहुः—मोक्षप्रकरणत्वादिति ।

[२४] ननु भगवन्मायाजनिततासक्तिमात्रं प्रार्थ्येत, किं केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनेनेत्यत आहुः—
क्रीडाप्रतिबन्धकत्वादिति । केवलासक्तिनिषेधाभावे ‘अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती’तिन्यायेन भग-

प्रकाशः—[२३] प्रकृते तादृशोनुभवप्रकारो विवक्षितोन्तःकरणध्याससाध्यश्चेत्यत्र किं
गमकमत आहुः—चित्तस्येत्यादि । * यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् । यदाहुर्वा-
सुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकमितिकपिलवाक्येन संबन्धन्तःकरणेषु चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्
सृष्टिस्थितिप्रलयमोक्षकर्तृषु प्रद्युम्नादिषु चतुर्षु वासुदेवस्य मोक्षदातृत्वाद्वा तत्र मोक्षप्रकरणात् चित्तपद-
प्रयोगः । तथा च स एवोक्तप्रकारानुभवस्य तस्यान्तःकरणध्याससाध्यतायाश्च विवक्षितत्वगमक
इत्यर्थः । अनेन तादृशासक्तेर्मोक्षत्वे युक्तिरपि स्मारिता । तथा हि यत्रेदं चित्तस्य वासुदेवात्मकत्व-
बोधकं वाक्यं तत्रैव मनसोऽनिरुद्धत्वबोधकमहङ्कारस्य सङ्कर्षणत्वबोधकं च वाक्यमस्ति, तेन तत्त-
दन्तःकरणभिदैविकत्वं तेषां व्यूहानां तत्र सिद्धम् । भक्तान्तःकरणरूपाश्च त एव । किञ्च, यो योऽ-
ध्यासः स सर्वोप्यहङ्कारध्यासमूलकः, अहङ्कारश्च सङ्कर्षणात्मकः, तत्रास्याहमित्यध्यासस्तदहङ्करो-
पासनातुल्यकक्षो भवति, अहङ्करोपासना च सर्वतापनीयसिद्धा । तथा च सा यथा मोक्षफल-
कत्वान्मोक्षरूपा तथायमध्यासोपि मोक्षकलकत्वान्मोक्षरूप इति तन्मूला देहाद्यासक्तिरपि तथेति ।

[२४] ननु सर्वमिदं तदोपपद्येत यदन्तरा नप्रयोगो न स्यात्, दृश्यते च स इति नायमर्थः
साधीयान् । किन्तु स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतो मम उत्तमश्लोकजनसख्यं भूयात् तस्य प्रार्थ-
नीयत्वे हेतुः त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य नेति “ भैवापवर्गो भ्रमतो यदे ” ति-
वाक्यादेहाद्यासक्तौ तत्र भवतीति तदभावपूर्वकतत्सख्यमात्रप्रार्थनेत्ययं युक्त इत्यत आहुः—क्रीडे-
त्यादि । उक्तसख्यस्येति शेषः । अयमर्थः, त्वया ह्येतस्यासाधुत्वेन अनुपपत्तिमात्रमविवक्षितरव-

श्रीबलभट्टि०—चित्तस्येति । चित्ती संज्ञान इति घातोश्चित्तं ज्ञानात्मकम् । तच्च सत्त्वजन्यम् ।
तदधिष्ठाता वासुदेव इति तदात्मकत्वमुक्तम् । इतः पूर्वं त्रिभिः श्लोकैः पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थत्रयमुक्तम् । अत्र
तन्मार्गीयो मोक्षो निरूप्यते इति तत्प्रकरणत्वम् । “ ज्ञानान्मोक्ष ” इतिन्यायेन चित्तपदप्रयोगो मूले ।
तेन शुद्धज्ञानात्मकत्व एव तस्य यथा मोक्षसाधकत्वं तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयभावात्मकत्व एव तन्मोक्षसाध-
कत्वमित्यर्थो ज्ञापितः । क्रीडेति । संसारहेतुभूतमायामोहापगम एव तद्गृहे भगवान् क्रीडतीति तत्प्रतिबन्ध-

तथा च कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण केवलभगवन्मायया रमणरूपया भवत्सेवाश्रवणादितत्पर-

टिप्पणी—

वन्मायायामपि तत्सत्त्वे तन्मिश्रणेन पुत्रादिभूयप्रकारबुद्धौ केवलभगवन्मायाभावात् भगवान् क्रीडतीति क्रीडायां प्रतिबन्धकत्वात्तन्निषेधप्रार्थनमिति भावः । अत एव “समागतानुपूजयती ब्रजौकस” इत्यत्र भगवदीयत्वेपि ज्ञातिबुद्ध्या तत्रासक्तौ मातृचरणानां तथोभाववर्णनं, लीलारसानुभवप्रतिबन्धकशकटभङ्गश्चेति । किञ्च, मोक्षविरुद्धत्वादिपि केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनमित्याहुः—प्रकृते विरोधाच्चेति । प्रकृते विरोधो नामाकल्यां शकटभेदचरित्रे लौकिकभाववर्णनं चेति । मोक्षो हि भगवदीयत्वं, तच्च सर्वोशे तदीयत्वानुसन्धानरूपं, तत्र केवलासक्तेरंशतः सत्या अपि बाधकत्वान्निषेधप्रार्थनमित्यर्थः । [२९] सिद्धमर्थमाहुः—तथा चेति । कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण संसारेपि प्रभुसंबन्धात्सर्व-

प्रकाशः—

गमकतयोच्यते, सा तु नास्ति । तथा हि अत्र संदर्भे “अहं समाधाये”त्यादिवाक्यैर्दृष्टस्य स्वपूर्वजन्मीनसर्ववृत्तान्तस्मरणं निश्चीयते । “त्रैवर्गिकायासे”तिवाक्यात्स्वस्मिन्प्रसादोऽनुमित इति च । एवं सति पूर्वजन्मीनान्याभिनिवेशाङ्गिरःसङ्गपुत्रदानतच्छोकनारदोपदेशभगवत्प्रसादविद्याधराधिपत्यशिदोपहासाऽम्बिकाशापा अपि तस्य स्मृतिगोचरा इति पूर्वप्रसादस्य परमफलासाधकत्वं स्मृत्वा साम्प्रतं प्रसादे किं भगवता विधेयमिति तदाशये सन्दिहानः इदानीं च मरणकाल इतीदानीगोचरो मोचयिष्यत्येवेति निश्चिन्वानः अनुगृहीतत्वात्पौष्टिकमेव दास्यतीति निश्चित्य पूर्वजन्मीननारदाङ्गिरःसख्यस्य भ्रमत्सख्यत्वञ्च निश्चित्य यदि पुष्टिमर्यादया दित्सति तदा पूर्ववन्माभूदिति सख्ये सविशेषणे हीति प्रकारनिषेधस्य पूर्वार्धेन प्रार्थना, सख्यं भूयात्परं तथा न भूयादिति । यदि पुष्टिपुष्ट्या दित्सति तदा तथाऽसक्तचित्तस्य पूर्वार्धेप्रार्थितं सख्यं न भूयादिति विशेष्य निषेधस्योत्तरार्धेन प्रार्थनेति प्रकरणवशेनात्र वाक्यद्वयाङ्गीकारस्योपपन्नत्वान् तत्र नोपपत्तिरिति न सोर्थः किन्त्वयमेव साधीयानिति ।

[२५] सिद्धमाहुः—तथा चेत्यादि । “वैष्णवत्वं हि सहजमिति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां पौष्टिकानां सामान्यलक्षणात्तादृशः, “न कर्मबन्धनं जन्मे”तिपाद्यात्तत्र्यतिरेकेण केवला “अविद्याकामकर्मभिरितिवाक्योक्तभ्रमणसाधककामकर्मासंस्तृष्टा या क्रीडासाधिका भगवन्माया, तथा गृहे गृहाश्रम एव “पश्यन्ति ते म” इत्यत्रोक्तीत्या तदनुभवन्, “पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा” इति तेषां विशेषलक्षणात्सर्वं भगवदाशयपर्यन्तं जानन् भगवदीयः “यावन्न मयि ते श्रिवल्लभटि०—

कत्वम् । प्रकृतेऽर्थात् क्रीडेव प्रार्थत इति तद्वाच्यबाधकविरोधाच्च तज्जनितासक्तिनिषेधप्रार्थना । तेन त्वन्मायायाऽऽसक्तचित्तस्य ममात्मादिषु सख्यं भूयान्तेतरमायासक्तचित्तस्य लोकवादिति मूलार्थः पर्यवत्यति । तथा चेति । लोके कर्मसम्बन्धमन्तरा पुरुषार्थाननुभवस्तथा तं विनात्र तदनुभवः । “तस्मिन् दृष्टे परावर” इति

१ भा. १०, ७, ६, १२ बहिर्बलभाव इत्यर्थः । मदीया अप्येवं बहिर्बला जायन्ते इति छबोधिनी । ३ पु० प्र० म० ।

तथा गृह एव चतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन् भगवदीय इति द्वितीया मुक्तिरियमेव मुख्या, आशीरिति सर्वान्ते क्रियाप्रयोगः । हे नाथ ? मर्यादाज्ञानमोक्षो मे मा भूयादिति ॥
॥ इति श्रीमत्प्रभुचरणकृता वृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः संपूर्णा ॥

टिप्पणी—

था तत्संबन्धराहित्येन केवलं भगवन्मायया लौकिकासक्तिसंबन्धरहितया गृह एव लीलारूपचतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन् भावप्रकारेण लोकवेदातीतप्रमुखरूपेण सह सर्वलीलानुभवं कुर्वन् भगवदीयः स्वतन्त्रभक्त इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिमार्गीया मुक्तिरित्यर्थः ।

[२६] तदुदाहरणं तु स्वामिन्य एवावगन्तव्याः, एतस्यैव सकलफलमूर्द्धन्यफलत्वज्ञापनायाहुः—इयमेवेति । इयमेव नान्या मुख्याखिलफलेषु, आशीरिति ज्ञापनाय सर्वान्ते पयनिष्ठार्थजातरूपणान्ते भूयादित्याशीर्वादाथकः क्रियापदप्रयोग इत्यर्थः ॥

प्रकाशः—

नाथे”तिविश्वामिश्रोकोक्तीत्या भगवता स्वीयत्वेन निश्चित इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिकृता युक्तिः । तथा च गृह एव तथानुभवत्वेन मर्यादापुष्टमुक्तव्यावृत्तत्वे सति “निर्गुणो मदपाश्रय”इत्येकादशे गुणातीतकर्तृलक्षणाद्भगवदीयत्वेन त्रिविधलौकिककर्तृव्यावृत्तत्वं पुष्टिमिश्रपुष्टिजीवत्वं तेषां स्वरूपं तेन रूपेण यावज्जीवं स्थितिः सेत्त्यर्थः । अत्रापि पूर्वकक्षा यादवादौ, उत्तमा श्रीमदुद्धवादौ ज्ञेया, “नोद्देवोऽप्यपि मद्गुणो यद्गुणैर्नार्हित” इति कर्मबन्धव्यतिरेकस्य “वृक्वणश्च मे मोहमहान्धकार” इत्यत्र “प्रसारितः सृष्टिविद्वद्ये त्वये”ति भगवन्मायया देहाद्यासक्तेः, ‘अथापि तदभिप्रेतं जानन्नि’ति तादृशत्वस्य स्पुष्टत्वादिति ।

[२६] एवं पुष्टिमार्गे द्विविधं मोक्षं निश्चित्य “शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभा” इत्यत्र विचारितानां शुद्धपुष्टानां फलस्य स्वरूपस्य चेतोप्यधिकत्वं हृदि कृत्वा प्रकृतानामेतदन्ततां ज्ञापयितुमाहुः—इयमित्यादि, इयमेव, नेतोधिकेत्यर्थः ।

नन्वत्रायमेवाशय इत्यत्र किं मानमिति चेत् उच्यते । अत्र “भक्तानांगृह एव विशिष्यत” इतिन्यायोपक्षेपात् तद्गृहाख्याने साधनं भक्तिः फलं मोक्षस्तथापि फलदशातः साधनदशैवोत्तमेतिकथनेन “अनिच्छतो गतिमर्षी प्रयुङ्क्त”इति मुक्तिदित्सासूचनात् । शुद्धपुष्टानां तु मुक्तीच्छाया-मपि सद्गुणैरिति जानीहि । न च भक्तानामित्यस्य स्वतन्त्रभक्तानां गोपिकादितुल्यानामिति व्याख्यानाज्ञैवमिति शङ्क्यं, तस्य साधनदशामात्रोत्कर्षज्ञापनपरत्वात् । अन्यथाफलदशाकथनविरोधापातात् । ब्रजस्थेषु वेणुगते “स्वाश्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिरिति प्रत्यापत्तेरेवाङ्गीकारात् ।

श्रिवल्लभटि०—

वाक्याद्भगवदीयस्य सर्वकर्मक्षयः पुरुषार्थः । भक्तिमार्गे हरेर्दास्यमित्याद्युक्तचतुर्विधपुरुषार्थसुखमित्यर्थः । अत्र स्पष्टम् ॥

इति श्रीविद्वल्लभयात्मजश्रीवल्लभकृता “ममोत्तमे”त्यस्य टिप्पणी समाप्ता ॥

१ भा० ११, २९, २६, १२ भा० ३, ४, ३१. ३ भा० ३, २६, ३९. ४ बहोपीकमित्यस्य छ० भा० १०; २१, ९० ।

टिप्पणी—

इति श्रीवल्लभाचार्यकृपया विनिरूपितः । ममोत्तमेतिपद्यार्थव्याख्यानार्थो मया मुदा ॥ १ ॥
मयोदितमिदं भक्ता अवलोक्य विचारितम् । भवन्तु सततं श्रीमदाचार्यचरणाश्रयाः ॥ २ ॥
एतत्फलं तत्कृपातो भविष्यति न संशयः । अतस्तदुक्तमार्गेण मजनीयः प्रमुः सदा ॥ ३ ॥
स एव श्रीमदाचार्यपक्षपाती मम प्रमुः । करिष्यति स्वकीयानामैहिकं पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्प्रमुपादपद्मदासानुदासहरिदासविरचिता
ममोत्तमेतिपद्यव्याकृतिटिप्पणी समाप्ता

प्रकाशः—नन्वस्त्वेवं, तथापि परमभक्तिस्वरूपे साधने तारतम्याभावात् फलभेदः
किंप्रयुक्तो यः स्वरूपं भिनत्तीति चेद्, उच्यते । उत्तरतन्त्रतार्तीयिकनृतीयपादीयाऽ'क्षरैर्धियां
त्वविरोध" इति सूत्रोक्तौपसदन्यायेन भगवदिच्छाभेदादेवेत्ववेहि । ततस्तेष्वपि तारतम्यं अमर-
गीतोक्तसंदेशस्वरूपाञ्जातव्यम् । एकादशीयद्वादशाध्यायस्था 'न्न रोधयति मां योग' इत्यारभ्य
"यास्पसे ह्यकुतोभयमि"त्यन्तात् सर्वात्मभावपूर्वकशरणोपदेशसंदर्भाच्च । तेन पार्थो हि पुष्टि-
मर्यादायामङ्गीकृतो न तु पुष्टिपुष्टाविति "न्यासादेशे"ष्वित्यत्र प्रमुचरणोक्तेः । सात्त्विकप्रकरणो-
क्तानां तत्सजातीयभाववतां चाद्यः, राजसप्रकरणोक्तानां तादृशां चेतः, तामसप्रकरणोक्तानां
तु प्रत्यापत्तिरेवेति लीलापरिकरस्य यथास्थितस्य नित्यत्वमस्यामेव लीलायां सिद्धयतीति । किं
च पूर्वोक्तोपदेशश्रवणोत्तरमपि "संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर । न निवर्त्तत आत्म-
स्थो येन मे भ्राम्यति मन " इति श्रीमदुद्धवोक्तरयं भावोतिदुर्लभो भगवत्परमप्रसादादेव लभ्य
इति च । तथापि "त्वद्भक्तियोगं च महद्विभृग्यं" "आख्याही"ति प्रभे "भक्तियोगः पुरै-
वोक्त" इति द्वादशाध्यायोक्तं तत्स्वरूपं स्मारयित्वा "पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणमि"-
त्यादिना तदुपायकथनात्तथा तदुपायत्वज्ञानपूर्वकतत्करणेन प्रसन्नाद्भगवत् एव तादृशप्रसादसिद्धि-
नेतरथेत्यादिकमालोचनीयमिति तदेतत्सर्वं हृदि कृत्वोक्तमियमेवेत्यादि । इति दिक् ।

रससिन्धुचन्द्रमुखवारिरुद्रोद्गतपुष्टिपुष्टिमकरन्दरसः ।

इति कृष्णचन्द्रकृपया विदितः पुरुषोत्तमेन वचसा विवृतः ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमकृतः

पुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः संपूर्णतामगात् ॥

॥ समाप्तोयं ग्रन्थः ॥

१ अ० भा० सू० ३, ३, ३३, अत्र उपसदाख्ये कर्मणि एकं तात्तनपत्रस्पर्कार्ण्यं औपसदं कर्मास्ति,
अस्मिन् कर्मणि सर्वेषां ऋत्विजां ताननपत्रत्वं समानं, तथापि "अयं यज्ञं यथासमुच्छेदि"ति यजमानस्य
यस्मिन्कीहातिशयः तमेव ऋत्विजं यजमानो वृणुते, न हि तत्र समानेषु तेषु कथं इच्छाभेद इति प्रभः संभवति ।
एवमत्रापि भगवदिच्छया फलभेद इत्याशयः । २ भा० ११, १२, १६.

भक्तिवर्धिनी

चतुर्दशटीकाभिः समलंकृता

- | | |
|------------------------|-------------------------------------|
| १. श्रीबालकृष्णानाम् | ८. श्रीवल्लभानाम् |
| २. श्रीगोकुलनाथानाम् | ९. श्रीजयगोपालभट्टानाम् |
| ३. श्रीरघुनाथानाम् | १०. श्रीलालुभट्टानाम् |
| ४. श्रीकल्याणरायाणाम् | ११. केषाञ्चित् |
| ५. श्रीहरिरायाणाम् | १२. श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम् |
| ६. श्रीगोपेश्वराणाम् | १३. श्रीगिरिधराणाम् |
| ७. श्रीपुरुषोत्तमानाम् | १४. श्रीद्वारकेशानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामि श्री १००८-
श्रीगोपीनाथ-महाराजश्रीत्येतैः — प्रकाशिता

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज,
बडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दाः ५०३.

ग्रन्थ-परिचय लेखकः गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रकः

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग, चोपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ---परिचय

चौरासी वैष्णवोंकी वातकि भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने सांचोरा पुरुषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. सं. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गांवमें हुई होनी चाहिये :

“तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्यान्हके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते. तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्या-वन्दन करन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके देवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो—‘महाराज ! यह कर्ममारग बड़ो के ज्ञानमारग बड़ो ?’ तब श्रीआचार्यजी कहे—‘जाके मनमें दृढ जो मारग आवे, जामे जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मारग बड़ो ; और बड़ो तो भक्तिमारग है जामें जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमारग कर्ममारग सो कृतार्थ कठिनतासों होई. सो काहूसों निर्वाह होय नाही. काहेते ? कष्ट साध्य है. सो या कालमें शरीरको कष्ट कयों न जाई. कोऊ शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही.

“तब पुरुषोत्तम जोशीने कही जो ‘महाराज ! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिये !’ तब श्रीआचार्यजी कहे— ‘भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाही परन्तु कछुक तोकों कहत हों’. तब ‘भक्तिवर्धिनी’ ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीकों सुनाये. सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो.”

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिके वर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कहीं पुरुषोत्तम जोशीके गांवमें. इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए; और अब्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्ण-सेवामें तत्पर होगये— “सो दोऊ जन प्रीतिसों सेवा करन लागे. पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशीने वहीत दिन सेवा करी. भगवद्भावमें मगन रहते— अब्यावृत्त होई रहे. काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करते.”

कर्म-ज्ञान-भक्ति

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्से ये ही प्रश्न कर बैठा था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है; और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्ने वहां अर्जुनको समझाया है कि कर्मोंके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता. क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोंको देनेमें सक्षम है. कर्मके फलोंमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोंके आकर्षणके रहते हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान् कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है !

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये. क्योंकि परधर्मका भलीभांति अनुष्ठान भी स्वधर्मके विन-भली-भांति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है. अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भगवान्के समक्ष उपस्थापित किया है. वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब व्यर्थ लोग कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करते हैं ?

भगवान्ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापोंको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के वशीभूत होकर ज्ञानियोंकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुंमें घिर जाती है. काम ही ज्ञानियोंका चिरशत्रु होता है.

भगवान्की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओंका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं ? कामनाओंका आकर्षण तो सभी मार्गोंके साधकोंमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है ! परन्तु थोड़ा ध्यानसे देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान् कहते हैं— “काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्.” हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है. इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे ध्वस्त होती साधकोंकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए हैं.

चार मार्ग

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहन्ता और ममता को ही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था. एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित ‘नाहम्’ की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित ‘न मम’ की भावना को जगानेपर भार दिया गया. मानों हमारी चेतनामें अहन्ता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हों तो उन्हें रक्षानेके बजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई. वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था. अतः बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई.

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमें अहन्ताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंसे जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई है— “अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम— सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम” इत्यादि. “वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुंश्च मे” की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको— “देवतायै इदं न मम” की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आगे बढ़ाना चाहता है. स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है. अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है :

“कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें कर्मन्द्रियोंको संयत करनेके पाषण्डमें विमूढ़ साधक अपने असंयत मनको इन्द्रियार्थोंके चिन्तनमें डुबा देते हैं. जबकि सच्ची विशिष्टता तो मनसे इन्द्रियोंको संयत करके कर्मन्द्रियोंसे आसक्ति-रहित कर्मयोगको करते रहनेमें है ! अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके बजाय. सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नहीं निभ पायगी. और फिर इस लोकमें वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये हैं, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता. अतः यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असंग्रहभावसे करते ही रहना चाहिये. प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साथ ही की है. अतः यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंको भलीभांति पूर्ण करता है. हमें यज्ञके द्वारा देवताओंको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगण जो हमें मिलना चाहिये वह हमें देंगे. इसी आदान-प्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है. जो देवताओंने हमें दिया है उसमें से जो उन्हें देने लायक है उसे दिये बिना जब हम अपने उपभोगमें लेते हैं तो हम चोर बन जाते हैं. अतएव यज्ञके बाद वची हुई वस्तुओंके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पर्श नहीं होता है. फिर भी जो केवल अपने लिए पकाते हैं और खाते हैं, वे अन्नका नहीं प्रत्युत पापका ही भक्षण करते हैं.”

इस विस्तृत उद्धरणके अध्ययनमें स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहन्ता-

की परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है। ममतामें रचे-पचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोड़ी सी धीरज धरके देवताओंको लिए “इदं न मम” कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ा जा सकेगा। यही निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा। परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है। कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनता है।

(३) ज्ञानमार्ग अतः अहन्ताकी चिकित्सा— उसे स्वस्थ बनानेका प्रयास है। कर्मयोगमें जैसे ममताको देवताओंसे जोड़ा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है—“योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा” अर्थ: मैं जो कुछ हूँ—मैं ब्रह्म ही हूँ. हां, मैं हूँ— मैं ब्रह्म हूँ. मैं ही मैं मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूँ.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें—“पुत्रं च मे वित्तं च मे” की कामनाओंसे घिरे सकाम-कर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊंचाईपर उठानेके लिए “इदं न मम” में प्रशिक्षित करता है। वहां यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहुति देनी पड़ती है। वैसे ही ज्ञानयोग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहुति देना सिखलाता है। ज्ञानयोग हमारे अहंकारकी चिकित्सा है। ध्यान रहे कि ‘अहम्’ की आहुति ब्रह्माग्निमें देनी है— अपने अहंकारकी धधकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहुति ज्ञानयोग नहीं है !

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है। जैसे “गाय प्राणी है” वाक्यमें ‘गाय’ उद्देश्य है और ‘प्राणी’ विधेय है। इसी तरह “अहं ब्रह्मास्मि” में ‘अहम्’ उद्देश्य है और ‘ब्रह्म’ विधेय है। अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है; तथा व्यापक अंशी परमात्माके साथ अंशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमें देखना है। ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहंकारको विधेय बनाना सभी प्राणिओंको गाय माननेके जैसी त्रुटी है। ब्रह्म तो त्वंकारास्पद भी है— “तत्त्वमसि”में और इदंकारास्पद भी है— “सर्वं खलु इदं ब्रह्म” में। प्राणी तो गाय हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं। अतः सभी प्राणिओंको गाय माननेकी जैसी त्रुटी ब्रह्मको अहमास्पद माननेवाले कर बैठते हैं। अंशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी। अहम्को किन्तु अंश होनेके कारण अंशी ब्रह्म कहा जा सकता है। वापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बेटेके जैसा वापका नहीं !

अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि लहरोंको ‘समुद्रकी लहरें’ कहना चाहिये— समुद्रको ‘लहरोंवाला समुद्र’ नहीं (सामुद्रो हि तरंगः ववचन समुद्रस्तरंग इति). किनारोंपर पहुंच कर लहरें अपनी आहुति समुद्रमें दे देती हैं पर भला कभी समुद्रकी आहुति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है— ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताको जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है। परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामके व्रण प्रकट हो जाते हैं ! ममताको छोड़कर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है। सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर “अहं ब्रह्मास्मि” का उद्देश्य विधेयमें बदल जाता है। प्रायः ज्ञानमार्गीय विविदिषुके “अहं ब्रह्मास्मि” के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावाक्यका अर्थ बदल जाता है !

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दौड़ते हुए साधकको रजोगुणकी गोघूलीकी वेलामें शिष्येपणा जैसी कामनाओंका रूपधारण कर मोहपाशमें बांध लेती है। अतएव भगवान् कहते हैं— “सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्जानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?”

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुक्तितक पहुंचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता में से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और क्रोध के रोगोंकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते। भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है— अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित !

(४) ‘भक्ति’ शब्द भज + क्तिन् को जोड़ने पर बनता है। ‘भज’ धातुकी प्रकृतिका अर्थ है: सेवा। ‘क्तिन्’ प्रत्ययका अर्थ होता है: प्रेम। अतः ‘भक्ति’ शब्दका कुल अर्थ होता है: प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा।

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है। शरणागत पुष्टिजीवको भगवत्सेवामें लगाकर यह उसकी अहन्ताको भगवान्के साथ जोड़ देती है— ‘सोहम्’ की प्रक्रियासे नहीं किन्तु ‘दासोहम्’ की प्रक्रियासे। सेवा सचाईसे हम उसीकी कर सकते हैं जिसके सामने हमारा अहंकार झुक जाये। पुष्टिप्रभु ब्रजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख अपने अहंकारको “श्रीकृष्णः शरणं मम” कह कर अथवा “दासोहं कृष्णस्तव” कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति की प्रकृतिमें निहित अर्थ है। अहंकारके झुकते ही तनको भी झुकना पड़ेगा। अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीमें तनुवित्तजा सेवा तथा सिद्धान्तरहस्यमें सर्वसमर्पण की वात समझा कर चतुःश्लोकीमें ब्रजाधिपके भजनको ही स्वधर्म माना गया है।

संस्कृत भाषाका एक नियम है कि प्रत्येक शब्दके घटक प्रकृति और प्रत्यय अपने-अपने अर्थका बोध एकसाथ ही पैदा करते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। फिर भी प्रत्ययके अर्थकी कुछ प्रधानता होती ही है। ‘क्तिन्’ प्रत्ययका अर्थ प्रेम भी ‘भक्ति’ शब्द के दूसरे घटक ‘भज’ धातुके अर्थ सेवाकी तुलनामें कुछ प्रधानता लिए हुए है। प्रेम होता है किसीके प्रति मनके झुकनेपर। मन जहां झुका कि ममता भी उस ओर मुड़ने लगेगी।

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी बात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्त-मुक्तावलीमें समझायी गई है. चतुःश्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोड़नेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम— वही कृष्णदर्शन-कामना 'भक्ति' शब्दमें 'कितन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुःश्लोकीमें भजन और स्मरण के निरन्तर चक्रकी तरह चल पड़नेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरणं भजनं चापि न त्वार्ज्यामिति मतिः). अपरोक्षमें भजन या कायिकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-तन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयों में मुक्त छोड़ता है; और न उन्हें तोड़ता ही है. क्योंकि तोड़ना आवश्यक नहीं है. पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को ब्रजाधिप श्रीकृष्णके साथ जोड़ता है. जिस दिन—जिस क्षण ये दोनों भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड़ जाती हैं, उसी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है. इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवके लिए नहीं होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति है. अतएव श्रीमहाप्रभुने पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमारग अह कर्म-मारग सौं कृतार्थ कठिनतासौं होई. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही..."

जब भक्ति ही हमारे संसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनु-पानको ही क्यों न बढ़ाया जाये ! वस्तुतः तो भक्तिको औषधी मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है. क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औषधीसे कहीं अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है. परमात्माके प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वा-स्थ्यका लक्षण है. पुष्टिप्रभु ब्रजाधिप श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावसे रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है. गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान् भी कहते हैं— "मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी साधकोंमें जो योगी हैं वे अधिक मान्य लगते हैं. योगियों में भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ जोड़ करके मेरा भजन करते हैं वे मुझे सभीमें युक्ततम लगते हैं."

इस जगतमें आहार-विहारकी जिन अनियमितताओंके कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते हैं, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यवर्धक उपदेश 'भक्तिवर्धनी'को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है : भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुसे लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पलताकी वृद्धिके उपायोंको जानना अतः आवश्यक है.

भक्ति उस जीवात्मामें प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते हैं. अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्मामें

बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है. सत्संग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अंकुरित हो पाता है और कभी नहीं. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या ब्रजभक्ति के बीजको बोता है— सत्संग एवम् गुरुकृपा के जलसे उसे सींचता है— अपने अनुग्रह-कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है— उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है— तब इस भक्ति-कल्पलताका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा ? अतः पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीज-भाव है. जन्म-जन्मान्तों तक यह नष्ट नहीं होता. एक-एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते हैं— किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं. इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रेमके रूपमें अंकुरित हो पाता है और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढ़कर इतनी सघन हो जाये— पुष्टिके कल्पतरुके इर्द-गिर्द इतनी फूल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक् करना कठिन हो जाये— पुष्टिकल्प-तरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें— ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है— फूल जाती है— तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है. इसे ही 'बीजभाव की दृढ़ता' कहा गया है.

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़ बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलारम्भिका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमसेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरणका बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ़ हो जाता है वे तो निःशंक श्रवण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकते हैं. अतः ऐसे भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं. परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ़ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा में अपने-आपको तत्पर बनाना चाहिये. तभी बीजभाव दृढ़ होगा.

भक्तिके तीन भेद होते हैं :

- १) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
- २) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
- ३) भगवन्नामात्मक भागवतका श्रवण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम् ।

नाम्नि चैकं ततस्त्रेषा भक्तिमार्गो निरूपितः ॥

जिसका बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भगवत्प्रेमके रूपमें अंकुरित, भगवदासक्तिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्-व्यसनके रूपमें फलित होने लग गई हो तो

ऐसे भक्तको भगवद्-व्यसनके स्वभाववश ही भगवान्के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तयुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता है. और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग भी सिद्ध हो जाता है. ऐसे भक्तोंके लिए सर्वत्र भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है. घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है— वे घरमें बैठे हुए हों या बाहर, उनके मन और उनकी सभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्की अनुभूति चलती रहती है. फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य २५२ अर्थात्) की तरह उनका घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है. वे गृहत्याग कर सकते हैं— भगवल्लीलाओंका श्रवण, भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओंकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमें; या कभी भगवद्-विरहके तीव्रतापमें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पड़ता ! (विरहानुभवार्थं तु परिव्यागः प्रशस्यते. सन्यास-निर्णय).

सर्वनिर्णय— निबन्धमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर—आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर— श्रीकृष्णके विभूतिरूप सभी देवताओंका सन्मान करते हुए— देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते हैं— उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नहीं— उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं— उन्हें श्रीकृष्णमें सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है. पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र आप्त-प्राण-वित्त-आदिमें जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिक जाते हैं— ऐसे भक्त व्यसनदशाके परम-भावोंकी भंवरोंमें घिर जानेसे पुनःपुनः डूबते और उभरते रहते हैं ! करोड़ों भक्तोंमें कभी-कभी एक ही कोई ऐसा कृष्णव्यसनी बन पाता है !

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता. अतः पहले बीजभावके दृढ़ होने तक धीरज रखनी चाहिये.

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हों तो उन्हें स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये. अन्यथा संसारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है. ऐसे अस्वस्थ वैराग्य-वश व्यर्थ ही किसी भी वस्तुके त्याग कर देनेके वजाय उसे भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये. हमारी अहन्ता और ममता के विषयोंको त्यागनेके वजाय उन्हें श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवामें उपयोग लानेवालेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वधर्म—भगवत्सेवा तथा भगवत्कथामय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ़ होता है : “बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः”

स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमें शास्त्रार्थ प्रकरणमें एक विलक्षण बात श्रीमहा-प्रभुने समझायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके वजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ हैं. जो जीव मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके संघातको छोड़कर ही मुक्त हो पाते हैं — उनकी केवल आत्मा ही परमात्मामें लीन हो पाती है. जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके घरमें विराजते प्रभुकी सेवामें काम आते हैं. भक्तका तो संसार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है. फलतः जीवन्मुक्तके वजाय भक्तके लिए तो भगवत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है. अतः बीजभाव दृढ़ करनेके लिए यह आवश्यक है कि घरमें स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन करना चाहिये.

घरमें रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी सरल नहीं है. ‘स्वधर्म’ का प्रथम अर्थ होता है : स्वयम्के वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप यथाशक्ति शास्त्रविहित आचरण करना. शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमें संकोच नहीं करना चाहिये. क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहन्ता-ममता जूड़ी हुई है, तब तक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म है— भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म की तरह हो जाता है. जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है. तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता है (सुबो. ३-२८-२), अतः इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमें तत्पर रहना चाहिये. कृष्णभक्तिमें जैसा कि हम देख चुके हैं अहन्ताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी सेवा ‘भज’ धातुका अर्थ है; और ममताको स्वस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेम-प्रवण बनना है. तदनु रूप अपरोक्षमें पूजा कायाको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है. और परोक्षमें श्रवण-चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है.

स्नेहकी दृढ़ताके बिना कायासे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको निभाते हुए पूजा तो निभाई जा सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें इसी पूजाको— “प्रवाहेण क्रियारता.” कह कर व्यक्त किया गया है. सर्वनिर्णयमें २२७ वीं कारिकासे लेकर २४६ वीं कारिका तक भजनके इसी क्रियापक्षका निरूपण किया गया है. यहीं “एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्” कहकर गार्हस्थ्यमें इसकी आवश्यकता दिख-लायी है. यहीं २४० वीं कारिकामें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण—कीर्तन आदि द्वारा जब हरि हृदयमें निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्व्यग्रतया सम्भव हो पाता है. अतएव पूजाको यदि केवल क्रियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे, उसे प्रेममय बनाना होगा (प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् श्रीभागवतमेवात्र परं

तस्य हि साधनम्. सर्वनिर्णय) अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं—“सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्” (सर्वनिर्णय २३०). भगवान्की पूजा करते समय अनन्य भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे—भक्तिके बजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढ़ा लेंगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते हैं और व्यावृत्त भी. अतः दोनों तरहके जीवोंमें भक्तिके बीजभाव की दृढ़ताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं.

अव्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंकी भक्तिके बीजभावोंको दृढ़ करनेके उपाय :

सभी इन्द्रियों और मन की अहमहमिकता (‘पहले मैं—पहले मैं’ की उतावल) से भगवान्के कार्योंमें जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्में विनियोग है. एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है. ‘भाव’ का अर्थ होता है: हमारे अन्तःकरणमें निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्के ही बारेमें हो तो उसे ‘अनन्यभाव’ कहते हैं. अन्यथा (१) किन्ही अन्य देवताओंके बारेमें (२) अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्ति के बारेमें, अथवा (३) पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलके बारेमें, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी कृष्णभक्ति अनन्य-भावात्मिका नहीं बन पायेगी.

‘अनन्य भाव’वाले भक्त ही अव्यावृत्त हो पाते हैं. जिनकी भक्ति अनन्यभावात्मिका नहीं हो पाती वे अव्यावृत्त नहीं हो पायेंगे. अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्तःकरण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे — वे अपनी पूतिकी कामनाके भावोंका हमारे भीतर पैदा करके हमें व्यावृत्त बना देंगे — हमसे अव्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिभक्तिमार्गपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अन्यभावोंकी पूतिके प्रयासमें यहाँ-वहाँ भटकता रहेगा — व्यावृत्त रहेगा. ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कायिकी सेवा करते रहनेपर भी वह सेवाफलमें दिखलायी गयी — भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धों से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलस्वरूप चित्तमें वह व्यग्रता बढ़ानेका ही कारण बनेगी.

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पूर्वोक्त देवतान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तःकरण बाह्य और आन्तर रूपमें व्यावृत्त न हों ऐसे जीवोंको भगवत्पूजा और भगवत्कथा दोनोंमें ही तत्पर रहना चाहिये. पर जिनके देह या अन्तःकरण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हों उन्हें कृष्णसेवाका अनुष्ठान सहसा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये. प्रारम्भमें केवल भगवत्कथाके श्रवण चिन्तन एवम् कीर्तन की प्रणालीसे चित्तको अनन्यभाव-युक्त अव्यावृत्त बनाना चाहिये (...भावान्तरसहितो वा. स हि देवतान्तरविषयः पदार्थान्तरविषयः मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभाबोत्र निषिध्यते फलभावश्च. सुबो. ३-२५-२२). इस सुबोधिनीकी भागवत्कारिकामें

भक्तिका स्वरूप यों दिखलाया गया है :

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।

मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥

मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।

त एते साधवः साधिव ! सर्वसंगविवर्जिताः ।

संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते ॥

(भाग. २।२५।२२-२४)

व्याख्या : जो भगवान्में अनन्यभाव रखते हुए भगवान्की दृढ़ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रोक्त अलौकिक कर्मोंका तथा लौकिक स्वजन-बान्धवोंका त्याग कर दिया हो, ऐसे भक्तोंकी संगति करनी चाहिये. निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध बाधक बनते हैं—अनन्यभावमें कुछ न कुछ बाधा पहुंचाते ही हैं. अतः इनसे व्यावृत्त हुए बिना पूजा-श्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये. सभी अधिकारियोंमें किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है. फलतः कथासक्ति— भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन में आसक्ति— जिनकी दृढ़ हो ऐसोंका सत्संग करना चाहिये. ऐसे भगवदीयोंके सत्संगसे— उनके मुखसे कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन-कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोंसे ममता हटकर भगवान्से जुड़ पायेगी.

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जो व्यावृत्त हैं उन्हें स्वरूपभजनके वजाय नाम-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. इसी श्रवण-चिन्तन-कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीज-भाव प्रेम-आसक्ति-व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा.

बीजभावको दृढ़ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्तःकरण की व्यावृत्ति देवतान्तर पदार्थान्तर मार्गान्तर एवम् फलान्तर के बारेमें न्यूनसे न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये. घरमें भगवत्सेवा जिनसे नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेके लिए आगे बढ़ते हैं, उन्हें इस यात्रामें ये क्रोशस्तम्भ (mile'stone) अपने भक्तिके मार्गपर मिलेंगे :

(क) जब बीजभाव भगवत्सेवाके रूपमें अंकुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारमें रहा अनुराग खतम हो जाता है. यह अवस्था बड़ो विलक्षण है. भगवान्में अनुराग बढ़ने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें घर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा.

जो अव्यावृत्त होकर अपने घरमें भगवत्सेवार्थ निवास करते हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है. क्योंकि उनका घर उनकी अहन्ता-ममताको सन्तुष्ट करनेके

लिए नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल - भगवन्मन्दिर ही होता है. उनका परिवार भी सांसारिक ममताके बन्धनसे बंधा हुआ नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोंका भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता है. अतः बीजभाव प्रेमात्मना अंकुरित होता है पर दूसरी ओर रागविनाश नहीं होता.

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावको दृढ़ करनेकी दिशामें आगे बढ़नेवाले यात्रीको द्वितीय क्रोशस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा. जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग खण्डित हुआ था वह अब घर-परिवारमें अरुचिका रूप धारण करने लगेगा. भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णभक्तिमें अनुपयोगी हैं बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किसी तरह बाधा पहुंचानेवाले हैं. वस यही मनोभाव उसमें अपने घर-परिवारके प्रति अरुचि जगा देता है. अभी तक अपने घर और घरमें रहने वाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्धु-बान्धवों को वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नहीं हैं. क्योंकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमें ये अपना हिस्सा बांटना चाहते हैं. प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अर्पणमें स्वाभाविकतया आसक्ति चाहता ही है. यही मांग भगवदासक्त भक्तको अरुचिकर लगने लगती है.

परन्तु अपने घरमें कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमें भगवदासक्ति तो प्रकट होती है पर घर-परिवारमें अरुचि प्रकट होनेका कोई कारण नहीं होता.

(ग) तीसरा क्रोशस्तम्भ भगवत्कथा-प्रणालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढ़नेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है. यहां तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है. अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता. भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोंका स्मरण करता हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओंके मनोरथपर सवार भक्तका मन अब अपने भक्तिके पथपर लेशमात्र रुकावट या व्यवधान सहन नहीं कर पाता. वह असहिष्णु बन जाता है. उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये !

यही वह अवस्था है जहां पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह रिथत्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्यात्त्वयम्" अर्थ: स्वयम्का भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नहीं है, किन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहत्याग ही उचित होता है (सुबो. ३।१।२). एकदिन अचानक भक्तके अन्तःकरणमें ऐसा आवाज आनी शुरू होती है— फिर तो स्वयम् उसे भी पता नहीं चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया ! इस अन्दरसे उठती आवाजकी अनसुनी करनेमें वह समर्थ हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे कहीं भटक गया है ! अतएव श्रीगृहप्रभु कहते हैं— "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु

तदर्थार्थिकमानसः लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोम्यधिकां पराम्" ?

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है. अन्यथा व्यसनदशामें फलित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य में परिपक्व नहीं हो पायेगा. ऐसे घरमें रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अंग न हो ?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमें पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्थ नीरस-शुष्क त्याग नहीं, किन्तु श्रीकृष्णमें वृद्धिगत हुई प्रेमदृष्टिसे विवश होकर किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निस्पृह शान्त-भावसे— कहीं रुके बिना— देहपातपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका क्रम श्रीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोंकी करनी है न तो पुण्यकी खोजमें और न मोक्षकी खोजमें ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमें— "कृष्ण एव तात्पर्यं न तु तीर्थादी. देहपातपर्यन्तं च पर्यटनम्" ?

प्रेमके इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नहीं जुटा पाते परन्तु घरसे निकल पड़नेकी जिनकी तैयारी हो ऐसे भक्तोंको सहसा दुःसाहस नहीं करनेकी सलाह श्रीमहाप्रभु देते हैं.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा चूके कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पड़नेकी भीति रहती है. गृहस्थमें तो पुत्रेषणा वित्तेषणा या लोकेषणा के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमें कहीं संसारी जीवोंके संसर्गसे शिष्येषणा जग गई तो सारा त्याग चौपट हो जायेगा ! पुत्र वित्त और लोक तीनोंकी वासना शिष्यसंग्रहकी वासनामें सूक्ष्मतया त्रिगुणित हो जाती है !!

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका संसर्ग तो संसारी और भगवद्विमुख लोक के साथ टूट नहीं पायेगा. भगवान्को अनिवेदित अन्न अथवा पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले गृहस्थका अन्न खाकर अन्नदोषवश ही अधःपातकी सम्भावना अधिक रहती है. अतः सर्वथा असंग और अपरिग्रह होनेके साथ जब तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तबतक त्याग श्रेयस्कर नहीं होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमें रहे और सारी कामनाये निःशेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमासक्तिव्यसनकी क्रमिक अवस्थाओंमें जब बीजभाव दृढ़ हो रहा हो और घरमें भगवत्सेवाका निर्वह शक्य न हो तब ऐसे घरमें रह पाना भगवदीयके लिए अशक्य हो जाता है. पर भक्तिमार्गीय सन्यासग्रहण करनेके लिए भी यदि भक्त अपने-आपको समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये ?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्तिको ऐसे हरि-स्थानोंपर जाकर बस जाना चाहिये जहां भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हैं (उदाहरणतया ब्रज, चोरासी बंठक, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरंग, पंढरपुर, द्वारका, तिरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवा-परायण भक्तोंकी सेवामें परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्संगका लाभ तो लेना ही चाहिये.^१

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही है कि जब वे भगवत्सेवामें रत हों तो हम भी उनकी भगवत्सेवामें सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें. सेवाके बहिरंग साधनोंकी सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दें पायें और इस तरह तनका सेवामें विनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्जित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टि-मार्गीय-सम्बन्धमें बंधनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है. एक परिवारमें पिता भगवत्सेवा-अंतरंग-सेवामें परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें बहिरंगसेवामें परायण होता है. पत्नी सेवा करती हो तो पतिको परिचर्या करनी चाहिये. इसी तरह जन्मना एक परिवारके न भी हों पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह साथ रहना हो तो एक अपने घरमें विराजमान प्रभुकी अन्तरंगसेवामें तत्पर रहे और दूसरा बहिरंगसेवामें. यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं. साथमें भगवत्सेवा करेंगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है. यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है. सर्वतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूर्तिके हेतुमें नहीं. वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्जित किया जा चुका है.

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किसीके कि एकको दूसरेके दोष दिखलायी देने लगे और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीय द्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा के लाभसे दूसरा भगवदीय सर्वथा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति).

अपने घरको छोड़कर निकल जानेवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो कभी उसका नाश नहीं होगा. यदि एक भगवदीयकी दूसरे भगवदीयके साथ इतनी घनिष्ठता न भी पनपे कि दोनों साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पायें तो भी दोनों साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही हैं. इस तरह यदि अपने घरको छोड़ दिया हो पर दुःसंगसे वचना हो तो पुष्टिमार्गीय अन्य भगवदीयका सत्संग प्राप्त

१. मूलतः गोस्वामी धर्माचार्योंकी गृहसेवामें जो मुखिया, भीतरिया, जलघरिया आदि भगवत्सेवाके सहयोगी देखे जाते हैं वे इसी तरहके अपने घरको छोड़कर परिचर्यायें आनेवाले महाभाग्यवान भगवदीय होते थे- सर्वतनिक कर्मचारी नहीं. अतएव इन्हें भगवत्प्रसादी अन्न-वस्त्र देनेकी प्राचीन परिपाटी थी-वेतन नहीं. कालक्रममें वह विकृत होकर तनुजासेवाक्रममें परिणत हो गई.

करते हुए भगवत्कथाका भी आश्रय जो निभा पाते हैं उनका भक्तिमार्गसे अन्यत्र अधःपात नहीं होगा (सेवायां कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम).

इस तरह अन्यत्र जा कर सत्संग करनेके बजाय घर छोड़कर कहीं एकान्तमें बसनेमें क्या बुराई है? श्रीमहाप्रभुका उत्तर यही है कि जब घर छोड़नेमें भय नहीं तो भगवदीय के सत्संगमें भय कैसा? और यदि इस तरह सत्संग करते हुए भी मार्गसे भटक जानेका जिसे भय हो उसे एकान्तवाससे अधिक भयभीत होना चाहिये!

कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि अदृढ बीजभाववाले भक्तके लिए बीजभावको दृढ करनेका उत्तम उपाय स्वयम्के घरमें अव्यावृत्त होकर भगवत्सेवा और भगवत्कथा में तत्पर हो जाना है, वह शक्य न हो तो केवल भगवत्कथामें परायण होकर बीजभावको दृढ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये. जब संसारासक्ति कम हो जाये तब या तो भक्तिमार्गीय सन्यास लेना चाहिये, व्यसनदशा सिद्ध होनेपर, अन्यथा अन्य भगवदीयोंके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिवारक बनना चाहिये. वह भी शक्य न हो तो ऐसे सेवा-कथा-परायण भगवदीयोंके सत्संगका लाभ लेनेको न तो उनसे अधिक दूर और न उनके अधिक समीप ही रहनेका प्रयत्न करना चाहिये. एकान्तवास ऐसी स्थितिमें बहुत लाभदायक नहीं होता. पर भगवद्विश्वास दृढ रखना चाहिये कि हर कल्पमें भगवान् अपने भक्तकी रक्षा करेंगे ही (हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः)

यह समग्र भगवत्शास्त्रोंका गूढतम रहस्य है. इसे अच्छी तरह पढ़कर समझकर हृदयमें धारण करनेवालेकी भगवान्में रति दृढ होती है.

प्रस्तुत भक्तिवर्धनीका संस्करण वि. सं. १९७७ में प्रकाशित हुए संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद् गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजकी सहायतासे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा धीरजलाल ब्रजदास सांकलीमा ने इसका सम्पादन किया था. इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं.

EDITORS' NOTE.

भक्तिवर्धिनी is the twelfth of the Sixteen Sacred Books of श्रीमद्ब्रह्मसंहिता. It is the foundation of भक्तिमार्ग, and it clearly shows the means by which भक्ति towards God may be increased and strengthened. Nothing is said here about the मुख्य अधिकारी, for his अधिकारबल is strong enough to lead him to final realisation; the मध्यम अधिकारी has to resort to त्याग and ध्यानकीर्तन after his बीजभाव i. e. love towards God, which is produced only by His grace has been strengthened into आसक्ति and व्यसन. Such a व्यसनी, who cannot live without God, should leave worldly surroundings, and realise His separation unobstructed. Such a भक्त is referred to in निरोध-लक्षण and his state is described in महतां कृपया...अध्यासोपि सिध्यति. It is for such a भक्त, that in संन्यासनिर्णय it is said विरहातुभवार्थं तु परित्यागो प्रशस्यते. His साधन is nothing else but भावो भावनया सिद्धः. For the ह्येन अधिकारी—and almost all the people of the modern times should be included in this category—the method of strengthening the बीजभाव i. e., the divine love which is the gift of His Grace, is as follows:—He must stay in गृहस्थाश्रम, observe वर्णाश्रमधर्म, give up worldly pursuits and worship कृष्ण by पूजा, श्रवण &c. Even if he cannot give up worldly pursuits on account of poverty &c., he must concentrate his mind in हरि, the remover of all pains, and always try for श्रवण &c., till the बीज germinates, and प्रेम, आसक्ति and व्यसन are produced. The test of divine love is संसाररागनाश, the test of divine आसक्ति is गृहत्यागि; all the people in the house look like hindrances—nay, strangers. The test of व्यसन is the inability to live without Divine Presence, तद्विना स्थातुमशक्तिः. Even such a व्यसनी or विरहातुर should not constantly stay at home, because it is a prison, full of many fetters.

The त्याग stated above is not easy; it is full of obstacles due to दुःसंसार and दुष्टान्. Hence it is better to stay in a हरिस्थान, in the company of भक्तः, who are wholly engrossed in serving the Lord. There also the aspirant should stay near or distant, in such a way that his चित्त is not spoiled. श्रीब्रह्मसंहिता says that he who is wholly engrossed in सेवा or कथा till his life will never perish.

EDITORS' NOTE.

If one is really anxious to go to God, he will learn much from this ग्रन्थ. The fourteen commentaries that we have been able to collect and publish show the various aspects from which we can look at it. Of each of the first eight commentaries we had three to five copies, and from the ninth we had only one copy of each. Of श्रीकल्याणरायजी's commentary we had got a mss. written by his illustrious son श्रीहरिरायजी, of श्रीपुरुषोत्तमजी's we had a mss. corrected by himself in his own handwriting, and of 10, 11, 12 and 13, we had the original mss. written by the authors themselves.

A large collection of these commentaries we got from Pandit Gattulala's Library, and we are grateful to the departed Pandit for his vast and varied collection of mss. Some mss. we were able to get from the Bhandarkar Research Institute, for which we are thankful to Dr. S. K. Belvalkar. Shri Vallabhalalji, son of Shri Devkinandanji also gave us some mss. and we acknowledge our gratefulness to him. Lastly, some important original mss. Mr. Telivala was able to collect while on tour at श्रीनाथद्वार, कोटा, कांकरोली &c.

We note with pleasure the help that we have received in the preparation of press-copies of some of these mss. from Messrs. Gopaldas Jhalani, B. A., of Ujjain, Dhirajlal Kashinath Pandya of Anand, Chandulal C. Shah, Becharadas Maganlal and Purushottamdas Tribhuvandas of Nadiad. This work is printed from the funds supplied by निखलीलास्य गोखामी श्रीजीवनलालजी of पोर्बंदर and his son श्रीरणछोडलालजी and our sincere thanks are due to them.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Leet of Ford Shri Krishna.

BOMBAY, }
March 1921. }

MULACHANDRA T. TELIVALA.
DHIRAJLAL V. SANKALIA.



પ્રસ્તાવના.

સેવાકલાદિ બોડશસ્ત્રની માલા જે અમારાદ્વારા પ્રકટ થાય છે તેના આશ્રયદાતા શ્રીસુદા-મપુરીસ્થ શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીલવનલાલજી ગત શ્રાવણ કૃષ્ણ નવમી-નંદમહોત્સવને દિવસે નિલ્લીલામાં પધાર્યા છે, અને તેથી સાંપ્રદાયિક વિદ્યાકાર્યને મહાન અલાભ થયો છે. શ્રીલવ-નલાલજીનું પ્રાકૃત્ય શ્રીમદ્ગોસ્વામિ સાંવત્ ૧૯૧૬ માર્ગશીર્ષ શુકલ ત્રયોદશીને દિવસે થયું હતું. આપશ્રીનો ઉપનયનસંસ્કાર શ્રીજગન્નાથજીમાં થયો હતો. સંવત્ ૧૯૩૫થી આપશ્રી પોરબંદર પધાર્યા અને નિવાસ ત્યાંજ કર્યો. ત્યારથી આપશ્રી પોરબંદરવાલા શ્રીલવનલાલજી એ નામથી સંપ્રદાયમાં પ્રસિદ્ધ થયા. પંડિત ગદ્લાલાના સંપર્કથી વિદ્યામાં અભિરુચિ રાખનારા ત્રણ ગો-સ્વામી મહારાજો થયા. ૧. ટિકેત શ્રીગોવર્ધનલાલજી, ૨. શ્રીદેવકીનંદનલાલજી, ૩. શ્રીલ-વનલાલજી. આ ત્રણમાં શ્રીદેવકીનંદનજી નિલ્લીલામાં પ્રથમ પધાર્યા. શ્રીદેવકીનંદનજીનો વિદ્યાનુરાગ અપેક્ષિત રીતે સાંપ્રદાયિક ન થયો અને તેથી જનમનોરંજન કરીને યદ્યપિ મહત્તી ધનસંપત્તિ તથા કીર્તિ સંપાદન કરી તોપણ આપશ્રીના જીવનમાં સાંપ્રદાયિક નોંધ લેવા જેવું વિદ્યાકાર્ય એક પણ ન થયું. એઓશ્રીના લાલજી શ્રીવલ્લભલાલજી એ ન્યૂનતા દૂર કરે એ સ્પૃ-હણીય છે. ટિકેતશ્રીનો વિદ્યાનુરાગ ઉજ્જવલ છે, પરંતુ રાજકાર્યની ખટપટમાં આચાર્યશ્રી તરીકેનું પ્રધાન કર્તવ્ય-સાંપ્રદાયિક વિદ્યાનું રક્ષણ-તેમાં અપેક્ષિત ધ્યાન અઘાપિપર્યન્ત એઓશ્રી આપી શક્યા નથી. ત્યાંના આશ્રિત જૂની શૈલિના ટુકડી દૃષ્ટિવાલા અને દેશકાલ નહિ સમજનારા અને સાંપ્રદાયિક સાહિત્યના રક્ષણનું ગૌરવ અપરિચયથી નહિ અનુભવનારા પંડિતો ઘણે અંશે આ પરિણામમાં જોખમદાર છે. શ્રીલવનલાલજીનો વિદ્યાનુરાગ ન્યારથી બીજાંરૂપે રોપાયો ત્યારથી નિલ્લીલામાં પધાર્યા ત્યાંસુધી વૃક્ષાદિકરૂપે વૃદ્ધિગત થતોજ ગયો. આપશ્રીમાં વિદ્યાની પરીક્ષા કરવાની અને કાર્ય લેવાની શક્તિ હતી. આજ કારણથી આપશ્રીએ છગનશાસ્ત્રી તથા બાલશાસ્ત્રીને આશ્રય આપ્યો હતો. છગનલાલ શાસ્ત્રી સાથે આપશ્રી શ્રીસુબોધિન્નાદિનું વાચન કરતા એટલું જ નહિ, પરંતુ સમયોચિત કેટલાક ગ્રન્થો ગુર્જર ભાષામાં લખાવી પ્રસિદ્ધ કરાવ્યા. બાલશાસ્ત્રી સાથે પણ આપશ્રી શ્રીસુબોધિનીજીનું વાચન નિયમમતઃ કરતા, અને અન્ત સમયે શાસ્ત્રી હરિકૃષ્ણને પોતાના આશ્રયમાં રાખીને આપશ્રીએ શ્રીસુબોધિનીજીનું વાચન પ્રવચન નિલ્લીલામાં પધાર્યા ત્યાંસુધી સતત ચાલું રાખ્યું.

મહારાજશ્રીની આવહારિક કાર્ય કરવાની હુશલતા પણ ઘણી હતી. આજ કારણથી આ-પશ્રી નિજ તનુજ શ્રીરણુજીડલાલજીને મહત્તી સમૃદ્ધિ વારસામાં સોંપી ગયા છે, અને તત્સંબંધી ચિન્તામાંથી મુક્ત કરી ગયા છે. શ્રીરણુજીડલાલજીએ પણ નિજપિતૃચરણનું નામ તદ્ભીષ્ટ સ-કલ સાહિત્ય સમેત શ્રીસુબોધિનીજીની પ્રસિદ્ધિ કરવાનો સંકલ્પ કર્યો છે. તે અલ્પત યોગ્ય છે. એના જેવું સ્મારક અન્ય શું હોઈ શકે ?

મહારાજશ્રીનું કાર્યકોશલ્ય અસાધારણ હતું એટલુંજ નહિ પરંતુ સમયોચિત રીતે કાર્ય કરતા હતા. દયાનન્દાદિના મોહથી લોકોને ઉપનયનાદિનો મોહ થતો. આ મોહથી તે લોકો માર્ગમાંથી ભ્રષ્ટ ન થાય તેથી આપશ્રીએ ઘણા વૈષ્ણવોને ઉપનયનસંસ્કાર કરાવ્યા. આપશ્રીની ઉદારતા પણ ઘણી હતી. પ્રત્યેક જે એઓશ્રીના સંબંધમાં આવતું તેનો આપશ્રી તદ્વચિત રીતે સત્કારાદિ કરતા. આ પ્રકારે અનેક રીતે આપશ્રીનું જગન્મંજલકર્તૃત્વ તેમને સ્ફુરતું.

મહારાજશ્રીની કાર્ય કરવાની દૃઢતા પણ પ્રશંસનીય હતી. ન્યારે આપશ્રીએ મને બોડશ-શ્ત્રીનો સકલ સાહિત્ય સમેત પ્રકટ કરવાની સેવા સોંપી, તે સમયે સંપ્રદાયના અન્ય પંડિ-તોએ તેમ નહિ કરવાને આપશ્રીને સૂચવેલું. 'બીજાઓ તરફથી એ કાર્ય થાય છે, તેમાં વચમાં પડતું નહિ, આ લોકો તો વણિજ છે, તેમને એ કાર્ય સોંપાય નહિ' વગેરે વગેરે ઘણી રીતે મહારાજશ્રીને સમભવવામાં આવેલા. પણ એઓશ્રીની દૃઢતા તથા પ્રભુકૃપાથી અન્તે એ સેવા અમારાદ્વારા થઈ, અને અમને જાણીને સંતોષ થાય છે કે ઉક્ત પંડિતો પણ અમારા કાર્યથી પ્રસન્ન થયા છે. આર્ટિસ્ટ પાસે તૈયાર કરાવીને આપશ્રીનું ચિત્ર અત્ર ધર્યું છે-

ગ્રન્થાદિસંગ્રહ.

- ૧ પ્રથમ ટીકા શ્રીમદ્વાચાર્યપૌત્ર શ્રીમદ્બાલકૃષ્ણજી-શ્રીમદ્વિદ્યેશ્વરના તૃતીય હુમારની છે. આ ટીકાના ત્રણ પ્રતિ પ્રાપ્ત થઈ હતી. એક પંડિત ગદ્લાલાના સંગ્રહમાંથી અને બીજી એ યાત્રામાંથી અમને મળી હતી.
- ૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીશ્રીવલ્લભ-શ્રીગોકુલેશ-શ્રીગુસાંધળના ચતુર્થ લાલજીની છે. આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી હતી-એ પં. ગદ્લાલાના સંગ્રહમાંથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીના સંગ્રહમાંથી, અને એક લાંડારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાંથી.
- ૩ તૃતીય ટીકા શ્રીરણુનાથજી-શ્રીગુસાંધળના-પંચમ પુત્રની છે. આની ત્રણ પ્રતિઓ પં. ગદ્-લાલાના સંગ્રહમાંથી મળી હતી, અને એ યાત્રામાંથી.
- ૪ ચતુર્થ ટીકા શ્રીગુસાંધળના પોત્ર શ્રીકલ્યાણુરાયજીની છે. આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી છે. આમાંથી એક તો શ્રીહરિરાયજીના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરમાં લખેલી છે.
- ૫ પંચમ ટીકા શ્રીહરિરાયજીની છે. આ કારિકાત્મક ટીકાની પાંચ પ્રતિ મળી છે. ત્રણ પં. ગદ્લાલાની સંગ્રહમાંથી છે, એક શ્રીવલ્લભલાલજીની છે, અને એક યાત્રામાંથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે.
- ૬ ષષ્ઠ ટીકા શ્રીહરિરાયજીના ભાઈ શિક્ષાપત્રવાલા શ્રીગોપેશ્વરજીની છે. આની એ પ્રતિ યાત્ર-માંથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે.
- ૭ સપ્તમ ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજીની છે. આ ટીકાની પાંચ પ્રતિ મળી છે. ત્રણ પં. ગદ્લા-લાના સંગ્રહમાંથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીથી, અને એક નડીયાદમાંથી પ્રાપ્ત થઈ છે. આમાં એક શ્રીપુરુષોત્તમજીના નિજ શ્રી હસ્તાક્ષરમાં શોધેલી છે. એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત ગ્રન્થોમાં કરાવ્યો છે. આ ટીકામાં છપેલું ટિપ્પણ શ્રીયોગી શ્રીગોપેશ્વરજીના શ્રીહસ્તાક્ષ-રમાં લખેલું છે.
- ૮ અષ્ટમ ટીકા કાકા શ્રીવલ્લભજીની છે. એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત ગ્રન્થોમાં કરાવ્યો છે. આની પાંચ પ્રતિ મળી છે. એ યાત્રામાંથી અને ત્રણ પં. ગદ્લાલામાંથી.
- ૯ નવમ ટીકા મઠપતિ જયગોપાલજીની છે. પરિચય એમનો સેવાફલમાં કરાવ્યો છે. આની એકજ પ્રતિ યાત્રામાંથી પ્રાપ્ત થઈ છે.

- ૧૦ દશમ ટીકા દીક્ષિત લાલુભટ્ટની છે. આની એક પ્રતિ યાત્રામાંથી પ્રાપ્ત થઇ છે. આ મૂલ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે, લાલુભટ્ટનો પરિચય સેવાફલમાં કરાવ્યો છે.
- ૧૧ નવમી વિવૃતિ ભાંડારકર રિસચે ધન્ડીચ્યુટમાંથી મળી છે. મૂલ જ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે. ટીકાકાર કોઈ ગોસ્વામી મહારાજ હોય એમ લાગે છે.
- ૧૨ દ્વાદશ ટીકા શ્રીવલ્લભાત્મજ શ્રીબાલકૃષ્ણજીની છે. આ પણ મૂલજ પ્રતિ છે. આ પ્રતિ યાત્રામાંથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે.
- ૧૩ ત્રયોદશ ટીકા કોની છે તે અજ્ઞાત છે. એ પુસ્તક ઉપર શ્રીગિરિધરનું નામ છે તેથી શ્રીગિરિધરકૃત એમ કહ્યું છે. આ ગોસ્વામી શ્રીકાંકરોલીમાં થયલા હોવાથી તેજ ગૃહના કોઈ ગુસાંધજીની આ ટીકા હોવાનો સંભવ છે. આ પુસ્તક પણ મૂલ જ છે. કદાચિત્ આણંદની એકકવાળા શ્રીવિક્રમનાથજી આના કર્તા હોય.
- ૧૪ ચતુર્દશ ટીકા કોની છે તે પણ અજ્ઞાત છે. શ્રીદ્વારકેશજીનું નામ કલ્પનાથી મૂકેલું છે. આ પ્રત અશુદ્ધ તથા તુટિત છે. પં. ગદ્દલાલાના સંગ્રહમાંથી મળી છે. યથામતિ શોધી છે. ગોપાળદાસ ઝાલાની, બી. એ, ચંદુલાલ, ધીરજલાલ પંડ્યા, બેથરદાસ, પુરુષોત્તમદાસાદિનો લિખનમાં ઉપકાર થયો છે. ભક્તિવર્ધિનીનો સાર અન્તે અંગ્રેજીમાં આપેલો છે. ઉપર જણાવેલા સર્વનો અમે ઉપકાર માનીએ છીએ. શ્રીજીવનલાલજીનું તથા એઓશ્રીના લાલજી શ્રીરણજીડલાલજીનું સાહાય્ય મુક્ત કંઠે સ્વીકારીએ છીએ અને શ્રીમત્રણચરણકમલમાં આ ગ્રન્થને સમર્પીએ છીએ.

મુબઈ. ૧૯૭૭.
દોલોત્સવ.

}

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા,
ધૈર્યલાલ સાંકલીયા.



શ્રીકૃષ્ણાય નમઃ ।

ભક્તિવર્ધિની ।

શ્રીમદ્ભાષ્યપ્રણીતા ।

યથા ભક્તિઃ પ્રવૃદ્ધા સ્યાત્તથોપાયો નિરૂપ્યતે ।
 ઘીજભાવે દૃઢે તુ સ્યાત્યાગાચ્છ્રવણકીર્તનાત્ ॥ ૧ ॥
 ઘીજદાર્ભ્યપ્રકારસ્તુ ગૃહે સ્થિત્વા સ્વધર્મતઃ ।
 અધ્યાવૃત્સો ભજેત્કૃષ્ણં પૂજયા શ્રવણાદિભિઃ ॥ ૨ ॥
 વ્યાવૃત્સોપિ હરૌ ચિત્તં શ્રવણાદૌ ન્યસેત્સદા ।
 તતઃ પ્રેમ તથાસક્તિર્વ્યસનં ચ યદા ભવેત્ ॥ ૩ ॥
 ઘીજં તદુચ્યતે શાસ્ત્રે દૃઢં યન્નાપિ નશ્યતિ ।
 સ્નેહાદ્રાગવિનાશઃ સ્યાદાસક્ત્યા સ્યાદ્ગૃહારુચિઃ ॥ ૪ ॥
 ગૃહસ્થાનાં બાધકત્વમનાત્મત્વં ચ માસતે ।
 યદા સ્યાદ્ગ્નસનં કૃષ્ણે કૃતાર્થઃ સ્યાત્તદૈવ હિ ॥ ૫ ॥
 તાદૃશસ્યાપિ સતતં ગેહસ્થાનં વિનાશકમ્ ।
 ત્યાગં કૃત્વા યંતેચસ્તુ તદર્થાર્થેકમાનસઃ ॥ ૬ ॥
 લભતે સુદૃઢાં ભક્તિં સર્વતોભ્યધિકાં પરામ્ ।
 ત્યાગે બાધકભૂયસ્ત્વં દુઃસંસર્ગાત્તયાગ્નતઃ ॥ ૭ ॥
 અતઃ સ્થેયં હરિસ્થાને તદીયૈઃ સહ તત્પરૈઃ ।
 અદૈરે વિપ્રકર્ષે વા યથા ચિત્તં ન દુષ્યતિ ॥ ૮ ॥
 સેવાયાં વા કથાયાં વા યસ્યાસક્તિર્દૃઢા ભવેત્ ।
 યાવજ્ઞીવં તસ્ય નાશો ન કાપીતિ મતિર્મમ ॥ ૯ ॥
 બાધસંભાવનાયાં તુ નૈકાન્તે વાસ ઇષ્યતે ।
 હરિસ્તુ સર્વતો રક્ષાં કરિષ્યતિ ન સંશયઃ ॥ ૧૦ ॥
 ઇત્યેવં ભગવચ્છાસ્ત્રં ગૃહંતત્ત્વં નિરૂપિતમ્ ।
 ય એતત્સમધીઘીત તસ્યાપિ સ્યાદ્ગૃહા રતિઃ ॥ ૧૧ ॥
 इति श्रीमद्भलभाचार्यप्रकटिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता ।

૧ યસેત્, યતેત્ । ૨ ગૃહસ્થાનમ્ । ૩ વિનાશનમ્ । ૪ યસેત્ । ૫ અદૈરમ્, અદુર । ૬ મયા
 ગુપ્તમ્, ગૃહં તત્ત્વમ્ ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्दालकृष्णकृतविवृतिसमेता ।

रत्यन्ते स्वेदविन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जातो
निःस्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ॥
श्रीराधावक्रपद्माद्भुतमधुचिरतःपानघूर्णायमानो-
द्विक्तः स्नेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ॥ १ ॥

इह खलु स्वेनैव साक्षाद्भगवते निवेदितान् भक्त्यङ्कुरितचित्तान् सर्वान् भक्तिप्रवृद्ध-
र्थमुपायानभिज्ञान् परमकृपया तानुपायानाचार्या उपदिशन्ति यथा भक्तिरिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्, प्रकर्षणैधमानोत्तरोत्तरं भगवति स्याद्, यस्या न
कदाचिदपि हासः । एतादृशस्तत्प्रवृद्ध्यनुकूल उपायो निरूप्यते नितरामुच्यते । यत्प्रकारक-
निरूपणानन्तरं न कोप्युपायस्तिष्ठत्यवशिष्टः । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा दृढं बीजभावं तत्र प्रथमं
भक्तिप्रवृद्धौ हेतुमाहुः बीजेति । भक्तिकल्पतरुप्रवृद्धिकारणभावो बीजभावः । अनुग्रहो-
त्तरकालीनभाव इति यावत् । यद्वा । बीजपदं सत्पुरुषपरम् । तस्मिन्यो भावो भगवत्त्वेन
भावः । 'आचार्य मां विजानीयात्' 'अविद्यो वा सविद्यो वे'त्यादिवाक्यैः । स यदा वक्ष्य-
माणसाधनैर्दृढो भवति, तदा सा तथा भवति । अथवा, बीजपदेन भगवानेवोच्यते । त-
स्मिन्तस्य तथात्वे सा तथा भवति । ननु बीजभावोत्पत्तावनुग्रह एव हेतुरित्यत्र को हेतुः ।
उच्यते । नहि तदुत्पत्तौ कर्म । तज्जन्यत्वेनाश्रयमाणत्वात् । नापि स्वतः । चेत्स्याद्दृष्टः
स्यात् । नापि स्वभाववैचित्र्यं वक्तुं शक्यम् । अनुक्तत्वात् । तेन 'यमेवैष वृणुत' इति
'यदा यमनुगृह्णाती'त्यादिवाक्यैः स एव हेतुत्वेन वाच्यः । निश्चयार्थकस्तुशब्दः । हेत्व-
न्तरमाहुः त्यागादिति । त्यागाद्भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । त्यागस्तु भगवन्वरणारविन्दप्राप्त्यर्थं
सवासनगृहादिविस्मृतिः । केवलत्यागेनैव सा तथा न भवतीत्यत उक्तं श्रवणकीर्तना-
दिति । प्राणिवर्जितजातिवाचित्वेनैकवद्भावः । श्रवणकीर्तनाभ्यामपि सा तथा भवति ।
एवं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुत्रयमुक्त्वा बीजभावदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजस्य दाढ्ये यः प्रकारः स उच्यते । तुशब्दः पूर्वभेदकः । यत्स्वगृहे स्थित्वा स्वधर्मतः स्वधर्मभ्यो वर्णाश्रमधर्मभ्यः अव्यावृत्तस्तत्सहितः सन् कृष्णं पूर्णपुरुषोत्तमं भक्त्यैकगम्यं भजेत् । कैर्भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजयेति । कृष्णं पूजया भजेत् । पूजा त्वागमोक्तप्रकारेणार्हणीयोपचारः । ननु पूजया भगवद्भजनं कथम् । भक्तेरेव पूजाविषयत्वात्, ननु भगवतो, यतः 'भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत मा'मिति भगवद्वाक्यविरोधात् । सत्यम् । अस्ति पूजाविषयत्वं भक्तेः, परन्तु मूले हि परम्पराकारणत्वाभिप्रायेण पूजाव्यपदेशो, न तु साक्षात् । तेन कृष्णपदं तु भक्तस्य पुरुषोत्तमगामिनी पूजापि भवतीत्यत उक्तम् । यद्वा । एवंविधनिःकामपूजाफलविषयनिर्धारार्थं कृष्णपदम् । एवं पूजया भजनं निरूप्य श्रवणादिभिरपि निरूपयन्ति श्रवणादिभिरिति । श्रवणादिभिरपि कृष्णं भजेत् । आदिपदग्राह्ये कीर्तनस्मरणे । तेनैतन्मार्गीयस्य श्रवणादिव्यतिरेकेण क्षणमपि न स्थेयमित्यायातम् ।

ननु सततं कृष्णभजनं कथम्, कार्यान्तरव्यासक्तेस्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्ये व्यावृत्तो व्यासक्तोपि चेत्तदा गुरूपदिष्टं याद्भगवत्स्वरूपं तत्रैव स्वस्य चित्तं स्थाप्य भवेत्, अव्यावृत्तिमान् यदि भवेत्, तदा श्रवणादौ चित्तं यसेत् । यद्वा, प्रकारान्तरेणाप्यस्यावतारिका सम्भवति । तथा हि । ननु यदि स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका, तदा त्वादतोपदेशस्य दैववशात्प्रच्युतधर्मस्य कस्यचित्प्रयोजकाभावाद्भजनासम्भवः । तथाच तत्कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्, तस्मात्प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्येतिन्यायेन ग्रहणाभाव एव वरमिति चेत्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति । अत्रेयं शङ्का न कार्या । यत्स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका । 'अपि चेत्सुदुराचार' इति भगवद्वाक्याद्भगवदीयस्य प्रच्युतधर्मस्यापि भगवद्भजनस्य विहितत्वात् । परन्तु यावदारभ्य भगवद्भजनाभिनिविष्टस्ततःप्रभृति तस्य दुराचाराकरणमित्यपेक्षितम् । अन्यथानन्यभाक्त्वभङ्गप्रसङ्गः । दुराचारस्यापि भजनात् । तेन स्वधर्मभ्यो व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यसेत्प्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः । एतादृशस्यापि स्वबलेनैवान्तरायान् दूरीकृत्य स्वरूपानन्ददानं करोतीति ज्ञापनाय हरिपदम् । पूर्वं हरिपदोक्त्या मध्ये चित्तपदोक्त्यान्ते श्रवणादिपदोक्त्या देहलीदीपवदुभयत्रापि साम्येन चित्तवृत्तिः स्थाप्येति ज्ञेयम् । एवं सततं भजने क्रियमाणे उभयविधानामपि यदेकजातीयं फलं तदाहुः तत् इति । तदनन्तरमेवं भजनानन्तरमुभयविधानां प्रेमोत्पत्तिर्भवति भगवति सर्वात्मना । तथैवासक्तिः, तद्भ्यतिरेकेण स्थित्यसम्भव इति यावत् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव' इति यथा । व्यसनं तु सततमन्य-

विस्मृतिपूर्वकं भगवत्परता । चः समुच्चायकः । एतन्नित्यं यदा भवेत् तदा तदीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यत्कथमपि न नश्यति ॥ ३ ॥

तन्नाशमावप्रकारपूर्वकं खेहादीनां त्रयाणां प्रत्येकं फलमाहुः खेहादिति सार्धेन ।

खेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्भ्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति खेहाद्गृहविषयको यो राग उक्तटेच्छारूपस्तस्य विशेषेण नाशः स्यात् । नाशपदेन पुनस्तस्यानुत्पत्तिरिति ज्ञेयम् । अत एव न निवृत्त्यादिपददानम् । आसक्त्येति । यदा भगवत्यासक्तिर्जाता, तदा तद्भ्यतिरेकेण स्थित्यसम्भवेन तदर्थं यत्ने जाते गृहस्थाः स्वार्थं तं प्रेरयन्तीति तस्मिन्नरुचिः, तथा कृत्वा भगवद्भजने बाधकत्वं विन्नकर्तृत्वं भासते, एत आत्मीया न भवन्तीत्यपि । यदि स्युस्तदा किं प्रतिबन्धकाः स्युरिति । व्यसनं हीति । यस्मिन्काले अचिन्त्यानन्तफलदातरि कृष्णे व्यसनं स्यात्तदैव स कृतार्थः स्यात् । संशयव्युदासाय हीति पदम् ॥ ४, ५ ॥

एवं त्रयाणां फलमुक्त्वा तादृशस्य कर्तव्यतामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

खेहासक्तिव्यसनवतोपि पुरुषस्य तदनन्तरं यत्सततं सर्वदा गृहरूपं यत्स्थानं तद्विनाशनम् । खेहासक्तिव्यसनानां विनाशनमित्यर्थः । तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात् । तेन तत्यागं कृत्वा यो यतेत्यर्थं कुर्यात् । एतेन मध्ये तीर्थादिकमपि गच्छेदिति सततपदेन ज्ञेयम् । ननु सोपि प्रयत्नो मायावादिवज्जिराकार एव भवेदित्याशङ्क्युदासायाहुः तदर्थेति । भगवद्रूपो योर्धस्तदर्थमेकं मानसं यस्य स तथा । इदं तेषां न । शून्ये एव पर्यवसितमतित्वात् । 'येन्येरविन्दाक्षे'त्यादिवाक्येन निन्दितत्वाच्च । तेषां गार्हस्थ्यधर्मत्यागे भगवदर्थं गृहात्यागे उभयतः प्रच्युता अधःपतन्ति । तेन त्यागस्तु भगवदर्थमेव मुख्यः । सोपि पूर्वमान्तरः, तस्मिन् सिद्धे ततो बाह्यतः । एकपदं सततमेतन्मार्गीयैकलभ्यफलात्मके मनःस्थितिज्ञापनाय । तेनैतदतिरिक्तावतारे 'मूलसेकः शाखायामपि पर्यवसती'ति न्यायेन तदकरणं न विरुध्येत । तस्यां सत्यां देहव्यापृतिस्तत्रैव ॥ ६ ॥

एतादृशस्य यत्फलं तदाहुः लभत इति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाहृतः ॥ ७ ॥

य एवं त्यागं कुर्यात्स भक्तिं प्राप्नोति । एवंविधत्यागस्य भक्तिफलकत्वात् । तेन

मुक्त्यादीनामेतत्फलत्वाभावः सूचितः । तत्रापि सुदृढा अविनश्वरा । सततमेधमाना । सापि भक्तिः सर्वतो मोक्षादेरप्यधिका मुक्तानामपि दुःप्राप्या । 'भगवान् भजता'मिति वाक्येन । ततः पुष्टिरूपामपि लभते । परामिति । परामुत्कृष्टामुक्तभक्तेः । पुष्टिरूपामिति शेषः । एवं त्यागफलमुक्त्वा पुनः सिंहावलोकनन्यायेन त्यागव्यवस्थां वदन्ति त्यागे इति । कृत एव त्यागे न कोपि पुरुषार्थः । तस्मिन् बाधकानां भूयस्त्वं बहुत्वम् । भूयांसि बाधकान्युपस्थितानि भवन्ति । ततस्तं नाशयन्ति । ननु तस्मिन् सति तदुपस्थितिः कथम् ? तत्र हेतुमाहुः दुःसंसर्गादिति । तदुपस्थितिस्तु भक्तानां भगवद्भक्तविरोधिनां संसर्गात् संगतेः । तत्संसर्गानन्तरं सोपि तथा भवति । तत्संसर्गेण भगवद्भक्त्याणामन्तर्हितत्वात् । तथैव दुष्टान्नग्रहणे दुर्बुद्धिर्भवति । तस्य पापान्नत्वात्, भ्रान्त्युत्पादकत्वाच्च । यथा जीवानां भगवत्संबन्धाभावे सदोषत्वम्, तथा न्नस्यापीति; तत्प्रवृद्धिकामोऽसमर्पितं न भुञ्जीयादित्याशयः । उपलक्षणं चैतत् । वस्तुतस्तु वस्तुमात्रे तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदभावः । तेन सम्बद्धैरसम्बद्धं न ग्राह्यमिति भावः । तेन यथाकथञ्चित्सम्पादितं तत्सम्बद्धं तदपि शुद्धमेव भवतीति तादृशैस्तथैव कार्यमिति भावः सूचितः । असद्रव्योपाजितमन्नं कृपणान्नं च दुष्टान्नम् । तेन दुःसङ्गतिर्दुरन्नं च यत्र न भवति, तत्र सततं स्थेयम् । एतेनाटनाभावः सूचितः ॥ ७ ॥

तत्स्थानमेवाहुः अन्न इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यत उभाभ्यां तद्भयस्त्वमत एकान्ते हरिस्थाने यत्र हरिः सर्वतः तिष्ठति तत्रैव स्थेयम् । तत्राप्येवमेव जडवन्न । किन्तु तदीयैः भगवदीयैः भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा । ते हि तद्दार्ताभिज्ञा यतो भवन्ति । तेन सत्सङ्गे सति कृतार्थ एव भवति । एतेन दुःसङ्गो न भवतीत्यायातम् । दुष्टान्नप्राप्तिरपि न । तदुच्छिष्टस्यैवोपादेयत्वात् । अयमेव दासधर्मो यतः । असूयाद्यारोपोपि तेषु न कार्यः । यतस्ते तत्पराः केवलं भगवत्पराः । भगवन्तं विनान्यत्किमपि न जानन्ति । तस्मात्तेषु द्वेषादिषु सत्सु सोपि तं न सहते । भक्तद्वेषादेरसह्यत्वात् । इदं तूच्यते । यस्य तत्सङ्गस्तस्य तेषु तदारोपो भवति एव न । वस्तुस्वभावात् । तस्मिन्सति तु तथैवेति सम्भाव्यते । तदीयैः सह सेवायां अदूरस्य दूराभावस्य विप्रकर्ष अतिशयेनाधिक्यं यस्मिन्देशे तत्र स्थेयम् । यथाहोरात्रमध्ये वारद्वयमेकवारं वा तत्सङ्गो भवति । वेत्यनादरे । यतो मुख्यः पक्षः स एव यस्मिन्सेवाश्रवणादिकं मतम् । अस्मिन्सु केवलं श्रवणादि एव । तेनायं गौणः । मुख्यासम्भवेपीदं तु कार्यमेव । अन्यथा चित्ते दोषाक्रान्त्या नाश एव ॥ ८ ॥

नन्वेवं भगवदर्थं क्रियमाणायां सेवायां मध्य एव देववशादुर्बुद्धौ जातायां नाशोपस्थितौ तु तत्कृतिर्व्यर्था स्यादत आहुः सेवायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सेवायामासक्तिर्भवेत्सोपि कियत्कालपर्यन्तमेव, पुनर्नैवेवं न, किन्तु दृढा, सेवायां तु कश्चिदेवाधिकारी भवतीत्यत उक्तं वेति । अनेन दुर्लभत्वं निरूपितम् । तथैव कथायाम् । तदनन्तरं तामेव तदीयैः सह कुर्यात् । अन्यत्र मनो न निवेशयेत् । तेन मुख्यत इदं द्वयमेव कार्यम् । कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं वेत्युक्तम् । तादृशस्य नाशो न, किन्तुत्तरोत्तरमुन्नतिरेव । तर्हि यत्किञ्चिद्दिनपर्यन्तं मा भवतु, ततस्तु कदाचिद्भवेदेवेत्याशङ्क्याहुः यावज्जीवमिति । स यावज्जीवति तावत्तस्य नाशो न । कापीति । कस्मिन्नपि देशे केनापि प्रकारेण न भवतीत्यर्थः । अनिशं तत्सेवाकथोधमे तदितरत्रानुपयोगः क्रियाशक्तेर्वीर्तायाश्चित्तस्यापि । अत्र प्रामाण्यार्थं स्वमतिरेव दर्शिता । मतिर्ममेति । अहं त्वेवमेव जानामि, यत्सेवाश्रवणादिकमेव सततं कार्यम्, यतो नाशाभावप्रकारस्त्वयमेवास्मिन् शास्त्रे मुख्यतया निरूप्यते ॥ ९ ॥

नन्वेवं तत्र स्थित्वा क्रियमाणायां सेवायां चेत्केनापि कृत्वा बाधसम्भवे सति किं कार्यं तत्राहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधस्य सम्भावना यदा भवति सेवायां तदा त्वेकान्ते भगवत्स्थाने वासो नेष्यते । न च कलहद्वेषादिनापि स्थेयम्, सेवाया एवेष्टसाधनत्वादिति वाच्यम् । एवं च प्रतिबन्धकस्य बलवत्त्वेन तदसम्भवे द्वेषादेर्भनसि स्थित्या श्रवणाद्यसम्भवे चित्ते दोषाक्रान्त्या कृतवैयर्थ्यापत्तिः । तस्माद्भगवदिच्छयैवं जातमिति मनसि निश्चित्य ततो निःसृत्य निश्चिन्तस्तत्स्मरणं कुर्वन् तीर्थं तिष्ठति, गृहे वा । नन्वेवमेव चेद्भगवदिच्छा, तदा तु पर्यवसानतो नाश एवेत्याशङ्क्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतः सर्वेभ्यः सर्वप्रकारेण हरिस्तु रक्षां करिष्यतीत्येवं मनसि निर्धार्य स्थेयम् । सर्वथाश्रितानां रक्षामेव करोति । अप्रामाण्यशङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः न संशय इति । अत्र संशयो न कार्यः । यमनुगृहीतवांस्तं पुनर्न त्यक्ष्यति, सत्यसङ्कल्पत्वात् । इदानीमिच्छाया एव तथात्वात्सेवाऽभावः । यदि कदाचित् भविष्यति, तदा सापीत्यस्मिन्नर्थे न कापि चिन्ता विधेया ॥ १० ॥

एवमुपायान्निरूप्य तत्फलं निरूपयन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इति भगवच्छास्त्रं मया निरूपितम् । यद्भगवत्कृपैकवेद्यम् । तत्र हेतुः । यतो भगवच्छास्त्रं भगवदीयं शास्त्रम्, एतच्छास्त्रवेदको भगवानेव, यतो नान्यः, एतदज्ञत्वात् । अन्यस्यैतदज्ञत्वे हेतुमाहुः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तं सर्वैरज्ञातं यद्भगवत्स्वरूपं तदेव तत्त्वं सारमूतं यस्य तत्तथा । तदपि मया एवं निरूपितम् । अत्र प्राकट्यपूर्वकं निरूपितमित्यर्थः । भक्तिमार्गजिज्ञासूनां निमित्तम् । तेन य एतदुक्तप्रकारमाचरेत्तस्य भगवति रतिः स्यात्सापि दृढा । एतदुक्ताचरणाभावे यत एतत्प्रत्यहं सम्यगर्थावबोधपूर्वकं अधीयीत पठेत्तस्यापि तथा रतिः स्यादिति ॥ ११ ॥

विद्वलेशपादान्जैकदास्यसङ्काङ्क्षिणा सदा । प्रकाशिता यथाशक्ति मयेयं भक्तिवर्धिनी ॥१॥

इति श्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीविधृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीश्रीवल्लभविरचितविधृतिसमेता ।

नत्वा स्वाचार्यपादान्जं कृपामधुसुरितम् ।

तत्परागारक्तबुद्ध्या व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

तद्बुद्धिदृढतासिद्ध्यै पितृपादरजांस्यहम् ।

दृष्टाधाय प्रवृत्तोस्मि नान्यथेति हि निश्चितम् ॥ २ ॥

अथाचार्यचरणाः स्वमार्गीङ्गीकृतानां स्वमार्गीयभक्तिवृद्धिप्रकारमज्ञानतां कृपया तज्ज्ञापनाय तद्बुद्धिप्रकारं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन साधनेन भक्तिः स्वप्रवर्तितमार्ग्यरूपा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति तथा तत्प्रकारक उपायः साधनं निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिप्रकाराः शास्त्रेषु पुराणादिषुक्ता एव । उत्पत्त्यनन्तरं वृद्धिस्त्वनुक्तसिद्धैव । तद्यथा । श्रीभागवते 'दानव्रततपो-

होमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति । एकादशेषि 'श्रद्धामृतकथाया'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सज्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इति । प्रथमस्कन्धेपि 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे'ति । गीतास्वपि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति भक्त्युत्पत्तिप्रकारा उक्ता एव । यद्यप्युत्पत्तिप्रकारा उक्तास्तथापि वृद्धिप्रकारो नोक्त इति तद्बुद्धिप्रकारार्थमाचार्यकथनं सम्भवतीति चेत् । न । वृद्धिप्रकारोपि तत्रोक्तः । तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धमत्स्या विशदाशया ये । वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथा-ज्ञसान्वीयुरकुण्ठधिष्यमि'ति । अत्र प्रकारोप्युक्तः । यद्यप्यत्रोत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः पुराणादिष्वप्युक्ता एव, तत एवोभयसम्भवे सत्यपि 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्या'दिति पुनर्भक्तिवृद्धिप्रकारकथने को हेतुरिति चेत् । सत्यम् । पूर्वोक्तसाधनानां दानव्रतादीनां मर्यादामार्गीयत्वात् तदुत्पन्नभक्तेरपि तन्मार्गीयत्वमेवेत्यवधेयम् । 'कार्यकारणयोरेकजातीयत्व'मिति नियमात् । वृद्धिप्रकारस्यापि तन्मार्गीयसाधनसाध्यत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च मर्यादामार्गीयत्वमेव । आचार्यास्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिनिरूपणं कर्तुं तस्याश्च मर्यादाभक्तिवैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तत्साधनानि तत्फलं च वक्तुं तत्साधनानां तत्फलस्य च वैलक्षण्यं वक्तुं भिन्नतया स्वमार्गीयां भक्तिं तद्बुद्धिप्रकारसाधनं च निरूपयन्ति यथेति । यथा स्वमार्गीयस्वप्रवर्तितसाधनैर्भक्तिः शुद्धपुष्टिमार्गीया प्रकर्षेण वृद्धा वर्धिता स्यात् । वृद्धौ प्रकर्षः फलोन्मुखत्वम् । तथा तत्प्रकारकोपायस्तत्प्रकारकसाधनसमुदायो निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । पूर्वोक्तसाधनसमुदायानेवाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । अत्र बीजभावस्वरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहपूर्वकं स्वमार्गप्रकारकभगवन्निवेदनानन्तरं भगवदङ्गीकार एव बीजभावः । तस्य दार्ढ्यं निरन्तरं तदेकपरतया तन्मार्गीयस्थितिः । तुशब्देन मार्गान्तरीयसाधनव्युदासः । तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । वृद्धौ स्वमार्गीयसाधनान्तराण्याहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । त्यागादेतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागात् । तद्देवैतन्मार्गीयभगवद्दर्भश्रवणात् । तथैव तद्देव कीर्तनात् । अत्र श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावोक्तोभयोरप्येकजातीयत्वं ज्ञापितम् ॥ १ ॥

यद्यपि पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकार उक्त एव । तथापि कदाचिदितरव्यासङ्गान्तरायः सम्भवति, तस्माद्यथेतरव्यासङ्गभावेन बीजदार्ढ्यं सिध्यति तदर्थं भगवद्भजनरूपं प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्तिवति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गुणशब्देनैतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदास उक्तः । स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्य-
भावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेवाहुः गृहे स्थित्वेति । भगवद्भजनानुकूले गृहे
स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत् । अत्र स्वधर्मपदेन वर्णाश्रमधर्मा न विवक्षिताः, किन्तु
स्वमार्गीयभगवद्धर्मा विवक्षिताः । कुतः, वर्णाश्रमधर्माणां स्वधर्मत्वाभावात् । तथा ।
धर्मो द्विविधः । एकः शरीरपर्यवसायी । द्वितीय आत्मपर्यवसायी । तत्र सन्ध्यावन्दन-
मारम्य यागान्तानां वर्णाश्रमधर्माणां शरीरपर्यवसायित्वमेव । इन्द्रलोकादिभोगपर्यवसा-
नात् । समाप्तौ पुनः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति वचनात् शरीरसुखपर्यवसा-
यित्वमेव, न त्वात्मनः परलोकसाधकत्वम् । स्वपदस्यात्मपरत्वात् स्वधर्मपदेनात्मपर्य-
वसायी धर्म उच्यते । स च भगवद्धर्म एव । तथा च प्रमाणं -सप्तमस्कन्धे ब्रह्मादवच-
नम् । 'यद्यजनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री'रिति । किञ्च,
फलप्रकरणेपि रासमण्डलमण्डनरूपाभिर्गीतम् । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व
आत्मज्ञित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मिति । किञ्च, स्वधर्मत इति कथनात् धर्मपदस्य
तसिस्त्रययान्तत्वेनाव्ययत्वाद्दिकृतो धर्म उक्तः । तेनाविकृतो धर्मो भगवद्धर्म एवेति
स्वधर्मपदेन भगवद्धर्म एवेति सर्वमनवद्यम् । स च स्वधर्मः क इत्याकांक्षायामाहुः अ-
व्यावृत्तो भजेत्कृष्णमिति । अव्यावृत्तो भगवद्भजनानुकूलव्यावृत्तिरहितः कृष्णं भजेत् ।
अत्र भजने कृष्णपदस्य फलवाचकत्वेनेदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम्,
न तु साधनं बुद्ध्या । 'यद्यप्यग्रे 'लभते सुदृढां भक्ति'मित्येनालौकिकदेहसम्पत्तिपूर्वकं साक्षा-
त्पुरुषोत्तमभजनस्यैव फलत्वोक्त्याधुनिकभजनस्य साधनत्वमायाति, तथापि पुष्टिमार्गे पुरु-
षोत्तमस्यैव भजनीयत्वात्, यद्यपि आधुनिकभजने अलौकिकदेहसम्पत्तिर्नास्ति, तथापि
आधुनिकभजनस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमेवेति अस्यापि फलरूपत्वमिति ज्ञापनायोक्तमिदं
भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यमिति' । ननु एकस्यैव साधनरूपत्वं फलरू-
पत्वं च कथं सम्भवतीति चेत् । सत्यम् । साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलस्येतरसाधनासाध्यत्वात्
पुरुषोत्तमभजनमेव साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलसाधक(त्व)म् । यथा महाराजस्य धार्यमपि सुवर्ण-
रत्नादिकमेव । व्यवहार्यमात्राप्यपि तन्मयान्येव । अथ च कोशे संग्राह्यमपि सुवर्णरत्नादि-
कमेव । यतस्तस्य महाराजस्य सर्वतोधिकत्वात् । सुवर्णस्यापि सर्वधात्वपेक्षयोत्कृष्टत्वात् ।
तथा तद्दस्य फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनमपेक्षितम् । सर्वोत्कृष्टस्य साध-
नस्य विचारे क्रियमाणे भजनातिरिक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनं सर्वोत्कृष्ट-
फलमेवेति भजनमेव साधनम्, भजनमेव फलमिति नानुपत्तिः काचित् । अग्रे भजन-
प्रकारमाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजापदेन आगमोक्तप्रकारकपूजा न
विवक्षिता । पूर्वं कृष्णपदेन सदानन्दफलरूपपुरुषोत्तमभजनस्य प्रकारत्वेनोक्तत्वात् । आ-

१ कुतः ? तेषां वर्णाश्रमधर्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् । अत्र केवलभक्तिमार्गीयधर्मविचारे पुनः कथने
प्रयोजनाभावात् न विवक्षिता इत्युक्तम् । २ चिदान्तर्गतं टिप्पणं प्रतिभाति, अन्यपुस्तकेषु कचिददर्शनात् ।

गमोक्तपूजायाः पुरुषोत्तमविभूतिपर्यवसायित्वात् न पुरुषोत्तमभजनपर्यवसायित्वम् । तथापि
पुरुषोत्तमभजनप्रकारेषु पूजाया अपि गणनात्सा पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीयैवेति ज्ञेयम् । अत एव
शुद्धपुष्टिमार्गविद्धिः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये गुणगाने हरिणीनां भावं निरूप्य पश्चा-
त्तद्भावदृष्टेरेव पूजात्वमुक्तम् । 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै'रिति कथनात् । एत-
द्भावसजातीयभावपूर्वकं श्रीकृष्णदर्शनसेवाकरणमेव पूजया भजनम् । एतद्भावज्ञापनाय
अत्रैतन्मार्गीयभजनसाधनपूजेयमिति ज्ञापनायोक्तं पूजयेति । अस्मिन्मार्गे भजनं सेवैव ।
अत्र 'केचित्स्नेहरहितसेवा पूजैवेति पूजापदं व्याख्यातवन्तः, तत्र विचारक्षमम् । कुतः ?
मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । आचार्यैस्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयकृतस्वकीयजीवेषु स्वप्र-
कटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिवृद्ध्यर्थं भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं कृतम् । तदीयशास्त्रे तदङ्गीकृता
एवाधिकारिणः, नत्वन्ये । तेषामाचार्यानुग्रहेण शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् तत्प्रदर्शितसेवा-
करणं सत्त्वेहं स्नेहरहितं वा भवतु, परन्तु पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गीयमेव भवति ।
ननु पूजामार्गीयम् । किञ्च, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारसदृशाः प्रकारा वल्लालङ्कारादिसम-
र्पणरूपाः पूजायामपि दृश्यन्ते । तथापि तेषां विभूतिपर्यवसानात्पूजामार्गीयत्वमेव, न तु
सादृश्यमात्रेण तेषां भक्तिमार्गीयत्वम् । मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । किञ्च । यो यन्मा-
र्गीयस्तत्कृतं सर्वं भगवद्धर्मादिकं तन्मार्गीयमेव भवति । यथा 'प्रमादात्कुर्वतां कर्म'त्यत्र
कर्मसाद्गुण्यार्थं कृतस्य विष्णुस्मरणस्य कर्ममार्गीयत्वमेव । अन्यच्च 'यस्य स्मृत्या च नामो-
क्त्ये'त्यत्र स्मृत्यादित्रयाणामपि कर्ममार्गीयत्वमेव, न तु नवधाभक्तयुक्तसादृश्यमात्रेण
भक्तिमार्गीयत्वम् । एवं सेवोपयोगिनीं पूजामुक्त्वा तदुपयोगिश्रवणादिकमप्याहुः श्रवणा-
दिभिरिति । सेवाकरणान्तरमवशिष्टकाले इतरव्यासङ्गाभावार्थं श्रवणम् । आदिपदेन
कीर्तनस्मरणचिन्तनान्यपि ॥ २ ॥

एवमव्यावृत्तिपूर्वकं भजनमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थव्यावृत्तिसमयेपि हरौ सर्वदुःखह-
र्तेरि चित्तव्यासङ्गपूर्वकमेव व्यावृत्तिः कर्तव्येत्यत आहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तिकरणान्तरमवशिष्टसमये पूर्ववत् श्रवणादौ यतेत् श्रवणार्थं यत्नं कु-
र्यात् । एवं भक्तिमार्गीयभक्तिवृद्धिसाधनान्युक्त्वास्य भक्तिवृद्धिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेति ।
पूर्वं प्रेम भवति । ततः स्नेहाङ्कुरो भवति । तदनन्तरं प्रौढभावे सति आसक्तिर्भवति । चित्तं
भगवत्स्वरूपे व्यासक्तं लभं तदेकपरं भवति । ततः प्रौढभावे सति व्यसनं भवति ।

१ 'तस्मादत्र केचित्स्विकारभ्य, तत्र विचारक्षममिति यदुक्तं, तत्सर्वं सोपपत्तिकमुपपादितमित्यलभितो-
धिकविचारेण ।'

२ भक्ति

व्यसनं नाम तद्भक्तिरेकेण स्थातुमेव न शक्नोति । तद्यथा । दशमस्कन्धे 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवदिति । एवं यदा व्यसनं भवति, तदा बीजभावो दृढो भवति ॥ ३ ॥

एवं व्यसनपर्यन्तं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वाग्रे बीजस्य दृढत्वं निरूपयन्ति बीजं तदिति ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

तत्पूर्वोक्तं बीजं व्यसनभावानन्तरं दृढं भवतीति शास्त्रे भक्तिशास्त्रे उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । दृढत्वस्य लक्षणमाहुः यन्नापि नश्यतीति । यत्केनापि लौकिकालौकिकनाशकेनापि न नश्यतीति । लौकिका दुःसङ्गादयः, अलौकिकाः कालादयः, तैरपि न नश्यतीत्यर्थः । अतः परं येन प्रकारेण त्रयाणां स्नेहादीनां मध्ये येन यथा स्थापनोदनं भवति, तथा तस्यापनोदनप्रकारं वदन्ति । अत्र स्नेहाद्युत्पत्तौ मुख्यापनोदकस्य, भगवदतिरिक्ते रागो गृहासक्तिर्भगवद्भक्तिरेकेणापि कालनिर्वाहः । तत्र रागादित्रयाणां क्रमेणैकैकापनोदकत्वमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । तत्र पूर्वं यथाकथञ्चिदल्पस्नेहाङ्कुरोत्पत्त्यापि भगवदतिरिक्ते रागो न भवति । तदनन्तरं यदासक्तिर्भवति, ततः प्रौढभावो भवति, तदा गृहासक्त्यपनोदो भवति । भगवदासक्त्या गृहासक्तिर्गच्छति ॥ ४ ॥

आसक्त्यनन्तरं गृहारुचौ हेतुद्वयमाहुः गृहस्थानामिति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

गृहे स्थितानां भार्यापुत्रादीनां, गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था भार्यापुत्रादयस्तेषां स्वजातीयभावाभावात् तैः सह संबन्धस्य भावविघातकत्वस्फूर्त्या तेष्वरुचिर्भवत्येवेत्यत उक्तं बाधकत्वं भासत इति । ननु यद्यपि भार्यापुत्रादीनां भावबाधकत्वमुक्तम्, तथापि 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादिश्रुत्या तेषु आत्मसंबन्धित्वेन प्रियत्वस्यापि स्फूर्त्या सर्वात्मना बाधकत्वस्फूर्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तेषु तादृशस्य भगवदासक्तस्य आत्मसंबन्धित्वस्फूर्त्यभावेन यथा सर्वात्मना प्रियत्वाभावस्तं प्रकारमाहुः अनात्मत्वं च भासत इति । स्वस्य भगवदासक्त्या निरुपाधिस्नेहास्यदत्त्वेन भगवत्येवात्मत्वं स्फुरति, न तु स्वात्मनि । अतो भगवदीयेष्वेवात्मसंबन्धित्वं भासते । न तु स्वात्मसंबन्धिष्वात्मसंबन्धित्वं भासत इति । तेष्व्वात्मसंबन्धित्वभानाभावात् बाधकत्वमेव भासते, न तु स्वात्मीयकत्वमिति ज्ञापनायोक्तं

बाधकत्वमनात्मत्वमिति गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्तम् । एवं तादृशस्य गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्त्वा तस्यैव स्नेहवृद्धिपराकाष्ठामाहुः यदा स्यादिति । यदा यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके व्यसनं स्यात् । तद्दर्शनादिव्यतिरेकेण तत्संबन्धिव्यतिरेकेण स्थातुमशक्तिर्व्यसनं तद्यदा स्यात् । तादृशो भावो यदा स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात् । कृतः अर्थो येन तादृशः स्यात् । अर्थोत्र भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धफलरूपः । सः स्वस्मिन्कृतो भवति, सम्पादितो भवति, तदा कृतः अर्थः पूर्वोक्तफलरूपो, भगवता तस्मै दत्तो भवतीत्यर्थः । नहि एतादृगभावयुक्तस्य एतत्फलदानातिरिक्तं फलं दातुं युक्तमिति ज्ञापनायोक्तं हीति ।

एवं तस्य व्यसनवतो योग्यताभावं फलं च निरूप्य तस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

तादृशस्यापि तादृगभावयुक्तस्यापि, सततं निरन्तरं, गेहस्थानं गृहस्थितिः, तादृगभावसत्सङ्गाभावाद्दिनाशकं तद्भावविघातकमित्यर्थः । यो यस्य विघातकः स तत्सन्नियौ स्थातुं न शक्नोति । अत एव फलप्रकरणे 'यर्हम्बुजाक्षे'तिपथे ब्रजरत्नरूपाभिर्निरूपितम् । यर्हि यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्त्राक्ष्म तत्प्रभृति अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम इति । तदेव विवृतमाचार्यचरणैः । 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । अत उक्तं तादृशस्येति । अतः परं पूर्वोक्तभावयुक्तस्य गेहस्थितेर्भावविघातकत्वेन तत्र स्थातुमशक्त्या स गेहत्यागमेव करोतीत्याहुः त्यागं कृत्विति । तस्य गेहत्यागानन्तरं स्थितिप्रकारमाहुः यतेद्यस्त्विति । त्यागानन्तरं स यत्नमेव कुर्यात्, नतु प्रकारान्तरेण तिष्ठेत् । तस्य यत्नविषयमाहुः तदर्थार्थैकमानस इति । तादृशस्य यद्विषयको भावः स विषयो भगवानेव भवतीति । स एवार्थः । स चासावर्थश्च तदर्थः भगवान् तदर्थं भगवदर्थमेकं केवलं मानसं मनो यस्य तादृशो भूत्वा सुदृढां भक्तिं लभते । पूर्वं तस्य व्यसनपर्यन्तां सर्वानपनोधां भक्तिमुक्त्वापि पुनर्यत्तदर्थार्थैकमानस इत्युत्त्वापि लभते सुदृढां भक्तिमिति यदुक्तं तस्यायमाशयः । ततोपि सुदृढां सर्वात्मभावरूपां भक्तिमिति साक्षात् स्वरूपानुभवफलिकां लभत इति । तद्भाभकथनेन तादृशस्य पूर्वोक्तातिविगाढभावेन विद्यमानदेहापगमानन्तरं लीलौपयिकमलौकिकं देहं प्राप्य साक्षात्स्वरूपसंबन्धि फलं लभत इत्यर्थः । फलरूपभक्तेः स्वरूपमाहुः सर्वतोप्यधिकांमिति । सर्वतश्चतुर्विधमुक्त्यपेक्ष-

यापि अधिकाम् । परामगणितानन्दपुरुषोत्तमपर्यवसायिनीम् । एवं पूर्वोक्तभक्तिवृद्धिपर्य-
वसानं फलं चोक्त्वा पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वकथनस्यायमाशयः । कदाचित्कश्चिद्भक्ति-
मार्गानुवर्ती पूर्वोक्तत्यागस्वरूपमज्ञात्वाहमपि गृहादित्यागं कृत्वा भक्तिवृद्धिं साधयिष्या-
मीति यदि गृहादिकं त्यक्तुमिच्छति तस्य तत्र निषेधमाहुः त्यागे बाधकभूयस्त्व-
मिति । तादृशस्य त्यागे गृहादित्यागेन भक्तिवृद्धिसाधने बाधकभूयस्त्वात्फलं न सिध्यति ।
('पूर्वोक्तप्रकारत्यागिनस्तु दृढं यत्रापि नश्यतीति बाधकाभाव उपपादित एवेति पूर्वोक्त-
त्यागोत्र न विवक्षितः । तस्मात्पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वं यदुच्यते 'स कदाचित्कश्चिदि'त्य-
नेन वक्ष्यमाणत्याग एव बाधकभूयस्त्वम् । ') बाधकान्येवाहुः दुःसंसर्गादिति । दुःसं-
सर्गः स्वस्य पूर्वोक्तत्यागहेतुभूतभावाभावात्सर्वोत्पन्ना चित्तस्य भगवदेकपरत्वाभावेन चित्तचा-
ञ्चल्याहुः सङ्गभगवद्भावाभाववतां लौकिकानां सङ्गः सम्भवतीति तस्य बाधकत्वं स्पष्टमेव ।
अथ च तस्य पूर्वसिद्धगृहादीनां बुद्धिपूर्वकर्त्यागाभावाच्छरीरनिर्वाहार्थं यत्र कुत्रचिदन्न-
भक्षणेन तस्यान्नस्य भगवदसमर्पणजनितदोषवत्त्वेन तदन्नभक्षणेन स्वस्यापि बाहिर्मुख्यदोषः
सम्भवति । यद्यप्येतादृशस्यापि बाधका दोषा इन्द्रियनिग्रहाभावरूपाः सम्भवन्ति, तथापि
दुःसङ्गान्नदोषयोरतिप्रबलत्वाद्दुर्भावेव गणितौ ॥ ७ ॥

एवं सति तादृशेन दोषाभावपूर्वकं कथं कालनिर्वाहः कार्य इत्याकांक्षायामाहुः अतः
स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तप्रकारस्थितौ दोषसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्वाहार्थं
हरिस्थाने स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने श्रीगोवर्ध-
नादौ स्थेयम् । तत्रापि स्थितिप्रकारमाहुः तदीयैः सह तत्परैरिति । तदी-
यैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । तत्रापि तत्परैर्भगवत्स्वरूपतत्सेवातच्छ्रवणादिपरैः । एतत्प्र-
कारकस्थित्यभावे तत्रापि दुःसङ्गेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशसंभवात् जीवनवैयर्थ्यमेव स्यादिति
पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयमिति ज्ञापितम् । निरन्तरं तत्प्रकारकस्थित्यसंभवे चित्तदोषाभावाय
प्रकारान्तरेणापि स्थितिप्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । अदूरे पूर्वोक्तस्थानात्स्वत्या-
न्तराये । अथवा विप्रकर्षे ततोपि किञ्चिददूरे स्थेयम् । 'तदीयैः सह तत्परैरिति स्थितिप्रका-
रमुक्त्वापि पुनरदूरे विप्रकर्षे वेति यदुक्तं तस्यायमाशयः । अतिनिकटस्थितौ 'अतिपरि-
चयादवज्ञे'ति न्यायेन कदाचिद्भगवद्भक्तावज्ञापि संभवति, तदभावायोक्तं 'अदूरे विप्र-
कर्षे वेति । तत्राप्येवमपि स्थित्वा तैः सह सङ्गः कार्य एव, न त्याज्य इत्युक्तं भवति ।
एवं प्रकारत्रयेण स्थितिप्रकारमुक्त्वापि स्थितिप्रकारनिर्गलितार्थमाहुः यथा चित्तं न दु-

ष्यतीति । अस्यायमर्थः । पूर्वोक्तप्रकारैरथवा स्वमनोभिलषितप्रकारैर्वा यथा च भगव-
द्बाहिर्मुख्यदोषेण चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयम्, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः । एवं पूर्व
भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा तत्साध्यं फलं चोक्तम् ॥ ८ ॥

तदनन्तरं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा शुद्धपुष्टिसाधनप्रकारमज्ञा-
त्वा गृहं त्यक्त्वा वृद्धिं साधयिष्यामीति प्रवृत्तस्य बाधसंभावनानिराकरणपूर्वकं फलसिद्ध्यर्थं
स्थितिप्रकारमुक्त्वा शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मद्वयासक्तानामपि एतन्मार्गीयफलसिद्धिर्भवतीति
ज्ञापनायाहुः सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रकटितप्रकारकसेवायां, तदवशिष्टसमये तन्मार्गीय-
लीलाकथायां, यस्यासक्तिश्चित्तव्यासङ्गपूर्वको दृढाग्रहो यावज्जीवं भवेत्, तस्य न क्वापि देश-
कालभेदेनापि तस्य भावस्य नाशो न भवति । स भावस्तस्य फलसाधको भवति । अथवा ।
विकल्पेनोभयोः कथनाद्भगवदिच्छया कस्यचित्सेवायामेव दृढासक्तिर्भवति । कस्यचित्तस्य
लीलायामेव दृढासक्तिर्भवति । परन्तु सासक्तिर्यावज्जीवमपेक्षिता, न तु यत्किञ्चित्कालम् ।
तस्येति पदाद्भगवदिच्छया सेवासक्तस्य कथासक्तस्य च क्वापि नाशो न भवति । तन्मार्-
गीयफलप्राप्तौ अन्तरायो न भवतीति मम मतिर्मदीया मतिः । तेन स्वमते फलविलम्बाभावे
हेतुत्वकथनेन फलप्राप्तौ निःसंदिग्धत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

एवं पूर्वश्लोके सेवासक्तकथासक्तयोः फलमुक्त्वा कदाचित्कश्चित् सेवासक्तं कथा-
सक्तं भक्तं दृष्ट्वा स्वयमप्यासक्तिव्यतिरेकेण उत्साहमात्रेण सेवां कर्तुमिच्छति तस्य बाधः
संभवति, तत्र बाधस्वरूपं तन्निवारणप्रकारं चाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधसंभवे प्रकारान्तरेण बाधाभावव्युदास उक्तस्तुशब्देन । सेवाकरणे दृढासक्त्य-
भावात् उद्वेगेन भोगासक्त्या वा बाधसंभवे सति स्वस्य सेवाकरणासक्तिजनितग्लान्या
मत्तः सेवा न भवतीति मया गृहं त्यक्त्वा एकान्ते भगवन्नामस्मरणादिकं कर्तव्यमिति
जुह्या यद्येकान्ते स्थितिं कर्तुमिच्छति, तादृशस्यापि सेवात्यागपूर्वकैकान्तस्थितिरनुचितेति
निषेधमाहुः नैकान्ते वास इष्यते इति । सेवां विहाय तस्यैकान्तवासो नेष्टः, सेवा-
कृतिरेवेष्टः । उद्वेगादिना प्रतिबन्धे कथं सेवाकरणं भवतीति चेत्तत्र समाधानमाहुः हरि-

स्त्विति । उद्देगादिकमपि सोढ्वा यदि सेवामेव कुर्यात्तदा भगवान् तस्य सेवाग्रहं दृष्ट्वा स्वस्य सर्वदुःखहरणसामर्थ्यं प्रकटीकृत्य सेवाविधातोद्देगादिकं दूरीकृत्य सेवासंपत्तिमेव कारयेदिति ज्ञापनार्थमुक्तं हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय इति । 'न संशय' इति कथनाद्यस्मिन्नर्थे संशयं कुर्यात्, तदा भगवानपि रक्षां न कुर्यादित्यर्थः । अत एव गीतास्वपि भगवतोक्तं 'संशयात्मा विनश्यती'ति । तस्मादस्मिन्नर्थे निःसन्दिग्धो भूत्वा 'भगवान् रक्षां करिष्यत्ये'वेति बुद्ध्या यदि सेवां कुर्यात्तदा भगवानपि रक्षां करोत्येवेति ज्ञापनार्थमुक्तं 'न संशय' इति । प्रकारान्तरेण रक्षाऽभावज्ञापनाय तुशब्दः । कथापरस्यापि बाधसंभावनायां पूर्वोक्तव्यवस्थेति ज्ञातव्यम् ॥ १० ॥

एवं स्वमार्गीयभक्तिप्रवृद्धिप्रकारमुक्त्वा तस्योपसंहारमाहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवतः पुरुषोत्तमस्य भक्तिवृद्धिशिक्षाप्रकारकं शास्त्रं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । शास्त्रस्वरूपमाहुः गूढतत्त्वमिति । गूढमत्यन्तं गुप्तं तत्त्वं वागविषयमनुभवैकवेद्यं स्वरूपं यस्य तादृशं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । एवं शास्त्रस्वरूपं निरूप्यैतदध्ययनकर्तुरपि यथैतन्मार्गीयं फलं सिध्यति तत्प्रकारकमध्ययनस्वरूपमाहुः य एतदिति । य इति सामान्योक्त्या नात्र वर्णाश्रमादिनियम उक्तः । एतद् भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं समधीयीतेति । अध्ययने सम्यक्त्वोक्त्या न केवलं पाठमात्रकरणम्, किन्तु प्रतिपदमर्थाभिप्रायविचारपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । एवं विचारपूर्वकमध्ययनकरणे तत्प्रतिपाद्यार्थनिरन्तरानुसन्धानानन्तःकरणदोषनिवृत्त्या तन्मार्गस्वरूपस्य हृदि स्फुरणात्तन्मार्गस्य पुरुषोत्तमैकपरत्वात् तद्वारा स्वस्यापि तत्स्फूर्तौ भक्तिमार्गीयाचार्याङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् तादृशस्यापि सुदृढा अत्यन्तं निश्चला रतिः रसभावयुक्तस्नेहो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

पितृपादनखालोकप्रकाशितधिया मया । स्वाचार्यचरणार्येण विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ १ ॥
कृपया पितृपादान्जैर्दत्ता मे यादृशी मतिः । तन्मया विवृतं भक्तिवृद्धिशास्त्रं सुदुर्लभम् ॥ २ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः । तत्कृपातो यथाबोधं विवृतानि न चान्यथा ॥ ३ ॥
बुद्धिदोषेण यद्यत्र व्याकृतौ चेद्विपर्ययः । क्षमन्वाचार्यचरणाः स्वकीयेषु दयालवः ॥ ४ ॥
श्रीवल्लभेन रचिता या विवृतिर्भक्तिवर्धिनीः । चित्रं समस्ते लोके संजाता भक्तिवर्धिनी सापि ५

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्रघुनाथकृतविवृतिसमेता ।

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर्गोपीनां वेष्टितं मुदा । हरिणीभिः कृष्णसारमिवाभातं तदीक्षणम् ॥ १ ॥
अपारदुःखदावाभिदग्धजीवनमीक्षितम् । यस्य तं यामि शरणं विह्वलेशमहं सदा ॥ २ ॥

अथ केनचित्परमपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाद्भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य कदाचिदन्तरासंभाविततद्भक्त्याभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्स्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येनोपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा स्यात् भवेत्, तथा तेनैव प्रकारेण उपायः साधनं निरूप्यते, सोपपत्तिकं कथ्यत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । यथा अन्तःस्थितबीजे क्षेत्रादौ सेचनादिशाशोपायकरणं सफलं भवति, नानुसृष्टबीजे, एवमत्रापि भक्तिस्पृष्टान्तःकरणस्यैवैतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो, नान्यस्येति । इममेवार्थमुद्दिश्याग्नेप्याहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । उक्तभक्तिप्रवृद्धिः कदेत्यपेक्षायां बीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात् । कुत इत्यपेक्षायां स्यागात् भगवदतिरिक्तविषयत्यागात् । श्रवणं च कीर्तनं च एकवद्भावात् श्रवणकीर्तनादित्येकवचनम् । ननु को नाम बीजभावः । उच्यते । भक्त्यसाधारणकारणं बीजमित्युच्यते । तच्च महदनुग्रहरूपम् । तस्य भावः सद्भावः तस्य दार्ढ्यं निश्चयः । यद्वा । बीजपदेन भगवानुच्यते । तस्मिन् भावस्तद्विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः, भगवानेवाश्रयणीयो, नान्य इत्येवंरूपा । दार्ढ्यं तदनन्तर्हितत्वम् । तुशब्दः प्रसिद्धौ । तथैव वक्ष्यन्तीति च । 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती'ति ॥

मर्यादामार्गीयाणां गृहस्थानां बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

व्यावृत्तोपि हरो चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
 स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
 गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
 यदा स्याद्द्वयसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
 तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

गृहे स्थित्वा कृष्णं मजेदित्यन्वयः । कथं केनेत्याकांक्षाद्वयप्राप्तावाद्यायां स्वधर्मतः स्वस्य यो धर्मः श्रुत्याद्युक्तो वर्णाश्रमधर्मः तत्सहितः सन् अव्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो लोकवेदधर्मव्यासङ्गो व्यावृत्तिस्तद्रहितः सन्नित्यर्थः । केनेत्याकांक्षार्या पूजया श्रवणादिभिरिति योज्यम् । अत्र प्रत्येकसमुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम् । तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता ग्राह्या । ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिर्या सा वैदिकी । आगमपुराणाद्युक्तान्या । श्रवणं तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासरायाणादिवाक्येभ्य एव । आदिपदेन चिन्तनलीलानुकरणादिकं ज्ञेयम् । सर्वोपेक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम् । अत एव महाभारते श्रूयते 'सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथेति । व्यावृत्तिराहित्येन भजनासम्भवे उपायान्तरमाहुः व्यावृत्तोपीति । व्यासक्तोपि सन् हरौ त्रिविधदुःखहरणशीले चित्तं विधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत् यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यतेदिति परस्मैपदं नामधातुना ज्ञेयम् । भगवच्चरणारविन्दयोश्चित्तं संस्थाप्य बाह्यश्रवणादौ कृतस्य यत्नस्य निःफलत्वेपि न स्वार्थहानिरिति भावः । अत एवैतद्वचनमपि 'क्रियासु यत्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' इति । हरौ चित्तमित्यनन्तरं क्रियापदमध्याहृत्याग्रे योजनीयम् । सदेत्येतदुभयत्र सम्बध्यते । एवंकृते यद्भवति तदाहुः तत्त इति । प्रेम स्नेहः । आसक्तिस्तद्दिना स्थातुमशक्तिः । व्यसनं स्वभावत एव तद्गतीदिरुचिर्नान्यप्रेरणतः । इदं सर्वं यदा भवेत्सम्पद्यते तदेतन्नितयसम्पत्तिरूपशास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढं बीजमिति व्यवहियते । दार्ढ्यमेव स्पष्टीक्रियते यन्नापि नश्यतीति । प्रेमादीनामसा धारणं तत्तत्कार्यमाहुः स्नेहादिति । रागो भगवदतिरिक्तविषयकः । गृह्णारुचिरिति । गृहे अरुचिरनासक्तिः । गृहस्थानामिति । गृहविषयकरागाद्यभावे स्त्रीपुत्रादिषोषणासम्भवरूपदोषोद्भावनेनाविवेकिनां गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरप्यनयोर्धर्मयोर्बाधकत्वमेव भासते । अनधिकारित्वात् अनात्मत्वं चेति । आत्मनो भाव आत्मत्वम् । भावपदेन स्वाभाविकधर्म उच्यते । तेन नायमात्मनः स्वधर्म इत्येवं भासते । वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्तीति ज्ञापनार्थं भासत इत्युक्तम् । व्यसनकार्यमाहुः यदा स्यादिति । यस्मिन्काले स्वभावतो यत्किञ्चिन्क्रियमाणमपि भगवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायामित्यर्थः । हिशब्दः प्रह्लादादौ प्रसिद्धिद्योतनार्थः । प्रह्लादस्यैवंविधत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते । 'या

प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति । तादृशस्यापीति । उक्तस्नेहादिमतोपि गृहस्थस्य गृहरूपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं विनाशहेतुः । स्नेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यतीति मनसि गृहस्यैव धार्यमिति भावः । अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव । यद्वा । तादृशस्यापि सततं गृह एव स्थानं स्थितिरिति । ईदृशगृहस्थेन मध्ये मध्ये भगवद्भक्तपुण्यक्षेत्रनघायतनेष्वटनं कार्यम् । न तु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणाद्युक्तमिदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धकत्वानुसन्धानेन समीहितासिद्धिमाशङ्क निःप्रत्यूहोपायमाहुः त्यागं कृन्वेति । लभेतेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

यः पुरुषः सकलदुःखाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः सुदृढामत्यन्तदृढामन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरप्यतिरस्कृताम् । सर्वतोपि ज्ञानादिभ्योप्यधिकामधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेश्चरमकारणभूतां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तं विशदयन्ति तदर्थार्थैकमानस इति । स भगवानेवासावर्थश्च तदर्थः, अर्थः प्रयोजनं उद्देश्यमिति यावत् । स चासावेकश्चार्थः । तदर्थः स एवार्थैकः, तदर्थार्थैकः, तस्मिन्मानसं मनो यस्येति । एवंविधः सन् यतेदिति पूर्वोक्तान्वयः । यतेदिति घञर्थे कं कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात्परस्मैपदं ज्ञेयम् । ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किमन्योपायकथनमित्यत आहुः त्याग इति । त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम् । सैव तु नोपपद्यते । तत्र हेतुः । बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः दुःसंसर्गात् । दुष्टानां भगवद्बहिर्मुखाणां यः संसर्गः सम्बन्धः शारीरादिस्तस्मादित्यर्थः । तथैवाज्ञतः दुष्टादज्ञादित्यर्थः । अत्रदाषास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद्भगवदनिवेदनाच्चोद्भवन्तीति ज्ञेयम् । श्रुतिरपि 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमाणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी'ति । अर्थस्तु अप्रचेताः मूढः मोघं व्यर्थमन्नं विन्दते प्राप्नोति । यतः सो अन्नलाभस्तस्य वध एव । इदं तु सत्यमेवाहं ब्रवीमि । न मूषेत्यर्थः । किञ्च । अर्थमाणं सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात् । उपलक्षणमेतत्, देवतामात्रमपि । सखायं अतिरिथि नो न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्, किन्तु स्वयमेव अश्नाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाघ एव भवति । तदन्नं नास्ति, किन्तु पापमत्तीत्यर्थः । इममर्थं भगवानप्याह 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । सुखन्ते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणा'दिति । अनिवेदितभक्षणेपि दोषः श्रूयते । 'अम्बरीष नवं वन्नं फलं अन्नाद्यमौषधम् । अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी'ति पुराणान्तरे ॥ ७ ॥

त्यागस्याशक्यत्वं उक्त्वा सुशक्योपायमाहुः अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

उक्तहेतोर्हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैर्भगवदेकपरैः तदीयैर्भगवदीयैर्मतैः सह अदूरे नैकत्रयं यथा स्यात्तथा स्थेयमित्यर्थः । अतिनैकत्रयासम्भवे विप्रकर्षे वा, किञ्चिद् दूरेपि स्थेयम्, नत्वतिदूर इति भावः । नन्वेवं स्थितौ किमत आहुः यथेति । येन प्रकारेण स्थितिरुक्ता तथाकरणे चित्तमन्तःकरणं न दुष्यति, न दोषग्रस्तं भवतीत्यर्थः । एवं भगवदीयैः सह स्थितौ यस्य परमभाग्यवतः सेवायां स्वशरीरसाध्ये भगवद्भजने कथायां तद्गुणश्रवणे वा आसक्तिः तद्विहाय स्थातुमशक्तिः दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुंसो यावज्जीवं आदेहपातं कापि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा नाशः अन्यथाभावो न भवतीति । अस्मिन्नर्थे मम मतिः सम्मतिरेवेत्यर्थः । वाशब्दावन्योन्यं समुच्चिनुतः ॥ ८ ॥ ९ ॥

नन्वेवं सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेवोत सार्थकत्वमपीत्याकांक्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे सर्वथा बाधः सम्भावितश्चेद्भवेन्न तत्कृतस्तदा एकान्ते वासः सर्वत्यागपूर्विकां स्थितिररण्यादौ नेष्यते न सम्मतेत्यर्थः । तदभावे त्विष्टैवेति भावः । नन्वेकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिरपमृत्युरपि सम्भान्यते, वरं तदपेक्षया गृहस्थितिरित्यत आहुः हरिस्त्विति । हरिशब्दार्थस्तु पूर्वोक्तोनुसन्धेयः । तुशब्दः प्रसिद्धौ । सर्वतः सर्वदुःखहेतोः रक्षणं करिष्यत्येव, न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

उपसंहरन्ति । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रं शिक्षणम् । गूढं गुप्तं तत्त्वं यस्य तादृशं निरूपितम् । यः पुमानेतदुक्ताचरणेऽशक्तः सन्नेतच्छास्त्रमुपादित्सुः सम्यगधीयीत, अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठेत्, तस्याप्येतच्छास्त्रोक्ता रतिर्दृढा भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥ भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् । आचार्यस्यामृतोद्भूता विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ भक्तिवर्धिनीविवरणं संपूर्णम् ॥

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेता ।

वामे करे गिरिं स्त्रीषु मुदमिन्द्रे च साध्वसम् । धारयन्तमहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम् ॥ १ ॥
यदङ्गीकृतितो मक्त्या स्वानन्दं नन्दनन्दनः । ददाति तान्प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णभक्तिस्पृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभाचार्या एकादशेन्द्रियशोषिका भक्तिरित्येकादशभिः श्लोकैर्भक्तिप्रवृत्त्युपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नुयात्तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यत इत्यर्थः । वृद्धौ प्रकर्षोत्र फलेन्मुखत्वम् । भक्तिप्रवृद्धेरुत्तरावधिः क इत्याकांक्षायामाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । बीजरूपो भावोऽल्पलेहः, तस्मिन् दृढे व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिः पूर्णा स्यादित्यर्थः । भावे बीजत्वोक्तिः फलेऽस्य निदानत्वबोधनाय । प्रथमतस्तत्र किं साधनमित्याकांक्षायामाहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । भक्तिमार्गविरोधिनोऽन्यभजनादेस्त्यागात् । श्रवणं कीर्तनं च ताभ्याम् । इदमुपलक्षणम् । स्मरणमाचार्यभक्तिर्विश्वासश्चेत्यपि ज्ञातव्यम् । श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावः कर्मणोरिव नात्र विरोध इति ज्ञापयति । न हि यथैकस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे नान्यत् क्रियते, तथा श्रवणकीर्तनयोरपि ॥ १ ॥

भक्तिप्रवृद्धौ साधनान्युक्त्वा प्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजरूपस्य भावस्य दृढतासिद्धयर्थमयं वक्ष्यमाणः प्रकारः । इममेवाहुः । गृहस्थितेर्भजनानुकूलत्वात् । 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण'त्यादिवाक्यैः स्ववर्णाश्रमाचारधर्मेण गृहे स्थित्वा व्यावृत्तिः कार्यान्तरव्यासङ्गस्तद्रहितोऽव्यावृत्तः । श्रवणादिभिः सहितया परिचर्यया कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् । कृष्णपदात्फलत्वेन भजनं,

न साधनत्वेनेति ज्ञाप्यते । तत्राद्युक्तपूजायां शीतलशंखोदकखानादिमत्त्वेन भक्तिमार्गी-
याणामनधिकारात् । स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्येव भातीति ज्ञापनार्थां पूजापदोक्तिरत्र ज्ञेया ।

‘तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर’
इत्यादिवाक्यैर्भगवद्भजनाभावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवाया असंभवेपि
यथासंभवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यम्, न त्वन्वथा स्थातव्यमित्याशयेनाहुः
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्यान्तरव्यासक्तोपि हरौ दुःखहरणशीले चित्तं निधाय श्रवणादौ यत्नं कुर्यादि-
त्यर्थः । यसु प्रयत्ने । यतेदिति पाठे अनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात् साधुत्वम् । एवं
वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवतीत्याहुः ततः प्रेमेति । भगवत्सेवया श्रवणादितोपि चित्ता-
सङ्गावस्थावत् प्रेम भवति । स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते । प्रेमानन्तरं
तथा पूर्वोक्तादेव सङ्कल्पावस्थावदासक्तिर्भवति । स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव
आसक्तिः । व्यसनं च यदा प्रशुक्लपया भवेत्, तदा तद्बीजं बीजरूपो भावः शास्त्रे भग-
वच्छास्त्रे दृढमन्यापरिभूतमुच्यते, यत्फलं जनयति, दुष्टसंसर्गादिना नश्यत्यपि न । व्यसनं
स्वविषयं विना स्थातुमशक्तिजनको भावः ।

प्रेमासक्त्योर्ज्ञापके आहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्द्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

यथा यथा भगवति स्नेहस्तथा तथान्यत्र हीयत इत्यर्थः । भगवत्यासक्त्या
भगवदनुपयोगिगृहादिषु अरुचिरप्रीतिर्भवति । भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसा-
धिकयोरपि गृहस्थानां गृहासक्तानामविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादि-
पोषणासंभवरूपदोषोद्भावनेन बाधकत्वं, स्वस्य प्रवृत्तिमार्गस्थत्वेनानात्मधर्मत्वं च भासते ।
अथवा । सर्वेषामात्मरूपे हितकारिणि भगवत्यनात्मत्वं भासते । वस्तुतस्तु ‘तेषां नित्या-
भियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्’ ‘न मे भक्तः प्रणश्यति’ ‘किमलभ्यं भगवती’त्यादिवा-
क्यैस्तेषां भगवानेवैहिकपारलौकिकसाधक इति तेषामेवेदमज्ञानमिति भासत इत्युक्तम् ।

यदा कृष्णे पूर्णानन्दे व्यसनं स्यात्, तदैव जीवः कृतार्थः पूर्णार्थः स्यात् । एवकारेण प्रेमा-
सक्त्योर्व्युदासः । हि युक्तोयमर्थः । यतः तादृशस्यापि प्रेमासाक्तितमोपि सततं निरन्तरं
गेहस्थानं गेह एवावस्थानं विनाशकं भावस्येति शेषः । तेन सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमिति भावः ।

भक्तिप्रवृद्धिसाधने प्रकारान्तरमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाऽन्नतः ॥ ७ ॥

यस्तु पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं कृत्वा श्रवणादौ यसेत् यत्नं
कुर्यात् । ‘यतेदि’ति पाठे पूर्ववज्ज्ञेयम् । तदर्थार्थैकमानसः तदर्थं भगवन्नमित्तं योर्थः श्रव-
णादिः तस्मिन् । यद्वा । भगवतोर्थः प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं तन्निमित्तं एकमनन्यं मानसं
यस्य एतादृशः सन् सुदृढां विषयाद्यपरिभूतां सर्वतोपि ज्ञानयोगादिभ्योप्यधिकामधिकफल-
दायिनीं परां प्रेमलक्षणां फलरूपां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तर्हि निर्विघ्नेस्मिन् प्रकारे
विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरमाश्रयणीयमित्यत आहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति ।
दुःसङ्गसर्गात् । दुष्टानां भगवद्भिर्मुखादीनां सहभोजनादिना सङ्गात् । तथाऽन्नतः दुष्टा-
न्नात् । वैश्वदेवभगवच्चरणामृतप्रक्षेपादिनाप्यन्नदोषनिवृत्तेः संभवात्सङ्गदोषोऽधिक इति
तस्य प्रथमनिर्देशः । गृहत्यागे बाधकभूयस्त्वं बाधकानामन्तरायहतूनां बाहुल्यमस्ति, तेन
यावद्गृहे भजनं संभवति, तावद्गृहत्यागो न कर्तव्यः, सर्वथा भजनाऽसंभवे कर्तव्यः ।
तदुक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे ‘भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं
कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे’दिति ।

तेन गृहस्य त्यागेऽत्यागेपि यावद्द्व्यसनं संपद्यते, तावत्सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमि-
मित्याहुः अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तं बाधकमतः कारणात् हरिस्थाने ब्रजमथुरादौ तदीयैर्भगवन्मार्गस्थैर-
नन्यैः तत्परैः सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः सह अदूरं निकटं यथा भवति तथा स्थेयम् ।
निकटस्थित्यसंभवे दूरेपि स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यमित्याहुः विप्रकर्षे वेति । भक्ति-
मार्गस्थत्वाभावे त्ववैष्णवसङ्गात् स्वस्य कार्यं न सिद्ध्येत्, तत्परत्वामावे भगवत्सेवाकथा-
द्यभावात् स्वस्य लाभो न स्यादिति द्वयमुक्तम् । निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशभगवदी-
यानुसरणे तत्कृषवा चित्तं दुष्टं न भवतीत्याहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति ॥ ८ ॥

एवं सत्सङ्गे सति केवलमनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्त्विष्टप्राप्तिरपि भवतीत्याहुः से-
वायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यवाज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य महत्कृपया सेवायां स्वशरीरसाध्यश्रीकृष्णभजने, कथायां तद्गुणलीलादिश्रवणे
दृढा विषयाद्यनभिभूता आसक्तिर्भवेत्, यावज्जीवमादेहपातं, तस्य क्वापि कुत्रापि देशे
कालेपि नाशः भगवद्भजनानुरूपफलप्राप्तिर्न भवति । अथवा । भावस्य नाशो भावा-
न्तरोत्पत्तिर्वा न भवति इति मम मतिः । प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति । बाध-
न्दावनुक्तस्मरणादिसमुच्ययार्थौ ॥ ९ ॥

ननु भगवदीयानामपि सङ्गः किमर्थं कर्तव्यः, एकाकिना अरण्यादौ भगवलीलादि
चिन्तनं कुर्वता कथं न श्येयमित्यत आहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति । बाधोत्र चित्तोद्देगविक्षेपादिः, स चेन्न सम्भ-
वति तदा तथैव श्येयम् । बाधसम्भावनायां सत्यामेकान्तेऽरण्यादौ वासो नेष्यते, न
इष्टः । नवांतनबाधाभावेपि बहिःश्रौरव्याघ्रादिभयसम्भवे सति कथं श्येयमित्यत आहुः
हरिस्त्विति । सर्वदुःखहर्ता प्रभुः सर्वतः सर्वस्मात् सुदर्शनादिना रक्षां करिष्यति ।
'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।'
'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैरस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

श्रीवल्लभाचार्याः सगुणनिर्गुणभेदेन दशधा भक्तिरिति दशभिः श्लोकैर्भक्तिवर्धिनीप्र-
क्रियां निरूप्य, एतदुक्ताचरणैतत्पाठयोः फलमाहुः इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीदं गूढं गुप्तं तत्त्वमनारोपितं रूपं यस्यैतादृशं भगवच्छास्त्रं भक्तिप्रतिपादकम् ।
अथवा । गूढतत्त्वं यथा स्यात्तथा, एवममुना प्रकारेण निरूपितम् । य एतदुक्तमाचरेत्तस्य
भगवति दृढा रतिः प्रीतिः स्यात् । यो वैतदुक्ताचरणाशक्तः स त्वेतद्भक्तिवर्धिनीरूपं समधी-
यीत श्रद्धाभक्तिपूर्वकं पठेत् । तस्याप्यग्रे दृढा रतिः स्यादित्यर्थः ।

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै । गुरुन् नत्वा यथाबुद्धिं विवृता भक्तिवर्धिनी ॥

इति श्रीविद्वल्लभरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीहरिरायविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीवल्लभाचार्यपदानुकम्पाबलेन किञ्चित् परिचिन्त्य चित्ते ।

निरूप्यते भक्तिविवृद्धयुपायनिरूपणग्रन्थनिरूपितोर्थः ॥ १ ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थ्यां भक्तिः सप्रेमसेवनम् । चेतस्तत्प्रवणं तच्च तनुवित्तप्रसाधितम् ॥ २ ॥
तत्र मूलं ह्येरेङ्गीकारोय शरणागतः । ततः समर्पणं जीवदेहसंभन्धिवस्तुनः ॥ ३ ॥
ततो योग्यत्वसम्पत्त्या सेवनं तु प्रवर्तते । पूर्वोक्तरूपतद्बुद्धिस्तनुवित्तजसेवनात् ॥ ४ ॥
तदुपायापरिज्ञाने सा कथं वृद्धिमेष्यति । अतस्तद्बुद्धयुपायोत्र ग्रन्थे प्रभुभिरुच्यते ॥ ५ ॥
यथा येन प्रकारेण चेतस्तत्प्रवणात्मिका । भक्तिर्व्यसनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वथा ॥ ६ ॥
तथा तेन प्रकारेण य उपायः स कथ्यते । उपायस्तु स एवात्र तनुवित्तजसेवनम् ॥ ७ ॥
त्यागात्यागविभेदेन गृहे भक्तगृहे तथा । बीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते ॥ ८ ॥
स्वामिसेवकभावात्मा तदाढ्याद्बुद्धिसंभवः । अथवा त्यागपक्षेण कृतश्रवणकीर्तिनात् ॥ ९ ॥
अनायासेन सुदृढभक्तिप्राप्तिर्न संशयः । अत्यागपक्षे क्रमशो भक्तिवृद्धिरिहोच्यते ॥ १० ॥
अतो हि बीजदौर्ब्यस्य प्रकारोत्र निरूपितः । गृहे स्थितिः स्वधर्मेण वर्णाश्रमगतेन हि ॥ ११ ॥
विधेया नापि सेवार्थमधर्मेण कथञ्चन । अधर्मे स्थितितो बुद्धिनाशाहुःसङ्गतस्तथा ॥ १२ ॥
ततो दुष्कर्मकरणे चेतस्तत्प्रवणं कुतः । अतस्तथाविधं कृष्णं सदानन्दं परं बृहत् ॥ १३ ॥
लोकवेदफलाद्यर्थव्यावृत्तिरहितो जनः । भजेत्सेवेत तन्वाद्यैस्तत्र व्यावृत्तियोजनम् ॥ १४ ॥
प्रेम्णैव भजनं तत्र माहात्म्यज्ञानसिद्धये । पूजा प्रोक्ता निबन्धे या मन्त्रादिरहिता हरौ ॥ १५ ॥
बाहिर्मुख्योद्भवाभावसिद्धये श्रवणादयः । अयं तु मुख्यकल्पो हि सर्वथा साधको मतः १६ ॥
यथा रोगशतार्तस्य कुपथ्यरहितौषधम् । एवंविधस्य निर्वाहं स्वयमेव करोति हि ॥ १७ ॥
योगक्षेमोद्भवे स्वीयप्रतिज्ञापरिपालकः । सेवकस्यापि विश्वासः कर्तव्योऽवश्यमेव हि ॥ १८ ॥
नहि सेवकनिर्वाहं विदधाति न हि प्रभुः । तथापि जीवप्रकृतिवशतो न त्यजत्वसौ ॥ १९ ॥
व्यावृत्तिं दृढविश्वासाभावतो लोकवेदयोः । तस्य भक्तिप्रवृद्धयर्थमनुकल्पोपि रूप्यते ॥ २० ॥

१ कारणमित्यर्थः । २ यथा बुद्धिबीजे सूक्ष्मरूपेण फलपर्यन्तावस्थास्थितौ वृक्षस्य फलपर्यन्ता बुद्धिः
स्थूलरूपस्य भवति, तथा भक्तिबीजे स्वामिसेवकभावे व्यसनपर्यन्तावस्थानां सूक्ष्मरूपेण स्थितौ भक्तिवृद्धयस्य
स्थूलरूपस्य व्यसनपर्यन्ता बुद्धिर्भवतीति भावः । ३ स्थूलस्येति शेषः । ४ तदनन्तरमित्यर्थः ।

व्यावृत्तिसहितो वापि चित्तमात्रं हरौ परे । सर्वकार्येषु सततं यत्नेन स्थापयेत्पुनः ॥ २१ ॥
 तथापि भगवत्कार्यातिरिक्त उपयोगिनि । तथाभावाभाववतां चित्तवैमुख्यसंभवः ॥ २२ ॥
 तदर्थं स्थापयेत्तु श्रवणादावपि स्वतः । एवंविधा तु सततं प्रेमासक्तिरूपेण हि ॥ २३ ॥
 भवेद्भ्यसनसंसिद्धिः प्रवृद्धासौ तदा रतिः । यदेति वचनात्तत्र व्यसनं दुर्लभं मतम् ॥ २४ ॥
 प्रभुणापि यतो दत्तं रासस्थास्वेष तत्पुनः । यद्धि व्यसनपर्यन्तावस्थं बीजं तदुच्यते ॥ २५ ॥
 बीजं भावात्मकं शास्त्रे दृढं सङ्गान्न नश्यति । कुत उत्पादयेद्भावान्तरमित्यपि नोदितम् २६ ॥
 आसक्तावपि दुःसङ्गो बाधकत्वेन चोदितः । श्रीस्वामिनीभिरप्युक्तं पञ्चाध्याय्यां प्रभुं प्रति २७ ॥
 त्वयाभिरमिताः स्यातुं पारयामोन्यतो न हि । विवृतं तत्तथाचार्यैर्व्याघ्रदेहिनिदर्शनात् ॥ २८ ॥
 किं प्रेम का तथासक्तिः किं वा व्यसनमुच्यते । व्यतिरेकमुखेनैव तल्लक्षणमुदीर्यते ॥ २९ ॥
 नहि भावे हरिर्वाच्यो 'यतो वाच' इति श्रुतेः । निषेधमुखतो वाच्यो नेतिनेतीति वाक्यतः ॥ ३० ॥
 यतो रागविनाशः स्यादौदासीन्येन च स्थितिः । हरिभिन्ने विना हेतुं स भावः प्रेमशब्दितः ३१ ॥
 आसक्तिर्येन भावेन गृहादिष्वनुयोगिषु । अप्रीतिश्च तथा तेषां गृहस्थानां निरोधनात् ॥ ३२ ॥
 प्रियान्तिकगतौ तेषु बाधकत्वेन बोधनम् । स्वासंबन्धितया भानं स भावः सा निगद्यते ॥ ३३ ॥
 स्वबाधकतया वापि यदा स्फूर्तिर्निवर्तते । गृहस्थानां तदा कृष्णे व्यसनं तदुदीर्यते ॥ ३४ ॥
 तदैव पूर्णसर्वाथो हृद्याविर्भावतो हरेः । अपेक्षिता शरीरस्थालौकिकस्यासिरुत्तमा ॥ ३५ ॥
 तदभावे तादृशस्य निरन्तरगृहस्थितिः । बहिःसंवेदनाद्भावनाशिका समुदाहृता ॥ ३६ ॥
 अस्याप्येवं तदान्येषां का वार्तेत्यपि नोदितम् । अतस्त्यक्त्वा गृहं कापि भगवत्सन्निधौ स्थितिः ३७ ॥
 कार्या कदाचिन्न ततो भवेद्भावविनाशनम् । एवमेकप्रकारो हि भक्तिवृद्धेरुदीरितः ॥ ३८ ॥
 दृढभक्तिप्राप्तिकालो द्वितीयोपि निरूप्यते । भार्यादिप्राप्तिकालेन गृहे सेवाधसम्भवे ॥ ३९ ॥
 त्यागं कृत्वा तु यः सेवायत्नं कुर्यात्स दुर्लभः । हर्यर्थमात्रचित्तस्तु नांशतोऽन्यगमानसः ॥ ४० ॥
 अनेनास्मिन्नपि प्रोक्ता कल्पेऽव्यावृत्तिरुत्तमा । लभते च स्वतः सिद्धदाढ्यां भक्तिं परां हरौ ४१ ॥
 मोक्षादितो भक्तितश्चाधिकां व्यसनरूपिणीम् । ननु त्यागं विधायैव कुर्यान्वृषणकीर्तने ४२ ॥
 किमर्थं सेवना कार्या तनुचित्तयुता हरेः । चेतस्तत्प्रवर्णं सेवा सा तु तैरपि सिध्यति ॥ ४३ ॥
 इति चेन्न यतस्त्यागे बाधकानन्त्यमीक्ष्यते । दुःसंसर्गान्नदोषान्यां दोषहेतुतया तयोः ॥ ४४ ॥
 अतो यया न दुःसङ्गदुष्टान्ने प्रतिबन्धके । स्यातां तथा हरिस्थाने देशदोषनिवारके ॥ ४५ ॥
 स्थेयं यतो हरिर्भक्तदुःखाभावाय हि स्थितः । तत्रापि चित्तदोषस्य सर्वथा विनिवृत्तये ॥ ४६ ॥
 तदीयैः कृष्णसम्बद्धैः समर्पितनिजात्मभिः । तत्रापि कृष्णकथया सेवया चापि तत्परैः ॥ ४७ ॥
 यतः सत्सङ्गमो भक्तधर्मबोधेन साधितः । तथा सहपदोक्त्यात्र सहभावेन च स्थितिः ॥ ४८ ॥

१ तथा च निरोधो व्यसनमिति भावः । २ भक्तधर्माः सत्सङ्गेन बुध्यन्ते, एवंप्रकारेण सर्वत्र सत्सङ्गमः साधित इत्यर्थः । ३ एकप्रामस्थित्यापि सहभावः सम्भवतीति सहस्थितिबोधनार्थं मूले सहपदमिति भावः ।

अन्यथा कृष्णसेवायाः कथायाश्चाप्यसम्भवः । यदि ते भगवद्भक्ताः कृपयेशुः स्वभाग्यतः ४९
 तदा देरे तद्गृहे तस्तेवनाद्यैः सहस्थितिः । तदान्नदोषदुःसङ्गौ बाधेयातां न सर्वथा ॥ ५० ॥
 तत्रैव देहनिर्वाहस्तत्सङ्गेनैव च स्थितिः । तथाविधमद्वाभाग्याभावेन यदि तादृशः ॥ ५१ ॥
 न स्थापयेद्युक्तिरिक्ते विप्रकर्षे तदा स्थितिः । वाशब्दोक्त्या न कोप्यत्र विशेषः पक्षयोर्द्वयोः ५२
 यथाकथञ्चित्संतोष्याः सन्तः सन्मार्गवर्तिभिः । यथा तेषां सतां चित्तं न स्वस्थोपरि दुष्यति ।
 तथा विनयसौजन्यसेवामत्तयादिभिः स्थितिः । अथवा स्वस्थ वा चित्तं यथा तदुपरि स्वतः ५४
 न दुष्यति तथा स्थेयं तद्दोषपरिभावनैः । यद्वाऽन्यदीयसंसर्गं चित्तदोषकरं परं ॥ ५५ ॥
 विहाय भगवद्भक्तैः सह स्थेयं विशेषतः । यथा प्रथमपक्षे तु प्रेमासत्तयादिसम्भवे ॥ ५६ ॥
 बीजदाढ्यं तथात्रापि सेवया कीर्तनेपि च । दृढासक्तौ न भावस्य देहादेर्वापि नाशनम् ५७
 यस्येति दुर्लभा त्यागपक्षे प्रोक्ताधिकारिता । यतस्तस्मिन्निह कल्पे तु क्रमेणासक्तिसम्भवः ५८
 अत्र तु स्यात्स्वतो दाढ्ययुता भाग्ये तथाविधे । कापीति पदतो लोकवेदौ भक्तिश्च रूपिता ।
 सम्यक्प्रकारकस्थित्या कीर्त्या लोके न नाशनम् । त्यागपक्षस्थितौ कर्मत्यागात् श्रुतिनाशनम् ।
 भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिमार्गं न नाशनम् । दुःसंसर्गान्नदोषौ च नैव प्रभवतो यतः ॥ ६१ ॥
 तादृशस्यापीति वाक्ये यथापूर्वं गृहस्थितिः । बाधिकोक्ता तथात्रापि विच्छेदो बाधको मतः ।
 यावज्जीवमिति प्रोक्तमत एव पदं पुनः । एतेन त्यागपक्षेणागमन्यासक्तिर्निवारिता ॥ ६३ ॥
 तथैव चात्र विच्छेदस्तदभावे न नाशनम् । मतिर्ममेति यत्रोक्तं तदभिप्राय ईदृशः ॥ ६४ ॥
 कदाचिद्दृष्टेन भगवत्प्रियरोषतः । दुर्बुद्धौ तदतिद्रोहाद्भगवत्प्रतिषन्वतः ॥ ६५ ॥
 नाशोपीति यतो वाक्ये संदेहो विनिरूपितः । ननु त्यागं विधायान्यसङ्गः किमिति बोधितः ।
 ज्ञानिनामिव संसर्गमात्रत्यागो न चोदितः । त्यागे त्वेकान्तवसतिविशेषेण च साधिका ॥ ६७ ॥
 तत्रोत्तरं तु भावस्य बाधनं हृदयस्थितैः । कामादिभिर्जीवधर्मैर्यावत्सम्भाव्यते पुनः ॥ ६८ ॥
 तावदेकान्तवासस्तु नेष्टो बाधानिराकृतेः । कामादयो भावनाभिर्नाशयन्ति क्षणान्मनः ६९
 न तत्र दोषनाशाय सहायोस्ति रहःस्थितौ । भक्तिमार्गप्रकारेण हरिश्चापि तिरोहितः ॥ ७० ॥
 भक्तिमार्गीयकार्याय न व्यापकतया स्थितिः । अतो न रक्षकः कोपि तस्यैकान्तस्थितौ भवेत् ।
 तुशब्देन ततोऽन्योपि त्यागपक्षोत्र सूचितः । अत्रं प्रबलबाधोपि दुर्बलत्वेन रूपितः ॥ ७२ ॥
 हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे । अतो न रक्षकापेक्षा सिद्धत्यागे विधीयते ॥ ७३ ॥
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति वाक्यात्प्रभूदितात् । यदा तु साधनदशा तदापेक्ष्यं हि रक्षणम् ।
 भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्य इत्येष निश्चयः । स तु सन्निहितो नित्यं लीलास्थाने तथा पुनः ।
 यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः । स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान् ७६
 नोपेक्षते यतस्तत्र स्थेयं यत्र स्थितो हरिः । तत्रापि सर्वतो रक्षा नान्यसाध्या न संशयः ७७

१ हरिस्थानवासपक्षादिदं पक्षान्तरं, न तु त्यागपक्षात् । २ अत्यागपक्षे । ३ हरिस्थानवासः, सेवापरता, कथापरता चेति त्यागे त्रय पक्षा उक्ताः । ४ मुखे सर्वथा त्यागपक्षे ।
 भक्ति ४

यतः कालवशाः कालकर्मादिभ्यो न रक्षकाः । तुशब्देन स्वभावोपि हरेरेष निरूपितः ७८
संशयाभावकथनं तत्र भक्तवशो हरिः । भक्तभक्तानपि सतो रक्षति स्वगतानिति ॥ ७९ ॥
रक्षणं कालकर्मादेस्तथा भावान्तरादपि । पक्षद्वयेन भक्तेस्तु वृद्धिरेवं निरूपिता ॥ ८० ॥
इतिशब्दः समाप्त्यर्थोन्यप्रकारनिषेधकः । एतावता हि भगवच्छास्त्रमेव निरूपितम् ॥ ८१ ॥
यतस्तद्भूतत्वं हि ततोन्येषां सुदुर्गमम् । तत्त्वमेतावदेवास्व तस्मिन्नत्र निरूपिते ॥ ८२ ॥
तदेव सकलं शास्त्रं निरूपितमितीरितम् । एतदध्ययनात्सम्यग्बुद्धिं याति रतिर्हरौ ॥ ८३ ॥
सम्यक्त्वं श्रद्धया भक्त्या तथा विश्वासतो गुरौ । य इत्यनेन वर्णादिनियमोधिकृतौ न हि ८४
अपिशब्देन कैमुत्यन्यायोप्यत्र निरूपितः । ग्रन्थपाठादपि रतेर्वृद्धिर्यत्र तदा किमु ॥ ८५ ॥
वाच्यमाचरणे साधु सभायासुपदेशने । तत्रापि भक्तिवृद्ध्यापि द्बोक्ता पाठमात्रतः ॥ ८६ ॥
इति श्रीवल्लभाचार्यकरुणालब्धशक्तितः । स्वसन्तोषाय भावस्व पोषायातिप्रयत्नतः ॥ ८७ ॥
श्लोकरूपेण सर्वापि विवृता भक्तिवर्धिनी । यथामति निजाचार्यचरणाश्रयणादपि ॥ ८८ ॥
एतेनास्मत्कुलपतिः प्रभुः श्रीविठ्ठलेश्वरः । प्रसीदतु सदा दासे हरिदासे स्ववंशे ॥ ८९ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणवारिरुहेभ्यो नमः । श्रीविठ्ठलपदपङ्केरुहेभ्यो नमः ।

यत्पदाम्भोजभजनाद्भवन्ति समसिद्धयः । कलयामि कृपावार्धिं तं प्रभुं भक्तिवृद्धये ॥
निधाय श्रीमदाचार्यचरणाब्जयुगं हृदि । तत्कृपातो यथाशक्ति व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥
भगवद्रसपीयूषपायिनो यत्कृपायुजः । भवन्ति.....भक्त्या तं श्रीविठ्ठलमाश्रये ॥
श्रीमत्कल्याणरायाख्याननुकम्पापयोनिधीन् । नमामि तातचरणानहं स्वाभीष्टसिद्धये ॥

अथ मायावादादिदुर्भवेतिवाजालमहेन्द्रजालजनितजनताव्यामोहमूलनिर्मूलेन सम-
र्थामितागमनिगमान्तस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रादिप्रमाणशतप्रतिपन्नप्रपन्नजनप्रतिक्षणक्षेमंकरप्रभवा-
ज्ञाप्रादुर्भाविततद्भक्तिमार्गेणातिकरालकलिकालविलुप्तकर्माद्यधिकारान् भगवदीयकृपादृक्पा-

१ 'तत्रापि भक्तिवृद्ध्यापि प्राप्यते सुदृढा हरौ । पाठमात्रेण तेनैषा संसेव्या भक्तिवर्धिनी ।' इत्यधिकं क्वचित् । २ अत्राशुद्धमिव भाति ।

तसंजातभक्तिमार्गश्रद्धायाधिक्यसमधिगतैतदधिकारानपि भक्तिवृद्धिकरोपायविशेषपरि-
चयाभावप्रभवप्रचुरक्लेशकरं वितान्तःकरणान्प्राणिनः समुद्दिधीर्षवः परमकृपालवः श्रीवल्लभा-
चार्यचरणा भक्तिवृद्धिकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्सथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्स्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तेः प्रकृष्टा वृद्धिर्भवति, तथा तेन प्रकारेण उपायो निरू-
प्यते, विविच्य कथ्यत इत्यर्थः । ननु श्रीभागवतगीतादिषु भक्तिवृद्धिनिदानमूतदान-
व्रतादीनामुपवर्णितत्वेन तत एव तदवगतेरनर्थकमेतन्निरूपणमिति चेत् । अत्र वदन्ति ।
भक्तिर्हि द्विविधा, साधनरूपा फलरूपा च । तत्राद्यायां दानव्रताद्युपायपूर्वकत्वमिति तदुत्प-
त्तिवृद्धिप्रकाराः सुप्रसिद्धाः, न द्वितीयस्याः । अतस्तस्याः स्वयं प्रकटिताया वृद्धिप्रकारनि-
रूपणमुचिततरं भवतीति । वस्तुतस्तुभयविधभक्तिवृद्ध्युपाय एव निरूपणीयत्वेनात्राभिमत
इत्यामाति, श्रवणकीर्तनाद्युभयसाधारणसाधनानामग्रेऽभिधानात् । न चैषामुभयरूपत्वमनु-
पपन्नमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रफलत्वफलान्तरसाधकत्वप्रतिसन्धानपूर्वकविधानेनोभयरूपतायाः
सम्भवात् । नन्वेवं सत्येतेषामन्यत्र निरूपितत्वेनात्रापि निरूपणे क्रियमाणे पौनरुक्त्यदोषो
दुष्परिहर इति चेत् । न । अन्यत्र धर्मान्तरव्यतिकरेणानिर्लुठिताकाराणामेषां व्यक्तमवश्यं
वक्तव्यतयोक्तदोषस्य वक्तुमनुचितत्वात् । न पुनरुक्तता महान्दोषः, शतकृत्वोपि पथ्यं
वक्तव्यमिति न्यायात् । भक्तिप्रवृद्धिः कदा भवेदित्याकांक्षायामाहुः बीजभावे दृढे तु
स्यादिति । बीजभावे स्वल्पस्नेहे दृढे व्यसनरूपे सति भक्तेः सर्वांशेन वृद्धिर्भवेदित्यर्थः ।
यद्वा । बीजभावे स्वाचार्यानुग्रहसंसिद्धभगवन्निवेदनानन्तरभाविभगवदङ्गीकारे दृढे अति-
स्थिरे केनाप्यचाल्ये सति सा स्यादित्यर्थः । न च भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञानेनैव तदवासेर्भ-
क्तिवृद्धिरनभिलषितेति वाच्यम् । भक्तेः स्वतन्त्रफलत्वेन तद्दृढेः सर्वाकांक्षणीयत्वात् । कथ-
मन्यथा मुक्तमूर्धाभिषिक्तः श्रीशुको भृशं भक्तावनुरक्तोऽभूत् । कथं वानारतनिवृत्तिनिरताः
सनकादयोपि भक्तावत्यासक्ता आसन् । अत एव 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च'
'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ती'त्यादिवाक्यानि । नापि भक्तिं विना कृतं ज्ञानं कैवल्यकरणीम-
वितुमर्हति, भक्तिसहितस्यैव तस्य मुक्तिसाधकत्वात् । 'श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्ये'ति वाक्यात् ।
ननु यथाकथञ्चिन्मुक्तिहेतुत्वोक्तावपि भक्तेः स्वतन्त्रफलत्वं न सुप्रतिपदमिति चेत् ? आ-
न्तोसि । स्वतः पुरुषार्थत्वेन कृतायास्तस्यास्तथात्वस्य दुर्वारत्वात् । अत एव प्रसुचरणै-
रमाणि भक्तिर्हसे 'स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणः श्रवणा-
दिरुक्तमः पुष्टिरूप' इति । एवं सति 'मत्सेवया प्रतीतं च' 'सालोक्यसाष्टिसामीप्यसा-
रूप्यैकत्वमप्युत' 'मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गुः,' 'अविभक्ता भागवती भक्तिः
सिद्धेर्गीयसी' 'भगवान्भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्' 'एवं

धर्मैर्मुष्याणाम्' 'भक्तिं लब्धवतः' 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'-
त्यादिवचनानि सङ्गच्छन्ते । तद्ब्रह्मावतिरिक्तानि साधनान्याहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तना-
दिति । भक्तिमार्गविरोधिदेवान्तराश्रयादेस्त्यागाद्भगवन्नामचरित्रादेः श्रवणात्कीर्तनाच्च ।
कर्मणोरिव श्रवणकीर्तनयोर्विरोधो नास्तीति बोधनार्थमेकवद्भावः । श्रवणकीर्तनयोरुप-
लक्षणत्वेन स्मरणस्वाचार्यभक्तिविश्वासादीनामपि संग्रहः । न चाप्रमाणसिद्धान्त्याश्रय-
त्यागश्रवणादीनीति वाच्यम् । 'यो वै स्वां देवतामतियजते, प्रस्वायै देवतायै च्यवते,
न परां प्राप्नोति, पापीयान्भवति' 'यावदन्याश्रयस्तावत्', 'अनन्यचेताः सततं,' 'अनन्या-
श्चिन्तयन्तो माम्,' 'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्टः नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्, तं त्वा
गृणामि तवसमतव्यान्क्षयंतमस्य रजसः पराके' 'तस्मात्सर्वात्मना राजन्' 'तस्माद्भारत'
'तस्मादेकेन' 'तमु स्तोतारः' 'शृण्वन्गृणन्संस्मरयन्' 'शृण्वन्ति गायन्ती'त्यादिश्रुतिपुरा-
णवाक्यसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

भक्तिवृद्धौ साधनान्यभिधाय तत्प्रतिभुवं प्रकारमाहुः बीजदार्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्यप्रकरस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यवच्छेदकः । बीजस्य भगवद्भावस्य दार्यजनकः प्रकारो
भगवद्भजनलक्षण इत्यर्थः । यद्वा । बीजस्य पूर्वोक्तरूपस्य स इत्यर्थः । तमेवाहुः गृहे
स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरिति । स्वध-
र्मतोऽग्निहोत्रादेर्गृहे अव्यावृत्तः कर्तव्यान्तरव्यासक्तिशून्यः स्थित्वाऽचञ्चलो भूत्वा कृष्णं
सदानन्दं, 'कृषिर्भूवाचक' इति वाक्यात्, श्रवणादिभिः पूजया भजेदित्यर्थः । इह स्नेहा-
धिक्यवैधुर्येण विधीयमानायाः सेवायाः पूजासाम्यात्पूजापदमुक्तम् । तत्राद्युक्तपूजायां
शीतलशङ्खसलिलस्नानाद्यभिधानेन भक्तिमार्गविरोधात् । अथवा । ननु कृष्णभजनप्रकरणे
तद्विभूतिविषयकागमाद्युक्तयज्ञोक्तेरयुक्तत्वेन प्रकृते कथं पूजापदोपादानमुपपद्यत इति
चेत् । इत्थम् । सन्ति हि बहवो भावभजनप्रकाराः, तदन्तर्निविष्टा भवति भावपूर्विका
पूजापि । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये 'पूजां दधुर्विरचितां
प्रणयावलोकै'रित्यत्र गुणगाने हरिणीभावनिरूपणानन्तरं तद्भावदृशः पूजारूपता निरू-
पिता । नहि तत्र तात्रिकी पूजा युज्यते जातुचित्, तस्याः पृथग्रूपत्वात् । तेनैवंभूतभावानु-
सारिणी सात्राभिधिरित्येति तदुपादानमविरोधि । न चैवमप्यन्ततो भक्तौ पर्यवसानेन
तस्या एव वाच्यत्वात्संशयितपूजोक्तिरयुक्तेति वाच्यम् । श्रवणाद्यभक्तिवकान्तर्गतस्वत-
न्त्रभावपूजायाः प्रकृते पुरस्करणीयत्वेन क्षतेरभावादिति । यद्वा । धर्मान्तराणां परधर्मत्वेन
परिहार्यत्वात्स्वधर्मतो भगवद्भर्मतः सेवानुकूले गृहेऽव्यावृत्तस्यक्तान्यव्यासक्तिरिति यावत्,
तथाभूतः सन्, कृष्णं सदानन्दं पूर्वोक्तया पूजया श्रवणादिभिर्भजेदित्यर्थः । अत्र कृष्ण-

पदेनोक्ता भजने फलरूपता । सूचितोकरणे प्रत्यवायो लिङ्गव्यत्ययेन च । न चास्मिन्पक्षे
विहितवर्णाश्रमधर्मत्यागे प्रत्यवायपाषण्डित्वादोषप्रसङ्ग इति वाच्यम् । सेवासमयाभावे
यथाधिकारं सर्वधर्मसम्पादनेनैव दोषापाकरणसम्भवात् । सेवासमये च सर्वधर्माणामन-
वकाशिनिराकृतत्वेन तदभावेपि हानेरभावात् । 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसा'मिति वाक्यात् ।
कदाचिदोषापातेपि भगवतैव तदपगमोपपत्तेश्च । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभा-
वस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिदुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति वाक्यात् ।
मर्यादामार्गीयव्यवस्थैषा । शुद्धपुष्टिमार्गमभिनितिशमानस्य तु प्रभुचरणतामरसैकतानचेतसः
कृत्स्नकर्मकलापं परित्यजतोपि प्रभोरशिथिलपरिग्रहेण न कश्चिदोषः, यतस्तथाभूत् एव
स पन्थाः । 'यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च
परिनिष्ठिता' मिति वाक्यात् ॥ २ ॥

एवं तद्ब्रह्मिप्रकारं व्यासक्तिविरहितभगवद्भजनलक्षणमुक्त्वा, 'न हि कश्चित्क्षण-
मपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दितिन्यायेन काचित्कव्यावृत्तावपि चित्तं भगवति निधाय भजन-
प्रयत्नमत्यजन्नासीतेत्यभिप्रायेणाहुः—

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्ध्यानं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदेति । व्यावृत्तो लौकिककर्मव्यापृतोपि हरौ
स्वकीयदुःखहरणस्वभावे चित्तं निधायति शेषः, सदा निरन्तरं श्रवणादौ तन्निमित्तं यसे-
त्प्रयतेत्यर्थः । यसु प्रयत्ने तेन, यथा केनचिदुक्तं, 'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृह-
कर्मणि । तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायन'मितिवद्बुद्धये हरिं धृत्वावश्यकसांसारिकका-
र्यव्यापृतेनाप्यनन्तरमनवरतं श्रवणादिप्रयत्नप्रवणान्तःकरणेन भवितव्यमित्यर्थः । यद्वा ।
भगवत्कार्यव्यापृतोपि तत्परिसमाप्योर्वरितसमये श्रवणाद्यर्थमुद्यमं विदध्यादित्यर्थः । श्रुते-
दिति कचित्पाठः । तत्र परस्मैपदमनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात्प्रत्येतव्यम् । एवं प्रय-
तमानस्यानुपूर्व्येण प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्याहुः ततः प्रेमेति । ततः श्रवणादिभ्यः
प्रथमं प्रेम चित्तासङ्गवद्भवति, पश्चात्तथैव सङ्कल्पवदासक्तिर्भवति, व्यसनं च पुनर्यदा भवे-
दतिप्रचुरप्रभुप्रसादप्राप्यत्वात्तस्य । कीदृशानि पुनः प्रेमासक्तिव्यसनानि । स्वगोचरे
स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम । तथानेकविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः । विषयेण विना
स्थातुमशक्तिर्येन स भावो व्यसनमित्येवमाकलय । अत्र संग्रहश्लोकौ । 'स प्रेम यः सं-
विदधाति भावः स्वतःप्रवृत्तिं विषये स्वकीये । यश्चाभिलाषान् जनयेदनेकान्भावः स
आसक्तिरिति प्रसिद्धः । स्थातुमेव न शक्नोति विषयव्यतिरेकतः । येन भावेन तं भाव-
माहुर्व्यसनसंज्ञकम् ॥ ३ ॥

एतत्सम्पत्तौ बीजं दृढं भवतीत्याहुः बीजमिति ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

भगवत्कृपादिना यदि व्यसनसमुद्भवस्तदा यद्भगवच्छास्त्रे बीजं स्नेहाङ्गरूप-
मुच्यते तद्दृढमशिशिलं भवति, अत एव विषयादिसंसर्गेण नश्यत्यपि न । व्यसनभावस्य
बीजभावदाढ्यपरमावधिरूपत्वादिति भावः । यद्वा । बीजं यत्रभुपरिग्रहात्मकं तद्यदि
व्यसनं समुत्पद्यते, तदा भक्तिशास्त्रे दृढं केनापि शिथिलीकर्तुमशक्यमुच्यते । अत एव काला-
सत्सङ्गत्यादिनापि न विनश्यतीत्यर्थः । नहि भगवान्निजाङ्गीकृतान्कदाचिदपि विहातुमु-
त्सहते । तदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । एवमुत्तरोत्तरबलवत्तराणामेतेषामाद्ययोः कार्यमाहुः
स्नेहेति । स्नेहाद्भगवद्विषयकप्रेम्णः प्रभुसेवाप्रतिकूले गृहे रागस्य विनाशो भवति । भग-
वद्रागस्य द्रागेव गेहानुरागनाशोपायत्वात् । 'तावद्रागादयः स्तेना' इति वाक्यात् । आ-
सक्त्या चोक्तरूपया गृहेऽरुचिरासक्त्यभाव उपजायते । भगवदासक्तेस्तदतिरिक्तास-
क्तिनिराकरणशीलत्वात् । 'कृष्णांमिपन्नमधुलिङ्गं न पुनर्विंसृष्टमायुगुणेषु रमते वृजिनाव-
हेष्विति' वाक्यात् । न च प्रेमासक्तिमतामपि गेहस्नेहादिसद्भावदर्शनादसङ्गतमिदमिति
वाच्यम् । तादृशां भगवद्विषयकस्नेहसङ्गोपनार्थमेव सांसारिकतत्प्रकाशनादनेवंभावे च
भगवत्यपि तदभावादेवेत्युभयथापि दोषाभावात् । लोकसंग्रहार्थमपि भक्तानामसंख्य-
व्यापारदर्शनात् । भजनौपयिकभवनाद्यनुरागस्य स्वधर्मपर्यवसायित्वेनौचित्यावर्जितत्वाच्च ।

एवं सति गृहाद्यनुरागिणामेवात्र बाधकत्वास्वधर्मत्वे स्फुरत इत्याहुः गृहेति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवत्सम्बन्धिप्रेमासक्तयोर्गृहस्थानां विवेकवैकल्येन गृहेनुरागाधिक्यात्तत्रैव तिष्ठतां
बाधकत्वं, तत्र स्नेहाभावोत्पादकतया कलत्रपुत्रादिपोषणसामर्थ्याभावलक्षणदोषोद्भावना-
त्प्रवृत्तिमार्गीतिमात्रनिष्ठावत्तयानात्मधर्मत्वं च, भगवति वानात्मत्वं भासत इत्यर्थः । वस्तु-
तस्तु, 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न कर्हिचित्
मत्परा शान्तरूपे नक्ष्यन्ति' 'तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ', 'तस्मिन्सन्तुष्टे किमप्राप्यं
किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्येभ्यो भगवानेव निजभक्तनिखिलकार्यनिर्वाहाय जागरूक
इति वास्तवसर्वभावेन भजनीय इति वस्तुगतमविदुषाममीषामेवेयं कुमनीषेति । अत एव
श्रीमदाचार्यैर्भासत इत्यभाषि । अथवा । भगवदासक्तियुक्तानामतादृशशास्त्रादिषु बाध-
कत्वप्रतिसन्धानं भवतीत्याहुः गृहस्थानामित्यादि । अत्र गृहस्थपदेन भार्यापुत्रादयस्ता-
त्स्थ्याद्गृह्यन्ते । तथा च सति तेषां विजातीयभावतया तद्भावस्य स्वभावप्रतिद्वन्द्वित्वेन स्वात्म-

भावस्वाम्यायेन च निजभावभङ्गभीरूणां तेषु बाधकत्वं भासतेऽनात्मत्वं च । तथाभूतानां
भगवत्येव स्फुरत्स्वात्मभावतया तदीयेष्वात्मीयताविर्भावात् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यै-
रुक्तं 'पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । एतेन 'न वारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती'त्यादि श्रुतेरात्मसम्बन्धितया पुत्रादीनां प्रिय-
त्वेन बाधकत्वमसम्भवीत्याशङ्का व्युदस्ता । एवं प्रेमासक्तयोः कार्यमुक्त्वा व्यसनस्य तदाहुः
यदेति । यदा परमदुरापमनुपममुक्तभावात्मकं व्यसनं कृष्णे सदानन्दे स्वलीलासहिते
स्यात्, तदैव कृतार्थः पर्याप्तार्थः स्यात्, कर्तव्यान्तरपरिषेष्वाभावात् । अत एव व्रजस्थितानां
तथाभावः श्रूयते श्रीभागवते, 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः,' 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव
पादमूलम्' 'क्षणं युगशतमिवे'त्यादिना । एवकारः प्रेमासक्तिमतोर्व्यवच्छिनत्ति ।
हिशब्देनात्र युक्तार्थतोक्ता, तद्भावविषातकसद्भावात् । तदेतदाहुः । तादृशस्यापि प्रेमा-
दिमतोपि सततमविच्छेदेन सत्सङ्गाद्यभावेन गेहस्थानं भावस्य विनाशकं भवति ।
सत्सङ्गाद्यसचिवस्य तस्य तादृशत्वात् । न च व्यसनवतोपीदृशबाधकास्तित्वं शक्य-
शङ्कम् । तद्भावस्यैव स्वतन्त्रकार्यक्षमत्वेन सत्सङ्गादिभावाभावायतैर्वृद्धिहासैस्तद्व्यति-
रिक्तभावानामेव साधकबाधकादिसम्बन्धितया प्रकृते बाधशङ्कानवतारात् ।

गृहादेर्भावान्तरायरूपत्वं विदित्वा तदपहाय फलाय प्रयतेत यस्तस्य तदाहुः ।

त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावर्तकः । यः पुमान्गृहादिषु भगवद्भजनप्रतिबन्धं विबुध्य
तत्यागं कृत्वा भगवलीलाश्रवणचिन्तनादिनिमित्तं यसेत् यत्नं कुर्यात्, कीदृशः ? तदर्थार्थ-
र्थैकमानसः । तस्य भगवतो योर्थः श्रवणादिरूपस्तदर्थं एकं मानसं यस्य तादृश इत्यर्थः ।
यद्वा । भगवतोर्थो लीला, तदर्थं तन्निमित्तं तदर्थेषु तत्सम्बन्धिपदार्थेषु वा तथेत्यर्थः ।
अथवा । स चासावर्थश्चेति कर्मधारये तदर्थो भगवान् तदर्थं तथेत्यर्थः । स एवार्थः शास्त्र-
स्कन्धादिषु यत्र तादृशं श्रीभागवतं 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं
सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते' इति श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपवचनात् । तदर्थं वा तथेति वार्थः ।
स एवार्थो धनं येषां ते । तदर्थो भगवद्भक्तास्तेषामर्थेषु कार्येषु वा तथेत्यर्थः । एतादृशः
सन् भक्तिं सुदृढां विषयाद्यनभिभाव्याम्, 'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिमूयते' इति
वाक्यात्, सर्वतो ज्ञानादिभ्योप्यधिकासुत्कृष्टाम् । न चाधिक्ये मानाभावः । 'तस्मा-
न्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः,' 'नैकात्मतां मे स्पृह-
यन्ति' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्चे'त्यादिवाक्यशतसिद्धत्वात् । विस्तरस्तु
श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैरन्यत्र कृत इति नेह तन्यते । परामभिव्यक्तापरिच्छिन्नानन्दरसस्वरूपां
लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि निरन्तरायेऽस्मिन्नुपाये सति किमित्युपायान्तरमुपादेयमित्यत आहुः त्याग इति।

त्यागे बाधकमूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाघ्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरं विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

न हि त्यागो निष्प्रल्यूहं फलाय कल्पते, त्यागे यतो बाधकानि दुःसंसर्गदुष्टा-
न्नभक्षणादीनि सद्बुद्धिप्रतिक्षेपकारीणि भूयांसि सन्ति । न हि भगवत्पराङ्मुखानामने-
कदोषदन्तुरितस्वान्तानां सङ्गस्तूर्णं भावमङ्गं न विधत्ते । न वा तथाभूतानाम-
न्नादिकं भक्षयतो भगवत्प्रतीक्ष्यमविश्वसं मनो भवति । अत एवावैष्णवादीनामन्नं न
परिग्राह्यम् । तदुक्तं पञ्चपुराणे 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च- । अनर्पितं तथा
विष्णोः श्रमांससदृशं भवे'दिति । ननु बाधकानां बहुत्वे द्वावेव कथं कथितौ । दुष्ट-
संसर्गाद्दोषयोः प्रबलत्वादिति बुध्यस्व । तेन यदि भगवद्भजनं गृहादिषु निर्बाधं सम्प-
द्यते, तदा न परित्यागः श्रेयान् । तत्रेत्तत्र भार्याद्यभिद्वेषादिना सम्यङ्जनं निर्वहति, तदा-
पूर्वोक्तप्रणालिकया त्याग एव कर्तव्य इति विवेकः । अत एव श्रीमदाचार्यैस्तत्त्वदीप-
निबन्धेऽप्युपायि 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्कियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले
गृहं त्यजे'दिति । द्वितीयस्कन्धविवरणे च 'दाम्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षित'मिति । एवं त्यागे
दुःसङ्गादेर्विघातकत्वं निरूप्य तद्दोषनिराकरिष्णुः सतां सङ्गः क्वचिद्भगवत्स्थाने सम्पाद-
नीय इत्याहुः अत इति । यतस्त्यागे बाधकानां बहुत्वमतःकारणात्क्वचिद्धरेः सर्वदुःखहर्तुः
स्थाने श्रीगोकुलश्रीगोवर्धनादौ तदीयैस्तत्सम्बन्धिभिस्तत्परैः, स एव परः सर्वापेक्षयोत्कृष्टो
येषां तादृशैः, परमकाष्ठापन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्थेयमित्यर्थः । न च तत्राप्यसत्सङ्गादिसम्भ-
वादुक्तदोषानिवृत्तिरिति वाच्यम् । सर्वसमयसत्सङ्गवत्सु दुःसङ्गादिदोषाणामनवकाशनि-
वारितत्वात् । न हि प्रतिदिनं सत्सङ्गरसास्वादिनः क्वचिदन्यत्र चित्तप्रसादमासाद-
यन्ति । अत एव सत्सङ्गोत्कर्षः श्रीभागवते गीयते । 'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुन-
र्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष' इति । ननु यत्र क्वचित्सत्सङ्गेन
कार्यसिद्धेः सङ्गिः सहावस्थानं हरिस्थान एव कार्यमिति निर्बन्धो बकबन्धवन्निरर्थक इति
चेत् । मैवम् । तत्र बाहुल्येन तेषां सङ्गतेः सम्यक्सम्भवेन तदनुवृत्तेरावश्यकत्वात् ।
अन्यत्र तेषां प्रायशोनुरागविरहेणानवस्थानात् । बहिर्भुजजनकृतोपद्रवशङ्कया स्थातुमशक्य-
त्वाच्च । अत एवोक्तं पञ्चमस्कन्धे 'न यत्र वैकुण्ठकया सुधापगा न साधवो भागवतास्तदा-
श्रयाः । न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोपि न याति सेव्यता'मिति । एवं सति
तेषां सन्निधौ स्थितिः कथं कर्तव्येत्याकांक्षायामाहुः अदूरमिति । यथा भगवदीयानां चित्तं
न दुष्यत्युद्वेगादिना, न विकृतिमाप्नोति, तथाऽदूरं निकटं यथा स्यात्तथा, विप्रकर्षे दूरे वा
स्यातव्यमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । सन्तो हि नितान्तमेकान्ते भगवत्कथां मिथः कुर्वन्तस्त-

द्रसरमसविवशा भवन्ति, ताननुसरन्त्यदि कश्चित्खलाभं निश्चित्य तेषामासतिमालम्बते, ते
चेदतिगूढरसं तदग्रतः प्रकशयितुमशक्यमाकलयन्तः, स्वयं ततो विरमन्ति चित्तोद्वेगवन्तः,
तदा तस्य दूरस्थितिरवानुसरणे श्रेयसी, अन्यथा मनीषितानिष्पत्तेः । अथ दयार्द्रहृदयतया-
तिनिकटागमने नियोगं विदधते, तर्हि तत्सामीप्यमेव समीचीनम्, अनुसरणानुकूलतया
समीहितसिद्धिहेतुत्वादिति । यद्वा । स्वस्य चित्तं यथा दुष्टं न भवति तथा सन्निकर्षेण
विप्रकर्षेण वा स्थेयमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

एवं सत्सङ्गाद्यपगतशेषदोषस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सत्सङ्गादिकमनुतिष्ठतः श्रीकृष्णसेवायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वपरिस्फूर्त्या दृढा
निश्चलासक्तिर्भवेत्, कथायां वा, तस्या अपि सेवासमत्वात्, तस्य यावज्जीवं प्राणस्थिति-
पर्यन्तं नाशः फलाभावः कापि न स्यादिति मम मतिः । अतो नेह सन्देहः कर्तव्य इति
भावः । यद्वा । मम मतिरेवं भगवान्परमकृपालुः कथं वा तस्य दयेतेति न वेदितुं शक्यमिति
भावः । ननु सेवायाः कथायाश्च कथं साम्यम् । इत्थम् । तथाहि । सेवा नाम चित्तस्य
तदेकप्रवणत्वम् । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवं'ति लक्षणाभिधानात् । तत्सम्पादिकायाः कृतेरपि
तथात्वम्, अन्यथा तस्याः परत्वानुपपत्तेः । अत एव 'मानसी सा परा मते'त्यभाणि । तेन
यथैतस्या भगवद्भावतद्भक्तसङ्गादिसाधकत्वं नान्तरीयकानन्तकार्यसाधकत्वं च, तथा कथाया
अपीति साम्यं दुरपवादम् । अत एवैतादृशाभिप्रायेण 'कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि
मिलन्ति, प्रेमापि भवति, आनुषङ्गिकं चान्यद्ब्रह्मेव भवती'त्युक्तमाचार्यैः ॥ ९ ॥

ननु क्वचित्काननादावेकान्ते वासं विधाय भगवन्नामलीलादिकमेव चिन्तनीय-
मेकाकिना, किं भगवद्भक्तसङ्गेनापीति चेत्तत्राहुः ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः शङ्काव्युदासकः । यदुक्तमेकान्तेन नामचिन्तनमेव कार्यं, न सत्सङ्ग
इति तत्सत्यम्, परन्तु यदि बाधस्य भोगचित्तोद्वेगलक्षणस्य सम्भावना न भवेत्, सा
चेत्स्यात्, तदैकान्ते वासो नेष्यते, चित्तवाञ्छल्यादिना नामचिन्तनाद्यनिर्वाहात् । अतः
सत्सङ्ग एव कर्तव्य इति भावः । ननु चित्तविश्लेषादिरान्तरो बाधः सत्सङ्गादिना नि-
वर्तताम्, बाधं चौरव्याघ्रादिभयं तु दुःपरिहरमिति चेत्तत्राहुः हरिरिति । तुशब्दः प्रकार-
भेदावेदकः । हरिर्भक्तदुःखहर्ता सर्वतो बाह्यादान्तराच्च बाधकाद्रक्षां करिष्यति । अस्मि-
न्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः । न हि भगवान्भक्तदुःखं क्षणमात्रमपीक्षितुं क्षमते ? निरूप्य-

परमानुकम्पापूर्णत्वात् । अत एव हरिपदमुपात्तम् । भक्तदुःखहर्तृत्वस्य तदसाधारणधर्मत्वात् । तदाहुराचार्याः 'यथा गन्धः पृथिव्याः, एवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्व'मिति । यद्वा । सर्वतः सुदर्शनादिना रक्षां हरिः करिष्यति, नात्र संशय इत्यर्थः । 'अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तं, रक्षन्ति सकलापङ्क्तो येन विष्णुरुपासितः । सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्येभ्यः ॥ १० ॥

एवं प्रस्तुतमशेषं शास्त्रमुपवर्णयैतदर्थपरिज्ञानपूर्वकपाठफलोपन्यासपुरःसरमुपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्भक्तिप्रकारप्रतिपादनात् निरूपितमपि गूढतत्त्वं गुप्तस्वरूपम्, भगवदनुगृहीतैरेवैतदभिप्रायस्यावगन्तुं शक्यत्वात् । एतद्यः पुमानुदितभाग्यो भगवदीयानुग्रहेण विचारेण वा सम्यगर्थावगमपूर्वकमधीयीत पठेत्तस्य भगवति दृढा स्थिरा रतिः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाङ्गजन्मा गोपेश्वराभिधः । विवृतिं भक्तिवर्धिण्याः कृतिनिर्वृतये व्यधात् ॥ यद्यप्यतिहृद्याः पितृचरणैर्निर्मिता विवृतिः । तदुपरिकरणेऽन्यस्या आघोषो भूयतेनल्पम् ॥ तेषामतिकरणानां तथापि बालेन संरचिता । निजपाठितगुणनेव प्रीत्यै नित्यं भवित्रीयम् ॥ इमां श्रीवल्लभाचार्यपदपङ्कजकिङ्कराः । पश्यन्तः सन्ततं सन्तः सन्तुष्यन्तु मुहुर्मुहुः ॥

इति श्रीमद्वोकुलाधीशपदपङ्केरुहनिरतिशयरतिवर्त्मप्रवर्तकोद्वेदद्वगवल्लीलामहारसाब्धिसमुच्छलद्भावकलोलसंवलितसकलस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यवदनचन्द्रचञ्चरुतमवचनमरीचिनिचयप्रोदञ्चिःसीमानन्दनिकुरुम्बकरम्बितीकृतनिजभृत्यनिकरचेतश्चक्रोरकानवधिकानुकम्पानिधानश्रीविठ्ठलाभिधानप्रभुचरणपयोरुहरेणुकणमात्रसर्वस्वश्रीकल्याणरायतनुजगोपेश्वरविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमुपागमत् ।

श्रीविठ्ठलपदपङ्कजकिङ्करगोपेशसुरचिता या । तां श्रितानां तोषाय रोषाय द्वेषिणामस्तु ॥ अनया कृपया तेषां कृतयामितया मया । सदार्थां वल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेता ।

प्रणम्य गोकुलाधीशभक्तिमार्गाञ्जभास्वतः ।

आचार्यास्तद्दयादृष्ट्या व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवता एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योग' इत्यत्रोपलक्षणविषया सर्वेषां योगादीनामुपायानां स्वासाधकत्वमुक्त्वोर्जितायाः भक्तेः स्वसाधकत्वमुक्तम्, तत्र किं नामोर्जितत्वमित्याकांक्षायां प्रवृद्धत्वमेवोर्जितत्वमित्यभिसंधाय भक्तिवृद्ध्युपायं स्वीयानामर्थे वक्तुं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादि ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्सथोपायो निरूप्यते ।

तत्र भक्तिशब्दो माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहे रूढः । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रस्मृतेः, 'सा परानुरक्तिरीश्वर'इति शांडिल्यसूत्रोक्ताभक्तिलक्षणात्, 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति भावलक्षणस्मृतेश्च । स्नेहश्च ज्ञानादिभ्योतिरिक्तो मनोधर्मविशेषः । प्रीणाम्यनुरज्यामि स्निह्यामीत्यनुव्यवसायेन मानसप्रत्यक्षगम्य इति शांडिल्यसूत्रभाष्ये स्वप्रेश्वराचार्यैर्व्यवस्थापनात् । नचैवं सति स्नेहमात्रमेव भक्तिरिति शक्यम् । 'गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । संवन्धाद्दृष्णयः स्नेहाद्ययं भक्त्या वयं विभो' इति सप्तमस्कन्धीयनारदवाक्ये भक्तिस्नेहयोर्निर्देशभेदस्य विरोधापत्तेः । उक्तपञ्चरात्रस्मृत्यादिषूक्तानां तद्विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्मात्तावद्विशेषणविशिष्टस्नेह एव रूढो, न केवल इति निश्चयः । योगविचारे तु 'भज सेवाया'मिति धातोर्भावे क्तिन्प्रत्यये कृते भक्तिरिति भवति । भावश्च क्रियासामान्यम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति वैयाकरणनियमात् धात्वर्थव्यंग्या या प्रधानभूता क्रिया तत्र पर्यवसति । प्रधानभूता च क्रिया मानस्येव । 'अन्यत्रमना अभूवन्नाशृण्वम्, अन्यत्रमना अभूवन्नापश्यमि'तिवाजसनेयश्रुतौ मनसः प्राधान्यश्रावणेन तत्क्रियाया एव प्राधान्यस्यौचित्यात् । तथाच सेवाभिव्यंग्या प्रेमरूपा मानसी सेवा भक्तिरिति तत्र योगरूढः सिध्यति ।

१ तृतीयस्कन्धे च 'सा भ्रूध्यानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः । इरेः पदानुस्मृति-निवृत्तस्य समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते' इति । २ साम्यमिति पाठः ।

तथाच श्रवणादिनवकेपि पारिभाषिकः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्षिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणम्' इति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । अन्ये तूपासनायामपि भक्तिशब्दं प्रयुज्यते । नैयायिकास्तु आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिरित्याहुः । तन्मते बुद्धिविशेष एव भक्तिः । वस्तुतस्तु तत्र सारूप्यप्रयुक्ता गौणी । पूर्ववद्ब्रह्मादिज्ञापकप्रमाणाभावात् । तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशत्याध्याये श्रीकपिलदेवैस्तु 'काचित्त्वय्युचिता भक्तिः क्रीडशी मम गोचरे'ति देवहूतिप्रश्ने 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी, जरयत्याशु या कोशं निर्गीर्णमनलो यथे'ति स्वरूपकार्य-लक्षणार्थ्यां बोधिता । तत्र एकमनसः पुंस इन्द्रियाणां स्वाभाविकी अनिमित्ता सत्त्वोपाधौ भगवति वृत्तिर्निष्ठेति स्वरूपलक्षणम् । कोशजरणं च कार्यलक्षणमिति सिध्यति । तत्सुबो-धिन्यां सत्त्वपदं सांख्यानसारात् 'वस्तुतस्तु मूलरूप' इति व्याख्यातत्वात्स्पष्टम् । अष्टा-विंशत्याध्याये तु 'भक्तियोगो बहुविधः' इति पुरुषस्वभावभेदकृतमार्गभेदेन भक्तियोगस्य बहु-विधत्वं प्रतिज्ञाय, त्रिविधं सात्त्विकराजसतामसभेदेन तदेव नवधा त्रिभिः श्लोकैरभिधाय, ततो 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथागंगां भसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृतमित्यनेन भगवद्गुणश्रवणमात्रात् भगवत्त्वविच्छिन्नं मनोगतिं यो जनयति सः भावैः निर्गुणभक्तियोगाख्य इत्येवं लक्षितः । ततः 'अहैतुक्य-व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति सार्ष्ट्यां कालकर्मान्वयविहितां पुरुषोत्तमविषयिणी स्वतः पुरुषार्थरूपा या सेवा सा आत्यन्तिकभक्तिरित्येवंलक्षिता । अत्र च भक्तिशब्दः प्रेमसेवायां योगरूढो गृहीत इति 'सालोक्ये'तिवाक्यादवसीयते । अयमेव चैकादशस्कन्धे द्वादशा-ध्याये 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामी-युरञ्जसे'त्यादिभिः श्लोकैर्भगवता परामृष्टो ज्ञेयः । एवं भक्तिशब्दस्यानेकार्थत्वे सति प्रकृते का वा विवक्षितेति चेत् ? उच्यते । आचार्याणां भगवदाज्ञया एकादशस्कन्धे भगवदभिसं-हितो यः सुगोप्यः सत्सङ्गलभ्यो भाव उक्तः, स एवाभिसंहितः । सिद्धान्तमुक्त्वावल्यां 'चेतस्त-त्वणं सेवे'ति कथनात्, तद्विवरणे प्रमुचरणैरपि 'ता नाविद'न्निति द्वादशाध्यायवाक्यस्य लिखनात्, प्रकृतग्रन्थेपि तत्रत्यचतुर्दशाध्यायवाक्योक्तसत्सङ्गश्रवणकीर्तनात्मकसाधनाना-मभिधानाच्च । न च चतुर्दशाध्यायोक्तसाधनानां द्वादशाध्यायोक्तभावं प्रति साधनत्वं कथमिति शक्यम् । चतुर्दशाध्याये तस्यैव भक्तिशब्देन परामर्शात् । द्वादशाध्याये 'न रो-

१ प्रामाण्याभावादिति पाठः । २ एकोनविंशत्याध्याय इति पाठः, अष्टाधिको विंशो यत्रैकोनविंशे सोष्टाविंशः, तादृशे ध्याये । ३ तेन मनसो गतिर्येन भावेनेति विग्रहः । एवं 'भक्तिरस्य भजनमित्यस्यां मनःकल्पनशब्देऽपि । ४ पुष्टित्वं साधनेष्वपि, अतो न केवलानुग्रहसाध्यत्वविरोधः ।

धयति मां योग' इत्याद्युक्तस्य योगादीनामसाधकस्यात्रापि 'न साधयति मां योग' इत्य-नेन प्रत्यभिज्ञानेन तथा निश्चयात् । अतस्तस्य या पूर्वावस्था 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्विति पञ्चरात्रवाक्ये उक्ता, सात्र विवक्षिता, तस्याः पूर्वोक्तरूपोर्जितत्वार्थमेव प्रयतनात् । तथाच सा यथा येन प्रकारेण प्रवृद्धा उर्जिता स्यात् तथा तेन प्रकारेण उपायो बुद्धिस्तो निरूप्यत इत्यर्थः ।

एवं प्रतिज्ञाय अधिकारिभेदेन प्रकारद्वयं वदिष्यन्तो मुख्याधिकारिणो भक्तिप्रवृद्धेरधि-कारबलादेव सिद्धत्वात्तदनुक्त्वा प्रथमं मध्यमाधिकारिण उपायमाहुः बीजभाव इत्यर्थेन ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

बीजरूपो भावः मग्वदनुग्रहजन्यः प्रेमा । तस्मिन्वक्ष्यमाणरीतिकव्यसनरूप-तया दृढे सति । तुः साधनान्तराशङ्कानिरासे । तदा त्यागोच्छ्रवणकीर्तनात्स्यात् । विर-हानुभवार्थं संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकः सवासनगृहपरित्यागस्तं कृत्वा तदुत्तरं यच्छ्रवणस-हितं कीर्तनं तस्मात्सौदित्यर्थः । अत्र श्रवणानन्तरं कीर्तनस्य कथनाच्छ्रुतानां स्वरूपगु-णलीलानां भावनं कीर्तनात्पूर्वमर्थबलात्प्राप्यते । एतदभिप्रायेणैव संन्यासनिर्णये 'भावो भावनया सिद्धः साधन'मित्युक्तम् । निरोधलक्षणे चाशंसाः प्रथमतो निरूपिताः । तथा-चैतैश्चतुर्भिर्भक्तिरूपितलक्षणवती प्रवृद्धा भवतीत्यर्थः । एतदेव निरोधलक्षणग्रन्थे 'महतां कृपया याव'दित्यारभ्य 'तदध्यासोपि सिध्यती'त्यन्तेन फलानुभवपर्यन्तं प्रपञ्चितं ज्ञे-यम् । तन्मया तत्रैव विवृतमिति नेहोच्यते ।

प्राञ्चस्तु । पुष्टिमार्गाचार्यानुग्रहपूर्वकमगवन्नवेदनानन्तरमाविनमंगीकारं बीजभाव-त्वेन केचिदाहुः । अन्ये तु मकलसाधारणकारणमहदनुग्रहसत्ताम् । इतरे चाल्पं खेहम् । तथा त्यागपदेन भगवदतिरिक्त्यागं केचिदाहुः । अन्ये तु एतन्मार्गीयातिरिक्तसाधन-त्यागम् । इतरे तु भक्तिमार्गविरोधिनोन्वयभजनादेस्त्यागम् । तेन तन्मते गृहस्थित्वविरो-धी त्याग आयाति । मन्मते तु गृहस्थित्वविरोधीतिभेदो बोध्यः ॥ १ ॥

अतःपरं जघन्याधिकार्यर्थं प्रकारं वदिष्यन्तः पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेत्यादि ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजं पूर्वोक्तम् । तद्दार्ढ्यप्रकारस्तु निरूप्यत इति शेषः । गृहे गृहस्थाश्रमे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतः पूर्वसिद्धादव्यावृत्तः अपरावृत्तः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः

१ साधारणसत्तारूपप्रेमव्यावर्तकं विशेषणम् । 'नासतो विद्यते भाव' इति गीतायां तदुक्तम् । प्रेमा-पि सत्तारूपं विषयकेहव्यावृत्तं । विशेषणादित्युक्तम् । २ एकादशस्यैकादशध्यायेस्थिति । ३ व्यसनरूप-प्रेमपरिणामान्तिमेन बुद्ध्यादिमस्य संपर्कं कारिकोक्ता भक्तिवृद्धिः स्यादिति नोपक्रमविरोधः ।

कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्यार्हिसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तते' इति छान्दोग्यस्थे गृहिणोपसंहारसूत्रविषय-वाक्ये तथा सिद्धत्वात् । एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवताप्याचारलक्षणस्य वर्णाश्रम-धर्मस्य भजनाङ्गत्वेनोक्तत्वाच्च । तं कुर्वन् कृष्णं पुरुषोत्तमं भजेत् । तत्र साधनं पूजाश्रव-णादिकं च । तदाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजा यथालम्बोपचारैः स्ना-नालंकरणादिरूपं स्वरूपसेवनम्, अर्चनापरपर्यायम् । तत्रैव पूजनप्रयोगदर्शनात् । श्रवणादि तु नवविधं प्रसिद्धमेव । तैर्भजेत् सेवेत । प्राथमिकभगवदनुग्रहेण जातामनुभूतां भक्तिमनसा साधनमर्यादाभिव्यञ्जयन् वर्धयेदित्यर्थः । यद्यपि नवस्वर्चनमपि प्रविशति, तथापि तस्यावश्यकत्वाय विशेषफलसाधकत्वाय च प्रथमं पृथङ्निर्देशः । नचोक्तश्रुति-भगवद्वाक्यबोधितप्रकारकस्य वर्णाश्रमधर्मस्येदानीमभावाद्भजनस्य व्यङ्गत्वं शङ्काम् । सप्तमस्कन्धे 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'ति नारदवाक्येन, निबन्ध आचार्यैरपि 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'त्यंगीकारेण च यथाशक्ति तत्करणेपि भक्तेर्व्यङ्गतापरिहारस्य निःप्रत्यूहत्वात् । एवमेकः प्रकार उक्तः ॥ २ ॥

अतःपरं वैधुर्यादिना तदशक्तौ प्रकारान्तरमाहुः व्यावृत्तोपीत्यादि ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

वैधुर्यादिना व्यावृत्तः स्वाशक्त्या वर्णाश्रमधर्मान्निवृत्तोपि हरौ भगवत्पदहर्तरि चित्तं स्थापयित्वा श्रवणादौ श्रवणाद्यर्थम्, तादर्थ्ये ससमी, यतेत् यत्नं कुर्यात् । अनुदात्तेलक्षण-स्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम् । न तु परार्थत्वात् । स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्कर-णस्य सिद्धान्तत्वात् । सदेति । निरन्तरमभीक्षणं वा । एवञ्च जघन्याधिकारिणोर्मध्ये यस्य सेवकसाधनसंपत्तिः तस्य पूजा श्रवणादिकं च बीजव्यक्तिसाधनम् । यस्य तु न पूजासाधनसंपत्तिः, तस्य तु भगवच्चित्ततापूर्वकं श्रवणादिकमेव साधनम् । एतदेवाभि-सन्धाय निरोधलक्षणग्रन्थे 'संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै' इत्यारभ्य आन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तद्विवरणे व्युत्पादितमिति नेह पुनरुच्यते ।

प्राञ्चस्तु अव्यावृत्तशब्दस्य व्यासङ्गरहित इत्यर्थमाहुः, व्यावृत्तशब्दस्य च व्यासक्त इति । सोत्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्यैव सिध्यतीत्युपेक्षितः । व्यासक्त इति तु 'हरौ चित्तं'मित्यादिनैव निवार्यत इत्युपेक्षितः । लक्षणाप्रसंगाच्चेति बोध्यम् ॥ २ ॥

१ भाष्योक्तत्वादिति भावः । २ 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धये'ति श्रुत्युक्तं विशेषफलम् । कस्माद्विशेष इति चेत् ? 'तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'ति श्रुत्युक्तात् फलात् । ३ विपरीतलक्षणाप्रसंगात् ।

एवं बीजदारब्धसाधनमुपदिश्य बीजाभिव्यक्तिप्रकारमाहुः ततः प्रमेत्यादि ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

तत उक्तविध(मध्यम)जघन्याभ्यां कृतादुक्तविधसाधनात्प्रेम हरौ भवेत् । पूर्वोक्तो हरिशब्दोत्राप्यनुषङ्गते । एवमप्रेपि बोध्यम् । प्रेमं च भावकन्दलरूपं बोध्यम् । तथा-सक्तिः तदुत्तरं तादृशेन तत्करणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपा भवेत् ।

कल्याणरायास्तु स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते, स्वविषये विवि-धमनोरथजनको भाव आसक्तिरिति तयोर्लक्षणमप्याहुः । तदपि युक्तम् । तथानुभवस्य सर्वजनीनत्वादिति ।

च पुनः यदा व्यसनं तद्विना स्थातुमशक्तिरित्याकारकं यदा भवेत्, तच्छास्त्रे भक्तिपरमकारणबोधके 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिरूपे भगवता साधनपर्याप्तिकथनात् दृढं बीजमित्यस्माभिरुच्यते । दृढत्वे गमकमाहुः यन्नापि नश्यतीति । नश अदर्शने । यद् दुःसंगादिना परिभूतं सदृशनागोचरतां न प्राप्नोति, किन्तु सर्वदैव दृश्यते, स्वयं चानुभूयते । तथाचैतदेव दारब्धलक्षणम् । अदृढस्यैव कादाचित्कत्वादिति । अत्र पूजाश्र-वणादिकं दशमस्कन्धोक्तरीतिकमेव ग्राह्यमित्यभिप्रेतम् । नामावलीसमाप्तौ 'बाललीलानाम-पाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते । आसक्तिः प्रौढलीलाया नामपाठाद्भविष्यति । व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलामिधानतः । तस्मान्नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीप्सुभिः सदे'ति कथनात् । एवं कीर्तनस्य निरोधलीलाविषयत्वे निश्चिते श्रवणस्यापि तद्विषयत्वमेव निश्चितं भवति । तथा श्रवणमपि यत्र यन्नामसिद्धं, यथा च नामावल्यां यत्रोक्तं, तदनुसंधानपूर्वकमेव संपा-दनीयमिति च । तथा पूजाया अपि । तेन नवानामप्येकरूपत्वं निश्चितं भवतीति मम प्रतिभाति । न च 'यस्याः संकीर्तनाद्विष्णुरात्मानं संप्रयच्छती'त्युपक्रमोक्तफलविरोधः शंकनी-यः । तस्यावर्तनसिद्धात्कीर्तनात्सिद्धेः । उपसंहारे निरन्तरे जाप्योक्त्या तथावसायादिति ।

एवं दृढबीजलक्षणमुक्त्वा तत्सिद्ध्यर्थं तदुत्पादकानां प्रेमाद्यवस्थानां सिद्धिज्ञापकं लक्षणं क्रमेणाहुः स्नेहादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

१ 'बीजं तदुच्यते' इत्युत्तरप्रत्यात् । 'सेवायां वा कथायां वै'त्यत्र सेवाश्रवणादिसरणिरूपा भक्ति-हंसोक्ता । २ 'प्रातराशौ विचेरतु'रित्यारभ्य 'नीवीं वसित्वे'त्यन्तम् । ३ ततः प्रेमेल्यत्रोक्तसाधनेषु ना-मात्मकसाधनप्रवेशात् तत इत्यस्य नामात्मकसाधनमाहुः ।

अत्रैतद्विषयम् । भक्तिः स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारणं तु भगवद्धर्म-
विशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्तिः क्वचित्सहसै-
वाभिव्यज्यते, क्वचिच्च सत्सङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावंगीकृतास्तेषु तु सह-
सैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्टावंगीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्य-
ज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्वं वैदिकत्वं
कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एवं
सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः, तेषु साऽनुद्भूता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, ततः
पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्भूता भवति । अभियुक्तास्तु भाव-
स्यावस्थासप्तकभाचक्षते । 'भावः प्रेम प्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्वं
बीजाभिव्यक्तिप्रकारकथने 'ततः प्रेम'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्थां निर्दिश्यात् तदभिज्ञापककथने
यत्स्नेहशब्दः प्रयुक्तः, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्र-
वणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्राचुर्याभि-
ज्ञापकं लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयरूपासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणत्रयमाहुः आसक्त्या
स्याद्गृहारुचिरित्यादि । रुचिराकांक्षा गृहारुचिर्गृहाकांक्षाऽभावः उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा
आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहुः गृहस्थाना-
मित्यादि । गृहस्थानां चेतनाचेतनानां भगवति समर्पणानन्तरं भगवदीयत्वानुसन्धानेपि
तेष्वंशतः स्वीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्वं
स्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसंभवात्तच्चिन्ताया अकरणेपि
तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्त्यापि तच्चिन्तादिसंभवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वस'-
न्निति न्यायस्य तदानीमसंभवादपि तेषां श्रवणादिबाधकत्वं स्वस्य भासते । किञ्च, अन्य-
विनियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तत्प्राधान्ये जीवस्थानुस्मृतिः सतीत्युक्तस्या-
त्मधर्मस्य गौणत्वान्मूर्खे पाषाणकल्पत्ववदनात्मत्वं च तेषु भासते । तथाचैतदुभयमानं
गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदाढ्यं संपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविधं मानमासक्तिप्राचुर्य-
लक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवने आसक्तिपर्याप्तिर्बोध्या ।

प्राञ्चस्तु केचिदिदं मानं आसक्तिलक्षणत्वेनाहुः । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन ।
अर्थं च स्वस्वरीत्या तं तमाहुः । मम तु भगवानेवं प्रेरितवानिति मयैवं व्याख्यातम् ।
गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहुः यदेत्यादि । यदि एवं प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तरं व्यसनं 'तद्विना

१ संचारिभावरूपेण वर्तमाना 'अन्तरा भूतप्रामवत्स्वात्मन' इति सूत्रात् । 'महानामशनि'रित्यत्र
भक्तिरसोक्तेः । २ निरोधस्क्रन्धे तयोक्तेः । ३ द्वितीयदलानुभवस्य मुख्यत्वादित्यर्थः ।

स्यात्तुभक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये
सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन
तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्भवात्मनिवे-
दिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्येय-
शब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं
व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे
'प्रदानवत्सूत्रे' प्रमुच्यतेऽर्थव्युत्पादितः 'प्रकृतेपि सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्य-
पूर्वकशरणभावनेन स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूप-
मुक्तम् ॥ ५ ॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः स्वत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्,
किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृश-
स्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'बाध्यमानोपि मन्त्रो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया मत्तया विषयैर्नाभिभूयत' इत्यादि, 'धर्मैर्माहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां
स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चित्तयेन्माभतन्द्रितः' 'न
तथास्य भवेत्क्षेपो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योपित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति
द्वान्यां श्रयादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात्
श्रयादिसङ्गस्य क्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु
मध्ये मध्ये गृहान्निर्गत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृह-
स्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तं व्युत्पादयन्ति
त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थाथैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशया

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'सुमुखैर् धारणमनुब्रजे'दिति गोपालतापिनीये माहात्म्यं धारणत्वम् ।
३ सोहमित्यैक्यपरत्वं संचारिभावरूपम् । उभयं भक्तिकारणं बीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरसस्यात्म-
नोद्दीपनानुभावसंचारिभावरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो गृहस्थाश्रमे मजनं संयोगरूपं, विप्रयोगरूपं
त्याग इति द्विच्छातमकमर्षोद्वितीयदृष्टप्रकारम् ।

६ भक्तिः ।

यत्प्रकारकस्त्याग उक्तस्तं कृत्वा, यथाधिकारं श्रवणकीर्तनाभ्यां यतेत्, भक्तिप्रवृत्त्यर्थं यत्नं कुर्यात् । तत्रापि न भक्तिवृद्धावेव पर्यवसन्नः, किन्तु तदर्थार्थैकमानसः । पूर्वं कृष्णशब्द-स्योक्तत्वाद्वा तच्छब्देन स एव परामुच्यते, अर्थश्च प्रयोजनम्, स अर्थो यस्याः सा तदर्था, स्वरूपमात्रफला गुणातीतभक्तिरिति यावत् । तस्याः य अर्थो भगवान्, तस्मिन्नेकं केवलं मानसं यस्य सः तथा । तथा च तादृशीं भक्तिं यो भगवत्साधकत्वेन न करोति, किन्तु स्वरूपदिदक्षयैव करोति, स तथेत्यर्थः । तस्य सिद्धिमाहुः लभत इत्यादि । सः सुदृढा इतराप्रतिबध्यां सर्वाभ्योपि भक्तिभ्योधिकानां निरोधलक्षणग्रन्थ उत्कृष्टत्वेन सूचितां परामूर्जितां भगवत्साधिकां भक्तिं लभते । तथाच दिदक्षातिरिक्तयावदपेक्षारहितस्य परम-भक्तिप्राप्तिर्भवति । तेनेदमेव भक्तिप्रवृद्धेः स्वरूपमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

एवं भक्तिप्रवृद्धिस्वरूपपर्यन्तं तद्बुद्धयुपायमुक्त्वा, तत्र प्रतिबन्धेऽनधिकारे च तद-
नुकल्परूपमुपायान्तरमाहुः त्यागेत्यादि ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे करिष्यमाणे कालादृष्टादिकृतदुःसंसर्गात्, तथाऽज्ञतः प्राणपोषका-
दज्ञाद्यतो बाधकभूयस्त्वं भक्तिवृद्धिबाधकबाहुल्यम्, अतस्तद्बाहुल्याद्धेतोः हरिस्थाने
स्थेयम्, 'मन्निकेतं तु निर्गुण'मिति भगवद्वाक्येन तत्र देशदोषाभावात् । अत्र कथं
स्थेयमित्याकांक्षायां प्रकारमाहुः तदीयैरित्यादि । तत्रापि तत्परैस्तदीयैः सहेति
कथनेनानन्यतया सेवाकृतिः स्वस्थापि सूचिता । तेन 'सावधानैः परस्परं सखैर्हैरब-
हिर्दृष्टिभिर्भगवत्सेवैकपरैः स्थेयम् ।' तथा च तादृशस्थित्यां दुःसंसर्गस्याभावात्प्रसा-
दादिना वा अंग्रिपतुल्यवैष्णवादिभ्यो भिक्षया वा देहनिर्वाहेऽन्नदोषस्याप्यभावाद्भक्तिवृद्धि-
रित्यर्थः । एतेन नलकूबरप्रसंगे वैराग्याद् यस्त्यागो निर्णीतस्तस्यायं प्रकार इत्यपि बोधितम् ।
तस्याप्यसंभवे तदनुकल्पान्तरमाहुः, तत्र स्थितौ वा प्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति ।
भगवन्मन्दिराद् भगवदीयेभ्यश्चादूरे, दूरे वा । यादृश्या सेवया स्वस्य सेवाभिमानो न
भवति, भगवदीयेषु च निकर्षबुद्धिविरुद्धबुद्धिदोषदृष्टिक्षोभादिभिर्यथा चित्तं न दुष्यति, तथा
स्थेयमित्यर्थः । यदि च कालादृष्टादिदोषेण तादृशां सङ्गो न भवति, तदा तत्र स्थितौ प्रका-

रान्तरं तदनुकल्प वा आहुः सेवायामित्यादि । तादृशभगवदीयसङ्गामावेपि यद्यदूर्यां
विप्रकृष्टायां वा सेवायां आसक्तिर्दृढा भवेत् । अन्यकृतोपहासन्यकारादिभिरनपनोद्या
भवेत् । एवं कथायां श्रूयमाणयां कीर्त्यमानायां वा तस्याभासक्तिर्दृढा भवेत्, सापि
यावज्जीवम्, यावत्सामर्थ्यम्, जीवपदेन सामर्थ्यादिकमप्यर्थादाक्षिप्यते । अतस्तावत्प-
र्यन्तम्, न तु कश्चित्कालम् । क्रियाविशेषणमेतत् । तस्य यावज्जीवं तत्कर्तुः पुंसः क्वापि
नाशो न । इह लोके यथाधिकारं स्वरूपपरतायाः साधनपरतायाश्च नाशो न । परलोके
च यथाधिकारं फलप्रतिबन्धश्च नेत्यर्थः । दृढकथासक्तिप्रकारश्च प्रक्षिप्ताध्यायेषु तृतीये
'ज्ञाने प्रयासमुदपास्येति' श्लोके आचार्यैर्विवृतः । 'अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थ-
सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः । आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः ।
सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यम् । भगवद्गुणगाने ते मुखरा
एव भवन्ति । तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः । केवलं भगवदीया भग-
वत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु, न तूपपन्नाऽनुपपन्ना वेति । तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समा-
गता भवति । परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनांसि स्थापनी-
यानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः । एतावदेव कृत्यम् । अत्र साधनं जीवनमेव, न
तु कर्मकरणादिकमपि । प्रायश्च इति ते चेद्भावान्तरं न कुर्युः । कालादयश्च प्रतिबन्ध-
कत्वाद्वा । अतोनेनैव प्रकारेणाग्रेतनानां निस्तारः ।' किञ्च, सेवादृढासक्तिप्रकारोपि तत्रैव
'पुरेह भूम'न्निति श्लोके विवृतः । 'हे भूमन् व्यापक पूर्वमपि विद्यमान इहास्मिन्मार्गे बह-
वोपि सङ्गशो योगिनो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पिता ईहा चेष्टा यैः ।
तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्य
स्वरूपं ज्ञात्वा, हे अच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित, ते गतिं मार्गं, येन प्रकारेण त्वं
गच्छसि, तां प्रपेदिरे । पश्चात्त्वदनुगानां न कापि चिन्ता । अज्ञः अनायासेनैव परां
लोकातीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः । अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।'
अत्र नान्येषां सम्मतिः, किन्त्वहमेव वदामीत्याहुः मतिर्ममेति । 'श्रद्धा'मुपक्रम्य 'मत्से-
वायां तु निर्गुणे'ति । संवादसमाप्तौ च 'नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति 'यो यो मयि परे धर्मे'
इति च भगवद्वाक्यात् सदादृतभक्तिप्रश्ने, तामुपक्रम्य 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा' 'श्रद्धाश्रुतकथायां
म' इति च भगवद्वाक्यात् मम बुद्धिस्तादृशस्य नाशाभावं भासयति, तेन तथेत्यर्थः । यदि च
जाते बीजभावदाढ्ये अजाते वा पूर्वोक्तानां तदर्थानां साधनानां कालादृष्टादिना प्रतिबन्धा-
त्करणाशक्तिः, तदोपायान्तरमाहुः बाधेत्यादि । मुख्यः कल्पस्तु भगवत्कृपयैव सिध्यतीति
न तत्र बाधसम्भावना । 'तदा भवेद्दयालुत्व'मिति निरोधलक्षणे निष्कर्षात् । दयायां च सत्यां
प्रतिबन्धासम्भवात् । यत्र पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिनोक्तेऽनुकल्पे करिष्यमाणे क्रिय-
माणे वा बाधस्य विघटनस्य सम्भावना उत्कटकोटिकः संशयः, तदा तु एकान्ते भगवत्स्था-

नादौ वासो नेष्यते । तदा गृहे वा अन्यत्र वा यत्र क्वचित्स्थित्वा हरिरेव शरणं भावनीयः । 'हराम्यघं यत्समर्पणमिति' भारते भगवद्वाक्यात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति गीतायां भगवद्वाक्याच्च । हरिरेव सर्वतो रक्षां करिष्यति । तुः संशयाविश्वासादिनिरासे । न संशयः, रक्षाकरणे संशयो नास्ति । तथा च पूर्वोक्तरीत्या भक्तिमार्गे प्रवृत्तिः संपाद्या । तत्र बाधे सत्यनुकल्पः करणीयः । तत्रापि बाधे तदनुकल्पः । तत्रापि बाधे शरणगमनं सर्वानुकल्परूपं करणीयम्, न तु पूर्वमेव सेवादिकं त्यक्त्वानुकल्पे प्रवर्तनीयम्, भगवदिच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वादिति ॥ ७-१० ॥

एवं सर्वं भक्तिवृद्धयुपायं निरूप्य तदुपसंहरन्त एतद्विचारफलमाहुः इतीत्यादि ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं मया गुप्तं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं गीतायामेकादशस्कन्धेऽन्यत्र च भगवदुपदिष्टं शास्त्रं मया गुप्तं निरूपितं प्रकटीकृतम् । यः सदा एतद्गुप्तं शास्त्रं समधीयीत सम्यक्प्रकारेण चिन्तयेत्, इक् स्मरणे, इडिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । तस्यैतद्विचारयितुरपि रतिः प्रेमात्मिका दृढा स्यात् । तथा च तया दृढया संसाररागविनाशे जाते क्रमादन्यदपि भगवान् सम्पादयिष्यति । 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति भगवद्वाक्यात् । तथा चात इदमभीक्ष्णं विचारणीयमित्यर्थः ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ।

परप्रेरणयामातं व्यवृणोत्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता
भक्तिवर्धिनीविवृतिः सम्पूर्णा ॥

१ श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुकमिष्यतीति त्रिके आध्यात्मिकरत्युपादानं भक्तिदुर्लभत्वाय । 'कधिदेव हि अको हीति वाक्यात् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभकृतटीकासमेता ।

शशत्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा ।

प्राप्ततन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १ ॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्सथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिन्याम् । यथेति । यथा येन प्रकारेण । भक्तिः शास्त्रीया । प्रवृद्धा मानस-सेवारूपा सती फलोन्मुखा भवेत्सथोपायस्तत्प्रकारमूत उपायस्तनुवित्तजसेवया बीज-भावदाढ्यसम्पादनरूपस्यागेन श्रवणकीर्तनरूपश्च निरूप्यत इत्यर्थः । तस्य साधना-साध्यत्वसिद्धान्तादुपायपदम् । अत्र बीजं रत्याख्य आद्यः कोमलो भावः भगवानेव शरणमित्याकारकः । येन भगवद्दर्मेण रुचिर्भवति । भक्तिर्दुमः । फलं स्वाधिकारानुसारेणालौकि-कसामर्थ्याधन्यतरप्राप्त्या भगवद्भजनम् । स उपायो द्विविध इत्याहुः बीजेति । बीजरूपे रत्याख्ये भावे तनुवित्तजसेवया दृढे नाशसंभावनारहिते जाते तस्य भक्तिर्दुमस्य प्रवृद्धिः । फलोन्मुखत्वं स्यादित्यर्थः । अतस्तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयमित्येक उपायः । द्वितीयनिर्धार-माहुः त्यागादिति । त्यागाद्देतोः सिद्धाच्छक्तितात्पर्यरूपाच्छ्रवणसहितकीर्तनादित्यर्थः । हरिस्नानवासे तदीयैः सह स्थितौ शक्तितात्पर्यनिर्धारो भवतीति भावः । द्वितीयपक्षेपि दार्ढ्यमपेक्षितमेवेति तुशब्दः । परन्त्वाद्यपक्षे गृहस्थित्या भावनाशशङ्कया तनुवित्तज-सेवया तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयं भवति । द्वितीयपक्षे तु तदभावात्स्वत एव दार्ढ्यं सिध्य-तीति विभेदः ॥ १ ॥

बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

आद्यमुपायमाहुः बीजदाढ्येति । द्वितीयपक्षादयं पक्षः पृथगिति तुशब्दः । पाषण्डित्वाभावाय स्वधर्मतो वर्णाश्रमधर्मेण गृहे स्थित्वाऽध्यावृत्तो भोगार्थव्यावृत्तिर-हितः । आश्रमधर्मत्वेन प्राप्तमृतुगमनादिकमेव कुर्वन्निति यावत् । श्रवणादिभिः सहितया पूजया द्रव्येषु भावात्मकत्वभावनरूपया कृष्णं फलात्मकं भजेत्सेवेत । तनुवित्तजसेवां कुर्यादित्यर्थः । ज्ञानमयद्रव्यसम्पादितायाः पूजात्वं 'धन्यास्त्विति श्लोके निरूपितम् ॥२॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

व्यावृत्तोपीति । कामादिप्राबल्ये तत्कृतप्रतिबन्धाभावाय भोगार्थव्यावृत्तिसहि-
तोपि सेवाऽनवसरेऽनिषिद्धप्रकारेण नित्यमपि भोगं कुर्वन्नित्यर्थः । हरौ चित्तं स्थापयित्वेति
शेषः । श्रवणादौ यतेत्, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रार्थमेव भोगं कुर्वन् सदा सेवानवसरेपि यत्नं
श्रवणादिविषयकमेव सम्पादयेदित्यर्थः । एवं कृते बीजभावस्य दार्ढ्यं भवति । तत्राभि-
ज्ञापकमाहुः ततः प्रेमेति । एवं कृते सा भक्तिः प्रेमशब्दवाच्या भवति । पूर्वं
लोकेपि स्नेहः स्थितो, भगवति परमधिकः । 'सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रिति लक्षणात् ।
एवं कृते तु सर्वतो निवृत्तो भगवन्मात्रविषयको भवतीत्यर्थः । तदनन्तरं सासक्ति-
शब्दवाच्या भवति । अनायासेनापि भगवानेव स्मृतो भवति येन तादृशस्नेहो भवतीत्यर्थः ।
'चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्यक्तुं नैव शक्यते । स्नेहो रतिरिति प्रोक्त' इति तृतीयस्कन्धसुबो-
धिण्यामुक्तम् । आसक्तित्वसाधकोपि पूर्वोक्त एव प्रकार इति तथेत्सुक्तम् । व्यसनं चेति ।
अत्रापि स एव प्रकार इति चकारः । विशेषेणासनं क्षेपणं येन । येन भावेनान्यास्फुरणं
भवति । प्रपञ्चविस्मृतिरिति यावत् । आसक्तिः प्रपञ्चविस्मृतिशुद्धा सती व्यसनम् ।
तथाच निरोधो व्यसनशब्दवाच्यस्तत्त्वं भक्तेर्यदा भवेत् । तत्तदा बीजं दृढं भगवच्छास्त्रे
उच्यते । भक्तेर्व्यसनत्वं बीजदार्ढ्यस्याभिज्ञापकमित्यर्थः । दार्ढ्यस्वरूपमाहुः नापीति ।
नाशाप्रतियोगीत्यर्थः । सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनामपि वक्ष्यन्तीत्यपिशब्दः ॥ ३ ॥

प्रेमादित्रयस्याभिज्ञापनाय तत्कार्याण्याहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

सर्वतो निवृत्ताद्भगवन्मात्रविषयकस्नेहादित्यर्थः । रागविनाशगृहारुचिकृतार्थतानां
क्रमात्प्रेमाद्यभिज्ञापकत्वमिति भावः । रागविनाशो विषयवैराग्यम् । स्नेहस्य विषयेभ्यो
निवृत्तौ तेषु वैराग्यमुदासीनता भवतीत्यर्थः । आसक्त्या गृहारुचिर्भवति ॥ ४ ॥

अत्र नवयो विरुद्धत्वमित्याशयेनारुचिपदार्थं विवृण्वन्ति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकृत् ।

गृहस्थानामिति । अमगवदीयानामिति शेषः । एतेषां भावबाधकत्वेनानात्म-
त्वेन च भानमरुचिपदार्थं इति भावः । भार्यापुत्रयोरालम्बे शास्त्रसिद्धे अपि भक्तानां भ-
गवानेवात्मरूपो, न तु ताविति भावः । अत एव सेवाप्रातिकूल्ये भार्यादीनामपि त्यागोऽ-

श्रोतः । यदा भक्तिर्व्यसनरूपा स्यात् । बाधकत्वेनाप्यन्यास्फुरणं स्यात् । तदैव कृष्णे
कृतः समर्पित ऐहिकपारलौकिकः सर्वोप्यर्थो येन तादृशः सिद्धात्मनिवेदो भवतीत्यर्थः ।
पूर्वं सामान्यतो निवेदने कृतेपि तत्सिद्धिर्व्यसने एव जाते भवति । तथाचात्मनिवेदनरूपा
भक्तिर्व्यसनकार्यमिति भावः । यथा गोपाः सर्वस्य भगवदर्थत्वज्ञानेन प्रपञ्चविस्मृतेर्जातत्वा-
त्सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति ज्ञानयुक्ताः क्षुन्नित्यर्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थितवन्तः ।
अत एव 'व्यसनान्नान्यगामिन' इति तत्र निबन्धे निरूपितम् । पूर्वयोः किञ्चित्कालं
व्यवधानमपि । इदं तु व्यसनसिद्धौ शीघ्रमेव भवतीति यदा तदैवेत्युक्तम् । तत्र किञ्चिदन्य-
दप्याहुः । तादृशस्यापीति सिद्धात्मनिवेदनस्यापीत्यर्थः । गृहस्य भगवति समर्पितत्वेन
सर्वथा बाधकत्वाभावात् सर्वात्मना त्यागः, किन्तु सततस्थितौ भोगदृष्टिसम्भवात् भो-
गस्य च सेवाफलग्रन्थे बाधकत्वनिरूपणान्मध्ये मध्ये लीलास्थलेषु गोवर्धनादिषु गच्छे-
दिति सततमित्युक्तम् । विनाशकृत् । भोगसम्भावनया बीजभावनाशकृदित्यर्थः ।
एवं तनुवित्तजसेवया बीजदार्ढ्यसम्पादने भक्तिर्व्यसनान्तावस्थां प्राप्ता चेतस्तत्रवर्णलक्षण-
मानससेवारूपा दृढा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलोन्मुखा भवतीत्येक उपाय उक्तः ।
अत्र भार्यादिप्रातिकूल्ये यः प्रतिकूलस्तस्य त्यागो, न तु गृहस्य । अत एव 'प्रतिकूले गृहं
त्यजे'दित्यत्र गृहं भार्यादिकमिति व्याख्यातम् ॥ ५ ॥

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

द्वितीयमाहुः त्यागं कृत्वेति । गृहत्यागं कृत्वा । स चासावर्थश्च तदर्थः ।
आद्यश्लोके उद्देशत उक्तः श्रवणकीर्तनरूपो योर्थस्तदर्थं तद्विषयकमेवैकं मानसं यस्य
तादृशः सन् । श्रवणकीर्तनार्थमेव हरिस्थाने भगवद्भक्तसंनिधौ तिष्ठन्निति यावत् । एतादृशः
सन् यो यतेत् । श्रवणादाविति शेषः । स भक्तिं सुदृढां व्यसनत्वं प्राप्तां लभते । ततः
सर्वतोऽधिकां परां फलोन्मुखामपि लभत इत्यर्थः । भक्तेः पूर्वमपि सिद्धत्वात्सविशेषणे
हीतिन्यायेन विशेषणलभो विधीयत इति ज्ञेयम् । 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति
वाक्यादेतस्य पक्षस्य मुख्यत्वम् । अत एव प्रथम-पक्षे नाशसम्भावनाप्यस्तीत्युक्तम्,
अत्र तद्भाववर्तनाय तुशब्दः । मुख्यांशं विशदयन्ति सुदृढामिति । आद्यपक्षे सततगृह-
स्थितौ नाशसम्भावनाप्यस्तीति तदकृत्वा बीजदार्ढ्यसम्पादनेन भक्तेर्दार्ढ्यं व्यसनत्वं
सम्पादनीयं भवति । अत्र पक्षे तु गृहामावेन नाशसम्भावनाऽभावात्पूर्वोक्तबीजदार्ढ्यं
यत्नं विनैव सुदृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवतीत्येतावदंशमादाय 'पाक्षिकोपि दोषः परि-
हरणीय' इति न्यायेन मुख्यत्वम् । फलसाधने तु साम्यमेवेति वक्ष्यते ॥ ६ ॥

ननु त्यागमात्रमेव वक्तव्यं भवति, हरिस्थानवासो भक्तसङ्गश्च पुनः किमर्थं
बोध्यत इत्यत आहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥
अतः श्रेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

धर्मद्वयरहितकेवलत्यागे बाधकभूयस्त्वमस्त्यतो हेतोः । तथाज्ञतो दुःसंसर्गाद्धेतोः हरिस्थाने तदीयैः सह श्रेयमित्यन्वयः । हरिस्थानवासराहिल्ये बाधकभूयस्त्वं 'सहायसङ्गसाध्यत्वा'दित्यारभ्य 'नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तं संन्यासनिर्णयोक्तमस्तीति शेषः । अतो हरिस्थाने श्रेयम् । तत्र ते दोषा न भविष्यन्तीति भावः । तथा भक्तसङ्गराहिल्ये अज्ञतो हेतोः अन्नार्थं दुःसंसर्गात् दुष्टानां संसर्गसम्बन्धाद्धेतोस्तदीयैर्भगवदीयैस्तत्रापि तत्परैर्भगवत्परैर्नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवदत्परैः सह श्रेयम् । तदाज्ञार्थमपि तेषामेव संसर्गो भविष्यति, न तु दुष्टानामिति भावः ॥ ७ ॥

हरिस्थानस्य द्वैविध्याशयेनाहुः अदूरे इति ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतः अदूरे पूजाप्रवाहरहितयमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा स्वस्य चित्तं यथा न दुष्यति, दोषयुक्तं न भवति, तथा स्वयमेव विचार्य श्रेयमिति पूर्वणान्वयः ॥ ८ ॥

ग्रन्थोक्तपक्षद्वयमुपसंहरन्ति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायामिति । आद्ये बीजदार्व्यसम्पादनपक्षे सेवायां क्रियमाणयां, द्वितीये त्यागपक्षे कथायां वा क्रियमाणयां सत्यां यस्य आसक्तिरासक्तित्वं प्राप्ता भक्तिर्दृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवेत्, तस्य पुरुषस्य भक्तिबीजस्य नाशो न । तथा च व्यसनरूपा नाशसम्भावनारहितबीजा भक्तिश्चेतस्तत्प्रवणलक्षणमानससेवारूपा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलं यथाधिकारं सम्पादयतीति भावः । नात्र वर्णादिनियम इत्याहुः यावज्जीवमिति । सर्वानेव जीवान् मर्यादीकृत्येत्यर्थः । व्यसनसिद्धानन्तरं हरिस्थानवासनियमोपि तथा नास्तीति कापीत्युक्तम् । किन्तु सततगृहस्थितिर्निषिद्धेति पूर्वमुक्तम् । वर्णादिसाधारण्यं प्रमाणेन विरुध्यत इत्याशङ्क्यात्र प्रमाणबलाभावायाहुः मतिर्ममेति । अस्मन्मतिसिद्धोयं पक्षः, अतः प्रमेयबलसिद्धः । वाचा कथनेपि मतिसिद्धत्वमेव मुख्यमिति भावः ॥ ९ ॥

पक्षद्वयस्य व्यवस्थामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

कामादिभिर्बाधसम्भावनायाम् । इन्द्रियजयसामर्थ्याभाव इति यावत् । तदा एकान्ते वासस्त्यागपक्षो नेष्यते । तथाचेन्द्रियजयसामर्थ्याभावे पूर्वोक्तपक्षेण श्रेयम् । तत्सामर्थ्ये त्यागपक्षेण हरिस्थाने तदीयैः सह श्रेयमिति व्यवस्येति भावः । एवं व्यवस्थायां 'गृहं सर्वात्मने'ति श्लोकसंमत्तिसूचनाय तुशब्दः । नन्वत्यागपक्षे गृहे स्थितौ तत्रासक्तिरनिवार्या । त्यागपक्षे च गृहत्यागस्याश्रमान्तराग्रहणे प्रमाणविरुद्धत्वात्पापसम्भावनेत्याशङ्क्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतो गृहासक्तेः सर्वपापेभ्यश्चेत्यर्थः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इत्यस्यार्थोनुसंधेयः । एतद्वाक्यानुसंधानेन न संशय इत्युक्तम् । हरित्वाद्रक्षणं युक्तमेवेति तुशब्दः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति इत्येषमिति ।

इत्येषं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

य एतदिति । एतदध्ययनेनापि रतिर्बीजभावरूपा दृढा स्यादिति । बीजदार्व्यसम्पादनसाधपक्षस्यायमप्येकः प्रकार इति तस्यापीत्यपिशब्दः ॥ ११ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।

वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता भक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतटीकासमेता ।

बहिर्बर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम् ।

दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभङ्गललितं महः ॥ १ ॥

श्रीवल्लभतत्सुतवरगुरुपितृकृष्णान् सुहुः प्रणमन् ।

टीकामतीव रम्यां कुर्वे श्रीभक्तिवर्धिण्याः ॥ २ ॥

सगुणा भक्तिर्नवधोक्तैकविधा निर्गुणा ततो दशभिः ।

पदैरुक्तो वृद्धिप्रकार एकेन चोपसंहारः ॥ ३ ॥

अथ दशविधैर्भक्तभावैर्दशविधा भक्तिरिति दशश्लोकैर्भक्तिवर्धिनीशास्त्रे भक्तिवृद्धि-

प्रकारं एकेन श्लोकेन तदुपसंहारं तत्पाठफलं चाहुः श्रीवल्लभाचार्याः यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यादिना ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्भावरूपा प्रवृद्धा अवस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन रसरूपतापर्यन्तं प्राप्ता भवति, तथा मया उपायः साधनं निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिसाधनं पूर्वमनुक्त्वा भक्तिवृद्धिसाधनोपदेशः कथं क्रियत इति चेत् । अत्रोच्यते । पुष्टिमार्गे प्रभो 'रसो वै स' इति श्रुत्या एकवचनाविरुद्धसामान्यरसशब्दप्रयोगेणानेकविधरसरूपावशिष्टैकरसरूपत्वं सिध्यति । अत्र प्रशुरनेकरसविशिष्टोपि प्राधान्यतः कीदृशरसरूप इति जिज्ञासायां शृङ्गाररसरूप एवेत्यायाति । यतः श्रुतिभिः परमकाष्ठापन्नानन्दस्वरूपफलरूपदर्शने प्रार्थिते भगवतोद्दीपनविभावरूपश्रीगोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्टे प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तर्गतब्रह्मानन्दमध्यव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतश्रीमद्गुणानन्दाने 'नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बक'मित्यादीदृशोऽनुभावरूपो यो रासस्तद्रसोन्मत्तः शृङ्गाररसालम्बनीभूतनायिकारूपगोपीकदम्बकयुक्तमेव परमकाष्ठापन्नफलरूपं स्वस्वरूपं ताम्यः प्रदर्शितमिति बृहद्ब्रह्मनपुराणे श्रूयते । अन्यरसस्वरूपत्वेनैव प्राधान्ये तद्विभावादिविशिष्टमेव स्वरूपं प्रदर्शितं स्यात् । न च तस्य स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे भम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डल' इति बृहद्ब्रह्मनपुराणे सारस्वतकल्पे स्वावतार उक्तो भगवता श्रुतीनामनुग्रहार्थम् । तत्कल्पानुसार्येव श्रीभागवतं तत्स्वरूपदर्शनेनैव च निखिलवेदपुराणधर्मजिज्ञासाब्रह्मजिज्ञासादिभिरप्यजातचित्तप्रसादानां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादो जातो, न त्वन्यस्वरूपदर्शनेनेत्यर्थापत्तिरूपप्रमाणेन तस्य स्वरूपस्यैव परमकाष्ठापन्नत्वे सिद्धे तत्स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभावमावात् । एवं च सिद्धे शृङ्गाररसरूपत्वस्यैव प्राधान्येन धर्मत्वेऽन्यरसस्वरूपाणां च तदङ्गत्वेन धर्मत्वे, शृङ्गाररसस्य तु रतिरूपस्थायिभावात्मकत्वात् रतिरूपस्थायिभावस्य च भगवद्रूपत्वेन ब्रह्मत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् भगवद्विषयकरतेरपि व्यापकत्वे सिद्धे सर्वजीवेषु त त्स्थितत्वं सिद्धम् । तत्र रतेर्ब्रह्मत्वेनानन्तरूपत्वाद्भगवद्विषयिणी श्रीमद्भक्त्यादिनिष्ठारतिः शृङ्गाररसरूपा भवति । अस्मदादिनिष्ठा भगवद्विषयिणी रतिर्भक्तिरसरूपा भवति । सैवास्मदादिनिष्ठा सपरिकरभगवदतिक्रपायां स्वस्य पूर्वरूपं तिरोधाप्य शृङ्गाररसरूपतामपि प्रकटीकरोति । एवं च 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । खेदो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति वाक्येभ्यः प्रेमप्रथमावस्थारूपत्वात् प्रभुविषयकत्वाच्च भावशब्दवाच्या खेदरूपत्वेन भक्तिशब्दवाच्यापि

भवति । तत्र सा भक्तिर्द्विविधा । मर्यादापुष्टिमार्गीया शुद्धपुष्टिमार्गीया च । तत्र 'यमेवे'ति श्रुतिसिद्धं मर्यादापुष्टिमार्गीयं वरणं शुद्धपुष्टिमार्गीयं च वरणमिति वरणेपि द्वैविध्यमिति सिद्धान्तात् मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादानुग्रहाभ्यां मिलिताभ्यामेव कार्यसिद्धिः । शुद्धपुष्टिमार्गे तु विशुद्धानुग्रहमात्रेणैव कार्यसिद्धिः । एवञ्च मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादापुष्टिमार्गीयभगवद्वरणप्रेरितादृशजीवकृततादृगाचार्यसंश्रयसञ्जाततादृङ्गामनिवेदनमात्रेणैवातिमात्राच्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तसापरपर्यायभावस्याविर्भावः । 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इत्यादिवाक्यात् । शुद्धपुष्टिमार्गे तु शुद्धपुष्टिमार्गीयश्रीमद्भक्तकृपाविष्टभगवत्कृपाप्रेरितादृशजीवकृते शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयसञ्जाततन्मार्गीयानामनिवेदनमात्रेणैव । न चैतन्मार्गीयानामनिवेदनेपि न सूक्ष्मबीजरूपभावो दृश्यत इति वाच्यम् । तादृङ्गामनिवेदनादिभिः प्रतिबन्धकाविद्यापगमेपि सूक्ष्मतत्त्वदैव तद्दर्शनाभावात् । समयविशेषसमुद्भूतकिञ्चिदश्रुतलुकादिभिस्तदुन्नयनाच्च रतिमात्राच्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तभावस्याविर्भावः । 'न रोषयती'त्यारभ्य 'यथाऽवस्थे सत्सङ्ग' इत्यादिवाक्यात् । एवं च भावस्याविर्भावमात्रमेव, न तूत्पत्तिरिति नोत्पत्तिप्रकार उक्तः । किन्तु वृद्धितत्प्रकार एवोक्त इति । न चाविर्भाव एव उत्पत्तिरिति वाच्यम् । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यमिति सा त्रिधे'ति त्रिविधोत्पत्तौ घटादिवदनित्यत्वाभावाच्च जननरूपोत्पत्तिः । जीवात्मवन्नित्यपरिच्छिन्नत्वाच्च समागमरूपोत्पत्तिः । नित्यापरिच्छिन्नत्वेपि धर्मरूपस्य भावस्य तनुत्वाभावाच्च प्राकट्यरूपोत्पत्तिः । किन्तु वेदस्य यथा प्रलये सूक्ष्मरूपेणावस्थानमेवमेव भावस्यापि पूर्वसूक्ष्मरूपेणावस्थानं पश्चात्सृष्टौ वेदस्य विस्तर इव स्वकारणैः प्रवृद्धिमात्रमित्याविर्भावस्य उत्पत्तिरूपत्वाभावात् । तस्माद्भक्तेः सूक्ष्मबीजरूपभावरूपेण सर्वजीवेष्वपि नित्यस्थितत्वात्तस्य च आचार्यकृपामात्रेणैव आविर्भावस्यैव जातत्वात् साधनान्तरापोष्यत्वाच्च तद्वृद्धिप्रकार एवोच्यते, न तु तदुत्पादनप्रकारः, त्रिविधोत्पत्तेरप्यसम्भवात् । न च 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धमत्तया विशदाशया य' इत्यादिना कथासुधापानस्य भक्तिवृद्धिहेतुत्वमप्युच्यत इति व्यर्थो भवत्प्रयास इति वाच्यम् । अत्रैव श्लोके 'वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोध' मित्यत्र उक्तत्वादस्य वृद्धिप्रकारस्य मर्यादामार्गीयभक्तिविषयत्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तेस्तु 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्याद्वैराग्यज्ञानानपेक्षत्वादिति जानीहि । वृद्धौ प्रकर्षस्तु फलानुभवपर्यन्तसम्पादकत्वरूपः ।

ननु सा भक्तिप्रवृद्धिः कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । तत्र त्यागात् भगवद्भजनप्रतिबन्धकगृहादित्यागात् । अथ च श्रवणकीर्तनाच्च प्रेमासक्तिव्यसनरूपावस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन पूर्वोक्त-

प्रकारकरत्यपरपर्यायबीजरूपो यो भावस्तस्मिन् दृढे केनापि तिरोधापयितुमशक्ये सति शुद्धपुष्टिमार्गीया भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । रासरूपतारूपवृद्धिप्राप्ता स्यादित्यर्थः । न चात्र त्यागपदेन सर्वत्याग एव कुतो नोच्यत इति वाच्यम् । अग्रे 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः' इत्यनेन वैदिकलौकिकधर्मसाहित्येन गृहस्थितस्यैव भजनस्य बोधितत्वेन तथा-व्याख्यानस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत्रेदं तत्त्वम् । त्यागस्तावत्रिविधः । भगवद्भजनानुकूलानामेव गृहादीनां त्यागः, न तु तदनुकूलानामपि । द्वितीयस्तु भगवद्भजनानुकूल-गृहमात्रस्यैव त्यागः, न तु भगवद्भजनानुकूलानां स्वगृहस्थितान्यभगवदीयानामपि । तृतीयस्तु भगवद्भजनानुकूलगृहस्थितभगवदीयानामिव तद्भजनानुकूलतदन्यभगवदीयानामपि त्यागः । तत्र प्रथमस्यागो बीजदार्षप्रकारे तनुजवित्तजसेवारूपप्रारम्भदशासामयिकः । द्वितीयस्त्वासक्तिदशाविर्भावरूपमध्यदशासामयिकः । तृतीयस्तु व्यसनदशाविर्भावरूपपूर-णदशासामयिकः । तत्रैव तच्छ्लोकोक्तस्यागो बीजदार्षप्रकारप्रारम्भदशात्यागः । अग्रे 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेष्वस्तु तदर्थार्थैकमानस' इत्यनेन वक्ष्यमाणः स मध्यमदशात्यागः । 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यास-निर्णयोक्त्यागस्तु फलदशात्याग इति बोध्यम् । अत्रायं श्लोकः सूत्ररूपः, अग्रिमग्रन्थो व्याख्यानरूप इति ज्ञेयम् ।

केचित्तु बीजं नाम 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपाधिकरूपणया पुष्टिमार्गीयं भगवद्भरणम्, अन्यथा तत्र प्रवृत्तिरेव न स्यादित्यादिप्रकारेण व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । वटादिवृक्षस्य वटादिबीजमेव बीजम्, न तु पिप्पलादिबीजं बीजम् । एवं च जीवस्य वृक्षसजातीयत्व-मुत्सर्गतः सर्ववादिसिद्धम्, अन्यथा पिप्पलादिबीजेभ्योपि वटाद्युत्पत्तिः स्यात् । तथात्रापि स्नेहरूपभक्तेरपि स्नेहरूपभक्तिरूपमेव बीजं भवितुं योग्यम्, सजातीयत्वात् । अत एवो-पसंहारे 'तस्यापि स्याद्दृढा रति'रित्यनेनोपक्रमोक्तभावपर्यायरतिशब्देन भावस्यैव दार्ष-मुक्तम्, न तु पुरुषोत्तमवर्णादीनाम् । एवं च यथा वर्षासमयो नववारिसेकेन क्षेत्रान्तः-स्थितं बीजं क्षेत्रनिष्ठं प्रतिबन्धकरूपं काठिन्यं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोति, तथा च निरुपाधिपुरुषोत्तमवर्णादीनाम् शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहद्वारा जीवान्तःस्थितं तत्परपर्यायं सूक्ष्मरूपत्वात् बीजरूपभावं मायातिरस्करिणीरूपं प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोतीत्यसाधारणनिमित्तकारणरूपमेव, न तु भाववत् । तत्समवायि तु इदमेवेति ज्ञापयितुं बीजपदमुक्तम् । अत्र अन्यथा मूलकारणदार्षं स्यादित्याद्येव श्लोकनिबन्धः कृतः स्याच्छ्रीमदाचार्यचरणैः । न च वटादिबीजानामपि वटादिवृक्षं प्रति निमित्तत्वमेव दृष्टम्, न तु समवायिकत्वम्, कार्यस्य वटादेस्तत्समवेतत्वाभावात्, तथैव भावरूपबीजस्यापि निमित्तत्वमेवेति सिद्धे समवायित्वोक्तिर्विरुद्धेति वाच्यम् । यथा वटादिबीजानां निमित्तत्वेपि कन्दरूपबीजानां समवायित्वदर्शनेन समवायित्वम्, एवमेव भावरूपबीजस्यापि ब्रह्मत्वेन

'स हैतावानास' इति श्रुतेः, अथ च समवायित्वेनानुभवाच्च समवायित्वोक्तेर्विरुद्धत्वाभा-वात् । तस्मादुपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया युक्तिपर्यालोचनयापि बीजरूपो यो भाव इत्येव व्याख्यातमस्माभिरित्यास्तां तावत् ॥ १ ॥

ननु बीजदार्षोपाय उच्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजदार्षप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्षप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वोक्तो भावो बीजम्, तस्य दार्षप्रकारस्त्वयं यत् 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं तां प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति श्रीभागवततत्त्वदीप-निबन्धे सिद्धान्तितत्वात् । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतो भगव-द्भजनानुकूललौकिकवैदिकधर्मतश्च अध्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् कृष्णं श्रीमद्गोपीजनविशिष्टं कृष्णपदार्थं फलरूपं भजेत्, कृष्णविषयिकीं सेवां कुर्यादित्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वधर्मत इत्यत्र स्वपदस्यात्मात्मीयवाचकत्वात् स्वधर्मपदेनात्मधर्मरूपो दासधर्मोप्यायाति, तथापि न व्याख्याने संगृह्यते, किन्त्वात्मीयधर्मरूपवैदिकलौकिकधर्मा एव संगृह्यन्ते । यतो भजेत्पदा-र्थस्य सेवाकारणस्य सेवकधर्मत्वात् भजेत्पदेनैवात्मधर्मरूपदासधर्मसंग्रहस्य जायमानत्वादिति बोध्यम् । कृष्णशब्दस्य श्रीमद्गोपीजनविशिष्टकृष्णपरत्वं तु मत्कृतप्रथमस्कन्धसु बोधि-नीटिप्पण्यां 'कर्ता ज्ञः सकलस्ये'ति पद्यव्याख्याने मया सप्रपञ्चमुक्तमिति तत्रैवावलोकी-यम् । अत्र वर्णाश्रमधर्मत्यागेन भजने यद्यपि पापं न भवति, 'तस्मात्त्वमुद्भवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदना'मित्यादिवाक्येन विहितत्वात्, तथापि स्वधर्मत्यागेन भजने गृहस्थितानां पुत्र-कलत्रादीनां तादृग्विश्वासाभावात् स्वस्मिन्नसद्बुद्ध्या सेवोदासीन्येन बहिर्मुखजनितमार्ग-निन्दया स्वचित्तक्षोभेन च सेवाया अनिर्वाहः स्यात् । न च तर्हि पुत्रकलत्रादीनां निन्दया स्वचित्तक्षोभजनकानां बहिर्मुखानां सङ्गत्यागस्य कर्तुं शक्यत्वे 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युक्तत्वात् सेवाप्रतिकूलतायामेव पुत्रकलत्रादीनां त्यागस्य सिद्धान्तत्वेनोदासीन्ये गृहे स्थित्वा स्वयं कर्तव्यस्य बोधितत्वात् । न च स्वयमेव सर्वं क्रियतामिति वाच्यम् । स्वयमेव सेवासामग्रीसम्पादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । स्वधर्मत्यागेन तेषामोदासीन्याच्च सेवाबाधः प्रसज्येतेति । अथ च स एवोत्तमः सेवको यः स्वामिन आयासं न सहते । एवंस्थिते गृहस्थे सेवकेन वैदिकलौकिकधर्मत्यागेन भजने क्रियमाणे तं दृष्टान्यैरपि तदनुयायिभिस्तथैव भजने कृते स्मरणार्थकवैदिकलौकिकधर्मनाशे जायमाने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह'मिति वाक्यात् धर्म-रक्षार्थं भगवतः प्रयत्नकरणे महायास उत्पद्येत । स चायासः स्वदत्त एवेति गृहस्थसेवक-स्यानुत्तमसेवकत्वं च प्रसज्येतेत्यतोपि हेतोः स्वधर्मत अध्यावृत्तो भजेदित्युक्तमित्यवधेहि ।

ननु केवलमेव सेवनं कर्तव्यम्, अथवा किञ्चिदन्यदन्यदपि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः पूजया श्रवणादिभिः । अत्र विनापि सहयोगं तृतीयेत्युक्तत्वात्सहशब्दाप्रयोगेपि तृतीया । तथा पूजया श्रवणादिभिः सहैत्यर्थः सम्पन्नः । अथाप्रधानतृतीयानिर्देशात्सेवाया एव प्राधान्यम् । पूजायाः श्रवणादेश्च गौणत्वमेव । अत्र पूजापि गृहस्थितानामनौदासीन्यसम्पादनार्थं बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभाभावार्थमेवोक्ता । अन्यथा शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवामात्रकरणे विध्युक्तत्वाभावज्ञाने तेषामौदासीन्यं स्यात् । तस्मात् पूजासाधनैः शङ्खघण्टाद्युपचारैरपि सह सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, परन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाविरोधिपूजासाधनैर्न कर्तव्येति । न च पुष्टिमार्गविरोधिपूजासाधनत्यागेपि तेषामौदासीन्ये का गतिरिति वाच्यम् । पञ्चोपचारषोडशोपचाराष्टादशोपचारचतुःषष्ट्युपचारैः पूजा विहितेति उपचाराणामनियतत्वेन कमपि पक्षं करोतीति तेषामौदासीन्याभावात् । अत एव अप्रधानतृतीयया श्रवणादित्रयमपि सेवाविधेर्न कर्तव्यम् । मुख्यतया सेवां कृत्वा सेवासमयातिरिक्तसमये श्रवणादिकं कर्तव्यमिति तस्यापि गौणत्वमिति ।

यत्तु स्वधर्मतो दासधर्मतो भजेत्, अव्यावृत्तः लौकिकव्यावृत्तिरहितः सन् इति व्याख्यान्, तत्र गृहे स्थित्वा भजने लौकिकव्यावृत्तिराहित्यं सर्वथा न भवतीति विचार्यम् । यद्वा । कृष्णं फलात्मकं पूजया पूजासाधनैर्भजेत् । सेवां कुर्यात्, न तु पूजयेत् । तथा च सेव्यसेवकभावेनैव कृति कुर्यात् । न तु 'देवो भूत्वा देवं यजेदिति वाक्यात् स्वस्मिन् देवत्वं भावयेत् । किन्तु दासत्वमेव । न च भजेदित्येतावतैवायमर्थ आयात्येव, तथा च पूजयेदिति वचनं व्यर्थमिति वाच्यम् । भजेदित्येतावत्युक्ते कया सामग्र्या भजेदित्याकाङ्क्षायां पूजया पूजासाधनैरेव भजेदिति बोधनेन तस्य सार्थक्यात् । एवमेव श्रवणादिभिरपि भजेत् श्रवणादिकमपि सेव्यसेवकभावेनैव कुर्यात्, न तु सेवकत्वमात्रबुद्ध्या । तत्र प्रथमव्याख्याने तु सेवानुकूलसाङ्गपूजासाधनैः सह भजनम्, न तु गृहस्थितानामौदासीन्याभावाय बहिर्मुखजनितचित्तक्षोभाभावाय मार्गनिन्दाभावाय चेति ज्ञेयम् । द्वितीयव्याख्याने तु प्रायशो चैरेव स्तुतिभिः पूजा भवति, तैरेव स्तुतिभिः सेवा भवति । परन्तु पूजाविहितत्वेन समर्पणम्, न तु दास्योपयोग्युचितानुचितत्वविचारेण । सेवायां तु दास्योपयोगिशुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यस्नेहसदृशभावनया समर्पणं स्वस्य स्नेहाभावेपीति विशेषः । न च स्नेहाभावे कथं फलं भविष्यतीति वाच्यम् । स्नेहवच्छुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यमार्गीयत्वपक्षपातात् । इदं यथा तथा 'स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तर'मिति दशमस्कन्धीयब्रह्मस्तुतिपद्यव्याख्याने भक्तिहंसे प्रपञ्चितमस्मत्प्रभुभिरिति तत्रैवावलोकनीयम् । अत एवोक्तं भजेदित्येव, न तु पूजयेदिति । अत्र यथा पूजासाधनानां शुद्धपुष्टिमार्गीयेण समर्पणम्, स प्रकारस्तु मत्कृतशुद्धपुष्टिसेवासरणौ द्रष्टव्यः, रहस्यत्वाद्न नोक्त इति ज्ञेयम् ।

ननु सेवा हि सेव्यसन्तोषजनकक्रियया सिध्यति । सा च क्रिया पादसंवाहनादि-

रूपा । श्रवणादौ तु क्रियात्वाभावात्कथं तेन सेवा सिध्यतीति चेत् । अत्र ब्रूमः । सेव्यसन्तोषजनकधर्ममात्रेणैव सेवा सिध्यति लोके, न तु क्रियामात्रेण, तथैवानुभवात् । तथा च श्रवणादेरपि तादृशधर्मत्वात्तेनापि सेवासिद्धिर्भवत्येवेति जानीहि । यद्वा । श्रवणादिभिः सेवानुकूलभावमगवत्स्वरूपसेवाप्रकारादीनां ज्ञानस्य कृतिपर्यवसायित्वमेवेति क्रियात्वमेव ज्ञेयम् । न च सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु 'तत्सिद्धौ तनुवित्तजे'त्यत्र तनुवित्तजसेवैवोक्ता, न तु श्रवणादिजा सेवापीति वाच्यम् । तनुजसेवायामेव श्रवणादिजसेवाया अन्तर्भावात् । तथा हि । तत्र तनुजावित्तजा सेवा द्विविधा मुख्या गौणी च । तत्र प्रभुसुखमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् स्वधर्मपर्यवसायिनी मुख्या । स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् प्रभुसुखपर्यवसायिनी गौणी । तत्रेन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणसङ्घातरूपतनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियसत्त्वात् ज्ञानेन्द्रियैर्ग्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वन्मोभिर्भगवत्सेवोपयोगिषु स्वविषयेषु सदसद्विचनजा सेवा, अथ च कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाणिपादैर्भगवत्सेवोपयोगिवचनकथनार्थगमनचरणसंवाहनवस्त्वानयनादिकसेवा, अथ च कर्मेन्द्रियाभ्यां पायूपस्थाम्यां सेवाप्रतिबन्धकमलकामनिवृत्तिद्वारा स्वच्छसङ्घातजा सेवा, अथ च शरीरावयवेन मूर्ध्ना त्वयातिसमीचीना भगवद्भोग्यसामग्री सम्पादनीया सम्पादितेति स्त्रीपुत्रादीनामपि वन्दनजा सेवा च स्कृतालङ्कारादिष्वपि स्वस्मिन् दासत्वेन तत्तत्सामग्रीसम्पादकत्वात् स्वान्तःस्थितप्रियप्रियतमाम्यामेव परस्परकृतत्वबुद्ध्या अतिसौन्दर्यावलोकनजनितानन्देन प्रियस्य प्रियायाश्च वा वन्दनजा सेवा, अथ च झुधातृषादीनां प्राणधर्मत्वात् चानुभावेन तत्तत्समयानतिक्रमेण सपरिकरे प्रभौ भोजनजलादिसमर्पणेन प्राणजा सेवा, अथ च दास्यसखित्वाभ्यामात्मनिष्ठाभ्यां बहिरङ्गान्तरङ्गसमयेष्वपि सर्वदा प्राणप्रियासहितप्रभुसन्निधौ निःशङ्कगमनसम्पादिता तत्तद्वस्तुसम्पादनजा सेवा, अथ च सङ्घातविशिष्टोहम् मत्सम्बन्धिनः सर्वे प्रभुमात्रभोग्याः, नान्यभोग्या इत्यात्मसमर्पणजा सर्वविधा सेवा च भगवत्सुखोद्देशेनैव कृतत्वादियं तनुजा मुख्यसेवा । स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेन कृता चेदृशी सेवा गौणीतनुजा सेवा ज्ञेया । एवमेव श्रवणकीर्तनस्मरणजा सेवापि द्विविधा, मुख्या गौणी च । तत्र मद्बुद्धिस्थः सपरिकरः प्रभुः स्वप्रियतममत्कृतिविशिष्टलीलाश्रवणेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य श्रवणजा सेवा मुख्या । स्वैतरभक्तहृदिस्थो मत्प्रमुस्तादृशलीलाकीर्तनेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य तत्तल्लीलागोपनाय तादृशलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणजा सेवा मुख्या । भगवत्सुखमात्रोद्देशेनैव कृतत्वात् । स्वधर्ममात्रोद्देशेन कृता तु श्रवणकीर्तनस्मरणजा गौणीत्युच्यते । अत्राद्या सर्वविधापि सेवा शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया तु मर्यादापुष्टिमार्गीयाणामिति ज्ञेयम् । एवं च श्रवणादिजाया अपि सेवायाः श्रोत्रवाग्निन्द्रियान्तःकरणसाध्यत्वात्तनुजसेवायामन्तर्भाव इति श्रवणादिजसेवादिकमेवेति । न त्वदुक्तयवकाश इति दिक् ।

एवं चित्तजापि द्विविधा । मुख्या गौणी च । तत्र स्वार्जितसर्वविधसर्ववित्तेन परिकरविशिष्टप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा मुख्या । वित्तजा सेवा स्वार्जितद्रव्यस्य शास्त्रोक्तविभागं कृत्वा विभागागतभगवद्द्रव्येण तादृशप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा गौणी वित्तजा सेवा । अत्राप्याद्या शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीयाः मर्यादापुष्टिमार्गीयाणां ज्ञेया ।

स्यादेतत् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुत्या भगवत ईदृशत्वेन जीवानां सहजदासत्वेन दास्येन सेवा कर्तुं शक्या । सख्यात्मसमर्पणयोस्तु भगवदङ्गीकारसाध्यत्वात् सख्यात्मसमर्पणाभ्यां निःशङ्कतया जीवेन स्वयं सेवा कर्तुमशक्येति चेत् । अत्र वदामः । 'स नो बन्धुर्जनिता संविधाते'ति 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युत'मिति तैत्तरीयोपनिषच्छ्रुतिभ्याम् 'भर्ता संप्रियमाणो विभर्ति' 'एको देवो बहुधा निविष्ट'इति श्रुतिभ्यां 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये' ति मुण्डकोपनिषच्छ्रुत्या च 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादिभगवद्गीतावाक्येभ्यः । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमि'ति तृतीयस्कन्धीयवाक्येन । 'सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् । तं विक्रीयात्मनैवाहं रेमेऽनेन यथा रमा । सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाये'त्याद्येकादशस्कन्धीयपिङ्गलावाक्यैश्च । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः' इत्यादि तत्रत्यभगवद्वाक्यैश्च सर्वविधबन्धुत्वसखित्वपतित्वप्रभुत्वभर्तृत्वदेवत्वमातृत्वपितृत्वपितामहत्वधातृत्वविधातृत्वगतित्वसाक्षित्वनिवासत्वशरणत्वसुहृत्त्वोपदेष्टृत्वानुमन्तृत्वभोक्तृत्वप्रियत्वात्मत्वसुतत्वगुरुत्वेष्टत्वप्रेष्ठतमत्वरमणत्ववित्तरतिदातृत्वादिधर्मा भगवति प्रतिपाद्यन्ते । ते च धर्मा भगवद्भर्मत्वात् नित्याः । नित्यधर्मवत्त्वं च तदैव घटते, यदि तत्प्रतियोगिनो धर्माः सर्वविधबन्धुत्वसखित्वदासत्वसेवकत्वपोष्यत्वाराधकत्वपुत्रत्वपौत्रादिकत्वापेयत्वविधेयत्वप्राप्तियोग्यत्वद्वितीयत्ववास्तव्यत्वदीनत्वसुहृत्त्वोपदेश्यत्वमन्तृत्वभोग्यत्वासक्तत्वपितृत्वशिष्यत्वेष्टत्वपरमासक्तत्वरत्याकाङ्क्षितत्वार्थित्वरत्याविद्यादयो जीवेषु नित्या भवन्ति । एवं च पूर्वोक्तनित्यसिद्धधर्माणां भगवति सत्त्वाजीवेष्येते धर्मा नित्या निरुद्धा इति भगवति सखित्वभोक्तृत्वयोः सत्त्वाजीवेष्वपि सखित्वभोग्यत्वयोरपि सत्त्वात्तयोश्च नामनिवेदनाभ्यामाविर्भावितत्वाद्भगवदङ्गीकारस्यापि सत्त्वान्निःशङ्कतया सख्यात्मसमर्पणसेवासिद्धिरिति बुध्यस्व । तथा च यतः सर्वविधोपि सम्बन्धो जीवानां भगवता सह वर्तते, अतएव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमि'ति भगवता गीतायां येन केनापि प्रकारेण प्रपन्नस्यापि फलदानमुक्तम् । न चैवं भगवतो जीवैः सह सर्वविधे सम्बन्धे सति भगवान् स्त्री अहं पुरुष इति भावेनापि भजनं प्रसज्येतेति वाच्यम् । 'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपुत्रवन्मित्रवद्भरिम् । ये भजन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीह नमोनमः । नारी वा पुरुषो

वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः । येषामहं प्रियतम आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् । पिताहमस्य जगतो धाता माता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीयबृहद्भामनपुराणीयश्रीभागवतीयश्रीभगवद्गीतादिस्ववचननिचयेषु त्वदुन्नीतभावेन भजनस्यानुक्तत्वात् । 'यावद्बचनं हि वाचनिक'मिति न्यायात् । एतादृशभाववद्भक्तस्याश्रुतत्वाच्च । एवं सति स्वयमेवैतादृशभावेन भजने 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरिणात्पापहारिणे'ति वचनेन दोष आपद्यते । एवं च 'ये यथा मामि'ति श्लोकस्यापि येजीवाः शास्त्रोक्तभजनप्रकारेषु 'यथा येन प्रकारेण प्रपद्यन्ते तांस्तेनैव उक्तप्रकारानुकूलप्रकारेणाहं भजामी'त्यर्थो बोध्यः । न तु येनकेनचित्प्रकारेणेति । किञ्च । श्रीभागवतेपि 'कोटिकन्दर्पलावण्यः साक्षान्मन्मथमन्मथः पुरुषोत्तम' इत्येव नामोक्तं प्रमुखरूपेण, न तु कोटिरितिलावण्यः क्युत्तम इत्यादि । तथा च तादृङ्गामतादृक्स्वरूपयोः श्रवणे दर्शने च सर्वेषां स्वस्मिन् स्त्रीभावोदय एव भवति, न तु स्वस्मिन्पुरुषभावोदय इति । अत एवोक्तं श्रीमदस्मत्प्रभुभिः त्रिभङ्गललितस्तवे 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव ही'ति । अत्र दर्शनपदं श्रवणादीनामप्युपलक्षणम् । इयदवधि एतच्छ्रोतृणामपि साक्षात्कर्तृणामिव प्रमदाभावोदयस्यैव दृश्यमानत्वात् । यद्वा । दर्शनपदं चाक्षुषादिज्ञानमात्रपरं बोध्यम् । यदि च भगवता सच्चिदानन्दरूपात्युत्तमस्त्रीरूपेणाविर्भूय कस्यापि पुरुषभाव उत्पादितः स्यात् तदा क्युत्तम इति कोटिरितिलावण्य इति नामापि युक्तं स्यात् । मोहिनीरूपं तु 'इत्युपामन्नितो दैत्यैर्मायायोषिद्विपुर्हरि' रिति । 'यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोस्यङ्ग मायये'त्यादिश्रीभागवतीयवाक्यैर्भगवन्मायारूप एव, न तु सच्चिदानन्दरूपम् । आवेशमात्रं तु भगवत इत्यवतारमध्ये गणना । जीवानां नारदादीनामिव । न वा तद्रूपमपि केनचित्स्वस्मिन्पुरुषभावेन मोहिन्यां च स्त्रीभावेनोपासितमिति । तस्माच्छिष्टाचाराभावादप्यस्मदुक्तमेव साधु । यत्पुनः 'स वै न रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स ह एतावानास । स पतिः पत्नी चाभवतामि'ति श्रुतौ यत्पत्नीरूपं भगवतः श्रूयते, तत्तु सपत्नीत्वेनैव प्रकटितमिति तस्य प्रभुपत्नीरूपत्वेन भजनं दिव्यमेव । पूर्वोक्तविरुद्धभावेन भजनं तु भजनभावप्रकारेषु शास्त्रेणुक्तमिति न कर्तव्यमेव । अन्यथा द्वेषमयादिविरुद्धभावेन फलवदनेनाप्युक्तं स्यात् । एवं जीवैः सह भगवतः सर्वसम्बन्धसम्बन्धे नित्यसिद्धे स्थिते भगवतो यत्सम्बन्धपुरस्कारेण जीवेषु रिरंसा स सम्बन्ध एवाविरुद्धान्यभावसम्बन्धाविर्भावविशिष्ट आविर्भवति, न तु विरुद्धसम्बन्धाविर्भावविशिष्टः, साक्षाद्भोग्यत्वसम्बन्धे भर्तृत्वादिस्म्बन्ध इवेति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तविचारेण । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वोक्ता सर्वविधापि सेवा प्रेम्णा क्रियमाणफलरूपा । केवलं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यपरम्परोपदेशमात्रेणैव

विना प्रेम कृता नित्यसिद्धभक्तिवृद्ध्याविर्भावसाधनरूपा ज्ञेया । तथापि साधनत्वबुद्ध्या न कर्तव्या । साधनत्वबुद्ध्या करणे तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'ति वाक्यात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति स्वप्रतिज्ञातश्च प्रेमाद्युत्पाद्य 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति पुरुषोत्तमज्ञानमुत्पाद्य स्वप्रवेशरूपमुक्तिरूपफलमेव मर्यादाभक्तिमार्गीयं भगवान् दद्यात् । न तु सर्वदा साक्षात्स्वसम्बन्धरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयं फलम्, साधनबुद्ध्या कृतनवविषमक्तेः प्रेमोत्पादनद्वारा प्रवेशपर्यवसायित्वात् । फलरूपत्वबुद्ध्या करणे तु प्रेमासक्तिव्यसनान्युत्पाद्य स्वसेवामेव स्वप्रवेशरूपफलादप्युत्तमां दद्यात् । तस्मात् फलत्वबुद्ध्यैव शुद्धपुष्टिमार्गे सेवा कर्तव्येति । 'सार्ष्टिसामीप्ये'त्यादि 'सेवानुरक्तमनसामभवोपि फलम्'रित्यादिवाक्यैः सेवायाः सर्वोत्तमफलत्वं प्रसिद्धमेव । इदमेव ज्ञापयितुं फलात्मकनामोक्तम् । वस्तुतस्त्वाचार्यमार्गीयस्याचार्यपक्षपातेन प्रवेशरूपं फलं साधनबुद्ध्या करणेपि न भविष्यति, तथापि भगवत एतस्मिन्विषये सङ्कोचो भविष्यतीति फलात्मकनामोक्त्या फलत्वबुद्ध्यैव सेवा कर्तव्येत्युपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणैरिति बोध्यमिति दिक् । ननु भगवानेकदैव प्रेमादिवक्ष्यमाणवस्थाविर्भावं कुतो न करोति, वा क्रमेण करोतीति चेत् । क्रमेणाविर्भावे रसाधिक्यानुभवस्यानुभवसिद्धत्वाद्रसाधिक्यानुभवार्थमेवेति गृहाणेति सर्वं निष्प्रत्यूहम् । प्रकृतमनुसरामः ।

ननु 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' । 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते । तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च' 'याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय' इत्यादिश्रीगीताश्रीभागवतीयभगवद्वाक्येभ्यो लौकिकवैदिकत्यागपूर्वककेवलदासभावेन चेद्भजेत्तदा कथं भजेदित्याकाङ्क्षायां सार्धश्लोकेनाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

पूर्वोक्तभगवद्बचनबलेन पुत्रकलत्राद्यौदासीन्यं बहिर्मुखजनितनिन्दां चाविगणय्य लौकिकवैदिकगृहस्थधर्मतो व्यावृत्तोपि निवृत्तोपि 'उदासीने स्वयं कुर्या'दिति सिद्धान्तात्स्वयमेव दासधर्मत्वाद्यथाशक्ति सेवां विधाय सदा हरौ सकलदुःखहर्तरि चित्तं न्यसेत् । तत्स्मरणं कुर्यात्, अथ च श्रवणादौ श्रवणकीर्तनयोरपि चित्तं न्यसेत् स्थापयेत् । न त्वेतेभ्योपि निवृत्तो भवेदिति भावः । अत्र चित्तपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । यद्वा हराविति विषये सप्तमी । हरिविषयकं चित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनस्मरणेषु न्यसेत् । यद्वा ।

हराविति निमित्ते सप्तमी । चर्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्रेव । तथा च हरिनिमित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनेषु चित्तं न्यसेत् । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वश्लोके श्रवणादिभिरित्यत्राप्रधानतृतीयाव्याख्यानपक्षे तृतीयया श्रवणादीनां सेवासमयातिरिक्तसमये कर्तव्यत्वादप्राधान्यं यथा बोधितं तथा तस्मिन् श्लोके श्रवणादीनां सदापदेन सर्वदा कर्तव्यत्वस्य बोधितत्वेन पूर्वश्लोकानुवर्तमानायाः गृहे स्थित्वा सेवायाः किञ्चित्समय एव कर्तव्यत्वस्य आगतत्वात्, अथ च पुत्रकलत्रादीनां स्वधर्मत्यागजनितौदासीन्येनासहायत्वात्पूर्णसेवानिर्वाहामावाच स* प्राधान्यं बोध्यत इति । अयं तु गौणपक्षः । लौकिकवैदिकगृहस्थव्यावृत्तिं विनानुत्तमसेवकत्वसंपालया(?)दिति बोध्यम् । अस्मिन्पक्षे पूर्णफलप्राप्तिस्तु गुणश्रवणादिसन्तुष्टान्तरङ्गभक्तकृपया ज्ञेया । अत्र यतेत । यतेत् इति पाठस्तु लेखकप्रमादमूलक एव । न चाध्याहारः । चित्तपदोत्तरं विधायेति क्रियावान् क... नध्याहारेणार्थकरणे चित्तपदस्य वैयर्थ्यापाताच्चेति सुधीभिरेवाकलनीयम् । एतत्पाठस्य व्याख्यानं यथा श्रीमदस्मद्गुरुभिर्याख्यातं तथैव व्याख्यानं मन्मतेपि बोध्यम् । अस्मिन् पक्षेऽनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिजे छित्करणाज्ज्ञापकादिति यतेदित्यत्र परस्मैपदं साधनीयम् । नन्वेवं भक्तिवृद्धिसाधने क्रियमाणेपि भक्तिवृद्धिरेवैकपदेन स्यादथवा किञ्चिन्मध्येन्यदपि स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः ततः प्रेमेति । तत इति पञ्चमी । ततस्तस्माद्धेतुभूताद्भजनात् प्रेम । यस्य पूर्वावस्थाभावस्तस्य भावस्य तत्तत्फलस्याविर्भावः । तथा तेन सप्रेमभजनरूपप्रकारेण तस्यैव भावस्यासक्तिरूपावस्थाविर्भावात् भवेत् । च पुनर्व्यसनम् । 'दैहिकान् सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हरिप्राप्तिर्यदैव स्यात्तदैव तत्' इति श्रीभागवततत्त्वदीपीयभागवतरूपप्रकरणस्थदशमस्कन्धे सकलदैहिकं भावं दैहिकलज्जात्यागपूर्वकं हरिप्राप्त्यै सर्वव्रतादिकमासक्त्यै क्रियते तदेव तद्व्यसनमित्युक्तत्वात्तादृशं व्यसनम् । अथ च तदनन्तरमपि प्रसुप्तसम्बन्धाभावे प्रतिकार्यरूपं च व्यसनं यदा भवेदाविर्भवेत् । अत्र यदेति पदं व्यसनाविर्भावस्य कालनियमाभावं ज्ञापयति । तथा च यदा भगवदिच्छाया व्यसनमाविर्भवेत् तदा दृढं बीजमुच्यते इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः । व्यसनपदस्याप्रतिकार्यदुःखपरत्वेन च व्याख्यानं तु 'व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धप्रथमाध्यायसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः कृतं तत्रैवावलोकनीयम् । ननु तदा किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजमिति । तदा तद्भावविशेषरूपं व्यसनं शास्त्रे भक्तिशास्त्रे दृढं बीजमित्युच्यते । यद्दृढं बीजमपि पुनः न नश्यति तिरोभावं न प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन प्रेमासक्तयोर्भगवदनुकूले गृहे तदनुकूलत्वे तत्यागेन तत्पैरस्तदीयैः सह स्थित्या च कदाचिदन्यव्यासङ्गे तत्क्षणे तिरोभावो भवेदपि बीजस्य । व्यसने जाते तु सर्वेषामेव त्यागात् व्यासङ्गान्तरोत्पत्तेः सम्भावनाभाव एवेति तस्य दृढबीजत्वं निरन्तरं निखिलावस्थाविर्भावेन फलप्रापकत्वमिति ज्ञेयम् ।

ननु प्रेमासक्तिव्यसनानां परमावस्थाविशेषत्वेनान्तरधर्मत्वाद्वाद्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् पर-

निष्ठस्य मनसा ज्ञातुमशक्यत्वात् केन लिङ्गेनेदं प्रेमेयमासक्तिरिदं व्यसनमिति ज्ञायतामित्या-
शंक्य ततत्कार्यमेव ततलिङ्गमिति सार्धश्लोकेनाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

स्नेहाद्धेतोः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति गृहारुचेरेषे वक्ष्यमाणत्वात् सेवोपयोगि-
स्वगृहस्वपुत्रतादृशान्यव्यतिरिक्तेषु रागस्य, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु ।
गान्धारादौ नृपे राग' इति विश्वात् प्रेम्णो भगवद्विषयकविशेषेण नाशः तिरोभावः स्यात् ।
स्वस्त्रीस्वपुत्रतदन्येषु सेवोपयोगिषु तु तिष्ठत्येव । अत्र नाशे विशेषकथनात्प्रेमाविर्भावोत्प-
र्व कृतभजने इतरत्र कदाचिद्रागो भवति । प्रेमाविर्भावोत्तरं तु न भवत्येवेति ज्ञेयम् ।
तथा च भगवत्सम्बन्धव्यतिरिक्ते तु रागाभावः प्रेमलिङ्गमिति ज्ञेयम् । अथ गृहारुचिः ।
स्वगृहेषु स्वगृहस्थपुत्रादिपदार्थेषु सर्वेष्वप्यरुचिः तत्सम्बन्धानिच्छा स्यात् । तेषां भगव-
दनुकूलत्वात्सेवोपयोगित्वेपि प्रेमासक्त्यभावात्सेवासमयातिरिक्तसमये गृहव्यासङ्गजनक-
त्वात् । यदि गृहव्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा त्वरुचिर्न भवत्येवेति भावः । तथा च स्वगृह-
स्थानां गृहव्यासङ्गजनकत्व एव गृहारुचिरासक्तिलिङ्गम् । तेषां गृहव्यासङ्गजनकत्वे
तु पूर्वदशम्यधिकसेवाश्रवणादिरुचिरेवासक्तिलिङ्गं ज्ञेयम् । अथ व्यासङ्गलिङ्गमाहुः
गृहस्थानामिति । अत्र प्रेमासक्तेः सेवानुकूलाः स्वगृहस्थाः पुत्रभार्यादयो यदि लौकिक-
व्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा प्राप्तासक्तिना स्वगृहस्थ भगवति निवेदितत्वेन हरिस्थानत्वात्स्व-
गृहस्थानां सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठत्वेन तत्परं भगवदीयत्वात् लौकिकव्यासङ्गजनकत्वेन
स्वप्रतिबन्धकत्वाभावाच्च स्वगृहस्थितौ बाधकत्वाभावात्स्वगृहमध्य एवास्मत्प्रभुवद्दृढबीजसि-
द्धयर्थं श्रेयम् । यदि तु तादृशस्वगृहस्था लौकिकव्यासङ्गं जनयेयुस्तदा तेषां बाधकत्वा-
त्स्वगृहं त्यक्त्वा तत्परभगवदीयैः सह दृढबीजसिद्धयर्थं सेवाकथाश्रवणादिविषयकयत्वं
कुर्वतान्यहरिस्थाने श्रेयमिति पक्षद्वयम् । तत्र यस्मिन् पक्षे त्वासक्त्युत्पत्त्यनन्तरं बाधका-
भावात्स्वगृहस्थितस्यैव व्यसनं जातं, तस्मिन्पक्षे स्वगृहस्थानां तत्परभगवदीयत्वात्तैर्गुण-
गाने क्रियमाणे तच्छ्रवणेन प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवत्प्रादुर्भा-
वात्तापक्लेशजनितपूर्वभगवत्प्राकट्यस्यापि गतत्वाच्चान्तःप्रकटभगवत्सम्बन्धानन्दविघातक-
त्वादेते मम भगवत्सम्बन्धानन्दविशेषविघातका इति स्वगृहस्थेषु तादृशान्यगृहस्थेषु च
बाधकत्वमानं भवति । द्वितीयपक्षे त्वासक्त्युत्पत्त्यनन्तरं स्वगृहस्थास्तु त्यक्त्वा एव लौकि-
कव्यासङ्गजनकत्वात्, स्थितं च हरिस्थाने तत्परभगवदीयैः सह, तेषामपि भगवद्गुणगानपर-
त्वात्, पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य तेष्वपि बाधकत्वमानं भवति, अतो गृहस्थानामिति

पदं सर्वगृहस्थपरम् । न तु स्वगृहस्थमात्रपरमिति बोध्यम् । तथा च गृहे तिष्ठन्ति ते
गृहस्थास्तेषां बाधकत्वं तत्सम्बन्धिविरहानुभवान्तर्गतभगवदनुभवबाधकत्वं पूर्वोक्तप्र-
कारेण प्राप्तव्यसनस्य भासते स्फुरतीत्यर्थः । न च स्वगृहरूपहरिस्थानस्थान्यहरिस्थानस्थ-
गृहस्थानां भगवदीयत्वेन भगवद्गुणगाने क्रियमाणे प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशा-
भावाद्भगवदाविर्भावाभावे पूर्वसञ्जातभगवत्प्राकट्यतिरोभावे भवद्भिर्भगवद्गुणा न गेया इति
प्राप्तव्यसनेनोक्ते यस्माद्भजनप्रतिबन्धक इति प्राप्तव्यसनसम्बन्धबाधकत्वं भासते । स्फुर-
तीति चार्थः । इदमर्थद्वयमप्यत्राभिप्रेतं श्रीमदाचार्याणाम्, परस्य न बाधकज्ञानेन दृढ-
तरपरित्यागाय गृहस्थपदं भगवदीयानां ब्रह्मचारिवानप्रस्थसंन्यासिनामप्युपलक्षकम् । एतत्कृ-
तगुणगानश्रवणजस्वास्थ्यजनितभगवदाविर्भावाभावपूर्वकं प्रकटभगवत्तिरोभावाभ्यां पूर्वव्या-
ख्याने ब्रह्मचर्यादिसम्बन्धबाधकत्वमानं प्राप्तव्यसनस्य, द्वितीयव्याख्याने प्राप्तसम्बन्धबा-
धकत्वमानं ब्रह्मचर्यादीनामपि जायत इति भगवदीयब्रह्मचर्यादयोपि सङ्गाह्या एवेति । अतएव
श्रीमदाचार्यकृतव्यसनोत्तरपरित्यागे स्वरूपगृहस्थाधारम्य अन्नजलादिपर्यन्तमपि त्यागो दृष्टः ।
अत एव विरहानुभवार्थस्त्यागः परितस्त्यागरूप इति संन्यासनिर्णये परित्यागशब्देनैवोक्तः ।
अत एव तादृशबाधकत्वज्ञानोत्तरमेव 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्या-
सनिर्णयोक्तः परित्यागः स भविष्यति । यदि प्राप्तव्यसनस्य सर्वप्रकारपूर्वोक्तभगवदीयगृ-
हस्थादिषु भगवदीयगृहस्थादीनां प्राप्तव्यसने सर्वथा बाधकत्वमानं न भवेत्, तदा सर्व-
परित्यागोपि दुःशकः कथं भवेदेवेति ज्ञेयम् । ननु पूर्वोक्तगृहस्थेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्य-
सने च तेषां बाधकत्वज्ञानेपि प्राप्तव्यसनस्य भगवत्यासक्तौ जातायां भगवति यथात्मात्मीय-
त्वं भातं तथा भगवत्सम्बन्धेन भगवदीयेष्वपि पूर्वोक्तेषु पूर्वोक्तभगवदीयानां च प्राप्तव्यसने
भासत एव । एवं च परस्परं दृढतरात्मत्वात्मात्मीयत्वाध्यासस्य विद्यमानत्वात् महारोगाद्युपह-
तदेहादिषु यथा लौकिकालौकिकार्थबाधकत्वज्ञानेपि तैर्दृढतराध्यासात्तत्यागः कर्तुं न शक्यते,
तथा पूर्वोक्तसर्वभगवदीयत्यागोपि प्राप्तव्यसनेन प्राप्तव्यसनस्य च त्यागस्तैः कर्तुं न शक्यते
इत्याशङ्क्याहुः अनात्मत्वं च भासत इति । आत्मशब्दस्य देहात्मनोर्वाचकत्वात्
तेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्यसने च तेषामनात्मत्वमात्मात्मीयभिन्नत्वं स्वहितकारित्वाभाव इति
यावत् । तच्च भासते । यद्येते मद्दितकारिणो भवेयुस्तदा यथान्तःप्रकटीभूयात्मात्मीय इति
भगवान् स्वदर्शनदानादिना हितं करोति, तथैतेपि कुर्युः, न तु भगवद्दर्शनादिनाशम् । अतो
नैते ममात्मात्मीया इति प्राप्तव्यसनस्य पूर्वोक्तेषु यद्यमस्मद्दितकारी स्यात्तदास्मद्भजनप्र-
तिबन्धं न कुर्यात्, अतो नायमस्मदात्मात्मीय इति प्राप्तव्यसनपूर्वोक्तगृहस्थादीनां च
बाधकत्वमानात् सुखेन परित्यागः सेत्स्यतीति भावः । तथा च परस्परविषयकं
बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च परित्यागे कारणं बोद्धव्यम् । ननु तादृशं बाधकत्व-
मनात्मत्वं च कदा भासत इत्याकांक्षायामाहुः यदा स्याद्वासनं कृष्ण इति । यदा क-

दाचिद्भगवदिच्छया कृष्णे कृष्णनिमित्तं कृष्णविषये वा भागवततत्त्वदीपीयदशमस्कन्धोक्तव्यसनोत्तराप्रतिकार्यं दुःखं तदा पूर्वोक्तं भासत इति ज्ञेयम् । तदैवाप्रतिकार्यदुःखे जाते एव भक्तः कृतार्थः प्राप्तफलः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । अप्रतिकार्यदुःखे जाते परमखेही भगवान् साक्षात्स्वसम्बन्धे कथं विलम्बं कुर्यादिति जानीहि । अत्रैतावज्ज्ञेयम् । येषामलौकिकं शरीरं तेषां तु रासमण्डलमण्डनानामिव व्यसने जाते तेनैव देहेन फलप्राप्तिः । येषां त्वन्तर्गतानामिव लौकिकं शरीरं तेषां तु व्यसनेन देहपातः । तदनन्तरं अलौकिकदेहप्राप्त्या फलप्राप्तिरिति दिक् । तथा च गृहस्थविषयकं प्राप्तव्यसनस्य गृहस्थानां वा प्राप्तव्यसनविषयकमुभयोर्वोभयविषयकत्वं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च व्यसनलिङ्गं ज्ञेयम् । एतैर्लिङ्गैः प्रेमासक्तिव्यसनानि ज्ञातव्यानीति भावः ।

अथ जातव्यसनस्य गृहस्थपदार्थविषयकबाधकत्वानात्मज्ञानयोरवश्यंभावित्वेन संन्यासनिर्णयोक्तः परित्यागः स्वयमेव भविष्यतीति नोपदेशो योग्यः, अप्राप्तव्यसनस्य प्राप्तासक्तेर्भक्तस्य तु गृहारुचेर्जातत्वेपि तेषां भगवत्सेवोपयोगित्वेन भगवत्सम्बन्धित्वात् त्यागो मत्सम्बन्धिन एतस्मै न रोचत इति भगवन्मनस्यागते ममापराधः स्यादिति मिया तत्यागं न कुर्यात्, तदा तेषां पोष्यत्वादात्मपोषणार्थं सेवासमयातिरिक्तसमये व्यासङ्गान्तरमुत्पाद्य एतैरिति तत्याग उपदिश्यते । न च तेषां भगवदीयत्वात् तत्यागे अपराधः प्रसज्येतेति वाच्यम् । एते लौकिके मां योजयन्तीति लौकिकधर्मपुरस्कारेण दोषारोपपूर्वकत्यागेपराधप्रसक्तेरभावात् । भगवदीया एते मया त्याज्या इति भगवत्सम्बन्धपुरस्कारेणैव तेषु दोषारोपेण त्यागापराधप्रसक्तेरिति त्वत्पूर्वपक्षाभावादिति मनसिकृत्य प्राप्तासक्तेर्गृहत्यागमुपदिशन्तः सुदृढसर्वतोधिकपरमभक्तिलाभं च सार्धं श्लोकेनाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

सततं सर्वदा तादृशस्यापि प्राप्तासकित्वात् गृहासक्तियुक्तस्यापि आभासोक्तभगवदपराधमिया गृहमत्यजतो गेहे स्थानमवस्थानं विनाशकं मध्ये मध्ये लौकिकव्यासङ्गजनकत्वेन भगवत्सङ्गजनविषयकयत्ननाशकम्, अतस्तादृशानां मध्ये गृहादिमात्रत्यागं कृत्वा यः माग्यवांस्तदर्थार्थैकमानसः । स चासौ भगवानेवार्यो वस्तुरूपोर्थः प्रयोजनं यस्सेदृशः सन् यतेत्, भगवत्प्राप्त्यर्थं यत्नं कुर्यात्, स सुदृढां भक्तिं लभते इत्युत्तरेणान्वयः । नन्वस्मिन्पद्येयं त्यागो व्यसनोत्तरसामयिकसंन्यासनिर्णयोक्तत्यागत्वेनैव कुतो नोच्यत इति चेत् । अत्र वदामः । अप्रतिकार्यदुःखरूपव्यसनोत्तरत्यागस्य स्वयमेव जायमानत्वेन उपदेशानर्थक्यम् । किञ्च, यत्र व्यसनोत्तरत्यागे व्यसने जाते तत्प्रतिकारो भगवदतिरिक्तेन न कर्तुं शक्यत इत्येवोच्यते ।

तदा 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण' इत्यव्यवहितपूर्वं व्यसनमुक्तमिति ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकमित्यत्र प्रत्यक्षपदार्थवाचिद्भमः प्रयोग एव कृतः स्यात्, न तु परोक्षपदार्थवाचितादृशस्यापीति तच्छब्दप्रयोग इति । अपरञ्च, 'व्यसनं यदा भवेत्' 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती' त्यनेन व्यसने जाते भावात्मकबीजस्य नाशाभाव एवोक्तः । अत्र तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मित्यनेन नाश उच्यते । तस्मादपि नायं त्यागशब्दः संन्यासनिर्णयोक्तत्यागपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिमात्रस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलत्रादित्यागपर एवेति सुष्ठु प्रतिभाति । अत एवाग्रे त्यागोत्तरं 'अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परै'रिति तत्परतदीयसङ्ग उपदिष्टः । यद्यप्येतेपि तदीयास्तथापि तेषां स्वेन पोष्यतासम्बन्धयुक्तत्वात् स्वपोषार्थं लौकिकव्यासङ्गजनकत्वाभाव इति तत्सहभावेन स्थितिरुपदिश्यत इति । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थत्यागे भगवदीयाभगवदीयसकलत्यागवाचकः परित्यागशब्दः प्रयुक्तः, अत्र तु लौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागोऽलौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागश्चोक्त इति परित्यागत्वाभावादपि न संन्यासनिर्णयोक्तोयं त्याग उपदिष्ट इति भगवदीयैः सहृदयैः परिभाषनीयमिति दिक् ।

नन्वेवं प्राप्तासक्तिर्गृहत्यागं कृत्वा हरिस्थाने स्थितस्तदीयसहृदया चेत् भगवद्विषयकं यत्नं कुर्यात् तदा को लाभः स्याद् इत्याकांक्षायामाहुः लाभत इति । स भक्तः सुदृढां केनापि नाशयितुमशक्यां भक्तिं स्नेहरूपां व्यसनविशिष्टत्वेन सुदृढां बीजस्वरूपां लभते प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वेतादृशी भक्तिरन्यदेवविषयिण्यपि भवतीत्याशंक्य. आहुः सर्वतोभ्यधिकाम् विभूतिरूपभक्तिभ्योप्यधिकां पुरुषोत्तमविषयत्वादिति भावः । अथ च सर्वविधभक्तिभ्यः परां चरमावधिभूतां पुरुषोत्तमसाक्षात्सङ्गकारणभूतामिति यावत् । यद्वा । परां परमकाष्ठापन्नाम् । एतेनान्ये संप्रदायत्रयभक्तिमार्गास्तदुक्तभक्तिप्रकारास्तदुपास्यस्वरूपाणि तदाचार्याश्च न परमकाष्ठापन्नाः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इति वाक्यात् । 'तद्वत्त्वांगतयोन्तत' इति वाक्याच्च शुद्धपुष्टिमार्गः, तदुक्ता भक्तिः, तदुपास्यस्वरूपं, तदाचार्याश्च परमकाष्ठापन्ना इति ज्ञेयम् । तथा चैतन्मार्गैस्तदुक्तभक्त्यैतन्मार्गोपास्यस्वरूप एतन्मार्गोपास्यप्राप्तौ सत्यां सर्वं प्राप्तं किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यमित्येतेषां सर्वेषां फलरूपत्वम् । यतो वेदविभागाष्टादशपुराणधर्मब्रह्मजिज्ञासामहाभारतादिकरणेनापि श्रीमन्नारायणावताररूपाणां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादेऽजाते नारदोपदेशेन प्रेमात्मकसमाधावाशुकृते चित्तप्रसादे जाते तत्रानुभूतपूर्णपुरुषोत्तमादिपदार्थग्रथितसमाधिभाषारूपश्रीभागवतकरणम्, अतो ज्ञायते श्रीभागवतोक्तं स्वरूपम्, तस्यासिका भक्तिः, तदाचार्याः, श्रीमद्भजमक्तादयः, तदनुगता विष्णुस्वाम्यादिश्रीमद्ब्रह्मभाचार्यान्ताश्च, तत्प्रकटितो भक्तिमार्गश्चैतत्सर्वं परमकाष्ठापन्नत्वात्फलरूपमिति भावः ।

अथैतादृशत्यागकर्त्रा त्यागं कृत्वैकान्ते गन्तव्यमेवाथवा किञ्चिदन्यदपि कर्तव्य-
मित्याकांक्षायां गृहमात्रमेव त्यक्त्वा हरिस्थाने तदीयैः सह श्रेयमिति सार्धं श्लोकेनोप-
दिशन्ति त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

अतः श्रेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दूष्यति ॥ ८ ॥

त्यागे बाधकानां भूयस्त्वं बाहुल्यं वर्तते । ननु कस्माद्धेतोर्दुर्बाधकबाहुल्यमित्याकां-
क्षायाहुः दुःसंसर्गात्तथाज्ञत इति । देहाद्यथासस्यानिवृत्तत्वाद्यत्र कुत्रापि स्थितौ सङ्गे
प्राप्ते दुष्टसङ्गो बहिर्मुखसङ्गोपि भवति । तथा देहपोषार्थं दुष्टान्नभक्षणं च प्रसजते । तदा
दुःसङ्गाद्दुष्टान्नतश्च बाह्याभ्यन्तरदोषोत्पत्तेर्भोजनादिष्वालस्ये सम्पन्ने कृतोपि गृहत्यागो व्यर्थः
स्यात् । तर्हि तेन किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः अतः श्रेयं हरेः स्थाने तदीयैः
सह तत्परैरिति । अतः कारणाद्धरेः सर्वविधदोषहर्तुः स्थाने शुद्धपुष्टिस्थाने वृन्दावनादौ
तत्परैः रात्रिदिनं भगवत्सेवादपरैः सह तदीयैः शुद्धपुष्टिमार्गीयदासधर्मवद्भिः सह
श्रेयम् । तथा च तत्सङ्गेन दुःसङ्गाभावात्तत्समर्पितभगवत्प्रसादान्नभक्षणात्तत्तत्स्वसमर्पिता-
न्नभक्षणाच्च बाह्याभ्यन्तरदोषाभावाद्भजनसिद्धिर्निष्प्रत्यूहा भवति । प्राप्तासक्तेरिति भावः ।
एतेनाप्ययं त्यागो न व्यसनोत्तरसामयिकः संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागः । यतो व्यसनोत्तर-
त्यागे भगवदीयेष्वपि बाधकत्वज्ञानादनात्मत्वज्ञानाच्च सर्वत्यागादन्नादित्यागोपीति क
दुःसंसर्गान्नादिजनितदोषप्राप्तिसंभावनापीति सुधीभिराकलनीयम् । अत एव श्रीमदस्मदा-
चार्यचरणकृतव्यसनोत्तरत्यागेनशनकाशीगमनादिकमपि दृष्टम् । अन्यथा तैर्हरिस्थाने
ब्रजादावेव गतं स्यात् । भगवदीयान्नादिकमपि गृहीतं स्यात् । तनु न कृतमिति संन्यासनि-
र्णयोक्तस्त्यागो न साधनदशात्यागो येन हरिस्थाने गमनं स्यात्, तदन्नभक्षणं च प्रसजते,
किन्तु फलदशाजनितस्त्यागः फलजनित एव । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं
तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थपरित्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानुदितम् । ननु 'विर-
हानुभवार्थं तु त्यागः कर्तव्य एव ही'ति तस्मात्प्रत्ययकर्तव्यत्वमुक्तम् । जीवकृत्यसाध्यत्वात् ।
तस्मादस्मदुक्त एवाशक्तिदशात्यागोयमिति ज्ञेयम् । ननु हरिस्थानस्थतत्परतदीयानामपि
स्वाशक्तिसमानासमानासक्तेः सत्त्वे तु दोषाभावः सिध्यत्येव, स्वसमानासक्तेरभावे तु तेषामपि
सेवाव्यतिरिक्तसमये कदाचिन्नैकिकव्यासङ्गजनकरत्वे का गतिरित्याशंक्याहुः अदूरे
चिप्रकर्षे चेति । यदि तेषां स्वसमानासमानासक्तिस्तदा तदन्तर्भक्तान्ते भक्षयित्वा तेषामदूरे
निकटे श्रेयम् । अदूरमिति पाठे अदूरं यथा भवति तथा श्रेयम् । यदि पूर्वोक्तं न तदा
तेभ्यः प्राप्तं भगवत्प्रसादान्नं तद्वत्स्वसमर्पितान्नं च भक्षयित्वा विप्रकर्षे दूरे श्रेयम् । यथा
येन प्रकारेण चित्तं न दूषयति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्विदमत्यशक्यं, यतोस्मिन् कलिकाले हरिस्थानानामपि दुष्टान्कान्तत्वात् प्रतिष्ठा-
दिकामुक्तेन तत्परभगवदीयानामपि दुर्लभत्वाच्च प्राप्तासक्तेः का गतिरित्याशंक्याहुः
सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य मत्तस्य पूर्वोक्तसेवायां कथायां कथाश्रवणकीर्तनयोर्वा आसक्तिर्दृढा बद्धमूला
भवेत्, तस्य यावज्जीवं यावद्देहस्थिति व्यसनं यदा कदापि भवतु, परंतु दुःसङ्ग-
दुष्टान्नभक्षणजनितो नाशो भगवत्सेवाकथायासक्तिप्रच्युतत्वं कापि देशे कापि काले च
कापि जन्मन्यपि च न भवतीति मे मम मतिर्बुद्धिरित्यर्थः । तथा च यदि भगवद्धर्मरूप-
सेवाकथासक्तस्यैव न नाशस्तदा साक्षाद्धर्मरूपभगवदासक्तस्य न नाश इत्यत्र किं
वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूचितः । यद्वा । नाशः दुःसङ्गदुष्टान्नजनितदोषसम्बन्धरूपः
न कापि संभवतीत्यर्थः । तथा च दुष्टान्कान्ते हरिस्थाने दुष्टान्कान्तहरिस्थानातिरिक्ते
स्थाने वा तिष्ठन् तत्परभगवदीयेभ्यस्तदितरजनेभ्यश्च भिक्षया जीवनमात्रसंपादकमन्नं
संपाद्य स्वयं पाकं कृत्वा प्रभवे समर्थं भक्षयन् न दोषभाक् भवतीति भावः ॥ ९ ॥

ननु यदि हरिस्थानातिरिक्ते हरिस्थाने वा दुष्टान्कान्ते दुष्टैर्भजनबाधः, अथ च
तत्रान्नादेरप्यलाभेन वा भजनबाधः प्रसज्येत, तदा किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः
बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यदि सेवायाः कथाश्रवणादीनां वा बाधः संभाव्येत ज्ञायेत, तदा एकान्ते गृहं
त्यक्त्वा स्वीयाज्ञाते स्थले वासो नेष्यते, किन्तु गृहे एव वास इष्यते । ननु तदा गृह-
स्थानां पुत्रकलत्रादीनां लौकिकव्यासङ्गान्तरजनकत्वं सिद्धमेवेति दोषप्रसक्तिरिति किं
कर्तव्यमित्याशंक्याहुः हरिस्तु सर्वत इति । तु पुनः हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वतः सर्वेभ्यो
दोषेभ्यः स्वयं रक्षां करिष्यति । गृहस्थपुत्रकलत्रादिजनितलौकिकव्यासङ्गान्तरदोषो न
बाधित्येवेति भावः । अत एव 'मद्गतायातयामानां न बन्धाय गृह्यता मता' इति
श्रीभागवते भगवतोक्तम् । ननु को वेद, हरिः प्रभुः करोति चेत्, तस्य किं कर्तव्यमित्या-
शंक्याहुः न संशय इति । न सन्देह इत्यर्थः । यदि स्वीयरक्षां न कुर्यात्तदा हरित्वमेव
गच्छेदिति भावः ॥ १० ॥

एवं भक्तिवृद्धिप्रकारमुपपाद्य ग्रन्थोपसंहारमेतत्पाठफलं चाहुः ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति ग्रन्थसमाप्तौ । एवं अनेन प्रकारेण च भगवच्छास्त्रं उत्तरपदलोपिसमासात् भगवत्प्रापकं शास्त्रं भगवत्प्रापकोपदेशग्रन्थः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तम्, इतरमार्गीयेभ्यस्तत्त्व-सिद्धान्तो यस्य तादृशं निरूपितं कथितम् । मयेति शेषः । अत्रैतदुक्तप्रकारेण सेवायाः कथाश्रवणकीर्तनादीनां च कर्तुः प्रेमाद्याविर्भावो भवेदिति किमाश्चर्यम्, यत्रैतच्छास्त्रा-ध्ययनकर्तुरपि प्रेमाद्याविर्भवेदित्याहुः य एतदिति, योधिकारी कोपि एतत् समधी-यीत, सम्यक् श्रद्धापूर्वकमनुसन्धानपूर्वकं वाध्ययनं कुर्यात् तस्यापि दृढा केनापि तिरो-धापयितुमशक्या रतिर्बीजरूपभावरूपा स्यादाविर्भवेत्, किं पुनरेतदुक्तप्रकारकमजन-कर्तुरिति दिक् ।

श्रीमद्ब्रह्मविद्ब्रह्मभगवच्चरणाब्जरेणुकणकृपया ।

कृतवान् जयगोपालष्टीकां श्रीभक्तिवर्धिण्याः ॥ १ ॥

मूर्ध्निर्लि ननु विधाय निधाय भूयो भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।

यत्किञ्चिदत्र मयका लिखितं भवद्भिस्तत्पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभार्यचरणैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविद्ब्रह्मेश्वरकृपा-

कटाक्षोद्बुद्धिना श्रीमच्चिन्तामणिदीक्षितात्मजेन जयगो-

पालेन विरचिता भक्तिवर्धिनी टीका ॥

श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ।

भक्तिवर्धिनी ।

दीक्षितलाल्भट्टकृतविवृतिसमेता ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् विद्ब्रह्मेशांश्च मत्प्रभून् ।

यत्कृपातो भवेत्प्राप्तिः (श्री)गोवर्धनगिरिशितुः ॥ १ ॥

अथ श्रीब्रह्मभार्यचरणाः पुष्टिमक्तानां नित्यलीलाप्रवेशाख्यस्वमार्गीयफलप्राप्त्यर्थं तत्कारणभूतां बीजभावात्मिकां तापात्मकसूक्ष्मस्नेहरूपां भक्तिं वर्धयितुं तत्प्रकारनिरूपणं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादिना ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्बीजभावरूपा प्रकर्षेण वृद्धा सर्वात्मभाववस्थापन्ना स्यात्त-थोपायः त्यागात्यागविभेदेन श्रवणादिरूपः पूजादिरूपश्च निरूप्यते इत्यर्थः । इह

भक्तेर्वृद्धधुपायकथनप्रतिज्ञया भक्तिसत्ता सूचिता । अतो बीजरूपा पुष्टिभक्तिः पूर्वं पुष्टि-जीवेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तते एवेति बोध्यम् । अन्यथा यथा भक्तिरुत्पन्ना स्यादिति प्रतिज्ञायेत । उत्पन्नाया एव वृद्ध्यादिमावाहृत्वात् । अतः पूर्वं पुष्टिभक्तेः सूक्ष्मरूपेण सत्ता ज्ञापिता । सैव पुष्टिभक्तिर्बीजभावश्चन्देनोच्यते । इयमेतद्ग्रन्थोदितप्रकारेण वृद्धा सती सर्वात्मभावा-वस्थां प्राप्य नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलं साधयिष्यतीति सिद्धान्तनिष्कर्षः । बीजभावे इति । बीजरूपे भावे सूक्ष्मभक्त्यात्मके दृढे सति स्यात्, भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । बीजभावदार्यं कथं स्यादित्याकांक्षायामाहुः त्यागात् श्रवणकीर्तनादिति । गृहादि-त्यागपूर्वकं भगवत्कथाश्रवणाद्बीजदार्यं भवतीत्यर्थः । गृहादेर्विषयासक्तिसम्पादकतया भजनप्रतिबन्धकत्वेन गृहादित्यागो भजने मुख्यमङ्गम् । 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्भरिमाश्रयेत्' इति प्रह्लादवाक्यात् । अत एव निबन्धे भगवदुक्तश्लोकयोरेवं दृश्यते 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति ।

एवं मुख्यतया पूर्वं त्यागपक्षमुक्त्वा तादृशजितेन्द्रियत्वादिगुणरहितस्य त्यागे दोषा-धिक्याद् बीजदार्यं प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः इत्यनेन ।

बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गृहे बीजदार्यप्रकारस्त्वित्यन्वयः । गृहे बीजदार्यप्रकारमाहुः स्थित्वा स्वध-र्मत इत्यादिना । गृहे इति सप्तम्यन्तं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । स्वधर्मत इति । वेदोक्तवर्णाश्रमधर्मत इत्यर्थः । तथा च विहितप्रकारेण गृहस्थाश्रमे स्थित्वा भक्ति-मार्गप्रकारेण कृष्णं भजेत् । यद्यपि 'अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबुद्धत' इति द्विती-यस्कन्धवाक्यात् गृहाश्रमस्य फलप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि भगवद्भजनं कुर्वाणस्य न गृह-स्थाश्रमः प्रतिबन्धकः । 'गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्गतायातया-मानां न बन्धाय गृहा मताः' इति भगवद्वाक्यात् । अस्मिन्वाक्ये 'कुशलकर्मणा'मित्यनेन निषिद्धानां निवृत्तिः सूचिता । कुशलकर्मणामित्यस्य व्याख्यारूपं स्वधर्मत इति पदमाचा-र्यवर्यैरुक्तम् । अत एव भगवता द्वितीयोऽत्यागात्मापि पञ्चः सफलो निरूपितः 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।' इति । अव्यावृत्त इति । 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति वाक्याद्भगवान् गृहस्थाश्रमनिर्वाहकं धनादिपदार्थं स्वत एव सम्पादयिष्यतीति विश्वासेन धनाधर्जनाभि-निवेशं त्यक्त्वा श्रीकृष्णं निरन्तरं भजेदित्यर्थः । कथं भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । पूजयेति । मन्दिरमार्जनादिरूपया परिचर्ययेत्यर्थः । श्रवणा-दिभिरिति । श्रीमद्भागवतोक्तदशविधलीलायुक्तस्य भगवतः श्रवणादिभिरित्यर्थः । 'तस्मा-

द्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय'मिति शुक्रवाक्यात् । 'दशविधलीलायुक्तस्य श्रवणादि कार्य'मिति सुबोधिन्यां निर्णतित्वात् । दशविधलीलास्तु भागवते प्रतिपादिता इति भागवतं श्रवणादिविषयीकार्यमिति फलितम् । एवं सति सेवां विधाय तदनवसरे भागवतश्रवणादि कार्यमिति विभागोवगन्तव्यः । एवं वर्तमानस्य गृहेपि संसारावेशाभावात् बीजदारब्धं भवति । ततो भक्तिवर्धिष्यते इति भावः । ननु यस्य भक्तिः सूक्ष्मावस्थारूपस्य बीजभावस्य सर्वात्मभावान्तावस्था भवतीत्युक्तम्, कोसौ बीजभावः ? कदा कुत उत्पद्यते इति चेत् । शृणु । सृष्ट्यादौ 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां चिदंशानां भगवदिच्छया तिरोहितानन्दत्वेन प्राप्तजीवभावानां - भगवदिच्छयैवाविद्यासम्बन्धः । ततो देहाध्यासादिस्वरूपविस्मरणान्तानि पञ्चपर्वाणि सम्पद्यन्ते । ततस्तेषु जीवेषु सदसद्वासनाभेदेन दैवत्वमासुरत्वं विदधाति भगवान् । तत्र दैवजीवेषु यान् पुष्टिमार्गीयान् कर्तुमिच्छति, तेषु स्वविषयकां सूक्ष्मरूपां रतिं स्थापयति । सा बीजभावशब्दाव्याख्या । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् कारणत्वेन बीजत्वात् । सा रतिः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावानां बीजरूपेति बीजभावशब्देन व्यवहियते । एवमत्यागपक्षे व्यावृत्तिराहित्येन भगवद्भजनं मुख्यः पक्षः ॥ २ ॥

तदसम्भवे गौणं पक्षमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

भगवत्सेवानवसरे व्यावृत्तिं कुर्वाणोपीत्यर्थः । श्रवणादाविति । 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्चे'त्यत्र उक्ता ये श्रवणादयस्तेर्भजेदित्यर्थः । व्यावृत्त्यवसरे पूजाया असंभवात् श्रवणादिमात्रमत्रोक्तम् । अव्यावृत्तस्य तूभयं संभवतीति पूजाया श्रवणादिभिरित्यनेनोभयमुक्तम् । ततः प्रेमेत्यादि । एवं भगवन्तं मजतः प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण भवन्ति । सूक्ष्मभक्तिबीजभावरूपा पूजाश्रवणादिभिः प्रवृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः । बीजं तदुच्यते इति । व्यसनावस्थायां सिद्धायां बीजभावस्य दारब्धं संपन्नमिति बोध्यम् । नापि नश्यतीति । न तिरोभवतीत्यर्थः । सत्प्रतियोगिनोऽभावस्य तिरोभावानतिरेकात् । अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुबोधिन्यां निर्णतित्वात् ॥

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

प्रेमावस्थायाः कार्यलक्षणमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । आसक्तेः कार्यलक्षणमाहुः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति । गृहपदं गृहस्थानामुपलक्षणम् । अरुचिरिति । नात्रारुचिशब्देन रुच्यभावः । तस्य स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यनेन पूर्वं स्नेहकार्यत्वेनोक्तत्वात् । अतोत्रारुचिशब्देन रुचिविरुद्धो भावः । विरोधार्थं नञः स्मरणात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्याः षट् प्रकीर्तिता' इति वाक्यात् । स च बाधकत्वस्फूर्तिरूप इति स्वयमेव व्याचक्षते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । तथा च भगवदितरविषयकबाधकत्वस्फूर्तिसंपादको भाव आसक्तिरिति कार्यलक्षणमासक्तेः । आसक्तेर्लक्षणान्तरमाहुः अनात्मत्वं च भासते इति । देहस्येति शेषः । तथा च देहात्मभावनिवर्तको भगवद्भाव आसक्तिरिति लक्षणान्तरमासक्तेः । यदा स्याद्द्व्यसनमित्यादि । द्व्यसनमिति । विशेषेण अस्यते क्षिप्यते दूरीक्रियते अन्यसम्बन्धो येन तद्व्यसनं भगवत्यात्मभाव इति यावत् । एवं भगवत्यात्मभावो निरुपाधिकस्नेहो व्यसनमिति फलितम् । अत एव 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति व्यसनभाववतीभिर्भगवत्यात्मत्वमभाणि । 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेरात्मसम्बन्धादेवान्यस्य प्रियत्वं लोके, एवं ब्रजसुन्दरीणां भगवत्सम्बन्धादेव स्वदेहादौ प्रीतिविषयत्वम् । अत एव 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत' इत्युक्तं तामिः । 'त्वदर्थं प्राणधारण'मित्याशयो विवृतः श्रीमदाचार्यवर्यैः । अतस्तादृशो निरुपधिभावो व्यसनशब्दार्थः । अत एतादृशे व्यसनात्मके भावे सिद्धे युक्तैव कृतार्थतेति बोधयितुं यदा स्याद्द्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हीति दिशब्द उक्तः । कृतार्थ इति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः । भगवन्मूर्तिं परिचरतो जातव्यसनाख्यभावस्य भगवत्साक्षात्कारो भवेत्, तदानेकप्रकारकं भगवदाज्ञादिजन्यं सुखविशेषमनुभवेद्, अतः कृतार्थता सिध्यतीति बोध्यम् ।

एवं भगवदाविर्भावेन लीलावलोकनादिरूपं भगवत्सम्बन्धिसंयोगसुखमनुभवतोपि भगवद्विरहजन्यविलक्षणसुखानुभवराहित्यान्न पूर्णफलप्राप्तिः, अतो द्वितीयदलानुभवार्थं साधनमाहुस्तादृशस्यापीत्यारभ्य त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस इत्यन्तेन ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

तादृशस्येति । प्राप्तव्यसनभावस्येत्यर्थः । गेहस्थानं विनाशकमिति । गेहे स्थितौ हि भगवत्सेवया भगवदाविर्भावेन संयोगानुभवसिद्धौ न वियोगानुभवो भवेत्, अतः फलपूर्णतायां गृहस्थितेः प्रतिबन्धकत्वाद्दिनाशकतोक्ता । अतो 'विरहानुभवार्थं न परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयग्रन्थोक्तं त्यागमुपदिशन्ति त्यागं कृत्वा

यनेदिति । यतोयं विलक्षणस्त्यागोत एव तदर्थार्थैकमानस इति विशेषणमुक्तम् । स चासौ अर्थः तदर्थः 'पुरुषार्थरूपो भगवान्' तदर्थं तत्प्रयोजनकमेव मानसं यस्येति विग्रहः । पुष्टिमार्गं हि भगवानेव पुरुषार्थः । 'त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मे'ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यात् । 'तावांस्तेहं चतुर्विधं' इत्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धवं प्रति भगवद्वाक्याच्च । तथा च भगवदर्थमयं त्यागो विरहे सर्वदा अन्तर्भगवत्स्फुरणार्थः । न तु 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यनेनोक्तोयं त्यागः । तत्र तु 'हित्वात्मपातं गृहमन्ध-कूप'मिति वाक्यात्पातहेतुत्वं गृहस्थितेः, अतो गृहत्याग उक्तः । स त्यागस्तु 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यनेन पूर्वमुक्तः । अयं त्यागस्तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यत्रोक्तप्रकारेण वर्णाश्रमधर्मतः स्थितस्य पूजाश्रवणादिना व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं विहितः । अतोस्मिन् त्यागे प्राप्तव्यसनभावोधिकारी । 'तादृशस्यापि सतत'मित्यत्र तादृशशब्देन 'यदा स्याद्वासनं कृष्णं' इत्यनेन पूर्वमुक्तस्य व्यसनभाववतः परामर्शात् । अतोयं त्यागो विरहानुभवार्थ एवेति निर्धारः ।

एतादृक्त्यागकर्तुः फलमाहुः लभते सुदृढां भक्तिमिति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकाम पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गास्तथाह्वतः ॥ ७ ॥

सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतः प्रेमासक्तिव्यसनतोधिकामित्यर्थः । परां सर्वात्मभावरूपामित्यर्थः । वियोगे हि सर्वात्मभावो भवतीति तृतीयाध्यायभाष्ये निरूपितम् । तदत्रापि व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं कृतत्यागस्य भगवद्विरहानुभवक्लेशजन्य-भगवत्सम्बन्धात्सर्वत्र भगवानेव स्फुरतीति सर्वात्मभावसिद्धौ न किञ्चित् कर्तव्यम-वशिष्यत इति बोध्यम् । एवं गृहस्थितिपक्षे भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य 'त्यागाच्छ्रवण-कीर्तना'दिति पूर्वमुपदिष्टे त्यागे बाधकाभावं साधयितुं बाधकस्वरूपनिरूपणपूर्वकं त्याग-प्रकारमाहुः त्यागे इति । त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिना कामादिषट्कजन्यानां बाधकानां भूयस्त्वमित्यर्थः । दुःसंसर्गादिति । 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदु'रिति वाक्यात् । जीवे हि कामादिदोषाः सदैव तिष्ठन्ति । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सह षट्सपत्न' इति वाक्यात् । तथा च दुःसङ्गदुरन्नाभ्यां तस्य कामादिषट्कस्योद्बोधे तज्जन्यानां बाधकानां बाहुल्यं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अतःपरं बाधकहेतुकामादयो येन निवर्तन्ते तं उपायमाहुः अतः स्थेयमिति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

हरिस्थाने गोवर्धनादौ, तत्रापि तदीयैः तत्परैः सह स्थेयम् । 'स एव साधुषु कृतो भोक्षद्भारमपावृत'मिति वाक्यात् । एवं गृहस्थितिगृहत्यागपक्षौ सप्रकारं निरूप्य अन्यतर-

साधनावस्थापन्नस्य पक्षद्वये अनुगतं मुख्यसाधनमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । भगवत इति शेषः । गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरे निकटे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेर्विप्रकर्षे दूरे स्थितावपि चित्तदोषो यथा न भवेत्तथा स्थेयमित्युपदेशः । 'चित्तः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवा-क्यात्, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'रिति वाक्यान्तराच्च चित्तस्यैव सर्वत्र मुख्या कारणतेति तस्मिन्दोषोत्पत्तौ सर्वनाश इति चित्तस्य निर्दोषतायै दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं सत्सङ्गादि सम्पाद्य सावधानतया स्थेयमिति भावः ॥ ८ ॥

कथं चित्तं निर्दुष्टं स्यादित्याकांक्षायां पूर्वोक्तमुपायं स्मारयन्ति सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

गृहस्थितिपक्षे सेवाम्, त्यागपक्षे कथाम्, यस्यासक्तिर्भक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं कापि दुर्देशे दुष्टकालेपि नाशो बुद्धिभ्रंशरूपो न भवेत् । अन्यथा चित्तदोषे विषयध्यानात् 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यती'त्यन्तेन निरूपितो नाशः स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

ननु कृतत्यागस्य भगवदीयसङ्गादप्येकान्ते स्थितिरेव समीचीना, भजनप्रतिबन्ध-दुःसङ्गसंभावनाया अप्यभावादित्याकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यद्यप्येकाज्जे दुःसङ्गादिदोषो नास्ति, तथापि व्याघ्रादिभयरूपबाधसंभावना यत्रास्ति, तत्र वासो न इष्यते, न इष्टप्रापको, मनसश्चाञ्चल्यापादकत्वेन भगवद्भजनप्रति-बन्धकत्वादित्यर्थः । ननु सर्वरक्षको भगवान् व्याघ्रादिभ्यो भक्तान् कथं न रक्षतीत्याकां-क्षायामाहुः हरिस्त्विति । 'रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्ना'निति वाक्यात् सर्वथैव भगवान् रक्षति, तथापि तादृग्विश्वासाभावेन मनश्चाञ्चल्यं स्यादेव, ततो भजने प्रतिबन्धो भवेत् । अतस्त्यागपक्षे हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ भगवदीयैः सह स्थितिरेव श्रेयस्कारिणी । 'संसारेस्मिन्क्षणाधोपि सत्सङ्गः शेषधिनृणा'मिति भागवतवाक्यादिति भावः । अपि च एकान्ते स्थितौ हि रक्षणार्थं भगवति भारो देयः । स च खेहविरुद्धः । हरिस्थाने भगव-दीयैः सह सङ्गे तु सोपि दोषो नास्तीति त्यागपक्षे भगवत्स्थाने भगवदीयैः सह स्थित्वा भगवद्भजनं कार्यम् । तेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्ति । ततो भगवदाविर्भावः । ततो

लीलावलोकनादिसिद्धिः । ततो भगवद्दत्तविरहेण सर्वात्मभावः । तेन नित्यलीलाप्रवेश इति सुगमः पन्था आर्याणाम् ।

श्रीमद्विठ्ठलनाथाङ्घ्रिजःसम्बन्धभागिने । बालकृष्णो मम स्वामी मह्यं भक्तिं प्रयच्छतु ॥१॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लाल-
भट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमगमत् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

विवृतिसमेता ।

भक्तिकल्पलताबीजस्थायिभावात्मने स्वतः ।

पुष्टिजीवहृदिस्थाय श्रीमद्भगवते नमः ॥ १ ॥

भक्तिकल्पलतोत्पत्तिवृद्धिदोहददायकान् ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभून् दीनानुकम्पिनः ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणैः स्वमार्गीयाणां ब्रह्मसंबन्धकरणानन्तरं दासधर्मत्वात् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये' त्युक्तम्, सा च 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति, तस्याश्च मानस्याः फलरूपता, तत्साधनं च तनुवित्तजेति सिद्धान्तमुक्तावल्यां सामान्यतो निरूपितम् । तत्र प्रकारजिज्ञासायां विशिष्य वक्तुं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिरनुद्धृता स्थायिभावात्मिका बीजरूपा पुष्टिमार्गीया भगवद्विषयिणी रतिर्या तापक्लेशपदेन निवेदनमन्त्रे निर्दिष्टा, अत एव साधनदशायां तदभिव्यक्त्यभावात् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति अवश्यकर्तव्यतोक्ता । प्रेमाङ्कुरेभिव्यक्ते कर्तव्यता नोच्येत, तत्स्वभावादेव कार्येनुप्रवृत्तेः । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्यभिव्यक्तस्वरूपनिर्देशः । तदर्थमेव च 'तत्सिद्धौ तनुवित्तजे'ति निरूपितम् । सा यथा प्रकर्षमभिव्यक्तिं प्राप्य प्रेमरूपेणाङ्कुरभावमासाद्य चेतस्तत्प्रवणरूपा भूत्वा तेनैव तथात्वनियमात् । क्रमेणासक्तिव्यसनाभ्यां बद्धमूला

दृढा सती वृद्धिमवाप्य 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युत्तरोत्तरसंकल्पैर्निद्राच्छेदाद्यनुभावयन्ती मानसी फलरूपा स्यात् तथोपायो निरूप्यत इत्यर्थः ।

तत्राधिकारी द्विविधः, अदृढबीजभावो दृढबीजभावश्च । द्वैविध्ये बीजं भक्तिर्हंसे निरूपितम् । 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेने'ति । तत्र प्रथमं द्वितीयस्य कर्तव्यमाहुः बीजेति । 'रतिर्देवादिषियिणी भाव इत्यभिधीयत' इति बीजमृतो यो भगवद्विषयको रत्यात्मको भावः स्थायिभाव इति यावत् । तेनैव पुष्टिमार्गीयत्वं तेषामुच्यत इति । भगवदनुग्रहादेव तत्सत्त्वादिति यथा तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादायां द्रष्टव्यम् । अत एव 'तद्भ्रजस्त्रिय आश्रुत्ये'तत्र टिप्पण्यमुक्तं 'एतेन श्रुतं सर्वैः स्थायिभावोत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनमिति शङ्का निरस्ते'ति । स भगवदिच्छया अनुग्रहप्राप्त्येन दुःसङ्गाद्यनभिमृतोऽत एव दृढो वक्ष्यमाणस्वरूपो यस्यास्ति तस्य तु बाधकगृहादिसर्वत्यागाच्छ्रवणकीर्तनाच्च भक्तिः पूर्वोक्ता प्रवृद्धा फलरूपा स्यात्, तस्य नान्यत् कर्तव्यमस्तीति भावः । श्रवणस्यान्यसापेक्षत्वात् कीर्तनस्यापि तत्साधकत्वज्ञापनाय समस्तं पदमेकवचनं च । अत एवोपसंहारे एतद्वन्धपाठमात्रस्यापि दृढरतिप्रतिपादकत्वं वक्ष्यते । अथवा । समाहारद्वन्द्वः । तेन समुच्चयस्यैव हेतुत्वमिति समास एकत्वं च । बीजभावे दृढ इति सति-ससमी । तुशब्द इतरव्यावर्तकः ॥ १ ॥

प्रथमस्य साधनान्तरमाहुः ।

बीजदाह्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, 'सार्वविभक्तिकस्तसिद्ध', दासधर्मेण ममायमेव धर्मः, एतदकरणे सर्वस्वहानिरेवेति स्वतन्त्रपुरुषार्थबुद्ध्या इतरव्यावृत्तिरहितः कृष्णं सदानन्दं सेवेत । पूजया भक्त्या । 'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः कश्चित् । परिचर्या सदा कुर्याद्ब्रह्मप्रक्षालनादिभिः । अलंकुर्वीत सप्रेम वक्षैराभरणैरपि' इत्यादिस्वारस्यात् स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधेरनतिक्रमाय पूजापदम् । विधिप्रधानत्वात् तस्याः । अत एव भक्तिर्हंसेपि तथैवोक्तं प्रभुचरणैः 'स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव नियामक' इति । स चात्र श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट एव, न तु ताभिरिति ज्ञेयम् । स च 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् । श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेजिज्ञासुरादरा'दिति वाक्यात् तदनुसार्येवेति हृदयम् । साक्षात् श्रीमदङ्कुरेभिव्यक्तं श्रवणादिकं विधेयम् । 'सप्रेमे'ति सर्वत्रानुषज्यते । वक्तुरभावे स्वयमेव कीर्तनम् । आदिपदात् स्मरणं च सर्वदा । पादसेवनमित्युपलक्षणम् । वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपसेवनमेव तत् । यद्यपि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यत्र श्रवणादिप्रयानन्तरं पादसेवनमुक्तम् । तच्च मर्यादायां भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य गुरूपदेशमात्रेण मञ्जनमिच्छतः प्रथमप्रवृत्तौ माहात्म्यज्ञानेन श्रवणेन्द्रियमनोदोषनिवृत्त्या शुद्धिसंपादनेन

‘शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य’ इति वाक्यात् साक्षात् भगवत्सेवने अधिकारसिद्ध्यर्थं प्रथमत एव श्रवणं, कीर्तनं स्मरणमित्युक्त्वा अग्रे पादसेवनमुच्यते । अत्र तु भगवदाज्ञया श्रीमदाचार्यैरादावेव सर्वसमर्पणेन ब्रह्मसंबन्धकरणात् तेनैव सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसेवाधिकारो जात इति स क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम् । तदुक्तं ‘ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि’ इति सिद्धान्तरहस्ये साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति । नवरत्ने चेत्येवमेवाशङ्का समाहिता । तथा च अरुणोदयात् प्रागुत्थाय स्वयं स्नानादिकं विधाय भगवन्मन्दिरे गत्वा मन्दिरपात्रादिसंशोधनं, सिंहासनसंस्कारः, बालभोगसजीकरणं, ततः प्रबोधस्तवैः भगवद्बोधनं, शीतादिसमयोचिततूलकञ्चुकप्रावरणादि परिधाप्य, सिंहासने उपवेश्य, बालभोगं समर्प्य, शीताधिक्ये हसन्तीमुपनिधाय, स्नानसामग्रीं सुगन्धतैलतप्तोदकादि अङ्गवस्त्रशृङ्गारवेशोचितवस्त्रालङ्कारादि सर्वमुपस्थाप्य, समये जाते, बालभोगमपनीय, आचमनं मुखवस्त्रताम्बूले समर्प्य, दर्पणं प्रदर्श्य, तत्सामयिकशोभामवलोकयन् मङ्गलनीराजनां कुर्यात् । एवं स्नानशृङ्गारमारभ्य श्रीमदाचार्यनिर्दिष्टप्रकारेण शृङ्गारभोगगोपीवल्लभगोपालराजभोगोत्थापनसन्ध्याशयनपर्यन्तं यथायथं परिचरणमेव पादसेवनमित्यर्थः । अर्चनं च पूजनम् । तद्धि पूज्ये उत्कर्षख्यापकम्, सर्वोत्कृष्ट एव पूज्यो भवतीति । प्रकृते च पूज्यो भगवान् पुरुषोत्तमः, तत्रापि श्रीयशोदोत्सङ्गलालितः, तत्रापि कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीगोपीजनवल्लभः, तत्रापि श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरूपः, तत्र च श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहपक्षपातेन स्वरचितशृङ्गारादिपरिष्कारप्रकाशमानं शोभातिशयविशेषमङ्गीकारसूचकमवधार्य परमोत्साहभरेण त्रिवशतया सूर्ये दीपदानमिव धूपदीपनैवेद्यताम्बूलागुरुसारादिसुगन्धपुष्पमालादिभिरभ्यर्च्य एतादृशे स्वसर्वस्वरूपे कस्यापि दृष्टिदोषसंक्रमो माभूदिति परमप्रेम्णा नीराजनां सर्वदोषनिवृत्त्या ‘निःशेषेण राजयती’ति व्युत्पत्त्या अपूर्वशोभाप्रकाशिकां नीराजनां कुर्यादित्यर्चनम् । ततश्च परिक्रमणेन स्वात्मानमपि प्रभोरुपरि निर्मञ्च्य परमाणुना मया किं कर्तुं शक्यमिति परमदैन्येन दण्डवत्साष्टाङ्गं प्रणमेदिति वन्दनम् । ततो दास्यं शय्यादिरचना । तत्र चाधिशयाने प्रभौ व्यजनचरणसंवाहनादि च । ततो मुकुलितनयने प्रभावनवसरं विधाय श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृतपुष्पमालादिभिश्चर्चितः परमाह्लादपूर्णो भगवन्मन्दिराद्वहिरुत्स्य ‘उच्छिष्टभोजिनो दासाः’ इति वाक्यात् साक्षादधरामृतकरम्बितं बाह्याभ्यन्तरशोधकं परमसौभाग्यसंपादकं महाप्रसादं सेवकादिभ्यो विभज्य सेवेत । ततश्च क्षणं विश्रम्योत्थाय वस्त्राभरणादिसेवया तदभावे तादृशैः कृतात्मनिवेदिभिः समानशीलव्यसनैर्भगवदीयैः शक्तितात्पर्यावधारणपूर्वकं श्रीभागवतसुबोधिन्यादिश्रवणम् । तथैव कीर्तनम् । तत्तल्लीलाशोभादीनां स्मरणं च कुर्वाणो यावदुत्थापनं दिनं वेणुगीतोक्तप्रकारेण नयेत् । ततश्चोत्थापने जाते कन्दमूलफलादि तत्तदार्तवं समर्पयेत् । अत्र च पुलिन्दीसौभाग्यं

संभावयेत् । ततो भगवदुत्थापनशङ्खनिवेणुनादोत्थनिजनिजाह्वानाभिधानश्रवणोत्साहसमुद्भूतलाङ्गलसहर्षदुःखारोलसितमुखीर्षेणः पुरस्कृत्य, साक्षिभिर्गोपवृन्दैरनुगीयमानचरितं ‘तं गोरजश्छुरिते’त्यादि वर्ण्यमानस्वरूपं भावोद्धारिणीर्मिर्दृष्टिभिः श्रीमद्भ्रजसीमन्तिनीपरितापं परिहरन्तं गोपीद्विगुत्सवदृशं ब्रजे प्रविशन्तं परिभाव्य, घेनूस्तत्तद्रोष्ट्रे निवेश्य, निजमन्दिरमलंकुर्वाणं प्रभुं वन्यपुष्पादिभिरलंकृतं पयोमोदकादिभिर्यथालब्धैर्भोगोपचारैरभ्यर्च्य, सान्ध्यनीराजनां विधाय, क्रमेण प्रेम्णा शृङ्गारं बहुस्कृत्य उन्मज्जनसायन्तनवस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृत्य, दुग्धफेनं समर्प्य, यथालाभमिति सर्वत्र ज्ञेयम् । ‘यथालब्धोपचारकै’रिति वाक्यात् । ‘स्वाद्भ्रजमुपलालित’मिति प्रकारकं शयनभोगमुपनीय, ताम्बूलमाल्यादिभिरलंकृत्य, शयननीराजनां कुर्यात् । ततश्च शय्यामधिशयिते प्रभौ नमस्कृत्य, अनवसरं विधाय, बहिर्निःसरेत् । इदमेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे ‘एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजये’दिति । ततो यथोचितं प्रसादादि संसेव्य तादृशैः श्रवणकीर्तनादि कुर्वन् परमानन्दमनुभवन् विश्रमेदिति दास्यं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम् । यद्यपि सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव संपद्येते, तथापि ‘तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे’ इत्यत्र निवेदनाङ्गीकारचिन्ताऽभावनिरूपणेनैव सख्यसिद्धिरपि निरूपिता । तथापि साधनदशायां निरोधलक्षणोक्तभावनावत् तदनुकूलान्तरङ्गसेवा भावनीया । निवेदनं च ब्रह्मसंबन्धसमये समर्पितानां पदार्थानां यथायथं तत्रैव विनियोगः ॥ २ ॥

सर्वथा व्यावृत्तिराहित्याभावेपि प्रकारमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं निधायेति व्यावृत्तिसमयेपि ‘पानीयहारिणी यद्’दितिवत् हरावेव चित्तं निधाय व्यावृत्तिं कुर्यादित्यर्थः । अनन्तरं च श्रवणादौ सदा यतेत् । इदमेवाभिप्रेत्योक्तं निबन्धे ‘सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये’दिति । एवं सर्वदा भजतः फलमाहुः तत इति । एवं भजतः प्रथमं भगवति स्नेहः स्यात्, पूर्वोक्तो बीजभावोऽङ्कुरितः स्यादित्यर्थः । ततः क्रमेणासक्तिर्भवेद्, भगवत्स्वरूपे चक्षुरागो भवेत् । तदाङ्कुरो द्विपत्रितो जात इति ज्ञेयम् । ततश्च क्रमेण व्यसनम् । विशेषेण अस्यन्ते तदितरे सर्वे विषया येन, तं विना स्थातुमशक्तिरिति यावत्, तद्भवेत् । ततश्च सङ्कल्पा उत्तरोत्तरं पल्लवस्थानीया भविष्यन्ति । एवं व्यसने जाते तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यद्यस्मान्नाशहेतावपि यन्न नश्यति ॥ ३ ॥

तत्र हेतुभूतं तस्य साधारणं कार्यमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
 गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
 यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
 तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवति स्नेहे जाते गृहादौ तदितरत्र सर्वत्रैव रागो निवर्तते, स्नेहपदार्थस्यैव तथात्वात् । तत्रासक्तौ जातायां गृहादावरुचिर्भवति, तत्प्रीतिजनकं न भवतीत्यर्थः । न केवलमरुचिमात्रम्, किन्तु एते मम बाधका अनात्मीया इति बुद्धिर्जायत इत्याहुः गृहस्थानामिति । सम्बन्धमात्रे षष्ठी । गृहस्थितेषु स्त्रीपुत्रादिषु ममताविषयेषु स्पष्टम् । तदेवमासक्त्या सेवतः यदा कृष्णे फलरूपे व्यसनं तदितरसर्वविषयनिवृत्तिपूर्वकं तं विना स्यातुमशक्तिर्भवेत्, तदा कृतः सम्पादितः अर्थः यदर्थं तनुवित्तजायां प्रवृत्तः बीजदार्यरूपः पुरुषार्थो येन तादृशः स्यात् । अत एव बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढमिति पूर्वमुक्तम् । एवकारेण अन्यथा तदभावः । तत्सत्त्वेन तत्सिद्धिनिश्चयोपि हिशब्देन सूचितः । एवं बीजभावे दृढे जाते यथा द्वितीयाधिकारिणस्त्यागः श्रवणकीर्तनञ्च साधनमुक्तम्, तदेवास्यापि वक्तुं हेतुमाहुः तादृशस्यापीति । गृहादावरुचिमतोपि बाधकत्वस्फूर्तिमतोपि भगवदेकव्यसनवतोपि निरन्तरं गृहस्थितिर्विशेषण भावनाशिका ।

अत्रायं भावः । 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्यादिना विरागस्योक्तत्वाद् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुतेरवसरस्य प्राप्तत्वात् त्याग उपदिश्यत इति नानुसन्धेयम् । तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् । प्रकृते च पुष्टिमार्गीये बीजभावे दृढे व्यसनात्मके जाते तस्य च तं विना स्यातुमशक्तिरूपत्वात् विप्रयोग एवानुभावक इति सततं गृहस्थितौ स्वरूपासक्तस्य आसक्त्या, स्वरूपसेवां कुर्वतः, सेवारसावेशेन परमानन्दानुभवेऽस्वास्थाभावात् पूर्वाक्तो भावः प्रवृद्धो न स्यात्, 'भगवता सह संलाप' इत्यादि संकल्पा निद्राच्छेदादयश्च दशा न भवेयुः, क फलरूपमानसीसेवासंभावनेति विमृश्य 'त्यागं कृत्वे'त्युक्तं श्रीमदाचार्यैरिति तादृशस्यापि सततमित्यादि पदसमभिव्याहारादवगम्यते । अन्यथा सततपदत्रैयर्थ्यं च । अत एव स्वमार्गीयत्यागस्वरूपमुक्तं सञ्चासनिरणये 'विरहानुभवार्थं हि परित्यागः प्रशस्यते । स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोत्र न चान्यथे'ति । त्यागे स्वीयानां बन्धकत्वाभावे स वेशोपि न कार्य इत्याशयेन । अतो नायं वैषस्त्याग इति हृदयम् । तस्मिन् वेशस्यापि अङ्गत्वात् । एतद्यथा तथा संन्यासनिरणये विशेषेण भावनीयम् । अत एव अन्याधिकारिणः साधननिरूपणे 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यार्थिक एव त्याग उक्तः ॥ ५३ ॥

प्रथमस्यापि व्यसने जाते बीजस्य दृढत्वात् तथाधिकारो जात इति तदेव साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
 लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

बाधकत्वाद्गृहादि सर्वं त्यक्त्वा स एव फलरूपमानसीसेवारूपो योर्थः पुरुषार्थः स एवार्थः प्रयोजनं तस्मिन्नेवैकं मुख्यमेकाग्रं वा मानसं मनो यस्य एतादृशः सन् श्रवणकीर्तने यो यतेत् स सर्वतोभिकां मुक्तेरप्यधिकां परां फलरूपां सुदृढां प्रशुणाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । स्वमार्गीयैः सजातीयैरेव श्रवणादिकम्, न तु विजातीयैरन्यमार्गीयैर्वेति धात्वर्थेन ज्ञापितम् ॥ ६३ ॥

त्यागे बाधान्तरमाशङ्क्य परिहरन्ति त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागानन्तरं स्वमार्गीयत्यागस्वरूपाज्ञानात् सजातीयबुद्ध्या अन्यमार्गीयैः त्यागिभिरेव सङ्गो भवेत्, स च दुःसंसर्ग एव, भाववैजात्यात् । तदुक्तसाधनप्रवृत्तौ मार्गीच्युतो भविष्यतीत्यर्थः । तथान्नतोपि बाधः । तैः सह सर्वत्र भिक्षया असमर्पितभक्षणेन बाहिर्मुख्यमेव प्रतिदिनमुपचीयेत, दूरतरा भाववृद्धिः । अतस्त्यागं कृत्वा हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ यत्र पूजाप्रवाहः स्यादित्याद्युक्तम् । तदीयैर्भगवत्संबन्धिभिस्तत्परैः सर्वत्यागपूर्वकसेवाश्रवणकीर्तनपरैर्दृढबीजभावैः सजातीयैः सह स्थेयम् । एतेन दुःसंसर्गदोषो निवारितः । हरिस्थान इति । 'वस्त्रप्रक्षालनादिभि'रिति वाक्याद्यथासंभवं सेवापि सूचिता । प्रसादलाभादन्नदोषोपि परिहृतः । स्वमार्गीयश्रवणादिसिद्धिरप्युक्ता । तत्रापि 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन बाधमाशङ्क्य परिहरन्ति अदूरे विप्रकर्षे वेति । स्पष्टम् । निर्गलितार्थमाहुः, यथा चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयमित्यर्थः । वस्तुतस्तु सेवायामिति, सेवायां वा कथायां, वा विकल्पे समुच्चये वा, यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं कापि भगवत्स्थले अन्यत्र वा, सजातीयेषु इतरेषु वा, तिष्ठतोपि नाशो न भवेदिति मे मतिः । तेन स्वानुभवस्यैव प्रामाण्यमुक्तम् । तथापि 'पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय' इत्याहुः 'बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यत' इति । वस्तुतस्तु 'हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः' । भक्तानां सर्वदुःखहर्ता हरिः, अन्यथा तथात्वमेव न स्यात् । अत एव

भजने प्रवृत्तस्य सर्वतो रक्षामेव करिष्यति । अत्र संशयो न विधेयः । अत्र विशेषः संन्यासनिर्णये द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् । अथाधुनिकेभ्यः कुटुम्बव्यावृत्तिविवशेभ्यः स्वकीयेभ्यो महाकारुणिका वरदानमिव प्रयच्छन्त आहुः य एतदिति । सेवाश्रवणाद्यसंभवे य एतद्भक्तिवर्धिनीस्तोत्रं सम्यगर्थवधारणपूर्वकं समधीयीत तस्यापि बीजभावरूपा स्थायिभावात्मिका रतिर्दृढा स्यादित्याशीर्दानम् ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यकृपया तद्वाचामर्थसङ्गतिः । प्रादुरासीन्मम स्वान्ते तन्मयेत्थं निरूपितम् ॥१॥ न प्रौढ्या साक्षिणस्तत्र त एव प्रभवो यदि । जीवत्वादन्यथा प्रोक्तं क्षमन्तां करुणार्णवाः २ इति श्रीमद्भक्तिवर्धिनीविट्तिः संपूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

नत्वा स्वाचार्यचरणौ कृपापात्रं यतो हरेः ।

स्मृत्वा गोपीशचरणौ व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

व्याख्यानरीतिरपरैर्बहुधा विभिन्ना सिद्धान्तरीतिमतिरेव च नान्यथा सा ।

तत्रापि बोधविशदाशयतानुषङ्गादर्थं विशेषमभिधातुमना भवामि ॥ २ ॥

अस्याः कृतेर्मम विनोदहृदा विचारे केचित्परे प्रतिपथीनतया विशन्तु ।

ये तु प्रमेयगतिमेव विभावयन्ति ते भावयन्तु सदद्याहृदयाः प्रवीणाः ॥ ३ ॥

इह तावत् श्रीवल्लभाचार्याः स्वप्रकटितपुष्टिमार्गे साधारणकारणत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धस्य तत्करणपूर्वमनुगृहीतानां जीवानां स्वमार्गायालौकिकसाधनातिशयक्रमेण व्यसनावाप्तिद्वारा साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरैकैव सर्वेषामिति ज्ञापयितुं भक्तिवर्धिनीनामानं प्रबन्धं व्याचख्युर्यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्प्रागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिः पुष्टिमार्गीया स्यात् प्रवृद्धा स्वावस्थात्रयापन्ना च स्यात्तथा उपायः साधनं निरूप्यते । विशिष्टविधानमेतत् । अयमर्थः । साधनानि तु प्रमाणचतुष्टये प्रतिपादितानि, परं न तेषां यावत्स्वसाध्यविजातीयार्थहेतुतावधार्यते, तावत्प्रकृतोपयोगीनि भवन्ति । अतस्तद्धेतुप्रकारक उपाय उच्यते इति । यद्वा । उक्तं च साधनजातं विजातीयार्थेषु तत्प्राकरणिकमिति वाक्येनेष्टार्थे विनियुज्यते । न चात्र प्रमाणाभावो न वार्थविरोधः । इतरथा अप्रामाणिकत्वापत्तेः । न चैवं विषयव्यवस्था स्यादिति वाच्यम् । तत्त्वतो विषयद्वैविध्यादेरप्यनङ्गीकारादिति । श्रीभागवतादौ उक्तान्यपि साधनान्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां नार्थहेतवो भवन्तीति ते निवार्याधिकारिविशेषविषयतया तदुपयोगः कथ्यते इति भावः । अत एव तृतीये कपिलेन 'भक्तियोगो बहुविधः' इत्यादिना स्वभावगुणतारतम्येन भक्तितारतम्यं व्याख्याय 'अनिमित्ता भागवती'त्यादिना निर्गुणभक्तिरेव स्तूयते । यत्तु कश्चित्प्रमाणचतुष्टये पुष्टिभक्तेस्तत्साधनानां चाभावाद्धिजातीयसाधनव्याख्याप्रतिज्ञेत्याह । तन्न । तथा सति पुष्टिभक्तेरप्रामाणिकत्वापत्तेः । प्रकृतग्रन्थसाधनविरोधात् । 'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात् । सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः' इति प्रमुवाक्यविरोधात् । 'गीतायां स्फुटमतः पुष्टिः प्रतिपाद्यते' इति तद्व्याख्यानं च विरुध्यते इति दिक् । ननु केयं भक्तिर्नाम । न तावदादायत्वेन ज्ञानम् । तथा सति ज्ञानविशेषत्वेनाभेदप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानिनामपि सर्वेषां'मित्यादिषु भेदेनाग्रानात् । न च श्रवणदितत्समुदायाद्यन्यतमत्वम् । तस्य 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'त्यनेन कारणत्वोक्तेः । नापि वा एतेन सेवापि भक्तिः । न च श्रद्धाविशेषः । तस्याः सङ्कल्पात्मकतया निश्चयात्मकतया वा तद्भिन्नभक्तेर्भेदात् । अत एव गुरवः 'श्रद्धातः साधनप्रवृत्तिस्ततः फलं भक्ति'रित्याहुः । एतमेव श्रद्धाभक्तयोर्भेदमादाय 'श्रद्धावन्तो न भक्तास्ते ये स्वधर्मबहिर्मुखाः । सेवास्वधर्मं कुर्वाणा भक्तगोष्ठीविरोचका' इति वदन्ति । यत्तु केचित् श्रद्धासहितसेवाकृतिर्भक्तिरिति प्राहुः । तन्न । सेवाकृतेर्भक्तिसाधकत्वम्, न तु भक्तित्वमिति सिद्धान्तात् । एतेन शमादिपक्षाः प्रत्युक्ता वेदितव्याः । अत्रोच्यते । भगवति निरुपाधि प्रेम भक्तिरिति । न चाप्रसिद्धिः । आत्मनि प्रसिद्धेः । न च माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वस्य प्रधानवाक्यगतत्वादुपाधित्वं शङ्क्यम् । तस्य तत्कारणे सेवायामुपक्षीणत्वात् । अत एव माहात्म्यज्ञानं सेवायामपराधाभावाद्योपयुज्यते, न तु भक्तिहेतुत्वेनेति श्रीमद्भोक्तुलनाथचरणाः । नन्वेवं ब्रजस्थानां कामाद्युपाधिसत्प्रेमेति चेन्न । तत्र कामाभावात् । तासां जाल्यरूपभगवद्गुणवर्णनस्य तत्रैव विशदत्वात् । भक्तोचितस्वरूपनिष्ठतया वा तादृशगुणकथनस्यावश्यकत्वमित्यस्य सुवचत्वाच्च । अत एव भक्ताः स्वरूपनिष्ठा एव भवन्ति । न हि तेषां भगवत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिद्दर्शनीयमस्ति । तदाहुर्गुरुचरणाः 'तदेव हि प्रसिद्धं भग-

वदङ्गीकारो नाम वस्तु यत्कायवाञ्छनसां भगवत्परत्वमिति । यद्यपि कामानुरूपा क्रिया दृश्यते, परं न कामः । आहुश्चाचार्याः 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' इति । यद्यपि 'कामाद्गोप्यः,' 'कामं क्रोध'मित्यादिकथनं तदपि लोकप्रतीतिसापेक्षं चित्तासङ्गस्तवनम्, न तु साधनताबोधकमिति दिक् । तस्मान्निरुपाधिकं प्रेम भक्तिरिति । सा च द्विधा । आत्ममनोधर्मभेदात् । न चाद्यायां मानाभावः । स्वरूपेण भगवल्लीलाप्रवेशे सङ्घाताभावेन तदसम्भवापत्तेः । अलौकिकसङ्घातस्वीकारे जीवे निराकारताप्रसङ्गात् । अतो-न्यथानुपपत्तिरेव मानम् । न वा किञ्चिद्वाधकं पश्यामः । यतः अंशत्वादिवैश्वर्यादिसमानाधिकरणो धर्मविशेषो भक्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । मनोधर्मरूपा तु श्रवणादिसाद्गुण्योप-कृतिमपेक्षते । यावत्तद्दृष्टिमती । तथा पुनः साभिव्यक्ता नेशते परोपकारं स्वात्मनि विना-भावविशेषावस्थायां दृष्टान्तीकृतानां भावानुरूपं करणम् । क्रिया हि परतन्त्रा प्रयत्नाभि-लाषतो भवति यथा, साप्येवं यतः । अस्ति च नायं प्राणप्रदो धर्मो, विभिद्यन्ते यतो नानाविधा गतयः । गतिसामान्यमपि साक्षादेवेति न नियमः, किन्तु पारंपर्यतयापि, तदविरोधात् । अतो द्विधा भक्तिः । तत्राद्या विधेयताहीना वृद्धिप्रकारमपेक्षते, अत-स्तदुच्यते । ननु वक्ष्यमाणसाधनैः सर्वेषां भगवति कुतो न भक्तिर्वर्धत इति व्यभि-चारिशङ्कायामाहुः 'बीजभावे दृढे तु स्यात्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति' । परमादिसृष्टौ भगवतो रमणेच्छातो विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गता जीवाः । तेषां विविधगतितत्साधनानामानु-पूर्वीविशिष्टानां सत्त्वासत्त्वे भगवतैव विचारिते । तत्र ये स्वप्राप्तियोग्यतया इच्छाविषयी-कृतास्तेषु यत्तादृशेच्छाविषयत्वं स एव बीजभावो नाम । तत्राप्ययं जीवः कतिचिद्दिनानि साक्षान्मत्प्राप्तिसाधनकृत्वा ततो निवर्त्यान्यगतिसाधनकृतस्यादिति चेद्भगवता विचारितं, तदा स बीजभावो दृढो न भवति । दृढे तु बीजभावे स्यादुक्तसाधनैः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । अदृढे तु तस्मिन्न भवेदिति । तदुक्तं गुरुचरणैः 'न हि पदार्थगुणदोषौ वर्णयतोपि पुरुषस्य ब्रह्मादेर्भवन्ति विधेयाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः केचिदपि न यावद्विशिष्टेच्छाविषयताशा-लित्वं धर्मस्येति । अतो दृढे तु बीजभावे तथा स्यात् । तत्र साधनमाहुः त्यागादिति । ऐहिकपारलौकिकयावद्दस्तुनस्त्यागो भगवति स्वमार्गीयप्रकारेण सात्मनः समर्पणं । तस्मात् भगवत्प्राप्तीच्छुना प्रथमतो मार्गानुसारेण समर्पणं कर्तव्यम् । मुख्यमिदं साधनं भक्तिवृद्धौ । अत एवैकादशे भगवतोद्धवं प्रत्युक्तम् । 'दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इति । अन्यत्र च । 'ये दारागारपुत्रासप्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे ।' 'मामुद्दिश्य हित्वे'ति तन्म्याख्यानम् । तस्मात्सर्वार्पणं भगवति कर्तव्यम् । तदुत्तरं साधनमाहुः श्रवणकीर्तनादिति । समाहारे नपुंसकत्वम् । आत्मसमर्पणानन्तरं निबन्धोक्तलक्षणप्रकारकं गुरुमाश्रित्य यत्रात्मसमर्पणं कृतं तस्य

भगवतः स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपज्ञानार्थं भगवति स्वसम्बन्धज्ञानार्थं च भगवच्छास्त्रं श्रोतव्यम् । तेन सकलसंशयनिवृत्तौ भगवति भक्तिर्दृढा भवति । तदुत्तरं श्रुतस्यार्थस्य संरक्षणार्थं सति श्रोतरि कीर्तनं कर्तव्यम् । अत्र श्रवणकीर्तनयोः समुच्चित्य हेतुत्वम्, न तु पार्थक्येन । न च यत्र श्रवणमेव साक्षात्कारकं तत्र व्यभिचारः । तत्र कीर्तनस्म-रणजनितार्थस्य जन्मान्तरीयतया सिद्धेः । भगवदनुग्रहो वा तत्र कारणम् । श्रवणादीनां हि दृष्टद्वारकत्वम् । तत्र दृष्टं फलं क्वचित्संशयनिवृत्त्यादि यथायथमवगन्तव्यम् । संशय-निवृत्तौ, (सति सम्भवे) स्मरणं विधेयम् । सति सम्भवे सेवा कार्या । श्रवणं तु लीलात्वेन कर्तव्यम्, तथा कीर्तनं च । तदुक्तं गुरुचरणैः 'निरन्तरं भगवतः स्मरणमेव मुख्यमस्मा-कम्, श्रवणादिकं तु तदुपकारि, न तु स्वतन्त्रपुरुषार्थः । भक्त्युत्पत्तौ लीलात्वेन श्रवणं तु तनुजा सेवा यथा स्वतन्त्रपुरुषार्थ' इति । सेवा च चेतस्तत्प्रवणमेव, तनुजादिकं च तद्वेतुरिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

ननु अनधिकारिणि कथं भागवतार्थो देयः, तदधिकारित्वं च दृढबीजभाववत्त्वमेव, स च कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः सार्धेन बीजदाढ्येति ।

बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

उक्तबीजभावदाढ्यस्य प्रकारस्तु क्रिया तु । यस्मिन् बीजभावे दृढस्तत्क्रिया तु इयम् । यत् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मधर्मोयमिति ज्ञात्वा अव्यावृत्तः सन् यथालाभसन्तुष्टः सन् कृष्णं सदानन्दं भजेत् । अनुदितमुख्यभक्तेन साधनदशापन्नेन गृहस्थाश्रमे स्यातव्यम् । तत्र स्थित्वा सन्देहमकृत्वा दृढविश्वासेन कृष्णं यथालब्धोपचारैर्भजेत् सेवेत, भज सेवायामित्यर्थकत्वात् । ननु गृहस्थाश्रमः सन्निपातरूपः कथं भगवद्भक्तिं साधयेदिति चेत्, मैवम् । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति किञ्चित्' 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोका' नित्यादिवाक्यैर्भगवदर्थिनो गृहाश्रमेपि सदर्थसिद्धेः । तस्मादप्राप्तवक्ष्यमाणलक्षणभक्तिना गृहस्थाश्रमे तदुपायः कर्तव्यः । तत्राप्ययं विशेषः । गृहाश्रमावस्थानं सिद्धगृहाश्रमस्यैव, न तु सिद्धप्रणष्ट-तत्कस्यासिद्धतत्कस्य वा । तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं न तु धर्मत्वेन । तथा सति अन्यशेषत्वेनाभक्तित्वं स्यात् । अत एव गुरवः 'कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्मरणदेः कर्माङ्गत्वमेव, अर्थात्कर्मत्वमेव, न भक्तित्वमिति । अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधि-ष्ठितस्वरूपमजनपरित्यागेनान्यत्र तत्करणे भक्तिर्न भवतीति सूचितं भवति । तत्रापि भजने फलमुख्यमङ्गमुपदिशन्ति अव्यावृत्त इति । सर्वव्यावृत्तिं परित्यज्य कृष्णः सेव्यः । आद्यायामिकः कालो भगवद्भक्त्यैव नेयः । सेवासमये सेवा कर्तव्या, अवशिष्ट-काले श्रवणादिकं यथासम्भवं कर्तव्यम् । न तु व्यावृत्त्या कालक्षेपः क्षणमपि कर्तव्यः ।

‘निद्रया हियते नक्त’मित्यर्थः । यद्वा । व्यावृत्तिः सर्ववस्तुविषयकः सोद्यमो मनोरथः, सर्वथा तद्रहितोऽव्यावृत्तो भवेत् । सर्वेच्छां परित्यज्य निश्चितचेतसा स्वधर्मत्वेन कृष्णः सेव्यः, न तु पूज्यः । पारिभाषिकश्चायं भेदो द्रष्टव्यः । यदि अव्यावृत्तो न भवेत्, तदा भगवत्सेवनं केवलं स्वमाहात्म्येन यथासम्भवं पापादि निवर्तयेत्, न तु उक्तं फलं साधयेदित्यर्थः । नह्यन्यचेतसा कृतं कृतमित्यभिमतव्यम् । अतो भगवदर्थिना त्रिकाल-भगवत्सेवासमये तु अवश्यमव्यावृत्तेन भवितव्यम् । तत्र कामचारः । ननु सेवा कर्तव्या, न तु पूजा । सा च कथं कथं कर्तव्या । किं स्वशरीरधर्मतत्समानधर्मत्वेनोपचर्यया, आहोस्विद्यथेच्छभागमादिरीत्या वेति सन्देहे प्राहुः पूजयेति । अत्र तद्गुणसंविज्ञानब-हुव्रीह्याश्रयणादनुक्तसिद्धोपादानत्वेपि पूजायाः पृथगुपादानमुक्तभेदतन्त्रम् । तेन सेवा-प्राधान्येन श्रवणादिनवकं विधेयमित्युक्तम् । अयमर्थः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां तु तात्रिकोपचारा उपयुक्ताः, तत्रापि यत्प्रेमविरोधि तत्र कर्तव्यम्, यथा नित्यं शीतोदकस्नानादि । प्रमाणबलाबलापेक्षया प्रमेयबलाबलस्याधिकत्वेन स्थापितत्वात् । यथासम्भवं चतुःषष्टि उपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः । अपरञ्च । त एवोपचारा भक्तिमार्गे तदीयत्वेन कर्तव्याः, न तु स्वीयत्वेन, धर्मवत् । तथा सति न भक्तित्वं स्यात् । भगवन्मन्त्राद्युपयो-गश्चाश्रयविशेषावधारणेन कर्तव्यत्वेन व्याख्यातः । यत्तु कश्चित् पञ्चरात्रादिभगवच्छा-न्नतत्त्वानभिज्ञः पूजामार्गीया उपचारास्तत्साधनानि मन्त्रादीनीति न तानि पुष्टिमार्गे उपयुज्यन्ते, कथञ्चिदपि तदुपयोगे भिन्नमार्गीयत्वं स्यात्, अन्यथा पूजापूजाभक्तिमार्गी-योरविशेषापत्तेरित्याह । तन्मतिमान्द्यादेव । भावविशेषात्पारिभाषिकभेदादेव तत्सिद्धेः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अनुपरमात् । अप्रामाणिकत्वापत्तेः । ‘भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चे’ति सिद्धान्तग्रन्थविरोधात् । भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेति दिक् । यद्वा । पूजया श्रवणादिभिर्वेति गृहस्थविधुरादिभेदेन पदार्थद्वयोपदेशः । ‘अधिकारिभेदेनो-पदेशा भिद्यन्त’ इति सिद्धान्तात् ॥ २३ ॥

ननु यदि व्यावृत्तः स्याद्गृह्यादिहानितश्चेत्यतः प्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

नीचाश्रयणादिनिन्दितवृत्तिस्तु नादरणीया । अतिरिक्तवृत्त्या जीवेत । सा च दुःसाध्या यर्हि, तदा अवश्यं व्यावृत्तो भवति, तदा हरौ भगवदर्थं श्रवणादौ चित्तं निधाय यतेत् । सर्वथा याममात्रं कालो भगवति विनियोज्यः । श्रवणादिषु त्रिषु पाल्यमानमे-कमादेहावसानं दृष्टार्थम् । अतस्तेषु यतेत् । तथापि ‘अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा’ इति वाक्यात्ते भगवन्तं प्राप्स्यन्त्येव ।

अत एव तत्त्वदीपे भगवदाचार्यैरुक्तं ‘सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये’दिति । एवं समर्थासमर्थभेदेन गृहस्थविधुरादिभेदेन च दृढबीजभावत इतिकर्तव्यता व्याख्याता । इदानीमवसरप्राप्तं उक्तत्यागादिसाधनफलं निरूपयन्ति ततः प्रेमेति । ततस्त्यागा-दिसाधनानां यथाभावप्रकारानुष्ठानानन्तरं प्रेम भवति, निरुपाधिकः स्नेहो भवति, यथा स्वहेयोपादेयवस्तुनि भगवति तथा विनियुज्यन्ते । स्वात्मवद्भगवदुपचारकारको भावविशेषः । तत्र जाते सर्वत्रौदासीन्यं स्यात् । तदुत्तरं तादृशभाववता तथैव सेवायां क्रियमाणायामासक्तिर्भवति । अत्र तादृशानुपूर्वीविशिष्टैवासक्तिर्विधीयते । न तु स्वरूपतो भेदः । अन्यथा ‘आसक्तिः प्रेमपूर्वैव, प्रेमापि हरिणा कृत’मिति विरुध्यते । आसक्तौ हि सर्वेषु अरुचिर्भवति । यथा ‘चित्तं सुखेन भवते’ति । ततो यदा पुनरासक्तिरेवा-वस्थातो व्यसनमपि भवेत्, तदा कृतार्थः स्यात् । परा काष्ठा भक्तेः सैव यद्यसनम्, यथा ‘तन्मनस्कास्तदालापा’ इत्यादि । अवस्थाविशेषं यावद्भावः कुतो न मध्ये कालादिमि-रूपहन्यत इत्यत आहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे बीजं बीजभावः एवोच्यते, तदपि दृढं यन्नापि नैव नश्यति, देशकालादिभिर्न तस्य नाशः । अनेकजन्मभिरपि न तस्य नाशः, किं पुनरन्वैरित्यर्थः ॥ ३, ३ ॥

इदानीं प्रेमासक्तिकार्यं तदनुमापकमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृह्यारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

यदि भगवति स्नेहस्तदा पुत्रदारधनदेहादिषु योनुरागश्चित्तव्यासङ्गः स नश्यति । मनः सर्वाशेन भगवदुपयुक्तं नान्यत्र सज्जते इत्यर्थः । आसक्त्या पुनर्गृहे अरुचिः, कदा पुनरिदं गच्छेद्येनाहं विमुक्तः स्याम् । गृहे इति यावदात्मीयोपलक्षणम् । सर्वं न रोचत इत्यर्थः । प्रेमासक्तयोः फलद्वयं प्रत्येकमाहुः गृहस्थानामिति । अत्र निर्धारणे षष्ठी, तत्र हेतुबाधकत्वं गुणः । गृहस्थाः स्त्रीपुत्रादयस्तेषां बाधकत्वम्, एते सर्वथा लौकिका उत्पन्न-भावाशका इति भासते । यद्वा । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तथा च गृहस्थसम्बन्धि यद्बाध-कत्वं तत्तदैव भासते, नान्यथेत्यर्थः । गृहस्थपदं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठमात्रोपलक्षकमजहलक्षण-येति च सम्यक् । एषां पुनरनात्मत्वं अनात्मीयत्वं वा आगमापायित्वमित्यर्थः । तद्भासते । अत्र यावत्प्रेमासक्तयोः सम्भवं विरोधिधर्मवतस्तत्तिरोधानं सम्भवति । उत्पन्ने तु व्यसने साधनमसाधनं वा तुल्यमित्याहुः यदा स्याद्व्यसनमिति । भगवति हृदयाकाशे सर्वाशेन प्रादुर्भूते तदानन्दसम्पत्त्या व्यसनं जायते, अतः फलान्तराभावादिहैवानुभूतफलो विशिष्टे-च्छावशतो देहादि विदधन् प्रतिक्षणं जायमानाद्विनिधपरमानन्दसम्पर्काद्विगलितवेद्यान्तर-विज्ञानस्त्रिगुणहीनः कृतकृत्यः कर्मत्रिपुटीविहीनः परमात्मन्येव रमते ॥ ४, ५ ॥

ननु जातव्यसनावस्थेन गृहे स्थेयं न वेत्याकाङ्क्षायामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

एवं भक्तेः पराकाष्ठां विधुरगृहस्थसाधनाधिकारियोग्यतापुरःसरं निरूप्य विरक्तस्य गृहाश्रमेच्छाहितस्य ब्रह्मचारिणो भगवदर्थिनो यतेश्च साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थाथैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

तुशब्दोधिकारिविशेषव्यावृत्त्यर्थः । य इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । सर्वस्य लौकिकस्य त्यागं कायवाञ्छनसा कृत्वा यतेत् । यत्नश्च प्राप्तमन्त्रस्मरणकीर्तनाराधनभगवलिङ्गादिदर्शनादिपरायणतैव । सदृष्टप्रतिबन्धस्यादृष्टप्रतिबन्धस्य चैतन्मार्गपक्षपातिना भगवतैव निवृत्तत्वात्सुदृढां केनाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । अतः भगवदधीनत्वबोधायानुवादो, न तु विधानम् । तत्रापि यदि अन्यशेषत्वेन लोकान्तरापेक्षया मुक्त्याद्यपेक्षां कुर्यात्, तदा उक्तस्वरूपां तां न लभते इति अनवद्यतादृशतत्प्राप्तौ अधिकारिविशेषणमाहुः तदर्थेति । भगवद्रूपो योर्धस्तदर्थ एवैको मानसे यस्य स तथा । अत्र द्वितीयाधेपदेन तद्रूपस्यैव पुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तद्भेदतुर्नान्यथेति सूचितम् । सापि भक्तिर्न मनोधर्मरूपा, अपि तु आत्मधर्मरूपा, तां प्राप्नुयादित्याहुः परामिति ॥ ६, ६ ॥

एवं विशिष्याधिकारं व्याख्याय साधनं अदृष्टकालादेर्भगवन्मार्गे प्रतिबन्धकत्वाभावात् दृष्टं प्रतिबन्धकं प्रदर्श्य तन्निवृत्तिप्रकारपूर्वकं गुणाधानमाहुः त्यागे बाधकेति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथागतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्सं न दुष्यति ॥ ८ ॥

गृहत्यागे कृते भक्तेर्बाधकानि भूयांसि संभवेयुः । दुःसंसर्गो भवति, तेन भक्तिविषयेऽसम्भावना विपरीतभावना वा उत्पद्यते, द्वयं वा । तेन भक्तिमार्गीयप्रकारकाचरणाभावाद्भक्तिर्नोत्पद्यते । दुःसंसर्गो वा एकाकिनो धनितादिसङ्गः, तेन विषयावेशे भक्तेरनुद्भवः । उक्तं च भगवता 'सङ्गात्सञ्जायते काम' इत्यादि । अथवा, दुष्टानामवैष्णवानां संसर्गात्तैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत् । यथैव दुःसंसर्गः सर्वथा बाधकः, तथा अवैष्णवानामनीदृशानामन्नतः अन्नभक्षणतः, अवैष्णवानां जलपानेन भक्तिर्नोत्पद्यते । अत एव धृतवराहरूपेण भगवता पृथ्वीं प्रत्युक्तं 'वैष्णवो यस्तु मोहेन पचेदन्नमनुत्तमम् । अवैष्णवाग्निना देवि तन्न भुञ्जे यथा विषम' । अन्यत्र च । 'वस्तु यद्वैष्णवं किञ्चिद्यदि पश्येदवैष्णवः । न तन्मन्युपयुज्येत पुंसि स्त्रीव रजस्वला' । तस्माद् दृष्टभेदेन प्रतिबन्धं व्याख्याय तन्निवृत्तावुपायमाहुः अतः स्थेयमिति । यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो

भवेत्, अतो हरिस्थाने पुरुषोत्तमस्थाने ब्रजे वा श्रीरङ्गधामपुरुषोत्तमक्षेत्रद्वारावतीषदर्याश्रमवैङ्कटादिषु वा स्थेयम् । तत्रापि विविधानां समागमनात्साधनदशपन्नत्वाच्च स्वस्य न सर्वैः सह स्थातव्यम्, उक्तदोषापत्तेः, किन्तु तदीयैर्भगवदीयैर्न तु कर्मिष्ठादिभिर्वा । तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्ठाप्रेक्षका लोकसङ्ग्रहार्थम्, तैर्न स्थातव्यम्, किन्तु तत्परैः कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना । अत्र सर्वात्मना भगवति चित्तव्यासङ्गो मुख्यं साध्यम्, तद्यथा सिध्येत्, तथा विधेयम् । तादृशस्थलेपि तत्रैव न स्थेयम्, किन्तु दूरे दूरभिन्ने दूरसदृशे । अथाविप्रकर्षे वा । विवक्षितं तात्पर्यमाहुः यथा चित्सं न दुष्यतीति तथा विधेयम् । चित्ते दोषो बाहिर्युक्त्यमभगवत्परत्वमिति यावत्, तद्यथा न स्यात्, तथा यतनीयम् ॥ ७, ८ ॥

ननु भगवत्सेवाया अभावात्तस्याधमत्वमिति चेत्तत्राहुः सेवायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

न वयं तनुजावित्तजाद्यन्यतमसेवायामेव फलत्वं ब्रूमो येन यतिप्रथमानामधमत्वं स्यात्, किन्तु भगवत्प्राप्तिं तत्साधनं च भक्तिर्निरूपाधिकप्रेमात्मिकैवेति तस्यामेव फलान्तरीयकत्वात् । किमायातमेतावता साधनकलापमनुष्ठात्प्राप्तमादिविभेदे उक्तश्रद्धासाधनप्रवृत्तितारतम्यातिरिक्तं हेतुत्वेन । अतः सेवायां द्विविधायामपि गृहस्थस्य, कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वकगृहीतसाम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतैर्ब्रह्मचारिणो वा यस्य कस्यचिद्भगवदनुगृहीतस्यासक्तिर्दृढा, केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनाप्यनपनोद्या भवेत् । ननु इदानीन्तनानां दृश्यते सेवाद्यासक्तिः, कथं न भक्तिरुत्पद्यते इत्याशङ्कयामाहुः यावज्जीवमिति । भगवन्मार्गप्रेवशमारभ्य यावद्देहावसानमावर्तमानानामेव श्रवणादीनां दृष्टार्थत्वम्, न तु सकृत्कृतानामिति भावः । य एतादृशस्तस्य कापि देशे काले नाशो नाम स्वरूपप्रच्युतिर्न स्यात्, यत्र कापि निन्दिते देशादौ तिष्ठेत्सर्वथा मुक्तो भवेत्, किं पुनरुत्तमेनुकूले उक्तविधे देशादावित्याचार्याः स्वयं वदन्ति मम मतिर्मतं सिद्धान्तः । नात्र सन्देहः कर्तव्य इति तत्त्वम् । ननु विप्रकर्षे स्थेयमित्युक्तम्, तत्र च दुष्टैरन्यैर्वा जन्तुभिः सर्वथा बाधः सम्भाव्यते, तत्कथं विप्रकर्षे एकान्ते स्थेयमित्यत्राहुः बाधसम्भावनायां त्विति । तेन बाधसम्भावनं यत्र न स्यात्, तादृशं स्थलं विशृग्य स्थेयमिति सूचितम् । वस्तुतस्तु अमायया भगवदर्थभेकान्ते वसतः केनापि बाधो न सम्भवतीत्याहुः हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः । एतेन 'चीराणि किं पथि न सन्ति' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' 'भक्तायातिप्रपन्नाय'

‘तथा न ते माधव तावका’ इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निश्चित्य ख्येयम्, विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९, १० ॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् । भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः । गूढतत्त्वमिति विशेषणेष्वयमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुरर्थानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धानात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिमनुसृत्य मयातियत्नात् ।

कृतं निबन्धनमसौ विबुधेषु याज्वा दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥

आरब्धमर्थधिषणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।

तच्चेच्चिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥

संचत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसंख्ये ।

दिने तथा श्रावणकृष्णपञ्चद्वयीकृतेसौ विवृतः प्रबन्धः ॥ ३ ॥

काहं मन्दमतिः कायं प्रबन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।

शिश्नानां भासते रम्यं तथापि कलभाषणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदान्नत्वा सर्वाभीष्टप्रदान् स्वतः ।

शब्दैः संक्षेपतोर्यैस्तु व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव वदन्तः स्त्रीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्बीजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृत्त्युपायं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यान्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तरं दृढतरतमाश्लिप्रकारका उपायाः सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरोरप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तर्लून्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः बीजेति । बीजभावः श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्कारूपः, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमः । तदनन्तरं त्यागात् गृहादिसर्ववस्तुनस्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयः । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयः ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दार्ढ्यं प्रकारश्च को वेत्याशंक्य पूर्व सोदेशं बीजदार्ढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

त्वन्तत्त्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोस्तीत्यस्याप्रौढत्वमुक्तं भवति । तथाचायमप्येकः प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितः सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहितः सन् विशेषेणावृत्तिः सततं तद्भर्मेष्वासक्तिपूर्वकं वाक्कायमनसां परिभ्रमणं तद्रहितः पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्तः सन्, पूजया तदुचित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्भर्मेष्वेव व्यावृत्तः स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते ‘तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते’ त्यर्थेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः ‘मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत’ इति । अतो भगवद्भर्मेष्ु व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तेः सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे ‘अस्मिलोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छये’ति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्भर्मस्थितिमात्रेणाहं कृतार्थोऽस्मि, नातः परमधिकं किञ्चिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्ध्यपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः अव्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

श्रवणादौ व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यसेत् प्रयतेत । तथा कुर्वन्नपि प्रेमसेवामपि कुर्यादित्यर्थः । यद्वा । ननु 'यावज्जीवमभिहोत्रं जुहुया'दिति न्यायेन देहाध्यासवैधा धर्माः सहसा कथं त्यक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्याहुः व्यावृत्तोपीति । स्वधर्मेषु व्यावृत्तोपि यथाविधि यावच्छक्यं तान् कुर्वन्नपि श्रवणादिषु भगवद्दर्मेषु हरौ भगवति धर्मिणि च चित्तं यसेत् प्रयतेत । कायिकप्रवृत्त्यां तत्र व्यावृत्तायामपि वाचिकमानस्यौ ते भगवत्येव प्रयोक्तव्ये सर्वथेत्यर्थः । तावतापि कार्यं सिध्यतीत्यर्थः । एवं बीजदार्ष्यप्रकारमुक्त्वा क्रमेण वर्धमानं पूर्णं च बीजभावमाहुः ततः प्रेम इति । ततस्तदनन्तरम् । अथवा । एवं क्रियमाणेभ्यः श्रवणादिभ्यः पूर्वं भगवद्विषयकं प्रेम उत्पद्यते, ततः क्रमेण भगवत्यासक्तिर्भवति । ततोऽग्रे व्यसनं भवति । व्यसने जाते तदेव दृढबीजभावपदवाच्यमित्याहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे तदेव दृढं बीजमित्युच्यते । यद्बीजमुक्तप्रकारेण स्थितौ दृढं सत् कदापि न नश्यति ॥ ३ ॥

ननु प्रेमाद्यवस्थास्तु मानस्यो भवन्ति, ताः कथं पृथक् पृथक् ज्ञायन्त इत्याशङ्क्य तासां व्यावर्तकधर्मानाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहे उत्पन्ने तत्पूर्वं स्थितस्नेतरविषयकानुरागस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ततो यदा भगवत्यासक्तिर्जायते, तदा गृहे गृह्यपदार्थेषु चारुचिर्भवति । तत्र स्थित-बन्धुकलत्रादिषु किञ्चिद्विशेषमाहुः गृहस्थानामिति । गृहस्थिता ये बन्धुकलत्रादयस्तेषां स्वस्मिन्स्थितभगवद्भावे बाधकत्वमत एवानात्मत्वं च स्वस्य भासते । अयमाशयः । गृहे ये बन्धुकलत्रादयस्ते सर्वे नैकजातीयभावाः, किन्तु विजातीयभावाश्चान्योन्यम् । तत्र केचन लौकिका दैहिकधर्मपराः, केचन वैष्णवा अपि नानाविधभगवद्दर्मपराश्च भवन्ति । तथा च भगवदासक्तिपूर्णानां मनसि तेषु सम्यक्त्वेनोपादेयत्वं न स्फुरति । एकेषु स्वभावविघातकत्वेनैतत्सङ्गः सर्वात्मना न कर्तव्य एवेति भासते । अपरेषु वैष्णवत्वेपि विजातीयभाववत्त्वेन नैते मद्भावस्य पोषकाः, किन्तु विक्षेपका इति नात्मीया भवन्त्यतः समुपेक्ष्या एवेति भासत इति । अग्निमावस्थायाहुः यदेति । यदैव कृष्णे सदानन्दे व्यसनं तस्योत्पद्यते, तदैव कृतार्थः साधितः सम्यगर्थः भक्तिपदार्थो येन तादृशः स्यात् । व्यसनस्वरूपं तु 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्'

इत्यादि । व्यसनपदेन यथा दूतकामादिव्यसनिनः ऐहिकपारलौकिकेभ्यो लज्जाभयादिकं सहसा परित्यज्य तत्त्परतयैवेतरानुसन्धानरहिताः सन्तस्तिष्ठन्ति, तथैतेपि सर्वं परित्यज्य भगवदेकपराः सन्तस्तिष्ठन्तीति ज्ञाप्यते । परमेतावान् विशेषः, तत्र वैषयिकत्वादसद्रूपं सर्वम्, अत्र तद्द्रहितत्वात्परमकाष्ठापन्नं सर्वमिति । अन्यथा 'विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरे'रित्याचार्या न वदेयुः । तथा चैवं व्यसनावस्थायां जातायामेव बीजभावस्य पूर्णं दृढत्वं स्यादित्यर्थः । एवं पुष्टिभक्तिकल्पतरोः सर्वथाऽविनाशिदृढतम-बीजभावो निरूपितः । ततोऽग्रे शाखापत्रादिस्थानीयभावानां वृद्धिरनुक्तसिद्धै-वेति हृदयम् ॥ ४, ५ ॥

नन्वतिदृढत्वाद्बीजभावस्य नाशो मास्तु, परन्तु तदुत्पन्नकोमलशाखापत्रवादीनां पक्षिमृगादिकृतकृन्तनवदिहापि बीजोत्पन्नावान्तरभावनाशस्तु सम्भाव्यत एवेत्याशङ्क्य पूर्वं नाशकपदार्थमुद्दिशन्ति तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

सज्जातव्यसनस्यापि सततं गृहस्थानं गृहे स्थितिर्विनाशनं बीजोत्पन्नकोमलभावानां विघातकमित्यर्थः । एवमुद्दिश्यैतत्प्रतीकारमपि वदन्तः पूर्वोक्तभक्तिप्रवर्धकोपायेषु द्वितीयमुपायमाहुः त्यागमिति । गृहादिसकलवस्तुनस्त्यागं कृत्वा यसेत्, व्यसनदार्ष्यप्रयत्नं कुर्यादित्यर्थः । अयं त्यागस्तु संन्यासनिर्णयोक्तभक्तिमार्गीयतुरीयाश्रमग्रहणरूपः । तत्र त्यागेपि प्रकारविशेषेण स्थितिं वदन्तस्तुरीयं भक्तिप्रवृद्ध्युपायमाहुः यस्तु तदर्थार्थैक-मानस इति । तु पुनः यः तदर्थार्थैकमानसः स भगवानेवार्थः सकलपदार्थरूपो येषां ते तदर्थार्थः स्वतन्त्रभक्तास्तेषामप्यर्थः मुख्यः पदार्थस्तादृशभक्तैः सह मिथो गुणगानरूपान्तररमणात्मिका केवला वा विप्रयोगावस्था । तत्रैवैकं केवलं मुख्यं च मानसं यस्य तादृशः सन् यसेत्, तत्तद्भावानुभवं कुर्यात्, सः सुदृढां कालादिभिरपि चालयितुमप्यशक्यं सर्वतः मुक्त्यादिभ्योपि अधिकां परां परमकाष्ठापन्नां स्वतन्त्रफलरूपां भक्तिं लभते प्राप्नोति । एतेन पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्भक्तिप्रवर्धकोपायैः क्रमेणोत्तरोत्तरमधिका सुदृढा, सर्वतोऽधिका, परा चेति त्रिविधापि भक्तिप्रवृद्धिरुक्ता । ननु 'ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधका' इत्युक्तेः कथं गुणगानस्य परमफलत्वमुच्यत इति चेत् । मैवम् । ते तु मार्यादिका एव बाधकाः, नैतन्मार्गीयाः । अन्यथा तत्रैवाग्रे 'गुणास्तु सङ्गराहित्याजीवनार्थं भवन्ति ही' त्याचार्या न वदेयुः । नन्वधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि'रिति न्यायेन विरहे जीवनाशा तदर्थं यत्नश्चोभौ सुतरां न युक्ततराविति चेत् । न । जीवनमृते विरहजदुःखस्यानुभवासम्भवात् । अन्यथा घातपातादिनापि

जीवनमपहातुं शक्यत एवेति तथैवोक्तं स्यात् । अतो नेह तथा, यतो विरहस्य सम्यगनुभवार्थमेव परित्यागस्य बोधनमस्तीति दिक् । एवं फलपर्यन्तं भक्तिः सोपाया निरूपिता ॥ ६३ ॥

ननु सञ्जातव्यसनस्यापि यतस्त्यागश्रुते न फलसिद्धिस्ततोऽसंजातप्रेमाद्यवस्थ एव येनकेनापि हेतुना यथाकथञ्चित्संजातस्य हादिविराग एव कथं न सर्वत्यागं कुर्याद्य- तस्तदनन्तरं फलाऽवश्यंभायो भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

साधनदशायामेव त्यागे कृते तत्र भूयांसो बाधकाः सम्भवन्तीत्यर्थः । ननु ते किमूलमादाय सम्भवन्तीत्याशङ्क्यायामाहुः दुःसंसर्गादिति । दुष्टैः सह संसर्गेण दुष्टानां दुष्टे वा अन्ने भुक्ते बाधका उत्पद्यन्ते । अयमर्थः । सर्वं त्यक्त्वा यत्र कुत्रचि- त्स्थितेनापि यतिना नैकाकिना नापि क्षुत्पिपासादितेन कथञ्चित्थातुं शक्यते, अपक्व- शापन्नत्वात्, तथा च तदर्थं दुष्टैः सङ्गे दुष्टान्नभोजने च कृते सर्वं कृतमप्यकृतप्रायं भव- तीति तथा । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः संन्यासनिर्णये 'गृहादेर्वाधकत्वेने'त्यारभ्य 'अतो- त्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तेन । अतोस्मिन् भक्तिमार्गे साधनदशायां परित्यागो न कर्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

नन्वेवं च सति साधनदशापन्नैः स्वभार्यादिकृतसेवादिप्रातिकूल्यसम्भवे कुत्र कथं च श्रेयमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत इति ।

अतः श्रेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः साधनदशायां त्यागे कृते बाधकभूयस्त्वमत एव हरेर्भगवतः स्थाने निव- न्धोक्तेषु पुरुषोत्तमादिषु ब्रजादिषु वा श्रेयं स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । अत एव निबन्धेपि स्वभार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे स्थातुमशक्तस्य गृहादित्यागप्रकारमुक्तवन्तः श्रीमदाचार्याः, 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । अयं त्यागस्तु न तुरीयाश्रमग्रहणरूपः, किन्तु गृहस्थेषु कलत्रादिषु मध्ये एकः द्वौ बहवो वा ये एव प्रातिकूल्यं सेवादौ कुर्वन्ति, तानेव यावच्छक्यं त्यजेदित्येवंबोधकः । अत एव 'गृहं त्यजे'दित्यस्य विवरणं 'गृहं भार्यादिक'मित्युक्तम् । दैवात्पुनः सर्वप्रा- तिकूल्ये तु सेवाद्यनिर्वाहात् स्वस्य स्थातुमशक्तेर्वा गृहमेव परित्यज्य सेवादिसामग्रीमपि स्वसार्थं एव नीत्वा पूर्वोक्तभगवत्स्थानेषु यत्र कुत्रापि स्थितः सन् तत्परतया सेवादिकं कुर्यादित्याशयः । एवं च सति पूर्वोक्तत्यागनिषेधस्तु तुरीयाश्रमीणत्यागपर एव । यतस्तत्र सेवाद्यवल्मासम्भवेनापक्वत्वेन च दुःसङ्गदुष्टान्नभोजनादिकं भवत्येव । तत्तु सर्वथा बाधकम् । अत एवैकादशस्कन्धे दुःसङ्गस्य बाधकत्वमुक्तम् । 'सङ्गं न कुर्यादसतां शिशोदरनृणां

कचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धव'दित्यादिभिः । दुष्टान्नस्य तु बाधकत्वमुक्तं पद्मपुराणे । 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं च यद्विष्णोः श्रमांसस- द्दं विदु'रित्यादिभिः । पक्वदशापन्नानां तु 'ता नाविदन्मप्यनुषङ्गवद्धधियः स्वमात्मान- मदस्तथेद'मित्यादिना स्वरूपनिरूपणात्स्वात्मादिसर्वानुसन्धानापगमादेव तत्तद्विष- याभावानां दुर्वारगर्वग्रहत्वमिति दिक् । एवमेषां वासस्थलमुक्त्वा स्थितौ प्रकारमाहुः तदीयैरिति । भगवदेकपरा ये भगवदीयास्तैः सह मिलित्वा तन्निकट एव अर्थात् तैः सहैव वसन् सेवाश्रवणकीर्तनादिपरतया श्रेयम् । एतेन दुःसङ्गदुष्टान्नप्रभवा दोषा निवा- रिताः । न'न्वतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कथं सततं निकट एव स्थातुं शक्यत इत्या- शङ्क्य प्रकारान्तरमप्याहुः अदूरेति । वा अथवा अदूरो दूरत्वाभावः तद्वान् यो विप्रकर्षो दूरदेशस्तत्र श्रेयमित्यर्थः । अर्थात् नातिदूरे नातिनिकटे परं ततः किञ्चिदश्रेयव्यवधानेन श्रेयम् । मिलनादिकं तु तैः सह नित्यं सर्वथा कर्तव्यमेव । अन्यथा तदैवासुरभाव- प्रवेशः स्यात् । अदूरमिति पाठेऽदूरमिति क्रियाविशेषणम् । अग्रे पूर्ववत् । नन्वेवं चेत् किमिति व्यवधानेन स्थितिर्बोध्यत इत्याशङ्क्यायामाहुः यथेति । यथा यत्प्रकारकस्थितौ स्वस्यान्येषां च चित्तं कदापि न दुष्टं भवति तथा श्रेयमित्यर्थः । अत्रायं समुदायार्थः । भार्यादीनां सेवादावानुकूल्ये सति तैः सहैव सेवां कुर्वन् तैश्च कारयन्स्वगृहे श्रेयम् । उदासीनेषु तेषु सत्सु गृह एव स्वयमेव सेवादिकं कुर्यात् । तदभावे तु तेषु प्रातिकूल्यं परित्यजेत् । सर्वप्रातिकूल्ये गृहमेव त्यक्त्वा भगवत्स्थाने स्थितः भगवदीयैर्मिलित्वा सेवा- कथादिपरतया तिष्ठेत् । अथ तत्सहवासे चेत्स्वमनसि तद्विषयकं दोषादिकमाभाति, अथवा स्वादृष्टवशात्तेषामेव मनसि स्वविषयकं तदायातीति मनसि सम्भाव्य तेभ्यः किञ्चि- दूरदेशे स्थित्वा तत्रैव सेवादिकं कुर्यात्, तदनवसरे तत्र गत्वा तैः सह श्रवणकीर्तनादि- परतया तिष्ठेदित्यर्थः सम्पन्नः । यद्वा । अदूरेति । भगवत्स्थानादेवादूरविप्रकर्षे श्रेयम् । तत्रैव स्थितौ तु अतिपरिचयाद्भगवतो भगवदीयानां वा विषयका अपराधाः सम्भवन्ति, तेन तु स्वस्य चित्तं दुष्यत्येवेत्यत आहुः यथेति । यथैव स्थिते चित्तं न दुष्यति तथैव श्रेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु व्यसनानन्तरमपि फलदशायामेव चेद्बाधकसम्भावना, तदा सुतरामेव साध- नदशायां सेति कथं सुखेन सेवादिनिर्वाह इत्याशङ्क्यायामाहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां तनुवित्तजायाम् । अत्र वाशब्दः स्मरणस्यापि सङ्गाहकः । सेवाया अशक्ता- वनवसरे वा श्रोतृवक्त्राद्यभावे स्मर्त्तृपि वा भवितव्यम्, नान्यपरतया स्थातव्यमिति बोधकः । अत एवोक्तं नवरत्नप्रकाशे 'अन्यथा तदैवासुरभावप्रवेशः स्या'दिति । कथायां

श्रीभागवतादिश्रवणकथनादौ । अत्र वाशब्दः श्रवणकथनयोरन्यतरेणापि कार्यसिद्धिर्भवत्येवेति सूचकः । परमुभयोरपि तत्र तत्र दृढासक्तिरपेक्षिता । ततो यावज्जीवं तस्यां स्थितायां तस्य भक्तस्य नाशस्तद्भावात् च्युतिस्तस्य भावस्य वा च्युतिः कापि इहास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वाऽमुत्र च नास्त्येव इत्येव मे मतिः सम्मतिर्निश्चयात्मिका बुद्धिर्वा । तथा च सेवायां श्रवणकीर्तनयोर्वा यस्य दृढासक्तिर्भवति, तस्य तावद्भावात् च्युतिः कदापि न भवति, परमग्रे भाववृद्धिस्तु स्वभाग्योन्नतिसमये भगवतस्तद्भक्तानां च कृपया भविष्येवेति परमार्थः ॥ ९ ॥

नन्वेवं सर्वं त्यक्त्वा स्थितस्य तत्रापि चेत् कश्चनोपद्रावकः पदार्थः सम्पद्येत, तदा तेन किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

एकान्तेपि चेद्बाधकसंभावना स्यात्तदा पुष्टिमार्गीयैर्ग्रहिलतया तत्रैव स्थित्वा भगवति भारो न देयः । अतस्तत्र तस्य वासो नेष्यते, इष्टसाधको न भवतीत्यर्थः । ननु पुनस्तत्र तत्रापि चेत्तत्सम्भवस्तदा 'त्वितो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' इति न्यायेन कांदि-शीकस्य तस्य का वा गतिरित्याशङ्कयामाहुः हरिस्त्विति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, अतः सर्वतः । तसिलः सार्वभिकित्वात्सर्वेषां स्वीयानां सर्वेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यः सर्वेषु देशेषु सर्वैर्लौकिकालौकिकोपायैः सर्वप्रकारैश्च रक्षां निःसन्दिग्धं भगवान् करिष्यत्येवेति नात्र संशयात्मभिर्भविष्यत्यनवद्यं सर्वम् । अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे भक्त' इति 'मां हि पार्थ' इति 'द्वि स्थापयती'त्यादीनि भगवद्गतानि विरुदानि च विफलीभवेयुः ॥ १० ॥

एवं भक्तिसाधनदशायामपि स्थित्यादिप्रकारमुक्त्वा उपसंहरन्त एतत्स्तोत्रपाठस्य फलमप्याहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति परिसमाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्धर्मशिक्षकं शास्त्रम्, अत एव गूढं तत्त्वं स्वरूपात्मकं यस्मिन्निति तादृशम् । स्वतत्त्वायितपुष्टिपुरुषोत्तमस्य सत्वरमेव साक्षात्सम्बन्धजनकत्वमिति यावत् । तन्निरूपितं नितरामुक्तम् । एतन्मार्गीयो यः कोपि वा एतच्छास्त्रं सम्यगर्थानुसन्धानपूर्वकं श्रीमदाचार्यचरणेषु श्रद्धाविश्वासादिपूर्वकं चाधीयीत पाठं कुर्यात्, तस्यापि भगवति रतिर्दृढा स्यात् । दृढत्वं तु क्रमेणासक्तिव्यसनयोरनन्तरायं नियतपूर्वभाववृत्तित्वम् । अत्रायमाशयः । पूर्वं स्नेहोत्प-

त्यर्थं ये उपाया निरूपितास्तान्विनैवैतत्पाठमात्रेणापि भगवति प्रेम उत्पद्यते । तदनन्तरं यथोक्तरीत्या स्थितौ तदग्रिमावस्थास्त्ववश्यभाविन्य एवेति परमार्थः ॥ ११ ॥

अत्र युक्तमयुक्तं वा लिखितं यन्मयाज्ञतः । तद्विदुः कृपासिन्धुरज्ञस्य क्षम्यतां मुदा ॥१॥

इति श्रीविद्वलनाथचरणैकतानश्रीत्रजभूषणात्मजश्रीगिरिधरविरचित-

भक्तिवर्धिनीविद्युतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीद्वारकेशविरचितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्वलभपादपद्मरजसः संस्मरणेनैव मे
ज्ञातुं सर्वमशक्यमत्र सदसद्वैकिकं यत्परम् ॥
ज्ञातं शक्यमसाध्यमेव नितरां साध्यं तदुक्तार्थत-
स्तद्विश्वासबलाश्रयैकनिरतो वक्तुं प्रवृत्तोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यवर्याणां चरणानुग्रहादहम् ।
तदुक्तवाक्यसन्दर्भं विमृशामि यथामति ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं यथा भगवान्(न)न्यपूर्वाभ्यस्तादृशरसोपयोगिदशाविरहादनधिकारित्वमा-
शंक्य तदग्रिमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं साधनत्वेन त्यागात्यागहेतुकीं भक्तिं ताभ्यः प्रयच्छतीति भाव-
फलोपकारावधि तदुत्पादकबीजभावत्वेन तादृशरसात्मकं स्वरूपं भावरूपत्वेनैतद्भावनाया
तत्तदन्तःस्थापितमिति ततो भक्तिस्तयाग्रे च रमणं फलमिति राद्धान्तसम्मतः पन्थाः । यद्य-
प्येतदतिरिक्तानां भक्तानां 'व्रजे गोप्यो भविष्यथे'ति वरप्राप्तत्वात्साम्प्रतमधिकारित्वं वर्तत
एव, तथापि, 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दिति न्यायेनैतत्सहकार्यत्व एव फलदानम्,
यत एतासामेव वरप्राप्तत्वेनात्र रमणविशिष्टाः क्षपा दत्तास्तद्व्यतिरेकेण नास्य सम्भावनमिति
नैतत्पूर्वं तासां रमणमिति भावः । अत एवाग्रे भगवदाकारणं तु तावदेतद्विषयकमेव
स्पष्टीकृतं श्रीमदाचार्यैः । तथा सत्युभयोर्भगवतः प्राथमिकसंबन्ध एव बीजम्, तदाचाह्वा-
नम् । भक्तिश्चरणारविन्दरूपा । तस्या नैरन्तर्यभावनेनावसरे प्राप्ते बीजपरिपाकदशायां फलं
साक्षात्स्वरूपानन्दानुभव इति यावत् । तत्र कुमारिकाणामत्यागः, तद्व्यतिरिक्तानां त्याग
इति स्थापितत्वात् । अत एव व्रताध्याये श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'मत्यागस्त्यागादुत्तम' इति ।
तथाप्राप्याधुनिकदैवीमृष्ट्युत्पन्नानां जीवानां सर्वदोषदूरीकरणार्थं तादृशरसात्मकम-

जनानन्ददानार्थं च तादृक्सेवनानुकरणोपदिष्टत्वेन श्रीमदाचार्यवर्यास्तदुभयपक्षमाश्रित्य साक्षात्फलप्राप्त्यर्थं नामस्मरणानन्तरं फलपरिचयावधि साधनत्वेन भक्तिवृद्धिप्रकारं निरूपयन्ति यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

‘माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोप्यधिकः स्नेहो भक्तिरिति । यत्र वरप्राप्तत्वेन पूर्वकालिनकसंस्कारकरणानन्तरमेव भक्तेः प्रक्षिप्तबीजत्वम्, तत्र स्मरणबाहुल्यादङ्कुरितत्वम्, ततस्तथात्वे पल्लवितत्वम्, तथैव कुसुमितत्वम्, एतावन्मात्रकं फलीकरणावधि वर्धकत्वमग्रे कुतो न स्यादित्यनुसन्धेयम् । सा प्रवृद्धा स्यादिति । प्रकृष्टेन वृद्धिः प्रतिक्षणं तादृगार्तिपूर्वकस्मरणबाहुल्येन । तथोपायस्तत्प्रकारकाचरणोपायो निरूप्यते, उत्तरवाक्य एव विशदीक्रियत इत्यर्थः । बीजभावे दृढीकरणापेक्षकत्वम्, अन्यथा तु शब्दस्य पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वानापत्तिः स्यात् । किञ्च, बीजभावे दृढे सत्येवाग्रेङ्कुरभावमारभ्य फलपर्यन्तं तदुद्भावनपूर्वकं वर्धकत्वम् । अन्यथा कृतोपि संस्कारो व्यर्थ एव स्यात् । अत एव ‘भावैरङ्कुरित’मित्याद्युक्तयस्तु तादृग्बीजभावफलीकरणत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति । तत्र विषयव्यवस्थाभेदेन हेतुत्रयमुच्यते त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । अत्र तामसानां त्यागादेव तथात्वम् । सात्त्विकराजसानां तु श्रवणकीर्तनादिति योजनोभयत्रैव वेदितव्या । तथा सति पक्षद्वयविशिष्टविभागसमानाधिकरणत्वेन हेतुनिरूपणप्रस्तावेपि सामानाधिकरण्यात्तद्विन्नत्वं स्वीकर्तव्यम् । अत एव त्यागादिति पृथगुक्तिः, न तत्र समाहारे योजना । श्रवणकीर्तनयोस्त्वेकवद्भावत्वेन तथात्वादत्यागपक्षमाश्रित्य श्रवणकीर्तने एव हेतुत्वेन निरूप्यते, नतु त्यागः । तस्माद्यथायोग्यतया हेतुनिरूपणं ज्ञेयम् । अत एव ‘श्रवणा’दित्यारभ्य ‘प्रतियातु ततो गृहा’नित्यन्तेन तद्वृद्धीकरणार्थमेव भगवता यद्यप्युक्तम्, तथापि नाङ्गीकृतमेताभिः, किन्तु ‘स्वपक्ष एवादरणीय’ इति न्यायात्याग एव तासां दार्ढ्यसम्पादकत्वम् ॥ १ ॥

अतः परमेतावन्मात्रकं बीजदार्ढ्यमुपपाद्य तत्प्रकारमप्यग्रे प्रकाशयन्ति बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र कुमारिकावरप्राप्तसाधननिरूपणत्वेन प्रथमतस्तत्प्रकारमेव प्रचारयन्ति । अतस्तुशब्देन तत्प्रकारकातिरिक्तप्रकारं व्यावर्तयन्ति । तद्यथा । गृहे स्थित्वा स्वधर्मत इत्यत्र स्वेत्यात्मा भगवान् तद्धर्मतः पञ्चणैश्वर्यादिकमनुभवन् तादृशरसभोक्त्रीणामाच-

रणं ज्ञात्वा भजेदित्यन्वयः । अथवा, यथैताः स्वस्य पूर्वं भगवद्गृहीतपुंस्त्वाख्यधर्ममधुना प्राप्य पूर्वकालीनोपदेशजनितसंस्कारस्मरणपूर्वकं तद्भजनं कुर्वन्ति, तथैतन्मार्गीया अपि ‘स्वधर्मत’ इति नामस्मरणपूर्वकसंस्काररूपवरणप्राप्तौ तदनुरणत्वेनैतद्भजनं कुर्वन्त्वित्याशयेन श्रीमदाचार्यवर्या आहुः स्वधर्मत इति । एतत्प्रकारानुसारेण स्वयमव्यावृत्तः सर्वदा । व्यावृत्तिर्व्यवहारः । स तु सन्निपातः, तद्ग्रहितः सन् कृष्णं फलात्मकं सदानन्दवाचकं पूजया श्रवणादिभिरित्यत्र, तथा पुष्टिभार्गीयया ‘धन्यास्त्विति वाक्यषट्कनिरूपितया, तथा श्रवणादिनवप्रकारकभक्तिभिरपि तत्तद्भावसमाश्रितमेव भजेत्सेवनं कुर्यात्, तदप्यान्तरिकम्, नतु बाह्यमित्यर्थः । अथवा । तासां कामरूपाणि वस्त्राणि गृहीत्वा पूर्वं नीपमारुह्य पश्चात्तत्रैव दानत्वेन तासु यथा भगवत्पूजनत्वम्, तथैवाग्रे स्वातिप्रियोत्तरीयकल्पितासनदानत्वेन ताभिरपि भगवान् पूजित इति लक्ष्यते । अत एव ‘तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वर’ इत्यत्र तच्छब्दपरामर्शस्यैव तदुद्घाटकत्वमेतत्प्रकारकाचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । सर्वदा भावनीय इति संक्षेपः । अतएव व्रतचर्यायां ‘प्राग्जन्मपुरुषत्वाख्यधर्मा अपि वयस्यतां । प्राप्ता ये तैः सहागच्छन् संबन्धं सूचयन् हरि’रित्यत्र श्रीमत्प्रभुभिस्तथैवोक्तमिति प्राथमिकसंबन्धस्यैव बीजभावत्वम् । ननु ते तु ऋषयो मननशीला मन्त्रद्रष्टारः सर्वात्मना भगवदुक्तसाधनकरणत्वेनैव प्रत्यहं गृहस्थितमेवादृत्य तदाज्ञापालनपूर्वकं भजनं कुर्वन्ति, अयं तु प्राकृतः, कथं तत्साधनाचरणं कर्तुं शक्यत इत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

वस्तुतस्त्वयमप्येको बीजदार्ढ्यप्रकारान्तरः, तस्मात्स्वयं व्यावृत्तोपि संसारासक्तः सन्नपि हरौ सर्वदुःखहरणशीले भगवति गजराजप्रास्ताविकतादृक्पराक्रमानुस्मरणपूर्वकं चित्तं संस्थाप्येति शेषः । सदेति कालापरिच्छेदकत्वेनैव श्रवणादिषु नवप्रकारकभक्तिषु तद्वृद्धिप्रकारस्फूर्त्या यतेत् । तद्विषयकं यत्नं कुर्यादित्येतत्प्रकारेणापि सा प्रवृद्धा स्यादिति पूर्वणान्वयः । ननु पूर्वोक्तप्रकाराचरणेनाग्रे किं साधितमिति प्रेमादीनां प्राप्तिमपि सूचयन्ति ततः प्रेमेति । ततः तद्वृद्धनन्तरं पूर्वोक्ताधिकरणक एव तथात्वेन पल्लवरचनारूपं प्रेमोत्पद्यते, येन भक्तिवह्नी प्रत्यहं प्रतिक्षणं सिञ्चनविषयीक्रियते । तथा आसक्तिर्भावविशेषः । स तु पुष्पागमरूपः । अत्र ‘शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवे’दिति वाक्योक्तोर्थो-नुसन्धेयः । तथा सत्येतत्प्रकारकासक्तेः प्रेमोत्तरभावित्वं युक्तमेव । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि तथैवोक्तम् । ‘आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत’मिति । तथा व्यसनं च येन विना क्षणमपि स्थातुं न शक्यते, तच्च बीजादारभ्य फलाविष्कारावधि

सर्वत्र भावनीयम् । एवं यदा भवेत्तदा न काप्यनुपपत्तिः । अथवा । अत्र चकारः समु-
च्चयार्थकः । तथा सति प्राथमिकसंबन्धो बीजभावः । तस्मात्स्वभावतो वृद्धिं प्राप्ता भक्ति-
र्वह्नी, तदुद्भूतं प्रेम पलवस्थानापन्नम्, तज्जनितासक्तिः पुष्पागमः । ततो व्यसनं च फलत्वेन
स्वरूपैकनिष्ठत्वम् । एतेषां बीजत्वजातिविशिष्टसमानाधिकरणत्वेनैकजातीयत्वम् । तथा
सति मूलदृढीकरणत्वेनैव सर्वत्र तथात्वमिति भावनीयम् । तदेवाग्रे निरूप्यते बीजं तदु-
च्यते, शास्त्रे भगवच्छास्त्रे, श्रीभागवतगीतानारदपञ्चरात्रादावपि, यद् दृढं नापि नश्यति,
तत्तु प्राथमिकसंबन्धकालीनमित्यध्यवसेयम् ।

अतः परं प्रेमासक्तिभ्यां यजातं तदाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृह्यारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह नत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

अत्र स्नेहपदेन भक्तिरुच्यते । तत्र धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः 'प्रेमे'ति । तेन रागवि-
नाशः स्यात्, भगवत्स्वरूपातिरिक्तवस्तुमात्रेषु यो रागः अनुरज्जनं तस्य विशेषेण नश्रत्वेन
नाशः अपतीतिः स्यात् । तथा आसक्त्यापि गृह्यारुचिः स्यात् । तत्र 'न गृहं गृहमित्याहु-
र्गृहिणी गृहमुच्यते' इति वाक्यात्तादृशासक्त्या परिग्रहाद्यरुचिस्तु चिततरा । अथवा ।
नैते आत्मसंबन्धिनः, किन्तु देहादीनाम्, प्रत्युत तादृशभावनिरतस्यालौकिकभावविघातका
एव, नतु साधकाः, इतोपि तदनासक्तौ तस्य न किमपि बाधकम्, प्रत्युत तथात्वे
तथात्वमिति । अग्रिमवाक्ये तथैव निरूप्यते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । भगवद्वि-
षयकसंस्कारानुभूतकर्तृणां तु स्त्रीपुत्रादिष्वनात्मत्वं भासते एव । चकाराद्बाधकत्वमपि ।
तथा सति तत्सङ्गो न विधेय इति तात्पर्यार्थः । अन्यथा व्यसनभाववत्त्वानुपपत्तिः
स्यात् । अतस्तस्यैवाग्रे सर्वत्र साधकत्वेनाधिकारी विषयीक्रियते यदा स्यादिति ।

यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके पद्भुगैश्वर्यसम्पन्ने भगवति व्यसनं तदेकनिष्ठत्वं पूर्वो-
क्तविधिना स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, नात्र सन्देहः कार्य इति सिद्धम् । हिशब्दस्तु प्रसि-
द्धावेव । तथा सति व्यसनं वरणकालीनमेवाभिव्यज्यते । अत एवाग्रे तादृशस्यापि व्यसन-
भावप्राप्तस्य सततं निरन्तरं गेहस्थानं गृहस्थितिर्विनाशकं विशेषेणोक्तसंस्कारविघातिकेति
यावत् । अतस्त्यागपक्षमप्याश्रित्य तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः त्यागं कृत्वेति । यत्तु पर-
मकृपाशीलः सर्वात्मना निरुद्धः सन्, अत एव तदर्थार्थैकमानस इति विधेयविशेषणम् ।
तत्र भगवतो योर्थः प्रयोजनं तदर्थमेव तन्निष्ठमेकं मानसं यस्य । अथवा । भगवदर्थमेव
यत्प्रयोजनं तत्रैव मानसिकी प्रवृत्तिर्यस्येति त्यागसामुख्यम् । अत एवात्र तुशब्दस्तुक्त-
र्षाधायकः । तथा । ब्रजसीमन्तिन्योन्यपूर्वाः सर्वथा लयकुमशक्यानित्येतादृशानपि पदार्था-
स्त्यक्त्वा बीजभावरूपां भक्तिम्, तथैवाग्रे स्वरूपदर्शनस्पर्शनभाषणमिलनादिकमेतासां
जातमिति, तथात्रापि य इति सामान्यनिर्देशात् कोपि तदर्थार्थैकमानसः पूर्वोक्ताचरण-
शीलस्तादृशासक्तिभरेण गृह्यादित्यागं कृत्वा यतेत्, भगवत्प्राप्तिविषयकमेव यत्नं
कुर्यात्, स पूर्वोक्तसामानाधिकरण्येनैव सुदृढां स्नेहरूपाम्, तत्रापि सर्वतोप्यधिकां
नवप्रकारकभक्त्यपेक्षयोत्कृष्टत्वेन तादृक्प्रकारकाम् । अत एव 'सुदृढः सर्वतोधिकः
स्नेहो भक्तिरिति लक्षणत्वेन प्राप्ताम्, अत एव परामुत्कृष्टाम्, यतः साक्षाद्भगवच्चरणार-
विन्दानुग्रहनिष्ठैकशीला तां लभते, प्राप्नोति, तत्कृताचरणं करोतीत्यर्थः । तथापि त्याग-
क्रियानौचित्यमेवाद्यत्याग्रे तद्विषयकवाधमाहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । अत्र
साधनदशापन्नत्वेनाधुनिकजीवानां तदपेक्षया न्यूनत्वम्, 'संयज्य सर्वविषयांस्तव-
पादमूल'मिति प्रकारस्य तत्रैव सिद्धत्वादत्रत्यानां तथाकरणे बाधकबाहुल्यमेव । तत्र
हेतुद्वयं निरूप्यते दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः । स्वापेक्षया विरुद्धधर्माचरणशीला एव
दुष्टाः । तेषां संसर्गात्सहवासकरणत्वात्स्वस्य तदुपाजितान्नभक्षणान्ना तथात्वम् । यत एवं
बाधकापत्तिस्तत एवाग्रे स्थितिप्रकारः प्रकाश्यते । अतः स्थेयमिति । अस्मात्कारणादेव
तद्गृहिते देशे हरिस्थाने सर्वदुःखहरणशीलस्य तत्तल्लीलास्थाने तदीयैर्भगवत्परैर्भगवदीयैः
सह स्थेयम् । अथवा । भगवदुपदिष्टस्थाने वृन्दावनादौ स्थितिः कर्तव्या । तत्र तादृशैः सह
वासकरणे पूर्वोक्तहेतुद्वयप्रतिबन्धोत्पादकानामनवसरपराहृतत्वम् । तत्रापि अदूरे विप्र-
कर्षे वेति । यथोपक्रमे प्रकारद्वयं तथोपसंहारेपि तथात्वं बोध्यते । अत्यागपक्षे तावददरत्वेनैव
स्थितिः कर्तव्या, त्यागपक्षे तु विप्रकर्षेणैवेति योजना । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि पूर्वोक्तव्य-
वस्थापूर्वकवाक्यद्वयमुक्तम् । अथवा । अदूर इति वाक्यद्वयं प्रतिपक्षे भिन्नतया योजनीयम् ।
एतत्प्रकारेणैव तत्र स्थेयमित्यग्रे सूच्यते । यथा चित्तं न दुष्यति । एतत्प्रकारक-
स्थितावेव चित्तं न दूषितं भवतीत्यर्थः । अतःपरं पूर्वोक्तरीत्या यावज्जन्मसफलीकरणार्थं
भिन्नत्वेन व्यवस्थापूर्वकं साधनद्वयमुच्यते । 'सेवायां वा कथायां वे'त्युक्तौ यथाक्रमा-

नुरोधेनासपूर्वाणां सेवायामिति धात्वर्थस्यानुकूलत्वेन भगवद्भजन एवासक्तिः । सपूर्वाणां तु भगवद्गुणानुवादत्वेन कथायामेव सा । 'तव कथामृतमि'त्यादिवाक्येषु तथा निरूपितत्वात् । उभयत्र वाशब्दो विकल्पत्वेन तन्मात्रकं बोधयति, अन्यथा एकेनैव तेन चारितार्थ्ये सति द्वित्वनिरूपणत्वानतिप्रयोजनत्वात् । अतः श्रीमदाचार्यवर्याः स्वकीयान्प्रति निरूपधिकरूणावत्त्वेन स्वानुभवपूर्वकोभयपक्षीयासक्तिनिरोधस्तं फलत्वेन प्रतिपादयन्ति सेवाया कथायां चेति । अनेन सेवाकथयोः स्वरूपात्मकत्वं सूचितम् । आसक्तिभ्रमन्यायेन तथोक्तिः । अथवा विकल्पत्वेन यस्येति सामान्यनिर्देशात्परमभाग्यवतस्तत्कृताचरणशीलस्य आसक्तिनिरोधे दृढ इति प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकत्वेन संभवेत्तस्य यावज्जीवं शरीरस्थितिपर्यन्तं पूर्वोक्तरीत्या नाशः क्वापि कस्मिन्नपि देशे समये वा न दृश्यत इति शेषः । 'स्वानुभूत-प्रकारज्ञापनाय मे मतिरित्युक्तवन्तः । अतः परमेतत्प्रकारकाचरणकर्तुः कदापि स्थितिपक्षे बाधसंभावनायां जातायामपि स्वबुद्धान्यत्रैव मया स्थेयमिति पक्षो निराक्रियते । बाधसंभावनायां तु एकान्ते वासो नोचितः । वैराग्यवशान्महारण्यादौ स्थितिर्न कर्तव्या । किन्तु यत्र साक्षाद्भगवदाविर्भावः स्वहृदये स्वानुभूतो भवति, तत्रैव स्थेयमित्येकान्तपदतात्पर्यम् । अत एव नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । कुतस्तत्र हेतुरुच्यते हरिस्त्विति । यथा व्रजरत्नाः सर्वतो भगवता रक्षिताः, 'विषजलाप्यया'दितिवाक्य-षट्कथनात्, तथात्मविषयिणी या रक्षा तां सर्वतः पूर्वोक्तदुष्टसमूहादपि करिष्यत्येव । अत्रापि स्वमत्यैवोक्तं न संशय इति । संशयः सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । हरिस्त्वस्या-न्यथानुपपत्त्यैव तथा निश्चीयते । तुशब्दस्यापि तथैवोद्घाटकत्वम् ॥

अतः परमुपसंहरन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं श्रीभागवतभगवद्वाक्यनारदपञ्चरात्रादिकं तत्तु भग-वत्कथितमुपदिष्टमपि गूढत्वेन यत्तत्त्वं 'एवं मदर्थोऽञ्जितलोकवेदे'त्यत्र यथोक्तं तन्मया तदुक्तप्रकारेणैव निरूपितम् । ब्रह्मसंबन्धकरणादित्याद्याज्ञाविषयत्वात् । एतदध्ययनकर्तृ-णामपि पूर्वोक्तसिद्धिरित्याशयेनोच्यते य एतत्समधीयीतेति । य इति समान्योक्त्या कोप्येतस्मृष्टिगतभाग्यशीलः परमादरेणार्थानुसन्धानपूर्वकं तदुभयाचरणकर्तृत्वेनैतदध्ययनं करोतीति । तत्रापि नियमनैयत्येन सम्यक्त्वम् । तेन तस्यापि दृढा रतिर्भगवद्विषयको भावः स सुदृढः स्यादित्यलं विस्तरेण ॥

श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहादेव निर्णयः । कृतस्तदुक्तवाक्यानां सुज्ञानां तोषसिद्धये ॥ १

इति श्रीद्वारकेशविरचितभक्तिवर्धिनीप्रकाशः ।